आनन्द प्रवचन : दसवाँ भाग

● प्रकाशक
श्री रत्न जैन पुस्तकालय
२५८६, महात्मा गांधी रोड
पो० अहमदनगर (महाराष्ट्र)

● प्रथमवार :
जून १९८०
वि० स० २०३७ ज्येष्ठ (द्वितीय)
वीर निर्वाण स० २५०७

○ पृष्ठ ४२४

○ प्रथम सस्करण
२२०० प्रतियाँ

● मुद्रक
श्रीचन्द सुराना के लिए
मॉडर्न प्रिण्टर्स
बाग मुजफ्फर खाँ, आगरा

मूल्य : पन्द्रह रुपया मात्र

आनन्द प्रवचन भाग १० के प्रकाशन में

उदार अर्थ सहयोगी सज्जनों की शुभ नामावली

१००१) सौ० सरोजबाई के ग्यारह उपवास के उपलक्ष्य में—
श्री चुन्नीलाल जी खुशालचन्द जी लुणावत, राजगुरुनगर।

१०००) स्व० गुलाबबाई लोढा के स्मरणार्थ—
श्री रतिलाल जी कचरदास जी लोढ़ा।

१००१) श्रीमती चम्पाबाई दलीचन्द जी दूगड़, घोड़नदी।

१००१) श्री देवीचन्द जी मुलतानचन्द जी पोरवाल, पूना।

१०००) श्री दगडूराम जी देवीचन्द जी सचेती, पूना।

१००१) सौ० शान्ताबाई गिरधरलाल जी देसर्डा, पूना।

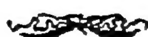
१००१) सौ० सुशीलाबाई गणेशमल जी रुणवाल, रायचूर।

१०००) श्री चम्पकलाल माणेकलाल शाह, बम्बई।

१००१) स्व० श्री मोहनलाल जी तातेड़ के स्मरणार्थ—श्री चादमल जी सूरजमल जी तातेड़, अहमद नगर (महाराष्ट्र)।

५०१) श्री भानुदास जी कचरदास जी छाजेड़, पूना।

५००) श्री पी० एम० कटारिया, इचलकरंजी।



है। ग्रन्थ परिमाण मे बहुत ही छोटा है, सिर्फ बीस गाथाओ का, किन्तु प्रत्येक गाथा के प्रत्येक चरण मे गहनतम विचार सामग्री भरी हुई है। अगर एक-एक चरण पर चिन्तन-मनन किया जाये तो भी विशाल विचार साहित्य तैयार हो सकता है।

श्रद्धेय आचार्य सम्राट ने अपने गहनतम अध्ययन-अनुभव के आधार पर इस ग्रन्थ के एक-एक सूत्र पर विविध दृष्टियो से चिन्तन-मनन-प्रत्यालोचन कर जीवन का नवनीत प्रस्तुत किया है। इन प्रवचनो मे जहाँ चिन्तन की गहराई है, वहाँ जीवन जीने की सच्ची कला भी है। गौतम कुलक के इन प्रवचनो को हम लगभग पाँच भाग मे क्रमश प्रकाशित करेंगे। प्रथम खण्ड पाठको की सेवा मे गत वर्ष पहुँचा था। गौतम कुलक पर प्रवचनो का द्वितीय खण्ड और तृतीय खण्ड भी छप चुका है आशा है, पाठक अगले खड ४ ५ की भी धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करेगे।

इन प्रवचनो का सम्पादन यशस्वी साहित्यकार श्रीचन्द जी सुराना ने किया है। विद्वान लेखक मुनिश्री नेमीचन्द जी महाराज का मार्गदर्शन एव उपयोगी सहकार भी समय-समय पर मिलता रहा है। हम उनके आभारी हैं। आशा है यह प्रवचन पुस्तक पाठको को पसन्द आयेगी।

मन्त्री

श्री रत्न जैन पुस्तकालय

प्रस्तावना

जैन साहित्य भारतीय साहित्य की एक अनमोल निधि है। जैन मनीषियो का चिन्तन व्यापक और उदार रहा है। उन्होने भाषावाद, प्रान्तवाद, जातिवाद, पथवाद की सकीर्णता से ऊपर उठकर जन-जीवन के उत्कर्ष के लिए विविध भाषाओ मे विविध विषयो पर साहित्य का सरस सृजन किया है। अध्यात्म, योग, तत्त्व-निरूपण, दर्शन, न्याय, काव्य, नाटक, इतिहास, पुराण, नीति, अर्थशास्त्र, व्याकरण, कोश, छन्द, अलकार, भूगोल खगोल, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, मत्र, तन्त्र, सगीत, रत्न-परीक्षा, प्रभृति विषयो पर साधिकार लिखा है और खूब जमकर लिखा है। यदि भारतीय साहित्य मे से जैन साहित्य को पृथक कर दिया जाय तो भारतीय साहित्य प्राणरहित शरीर के सदृश परिज्ञात होगा।

जैन साहित्य मनीषियो ने विविध शैलियो मे अनेक माध्यमो से अपने चिन्तन को अभिव्यक्ति दी है। उनमे एक शैली कुलक भी है। 'कुलक' साहित्य के नाम से भी जैन चिन्तको ने बहुत कुछ लिखा है। दान, शील, तप, भाव, ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि अनेक जीवनोपयोगी विषयो पर पृथक-पृथक कुलको का निर्माण किया है। मैंने अहमदाबाद, बम्बई, पूना, जालोर, खम्भात आदि मे अवस्थित प्राचीन साहित्य भण्डारो मे विविध विषयो पर 'कुलक' लिखे हुए देखे हैं पर इस समय बिहार यात्रा मे होने के कारण साधनाभाव से उन सभी कुलको का ऐतिहासिक पर्यवेक्षण प्रस्तुत नही कर पा रहा हूँ।

मैं जब बहुत ही छोटा था तब मुझे परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य ने 'गौतम कुलक' याद कराया था। मैंने उसी समय यह अनुभव किया कि इस ग्रन्थ मे लेखक ने बहुत ही सक्षेप मे विराट भावो को कम शब्दो मे लिखकर न केवल अपनी प्रकृष्ट चिन्तन-शील प्रतिभा का परिचय दिया है, बल्कि कुशल अभिव्यजना का चमत्कार भी प्रदर्शित किया है।

गौतम कुलक वस्तुत बहुत ही अद्भुत व अनूठा ग्रन्थ है। यह वामन की तरह आकार मे लघु होने पर भी भावो की विराटता को लिये हुई है। एक-एक लघु सूक्ति और युक्ति को स्पष्ट करने के लिए सैकडो पृष्ठ सहज-रूप से लिखे जा सकते हैं। 'गौतम कुलक' के कुछ चिन्तन वाक्य तो बहुत ही मार्मिक और अनुभव से परिपूर्ण

है। एक प्रकार से प्रत्येक पद स्वतन्त्र सूक्ति है, स्वतन्त्र जीवनसूत्र है और है विचार-मन्त्र।

परम आल्हाद है कि महामहिम आचार्य सम्राट राष्ट्रसन्त आनन्द ऋषिजी महाराज ने प्रस्तुत ग्रन्थ रत्न पर मननीय प्रवचन प्रदान कर जन-जन का ध्यान इस ग्रन्थ रत्न की ओर केन्द्रित किया है। आचार्य प्रवर ने अपने 'जीवन की परख' नामक प्रथम प्रवचन मे 'गौतम कुलक' ग्रन्थ के सम्बन्ध मे बहुत ही विस्तार से विवेचन किया है। जो उनकी बहुश्रुतता का स्पष्ट प्रमाण है।

परम श्रद्धेय आचार्य सम्राट को कौन नही जानता। साक्षर और निरक्षर, बुद्धिमान और बुद्धू, बालक और वृद्ध, युवक और युवतियाँ सभी उनके नाम से परिचित है। वे उनके अत्युज्ज्वल व्यक्तित्व और कृतित्व की प्रशसा करते हुए अघाते नही हैं। वे श्रमण सघ के ही नही, अपितु स्थानकवासी जैन समाज के वरिष्ठ आचार्य है। उनके कुशल नेतृत्व मे एक हजार से भी अधिक श्रमण और श्रमणियाँ ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना कर रहे हैं। लाखो श्रावक और श्राविकाएँ श्रावकाचार की साधना कर अपने जीवन को चमका रहे हैं। वे श्रमणसघ के द्वितीय पट्टधर हैं। उनका नाम ही आनन्द नही, अपितु उनका सुमधुर व्यवहार भी आनन्द की साक्षात् प्रतिमा है। उनका स्वय का जीवन तो आनन्द स्वरूप है ही। आप जब कभी भी उनके पास जायेंगे तब उनके दार्शनिक चेहरे पर मधुर मुस्कान अठखेलियाँ करती हुई देखेंगे। वृद्धावस्था के कारण भले ही शरीर कुछ शिथिल हो गया हो किन्तु आत्मतेज पहले से भी अधिक दीप्तिमान है। उनके निकट सम्पर्क मे जो भी आता है वह आधि, व्याधि, उपाधि को भूलकर समाधि की सहज अनुभूति करने लगता है, यही कारण है कि उनके परिसर मे रात-दिन दर्शनार्थियो का सतत जमघट बना रहता है। दर्शक अपने आपको उनके श्री चरणो मे पाकर धन्य-धन्य अनुभव करने लगता है।

मुग्ध हो जाते हैं। श्रोताओ का मन-मस्तिष्क उनकी सुमधुर भावधारा मे प्रवाहित होने लगता है। आचार्यप्रवर की वाणी मे शान्त-रस, करुण-रस, हास्य-रस, वीर रस की सहज अभिव्यक्ति होती है। उसके लिए आपश्री को प्रयास करने की आवश्यकता नही होती। यही कारण है कि लोग आपश्री को वाणी का जादूगर मानते हैं। आपश्री की वाणी मे मक्खन की तरह मृदुता है, शहद की तरह मधुरता है, और मेघ की तरह गम्भीरता है। भावो की गगा को धारण करने मे भाषा का यह भागीरथ पूर्ण समर्थ है। आपश्री की वाणी मे ओज हैं, तेज है, सामर्थ्य है।

आपश्री के प्रवचनो मे जहाँ एक ओर महान आचार्य कुन्द-कुन्द, समन्तभद्र की तरह गहन आध्यात्मिक विवेचना है। आत्मा परमात्मा की विशद चर्चा है तो दूसरी ओर आचार्य सिद्धसेन दिवाकर और अकलक की तरह दार्शनिक रहस्यो का तर्कपूर्ण सही सही समाधान है। स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, नय, निक्षेप, सप्तभगी का गहन किन्तु सुबोध विश्लेषण है। एक ओर आचार्य हरिभद्र, हेमचन्द्र की तरह सर्व विचार समन्वय का उदात्त दृष्टिकोण प्राप्त होता है तो दूसरी ओर आनन्दघन, व कबीर की तरह फक्कड़पन और सहज निश्छलता दिखाई देती है। एक ओर आचार्य मानतुग की तरह भक्ति की गगा प्रवाहित हो रही है तो दूसरी ओर ज्ञानवाद की यमुना बह रही है। एक ओर आचार क्रान्ति का सूर्य चमक रहा है तो दूसरी ओर स्नेह की चारुचन्द्रिका छिटक रही है। एक ओर आध्यात्मिक चिन्तन की प्रखरता है तो दूसरी ओर सामाजिक समस्याओ का ज्वलन्त समाधान है। सक्षेप मे हम कह सकते है कि आचार्यप्रवर के प्रवचनो मे दार्शनिकता, आध्यात्मिकता और साहित्यिकता सब कुछ है।

मेरे सामने आचार्यप्रवर के प्रवचनो का यह बहुत ही सुन्दर सग्रह है। 'गौतम कुलक' पर उनके द्वारा दिये गए मननीय प्रवचन हैं। प्रवचन क्या हैं? चिन्तन और अनुभूति का सरस कोष है। विषय को स्पष्ट करने के लिए आगम, उपनिषद, गीता महाभारत, कुरान, पुराण तथा आधुनिक कवियो के अनेक उद्धरण दिये गए हैं। वहाँ पर पाश्चात्य चिन्तक फिलिप्स, जानसन, बेकन, कूले, साउथ, टालस्टाय, ईसामसीह, चेनिंग, बॉवी, पिटरसन, सेनेका, विलियम राल्फ इन्गे, हॉम, सेण्टमेथ्यु, जार्ज इलियट, शेली, पोप, सिसिल, कॉस्टन, शेक्सपियर, प्रभृति शताधिक व्यक्तियो के चिन्तन-सूत्र भी उद्धृत किये गये हैं। जिससे यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि आचार्य सम्राट का अध्ययन कितना गम्भीर व व्यापक है। पौराणिक, ऐतिहासिक रूपको के अतिरिक्त अद्यतन व्यक्तियो के बोलते जीवन-चित्र भी इसमे दिए है। जो उनके गम्भीर व गहन विषय को स्फटिक की तरह स्पष्ट करते हैं। यह सत्य है कि जिसकी जितनी गहरी अनुभूति होगी उतनी ही सशक्त अभिव्यक्ति होगी। आचार्यप्रवर की अनुभूति गहरी है तो अभिव्यक्ति भी स्पष्ट है।

मैंने आचार्यप्रवर के प्रवचनो को पढा है। मुझे ऐसा अनुभव हुआ है—

प्रवचनो का सम्पादन भाव, भाषा और शैली सभी दृष्टियो से उत्कृष्ट हुआ है। सम्पादन कला-मर्मज्ञ कलम-कलाधर श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने अपनी सम्पादन कला का उत्कृष्ट रूप उपस्थित किया है। गौतम कुलक का स्वाध्याय करनेवाले जब इन प्रवचनो को पढेंगे तो उनके समक्ष इसके अनेक नये-नये गम्भीर अर्थ स्पष्ट होगे। इन प्रवचनो मे सिर्फ उपदेशक का उपदेश-कौशल ही नही, बल्कि एक विचारक का विचार वैभव तथा अनुशीलनात्मक दृष्टि भी है। इससे प्रवचनो का स्तर काफी ऊँचा व विचार प्रधान बन गया है।

इन प्रवचनो को पढते समय प्रबुद्ध पाठको को ऐसा अनुभव भी होगा कि इन प्रवचनो मे उपन्यास और कहानी साहित्य की तरह सरसता है, दार्शनिक ग्रन्थो की तरह गम्भीरता है। यदि एक शब्द मे कह दिया जाय तो सरलता, सरसता और गम्भीरता का मधुर समन्वय हुआ है। ऐसे उत्कृष्ट साहित्य के लिए पाठक आचार्य प्रवर का सदा ऋणी रहेगा तो साथ ही ऐसे सम्पादक के श्रम को भी विस्मृत नही हो सकेगा।

मुझे आशा ही नही अपितु दृढ विश्वास है कि प्रस्तुत आनन्द प्रवचनो के ये भाग सर्वत्र समादृत होंगे। इन्हे अधिक से अधिक जिज्ञासु पढकर अपने जीवन को चमकायेगे।

—देवेन्द्र मुनि शास्त्री

——————

अनुक्रमणिका

(आनन्द प्रवचन : भाग १०)

---

* प्रवचन संख्या भाग [illegible] से प्रारम्भ होती है। १ से २० तक [illegible] आठ मे, प्रवचन २१ से ४० तक [illegible] मे आ चुके है।

मूलस्रोत

दुट्ठाहिवा दंडपरा हवंति,
विज्जाहरा मंतपरा हवंति ।
मुक्खा नरा कोवपरा हवंति,
सुसाहुणो तत्तपरा हवंति ॥८॥

दुष्ट-अधिप तो दण्ड-परायण
मन्त्र-परायण विद्याधर जन ।
क्रोध-परायण मूर्ख मनुज है
तत्त्व-परायण साधु शिवकर ॥८॥

सोहा भवे उग्गतवस्स खंती,
समाहिजोगो पसमस्स सोहा ।
नाणं सुज्झाणं चरणस्स सोहा,
सीसस्स सोहा विणए पवित्ति ॥९॥

तप की शोभा विमल-क्षमा मे,
समाधियोग है शम की शोभा ।
ज्ञान-ध्यान से चारित्र शोभता,
विनय बढाता शिष्य की शोभा ॥९॥

अभूसणो सोहइ बंभयारी,
अकिंचणो सोहइ दिक्खधारी ।
बुद्धिजुओ सोहइ रायमंती
लज्जाजुआ सोहइ एकपत्ति ॥१०॥

ब्रह्मचारी विभूषा रहित शोभता
शोभे अकिंचन साधु सदा ।
बुद्धि राजमन्त्री की शोभा
लजवती शोभती पतिव्रता ॥१०॥

अप्पा अरी हो अणवट्ठियस्स,
अप्पा जसो सीलमओ नरस्स ।...

स्वय शत्रु अनवस्थित आत्मा
शीलवान यश पाता है ॥...

□ □

४१

दुष्टाधिप होते दण्डपरायण—१

धर्मप्रेमी वन्धुओ !

आज मैं आपके समक्ष ऐसे जीवन की चर्चा करना चाहता हूँ जो कर्तव्यविहीन और निन्दनीय जीवन समझा जाता है। वह जीवन है—दुष्ट शासनकर्ता का जीवन। शासक का जीवन विश्वसनीय, वात्सल्यमय एव स्नेहसिक्त होना चाहिए, किन्तु जब उसमे स्वार्थ, अहकार और भोग की प्रवलता हो उठती है तो वह कर्तव्य, धर्म और नीति से रहित हो जाता है, तव वह वात्सल्यमय या स्नेह से ओत-प्रोत न होकर कठोर शासनात्मक, केवल दण्डपरायण हो जाता है। इसलिए गौतम महर्षि ने सूचित किया है—

'दुट्ठाहिवा दडपरा हवति'

दुष्ट अधिप—शासक या अधिकारी दण्डपरायण होते हैं। गौतमकुलक का यह पैंतीसवाँ जीवन-सूत्र है। यह जीवन-सूत्र केवल शासक के लिए ही नही, प्रत्येक अधिकारी के लिए मननीय है।

अधिप क्यों और किसलिए वनाया गया था ?

मनुष्य ने जव से समाज वनाकर रहना सीखा, तव से उसने परिवार, जाति, ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र और राज्य (शासन), धर्म एव समाज के विविध सगठन वनाये। जव सगठन वने तो उन सगठनो का ठीक रूप मे सचालन करने के लिए किसी न किसी योग्य, गुणवान, प्रभावशाली, शक्तिशाली एव चरित्रवान व्यक्ति के कुशल हाथो मे उसका आधिपत्य, नेतृत्व या सचालन-सूत्र सौंपना उचित समझा गया। उस सगठन का आधिपत्य सौंपने के साथ-साथ उसे कुछ विशिष्ट अधिकार भी दिये गये। न्याय और सुरक्षा की व्यवस्था का दायित्व भी उसी का माना गया।

प्रत्येक सगठन का अधिप या अधिपति इसलिए भी वनाया जाता था कि अराजकता न फैल जाये। अगर अधिपति नही वनाया जाता तो कोई भी चालाक या थोडा-सा ताकतवर या दुसाहसी व्यक्ति झट उस सगठन को हथियाने और मन-मानी करने, दुर्वल लोगो को दवाने-सताने को तैयार हो जाता, वह नेता या अधिपति वन वैठता। जनता ने इस स्थिति से वचने के लिए मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के सगठन का एक अधिप या अधिपति वनाना आवश्यक समझा। अधिपति वनाना इसलिए

भी आवश्यक था कि सामान्य बुद्धि का मानव जीवन मे आने वाली अटपटी और अबूझ समस्याओ को हल नही कर पाता था, अधिपति अपनी बौद्धिक योग्यता और क्षमता के आधार पर उन समस्याओ को हल करता और उचित कानून एव दण्डव्यवस्था भी करता था।

जब समाज और राज्य का निर्माण नही हुआ था, उस युग मे कुलकर या मनु की व्यवस्था थी। कुलकर कुलो की समस्याएँ हल करता था, यथोचित परामर्श देता था, वह जनता के हित के लिए अपनी नि स्वार्थ सेवाएँ देता था। परन्तु यौगलिक काल की परिसमाप्ति के समय अनेक झझट और सघर्ष यौगलिक जनता मे पैदा हो गये थे। चूँकि कर्मभूमि का प्रारम्भ हो गया था, भोगभूमि समाप्तप्राय थी। जनता मे जीवनयापन के साधनो के लिए आपस मे तू-तू–मैं-मै होने लगी थी। विग्रह भी होने लगे थे। जनता इन प्रतिदिन के सघर्षों व झझटो से ऊब गई थी और चाहती थी कि किसी तरह कोई हमारा आधिपत्य स्वीकारे और हमे जीवनयापन के लिए सही मार्गदर्शन दे। अत. उस समय की भोली-भाली साधारण बुद्धि की जनता अपने कुलकर नाभिराय के पास यह जटिल प्रश्न लेकर पहुँची। नाभिराय ने सब कुछ सुनकर कहा—"तुम सब लोग ऋषभ के पास जाओ। वह कुशल, बुद्धिमान और महान् शक्तिशाली है, तुम्हारी सभी समस्याओ का वह शीघ्र समुचित हल कर देगा।" अत यौगलिक जनता आशान्वित होकर भावी तीर्थंकर और वर्तमान मे नाभिराय कुलकर के पुत्र ऋषभदेव के पास पहुँची। जनता ने उन्हे अपना नेतृत्व और आधिपत्य सौपा। साथ ही उन्हे अधिकार दिये कि "आप जो भी कुछ हमारे हित के लिए करेंगे, वह हमे मजूर होगा।"

आगे का इतिहास काफी लम्बा है। मुझे तो आपको यह बताना था कि मनुष्यो ने आदिमकाल मे अपना अधिपति (अधिप) कैसे चुना और उसे सर्वस्व अधिकार कैसे सौंपे? सक्षेप मे इतना ही कहूँगा कि ऋषभदेव प्रथम राजा बने, उन्होने वर्ण-व्यवस्था की। पारिवारिक जीवन से लेकर सामाजिक, राष्ट्रीय और आध्यात्मिक आदि सभी जीवन-क्षेत्रो के सगठन बनाये। उनके नियमोपनियम बनाये। असि, मसि, कृषि इन तीन मूल आजीविकाओ के आधार पर अन्य कलाएँ और शिल्प सिखाये। न्याय और सुरक्षा की सुदृढ व्यवस्था की। उस समय राजा ऋषभदेव ने तीन प्रकार के दण्ड अपराधियो के लिए नियत किये थे—हकार, मकार और धिक्कार। इतना ही दण्ड उस समय की जनता के लिए पर्याप्त था।

वैदिक ग्रन्थो मे 'मनु' राजा कैसे बने? इसकी रोचक पौराणिक कहानी है कहते हैं कि मनु जगल मे तपस्या एव भगवद् भजन कर रहे थे। उन दिनो मे कोई राजा न था। इसलिए प्रजा मे बहुत अधेरगर्दी चलती थी। इसलिए प्रजा को यह लगा कि मनु महाराज अपने राजा बन जाएँ तो अच्छा हो। लोग उनके पास पहुँचे और सविनय निवेदन किया—"देव! कृपा करके आप हमे मार्गदर्शन दीजिए।"

मनु ने कहा—"मैं यहाँ बैठा हूँ, जो भी मेरे पास आते हैं, उन्हे सच्ची राह बताता हूँ। परन्तु लोग उस पर चलें नही, उसका मैं क्या करूँ? मार्गसूचक स्तम्भ का काम मार्ग-दर्शन करने का है, दिशा बताने का है, लोग उस दिशा मे नही जाना चाहते तो क्या मार्गसूचक स्तम्भ उनका हाथ पकडकर ले जायगा? मैं भलाई का रास्ता ही तो बता रहा हूँ।"

इस पर लोगो ने कहा—"महानुभाव! आपने स्वर्ग का रास्ता बताया, पर वह तो बहुत सकडा है, नरक का रास्ता चौडा है, इसलिए हम सबका मन उसी तरफ जाने को होता है।"

मनु बोले—"ठीक है, तब जाओ, तुम्हारी मर्जी की बात है।"

इस पर लोग आग्रहपूर्वक कहने लगे—"महानुभाव! आप हमारे राजा बनें, तो आपके कठोर अनुशासन मे प्रजा सन्मार्ग पर व्यवस्थित ढग से चल सकती है। आपको हम यथेष्ट अधिकार भी दे सकते हैं, प्रजा को सच्ची राह पर चलाने और विपरीत राह से रोकने के लिए।" तब मनु महाराज ने कहा—"प्रजाजनो! मेरी दो शर्तें हैं—एक तो यह कि समग्र जनता एक स्वर से कहे कि 'मनु राजा बने' तो मैं यह जिम्मेवारी लेने को तैयार हूँ। एक भी मनुष्य ऐसा न हो, जो इस विचार से विरुद्ध हो। दूसरी शर्त यह है कि मुझे जनता की भलाई के लिए जो कुछ अच्छे-बुरे, सरल-कठोर कानून बनाने पडेंगे, उनकी सारी जिम्मेवारी और पाप-पुण्य तुम्हे भोगने पडेंगे। यदि ये दोनो शर्तें मजूर हो तो मै राजा बन सकता हूँ।"

समग्र जनता ने एक-स्वर से इसे स्वीकार किया और मनु राजा बने। जैसा कि पुराणो मे कहा है—

एव मनुः राजा अभवत्।

यह तो हुआ राज्य शासन के अधिपति का इतिहास!

अधिप के कितने रूप?

इसी प्रकार समाज का आधिपत्य जिनको सौंपा जाता था, वे समाजाधिप या समाजाधिपति, ग्राम का आधिपत्य जिन्हे सौंपा जाता था, वे ग्रामाधिप (गाँव के मुखिया या अग्रणी) कहलाते थे। जाति का आधिपत्य जिन्हे सौंपा जाता, उन्हें सर-पच कहते थे।

उस युग मे मुख्यतया राज्याधिप को ही अधिक महत्व दिया जाता था। वही अपने अधीन विभिन्न विभागो के मन्त्री या अधिकारी चुनकर नियुक्त कर देता था। मगर बाद मे इस व्यवस्था मे अनेक परिवर्तन करने पडे। राज्याधिप (राजा) अकेला इन सब विभागो के अधिपो या अधिकारियो पर ठीक तरह से नियन्त्रण नही कर पाता था। राजा स्वय कई बार सत्ता के मद मे आकर अपने अधिकारो का दुरुपयोग कर बैठता था। जनता अपनी वास्तविक पुकार सीधी राजा तक नही पहुँचा

पाती थी, विभिन्न विभागो के अधिकारीगण बीच मे ही उसकी पुकार को दवा देते थे। इसलिए जनता के प्रतिनिधि ऋषि-मुनि या पवित्र निष्पक्ष ब्राह्मण, उक्त राज्याधिपो पर अकुश रखते थे, कही-कही महाजन सामाजिक सगठन के अधिपति होते थे, वे जनता की आवाज राजा तक पहुँचाने का प्रयत्न करते थे। इसी प्रकार कई जगह विभिन्न जातियो के अपने-अपने सगठन होते थे और उनके अधिपति—सरपच कहलाते थे, वे भी जनता की वास्तविक कठिनाइयाँ एव दु ख-दर्द सुनकर उन्हे दूर करने का प्रयत्न करते थे, निष्पक्ष न्याय देते थे, पारस्परिक वैमनस्य मिटाते थे।

इसलिए आप अधिप शब्द से केवल राजा को ही न लें, अपितु ऋषि-मुनि, ब्राह्मण, समाजनेता, राष्ट्रनेता, ग्रामाधिप, नगरसेठ, महाजन, सरपच एव अधिकारी आदि सब का समावेश 'अधिप' शब्द मे कर लीजिए। महर्षि गौतम ने 'अधिप' शब्द का प्रयोग बहुत ही सोच-समझकर व्यापक दृष्टि से किया है।

'अधिप' शब्द का अर्थ

वैसे तो 'अधिप' शब्द का सामान्य अर्थ होता है—

अधिकं अधिकं पाति रक्षतीति अधिपः

जो अपने अधीनस्थो का अधिकाधिक रक्षण करता हो, वह अधिप है।

इसका तात्पर्य यह है कि अधिप को आधिपत्य एव विशिष्ट अधिकार दिये जाते है, वे केवल जनता—अपनी अधीनस्थ जनता—के हित, कर्तव्य, धर्म, नीति एव न्याय की सुरक्षा तथा जान-माल की सुरक्षा के लिए ही दिये जाते है, अपनी स्वार्थ-सिद्धि, मौज-शौक, शान-शौकत, आरामतलबी, रगरेलियाँ मनाने या जनता के द्वारा प्राप्त धन पर गुलछर्रे उडाने या सत्ता के मद मे आकर किसी को अत्यधिक दण्ड देने, पीडित-पददलित करने या सताने के लिए नही।

अधिप में गुण और योग्यता

अधिप मे दया, क्षमा, सहानुभूति, सेवा, धैर्य, गम्भीरता, श्रमनिष्ठा, सात्त्विक बुद्धि, उदारता, गुणग्राहकता, सदाचार, आदि विशिष्ट गुणो का होना आवश्यक है, फिर वह 'अधिप' चाहे जिस क्षेत्र का हो। उसका चरित्रवान् होना अनिवार्य है। साथ-साथ उसमे समय आने पर जनता के लिए अपने आपके त्याग, बलिदान एव सर्वस्व न्यौछावर करने की वृत्ति होनी चाहिए। उसकी सूझबूझ, कर्त्तव्यबुद्धि एव न्यायनिष्ठा इतनी तीव्र होनी चाहिए कि वह तुरन्त अपने कर्त्तव्य का निर्णय कर सके, न्याय दे सके और मार्गदर्शन भी दे सके। उसमे न्याय, नीति और धर्म के लिए मर-मिटने की हिम्मत होनी चाहिए।

अधिप की श्रेष्ठता अधिकार में नहीं, त्याग-बलिदान में है

अधिप को श्रेष्ठ मनुष्य माना जाता है। सम्भव है, इसी कारण वनियो या नो को श्रेष्ठ (सेठ) कहने का रिवाज चल पडा हो। परन्तु अधिप की श्रेष्ठता

का आधार, उसको मिले हुए उच्च अधिकार नही हैं, अपितु समय आने पर हर प्रकार का त्याग, या वलिदान के लिए तत्परता है, सच्चरित्रता है।

अहमदावाद का नगरसेठ खुशालचन्द्र नवाव द्वारा नगराधिप वनाया गया था। यो तो नगरसेठ का पद पीढी-दर-पीढी से चलता आ रहा था। परन्तु एक बार इस 'नगरसेठ' पद की भारी कसौटी हुई। अहमदावाद पर घोर विपत्ति छाई हुई थी। अहमदावाद की सुरक्षा का भार था तत्कालीन शासक इब्राहीम कुली खाँ के हाथो मे, लेकिन अचानक ही सिपहसालार हमीद खाँ ने अहमदावाद पर आक्रमण कर दिया। हमीद खाँ के आगे इब्राहीम कुली खाँ टिक न सका। भद्रदुर्ग के फाटक को तोडकर हमीद खाँ की सेना आँधी की तरह शहर मे घुस आई और लूटपाट, सामूहिक हत्या, मारपीट एव आगजनी करने लगी। नगरसेठ खुशालचन्द्र ने इस नृशस काण्ड को देखा तो एक क्षण गम्भीरता से सोचकर तुरन्त अपने कर्त्तव्य का निर्णय कर लिया। वे सिर्फ अधिकार के वल पर दूसरो पर रौव गाँठने वाले नही थे, अपितु अपने कर्त्तव्य को प्राथमिकता देने वाले त्यागवीर पुरुष थे। इस समय उन्हे अपने जान-माल की सुरक्षा की चिन्ता नही थी, वे नगर के निर्दोष नागरिको के जान-माल की सुरक्षा चाहते थे। इसलिए ऐसे घोर सकट के समय अपने प्राणो की परवाह किये विना सीधे सेनापति हमीद खाँ के पास पहुँच गये। नगरसेठ ने उससे नम्र प्रार्थना की—"शहर को अराजकता से वचाकर शीघ्र सुव्यवस्था की जाए।"

सेनापति आरक्त नेत्रो से नगरसेठ की ओर घूर कर देखने लगा। वह नगरसेठ की सौम्य आकृति से प्रभावित होकर वोला—"धन का ढेर सामने रखो, उसके विना सेना वापिस नही लौट सकती।"

"धन देता हूँ, माँगो जितना, परन्तु सेना को शीघ्र वापस लौटाओ, मुझसे ये अग्नि की ज्वालाएँ, निर्दोष नागरिको की हत्या, सम्पत्ति की लूटपाट और दीनो के आश्रय-स्थानो का सर्वनाश देखा नही जाता।" नगरसेठ के शब्दो मे हृदयद्रावकता थी।

"अहमदावादी वनिये! माँगू जितना धन देगा?"

"हाँ अवश्य!" नगरसेठ ने कहा। किन्तु 'हाँ' कहने वाला वनिया जानता था कि उस धनराशि की पूरी जिम्मेवारी उस पर है, एक 'हाँ' के पीछे तिजोरी का पैंदा दिख जायगा। फिर भी अपनी सम्पत्ति को वचा लेने का जरा भी स्वार्थी विचार नगरसेठ के मन मे न आया। वे वोले—"सेना को आदेश दो, कि वह वापस लौट जाए। आपके कथनानुसार धनराशि अभी ले आता हूँ।"

तुरन्त सेना को वापस लौटने की रणभेरी वजी। लूटमार करने वाली सेना तत्काल शिविरो मे आ पहुँची। आग से जले घर बुझाये गये। जनता ने सन्तोष की ठण्डी साँस ली। कुछ ही देर मे चार वैलो के सुन्दर रथ मे रुपयो की थैलियाँ आ गई।

सेनापति के सामने रुपयो का ढेर लग गया। वह सेठ की इस त्यागवीरता से अतीव प्रसन्न होकर प्रशसा करते हुए बोला—"सेठ! जाओ, अब तुम्हारा नगर सुरक्षित है।"

नगरसेठ खुशालचन्द्र ने पीढियो से कमाये हुए सचित धन को एक आक्राता के द्वार पर उडेल दिया। पर उन्हे इसकी चिन्ता न थी। सेठ ने सोचा—चलो, धन गया, किन्तु प्रजा तो बच गयी। नगरसेठ घर पहुँचे। सारे अहमदाबाद मे यह बात बिजली की तरह फैल गयी कि नगरसेठ ने अपना सर्वस्व त्यागकर हमारे शहर की और हमारी जाति के सम्मान की रक्षा की है। उनके इस अद्भुत त्याग की सर्वत्र प्रशंसा होने लगी।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि अधिप, चाहे वह किसी भी रूप मे हो, उसकी श्रेष्ठता पद, अधिकार या धन से नही होती, वह होती है—उसके त्याग, बलिदान और समय की सूझबूझ से।

अधिप बड़ा क्यों माना जाता है?

इसी प्रकार किसी अधिप को बडा इसलिए नही माना जाता कि उसके पास धन का अम्बार है, वैभव की चमक-दमक है, या सत्ता अथवा प्रभुता का दौर है, या किसी उच्चपद का अधिकार है, अपितु, इसलिए माना जाता है कि उसमे उदारता और दूरदर्शिता है, क्षमा, दया, सहानुभूति आदि गुण है। उनके पास न्याय, नीति और धर्म का धन है। अगर धन से ही बडप्पन मान लिया जाये तो धन तो चोर-लुटेरे, बेईमान आदि भी इकट्ठा कर सकते हैं। बाप-दादो की कमाई हुई पर्याप्त सम्पत्ति भी किसी मूर्ख सन्तान को मिल सकती है। धन-वैभव के आधार पर किसी अधिप को बडा मानने का दृष्टिकोण ही गलत है। न वह सत्ता एव प्रभुता के कारण बडा माना जा सकता है।

आजकल राजनीतिज्ञ लोग अनेक प्रकार की तिकडमबाजी से भी सत्ता हथिया लेते हैं। पुराने जमाने मे भी अपने पिता को या दूसरे किसी सत्ताधारी को मार कर या हराकर उसका राज्य छीन लिया जाता था। इसी प्रकार मार-काट, चोरी-डकैती के आतंक से भी प्रभुता प्राप्त की जाती है। क्या आप ऐसी सत्ता या प्रभुता पाने वाले अधिप को बडा कहेगे? कदापि नही। कौणिक और औरंगजेब ने अपने पिता को बन्दी बनाकर सत्ता प्राप्त की थी, क्या वे इसलिए महान् (बडे) माने जा सकते हैं? कदापि नही। जो बडप्पन की बात सोचें, बडे कार्य करें, त्याग, सेवा और दया के कार्य करें, वे बडे हैं। जो दूसरो की भलाई के लिए स्वय कष्ट सहे, वे बडे हैं। जो अपनी बडाई के भूखे हो, तिकडमबाजी से धन, सत्ता आदि हासिल करके बडे बनना चाहे, वे लोकदृष्टि मे कभी बडे नही हो सकते।

आपको यह तो मालूम ही होगा कि खाने के बडे कैसे बनते हैं। एक कवि ने

पहले थे वे मर्द, मर्द से नार कहाए ।
कर गंगा मे स्नान, पाप सब धोय गमाए ॥
कर शिल्ला से युद्ध, घाव बरछिन के खाए ।
कूद पडे अग्नि कुण्ड मे, तब हम बडे कहाए ॥

अधिप को भी बडा इसीलिए माना जाता है कि समय आने पर वह स्वय कष्ट और सकट को सह लेता है किन्तु दूसरो को कष्ट और सकट मे नही डालता । एक ऐतिहासिक उदाहरण द्वारा अपनी बात को स्पष्ट कर दूं—

बात उन दिनो की है, जब भारत पर ब्रिटिश सरकार का शासन था । जयपुर भी उन दिनो ब्रिटिश हुकूमत मे चल रहा था । नगर का शासन प्रबन्ध एक पोलिटिकल एजेंट के हाथ मे था, जो बडा ही अत्याचारी और क्रूर था । गली मे कही कोई बच्चा टट्टी बैठ जाता या कोई कूडा-कर्कट डाल देता तो वह उन्हे मारता-पीटता और भारी जुर्माना कर देता । लोग उसके अत्याचार से तग आ गये । एक दिन उस बस्ती के लोगो ने गुप्त मीटिंग करके निर्णय कर लिया कि इस बार दुष्ट पोलिटिकल एजेंट आये तो उसे पत्थरो से मारकर यही समाप्त कर दें । फिर इस अत्याचारी से पिंड छूट जायगा ।

इस निर्णय के अनुसार दूसरे दिन सभी लोग हाथो मे लाठी, पत्थर, खुरपी आदि लेकर अपने-अपने मौहल्लो मे खडे हो गये । उसने आते ही अपनी पुरानी आदत के अनुसार लोगो को मारना-पीटना और जुर्माना करना शुरु किया । लोग तो तैयार ही थे । एकदम उस पर टूट पडे । पत्थरो की मार से वह घायल और बेहोश होकर गिर पडा और वही उसने दम तोड दिया । दूसरे दिन ब्रिटिश पार्लियामेट मे यह खबर पहुँची कि जयपुर के लोगो ने पोलिटिकल एजेंट को मार डाला है । खबर सुनते ही वहाँ के अध्यक्ष को बहुत गुस्सा आया । उसने फौरन आर्डर भेजा—"सारे जयपुर को चारो ओर से घेरकर गोली से उडा दो ।"

उस समय जयपुर के प्रधान एक जैन थे । उनके पास यह दु खद खबर पहुँची । वे गहरे मथन मे पड गये । कुछ लोगो के अपराध के कारण सारे शहर को दण्ड भोगना पडे, साथ ही बेचारे निर्दोष पशुओ को भी बेमौत मरना पडे, यह तो सरासर अन्याय है, दूषित शासन व्यवस्था का नमूना है । अब क्या किया जाए, जिससे यह हुक्म पलट जाए ? अन्यथा, ब्रिटिश पार्लियामेट का हुक्म पलट नही सकता । तुरन्त परदु खकातर नगराधिप-सम जैनमन्त्री को एक बात सूझी—"क्यो न इस हुक्म को मैं ही अपने ऊपर ले लूं । मेरे अकेले के जान देने से सारे नगर की जान बच जायेगी । शरीर का क्या है ? यह तो नश्वर है ही, बुढापा झांकने लगा है, मौत के कगार पर तो पहुँचा ही हुआ हूँ । शरीर एक न एक दिन समाप्त होगा ही, फिर इस महान कार्य के लिए अपने शरीर का उत्सर्ग कर दूं तो कितना सुन्दर होगा ?" बस, उन्होने अपने पुत्रो तथा परिवार को गहराई से यह बात समझायी,

तो उन्होने कहा—"पिताजी ! वैसे तो हम आपको हमारे बीच मे से उठाना नही चाहते, तथापि दूसरो की सेवा के लिए आप शरीर अर्पण कर रहे हैं, इसलिए हम आपको रोकने मे भी असमर्थ है।" मन्त्री ने ब्रिटिश पार्लियामेट को लिखा था कि "इस प्रजा का अपराध नही, अपराध मुख्यतया मेरा है, इसलिए यह दण्ड मुझे मिलना चाहिए, निर्दोष प्रजा को नही।"

खबर पहुँची, वहाँ से वापस आर्डर आया कि जब मन्त्री अपराधी है तो उसे इस अपराध के बदले फाँसी की सजा दी जाये। प्रजा ने जब यह सुना तो उसकी आँखो से अश्रुधारा वह निकली। जब मन्त्री फाँसी के तख्ते पर चढने जा रहे थे, तब हजारो आदमी उन्हे विदा देने चले। मन्त्री के चेहरे पर प्रसन्नता थी। उनकी दयालुता, ईमानदारी, न्यायप्रियता आदि मे किसी को सन्देह न था। नियत समय पर मन्त्री फाँसी के तख्ते के पास आये, जनता की भीड उनके चारो ओर खडी प्रभु से प्रार्थना कर रही थी। सबकी शुभ-कामनाएँ बरस रही थी। मन्त्री सबसे क्षमा याचना करके अपने इष्टदेव स्मरण करके फाँसी के तख्ते पर चढे। किन्तु एक-दो सीढियाँ चढे होगे कि उनका हार्ट फेल हो गया। वे वही गिर पड़े। फाँसी का तख्ता अभी दूर था। प्रजा एक ओर 'धन्य-धन्य' कह रही थी, दूसरी ओर आँखो से शोकाश्रु डाल रही थी। एक परोपकारी मन्त्री (नगराधिपसम) ने सारे नगर की रक्षा के लिए अपना बलिदान दे दिया। यह है अधिप का बडा कार्य, दूसरो के कष्ट-निवारण के लिए अपना उत्सर्ग ! इस उदाहरण से आप दुष्टाधिप और शिष्टाधिप का अन्तर भी समझ गये होगे । वास्तव मे बडा नाम या पद नही होता, बडा होता है काम।

बडप्पन व्यक्तित्व एव कार्यों से मिलता है, जो जितना उदार होता है, वह उतना ही बडा माना जाता है, चाहे वह गरीब घर मे जन्मा हो। धन का अभाव व्यक्ति की महत्ता को कुण्ठित नही कर सकता। जिसकी भावना, आकाक्षा और विचारधारा जितनी ऊँची होगी, आदर्शवाद के प्रति जितनी अधिक आस्था होगी, उतनी ही उसकी महत्ता होगी। शिष्ट अधिप उच्च स्तर की बात सोचते और उच्च कार्य करते हैं। जिससे मानवता कलंकित होती हो, व्यक्तित्व का मूल्य घटता हो, ऐसे कार्य वे कितना ही कष्ट आ पडने या दूसरो द्वारा परेशान किये जाने पर भी करने को तैयार नही होते। यो तो हर वाचाल, चालाक और अधिकार-लोलुप व्यक्ति आदर्श की बडी-बडी बाते कर सकता है, लेकिन परीक्षा की घडी मे पता चलता है कि कौन उदार, स्वार्थी, कष्ट-सहिष्णु और बडा है तथा कौन अनुदार, सकट से भागने वाला और छोटा है।

दुनिया किसी को बडा आदमी तभी मानती है, जब वह औसत दर्जे के आदमी से अधिक ऊँचा सिद्ध होता है। जो प्रलोभनो की ओर खिंचता रहता है, प्राण चले जाने के भय से काँपता रहता है, वह तो ससार की क्षुद्रता द्वारा नचाई जाने वाली कठपुतली के समान है। ऐसे लोग बडप्पन का दावा नही कर सकते। जो किसी काम मे हाथ डालने से पहले या किसी पथ पर कदम रखने से पहले सौ

वार यह सोचता है कि एक श्रेष्ठ व्यक्ति के लिए यह उचित है या नही, किन्तु कदम बढाने के बाद पीछे नही हटता, वस्तुत वही बड़प्पन का अधिकारी है।

सन् १९४७ मे देश-विभाजन के समय ऐसा लगता था, मानो लोगो के हृदय भी विभाजित हो गये है। साम्प्रदायिक दगे अपनी चरम सीमा पर पहुँच गये थे। हिन्दू-मुस्लिम एक-दूसरे के खून के प्यासे बने हुए थे। मनुष्य की जान का कोई मूल्य न रह गया। उस समय दिल्ली दगो का केन्द्र बनी हुई थी। हर गली और सड़क पर लाशो के ढेर लग गये थे। मकानो मे आग लगाई जा रही थी। दुकानें लूटी जा रही थी। कुछ उपद्रवी एक जूतो की दुकान मे घुस गये। यह देखते ही दुकानदार तो जान बचाकर भागा। गुण्डे जूते लेकर इधर-उधर भागने लगे। उसी समय एक दबग, निहत्था आदमी अचकन और चूड़ीदार पाजामा पहने हुए दनदनाता हुआ दुकान मे घुस आया। उसे देखते ही लोग जहाँ के तहाँ खडे रह गये। फिर वे जूतो के जोड़ो को न उठा सके। फिर भी एक दुष्ट आदमी जूते लेकर भागने लगा, पर वह महान् व्यक्ति उसे अपने सामने दुकान कैसे लूटने दे सकता था। उसने पीछे दौड़कर जो ललकार लगाई कि वह जूते वही छोड़कर जान बचाकर भाग गया। फिर तो उस सफेदपोश महान् व्यक्ति ने बिखरे हुए सारे जूते उठाकर दूकान मे रख दिये। यह दबग व्यक्तित्व का धनी था भारत का प्रधानमन्त्री प० जवाहरलाल नेहरू, जो साम्प्रदायिक दगो की लपटो के बीच भी अकेला और निहत्था निर्भय होकर घूमता था।

वास्तव मे बडे आदमी 'नेकी कर कुँए मे डाल' की नीति अपनाते है। किसी के साथ कुछ उपकार किया है तो उसकी चर्चा करना तो दूर रहा, उसका स्मरण भी नही करते, पर क्षुद्र आदमी अपने राई मे एहसान को पहाड बनाकर उस पर बार-बार जताते रहते हैं, जिसके साथ उन्होने कुछ उपकार किया है। बड़े आदमी का यह प्रमुख चिह्न है कि वह घटनाओ से, व्यक्तियो से या किसी से भी उद्विग्न नही होता। धीरज उसके हाथ से कभी छूटता नही, वह शोक-सन्ताप की घडियो मे भी चट्टान की तरह अडिग रहता है।

बड़प्पन बाहर नही, भीतर रहता है। बाहरी ठाठ-बाट मे नही, दिल-दिमाग को चौड़ा—उदार और दूरदर्शी रखकर ही उसे प्राप्त किया जाता है। बडे आदमी आज की नही, आने वाले सुदूर भविष्य की सोचते है। अपना कल्याण किस बात मे है ? जीवन की सार्थकता किस नीति को अपनाने मे है ? आज उपलब्ध हुए अमूल्य अवसर का सर्वश्रेष्ठ उपयोग क्या है ? वे यही सोचते रहते हैं और इन्ही प्रेरणाओ के प्रकाश मे अपना कार्यक्रम निर्धारित करते है। किसी का शोषण करके या किसी पर अन्याय, अत्याचार वे नही करते, बल्कि किसी को सहायता पहुँचाने, या कुछ भी दे देने की भावना रखते हैं। वे सादगी अपनाते है, नम्र रहते हैं, अपने हाथ से काम करने मे लज्जा महसूस नही करते, मधुर बोलते हैं और प्रत्येक कार्य मे शिष्टाचार

एव सज्जनता का पुट बनाये रखते है। उनकी यह आन्तरिक महानता ही दूसरे की आँखो मे बडा आदमी प्रमाणित करती है।

मेसेच्युसेट्स के सेनेटर चार्ल्स समर एक दिन प्रात काल अमरीका के राष्ट्रपति अब्राहम लिकन से मिलने आये। आते ही उन्होने देखा कि अमरीका के राष्ट्रपति स्वय अपने बूटो पर मस्ती से पालिश कर रहे थे। आगन्तुक ने पूछा—"आप अपने बूटो पर स्वय ही पालिश क्यो कर रहे है? क्या कोई नौकर नही है?"

अब्राहम लिकन ने विनोद मे उत्तर दिया—"अपने बूटो पर नही तो क्या किसी दूसरे के बूटो पर करूँ? अपना काम स्वय करने मे सकोच ही क्या? छोटी-छोटी निजी सेवाओ के लिए दूसरो पर निर्भर रहना किसी भी तरह से उचित नही।"

कार्लाइल के शब्दो मे कहूँ तो—"बडे आदमी छोटे आदमियो के साथ सद्-व्यवहार करके अपना बडप्पन प्रगट कर सकते हैं।"

अधिप ही सच्चा जननेता होता है

जो सच्चे अधिप होते हैं, चाहे वे किसी भी जीवन-क्षेत्र के हो, सच्चे जननेता होते है। वे 'जैसे को तैसा' की नीति नही अपनाते, गाली और घूंसो का जवाब गाली और घूंसे मे देने से कोई आदमी बडा नही हो जाता है, बडे आदमी मे जो विशेषता देखी जाती है, वह है क्षमा और सहनशीलता। वे ओछे लोगो की छोटी हरकतो से उद्विग्न नही होते। उनकी गलती को सुधारने का प्रयत्न करते हुए भी वे अपना मानसिक सन्तुलन नही खोते। वे अपने मे भी जहाँ गलती देखते है, वहाँ तुरन्त सँभलने और सुधरने को तत्पर हो जाते हैं, जबकि क्षुद्र व्यक्ति अपनी हर बात को सही व सच्ची सिद्ध करने की कोशिश करते हैं और जो भी खराबी दिखायी पडती है, उसका दोष दूसरो पर मढ देते हैं। बडे आदमियो का तरीका इससे भिन्न होता है, वे प्रत्येक कार्य मे देखते है कि मेरा जितना कर्तव्य और उत्तरदायित्व था, वह पूरा किया या नही? अपनी गलतियाँ वे स्वय सोचते और दूसरो से पूछते रहते है।

भू० पू० राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र बाबू उन दिनो काग्रेस के अध्यक्ष थे। एक बार उन्हे देश-सेवा के उपलक्ष मे एक लाख रुपयो की थैली मिली, जो उन्होंने काँग्रेस को भेंट कर दी। निकट के कुछ व्यक्तियो ने जाकर उनकी फुआ से कह दिया—"बाबू को एक लाख रुपये मिले हैं, उन्होने सब कॉंग्रेस को भेंट कर दिये है। फुआ बहुत बिगडी, उन्होंने राजेन्द्र बाबू को बहुत डाँटा, लेकिन वे मुस्कराते हुए सुनते रहे।

एक बार राजेन्द्र बाबू जेल मे थे, पीछे से किसी ने उनका एक खेत जोत लिया। नौकरो ने फुआ को खबर दी। वे कारिन्दो के दाँव से परिचित तो थी नही, सीधे

एस० डी० ओ० के पास पहुँच गईं, जो दौरे से अभी लौटकर आए ही थे। फुआ ने उनसे अपना खेत जोतने की शिकायत की। मजिस्ट्रेट ने तुरन्त आदेश दिया कि खेत उस किसान के कब्जे से निकालकर फुआ को दे दिया जाये। फुआ की विजय हो गई और उन्होंने जेल में राजेन्द्र बाबू को इस बात से सूचित भी कर दिया। पर सत्यनिष्ठ बाबू को यह मालूम होते ही उन्होंने मजिस्ट्रेट को खत लिखकर भेजा कि वह खेत उसी व्यक्ति को वापिस कर दिया जाय, खेत उसी का है।

ऐसी सत्यता और उदारता होती है, बड़े आदमियों में! वे ही सच्चे माने में अधिप होते हैं।

वे छोटे से छोटे कार्य के लिए अपने सेवकों को आदेश न देकर स्वयं कर लेते हैं। सेवा का कार्य चाहे छोटा ही हो, वे कतराते नहीं। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के बारे में यह प्रसिद्ध है कि वे आश्रम में टट्टियाँ साफ कर लेते थे, गेहूँ आदि स्वयं बीनकर साफ कर लेते थे, अपने कर्तव्य में कभी शिथिलता नहीं आने देते थे। वे सच्चे नेता थे।

वास्तव में मनुष्य का बड़प्पन तीन गुणों से प्रगट होता है—

(१) दूसरों को थोड़ा भरोसा देकर अधिक काम करने से,

(२) काम कर देने के बाद अहंकार न करने से,

(३) दूसरे को सफल होते देख अफसोस न करने से।

अन्तकृद्दशांग सूत्र में कर्मयोगी त्रिखण्डाधिप श्रीकृष्ण जी के जीवन की एक प्रेरणाप्रद घटना अंकित है। एक बार वे अपने नवदीक्षित लघुभ्राता गजसुकुमार मुनि और तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ अपने हाथी पर आरूढ होकर जा रहे थे। नगरी के मध्य में उन्होंने एक दयनीय दृश्य देखा—एक जराजीर्ण बूढ़ा लड़खड़ाते कदमों एवं कांपते हाथों से ईंटों के एक ढेर में से बड़ी मुश्किल से एक-एक ईंट उठाकर अन्दर रख रहा था। श्रीकृष्ण से यह दृश्य देखा न गया, वे अनुकम्पा से द्रवित हो उठे। उन्होंने हाथी पर बैठे-बैठे ही अपने हाथ में कुछ ईंटें उठाकर रखीं। उन्हें अपने हाथ से ईंटें उठाते देख साथ के सामन्त और दरबारी तुरन्त ईंटें ढोने में लग गये। बात की बात में सारा ईंटों का ढेर बूढ़े द्वारा निर्दिष्ट स्थल पर जमा दिया गया। श्रीकृष्ण जी त्रिखण्डाधिप थे, महान नेता और शासक थे, वे आदेश देकर भी यह कार्य करवा सकते थे, लेकिन उन्होंने स्वयं अपने हाथों से बूढ़े की ईंटें उठायीं, यही उनकी परोपकारिता का सच्चा प्रमाण था। ऐसे अधिप को ही सच्चा जननेता कहा जा सकता है।

जो हर काम में परमुखापेक्षी हो, आलसी हो, अकर्मण्य हो, नौकरों के भरोसे ही रहता हो, वह सच्चा जननेता नहीं हो सकता, शिष्ट अधिप के योग्य भी नहीं।

अधिप महान् होते हुए भी सहृदयता नहीं चूकता

अधिप को कुछ विशेष अधिकार जनता से मिलते है, उसे सम्मान और प्रतिष्ठ भी जनता से अधिकाधिक मिलती है। इन विशेपताओ को पाकर वह शक्तिशाली ह जाता है, लेकिन विशेषता और महत्ता प्राप्त होने के साथ-साथ अधिप का यह कर्तव् हो जाता है कि वह मनुष्य के नाते बुद्धि और शक्ति मे विशिष्ट होने की महत्ता स प्रेरित होकर जनता की अधिक सेवा करे, उसकी शोभा और सुख-सम्पन्नता मे वृद्धि करे, श्रेयस्कर कार्यों को करे। सेवा के लिए छोटे बनने मे उसे कोई झिझक नहं होनी चाहिए। सच्चा अधिप सेवा के कार्य मे सबके साथ रहता है, वह उस सम छोटे-बडे का भेदभाव नही करता।

सन् १९१९ की वात है। रूस के राष्ट्राधिप जननेता लेनिन पर उसव शत्रुओ ने घातक हमला कर दिया था जिससे वे घायल होकर रुग्णशय्या पर पडे थे अभी अच्छी तरह ठीक भी नही हो पाये थे कि उन्होने सुना रूस की एक महत्वपूण रेलवे लाइन टूट गई है, उसकी शीघ्र मरम्मत किया जाना आवश्यक है। देशभक्त लोगो ने वैतनिक मजदूरो पर निर्भर रहना पर्याप्त न समझा और वे बहुत वडी सख्य मे अवैतनिक रूप मे इस मरम्मत को जल्दी पूरा करने मे जुट पडे। काम वडा था फिर भी जल्दी पूर्ण हो गया। आप वता सकते है, ऐसा होने मे प्रेरक कौन था स्वय रुग्ण, किन्तु उत्साही सेवाभावी राष्ट्राधिप लेनिन। रुग्णता के कारण दुर्वल होने के बावजूद भी वे लट्ठे ढोने का काम बराबर करते रहे और अपने साथियो मे उत्साह भरते रहे। काम पूर्ण होने पर जब हर्षोत्सव हुआ तो देखा कि लेनिन मामूली कुली की तरह उन्ही मजदूरो की पक्ति मे बैठे हुए है। आश्चर्यचकित होकर लोगो ने पूछा—आप सरीखे जननेता एव राष्ट्राधिप को अपने स्वास्थ्य की चिन्ता न करते हुए इतना कठिन काम नही करना चाहिए। लेनिन ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—जो इतना भी न कर सके, उसे जननेता एव राष्ट्राधिप कौन कहेगा ?

अधिप अपनी पूर्वस्थिति को नहीं भूलता

इसके अतिरिक्त जो अधिप बनता है, वह परमात्मा का प्रकाश और अनुग्रह प्राप्त करने पर सच्चे अर्थो मे महान बनता है। इस प्रकार के महान् व्यक्ति मे जन-जन के प्रति प्रेम, वात्सल्य और सहृदयता आदि गुण ईश्वरीय अश प्राप्त होने के कारण अवश्य होते हैं। वह महान् बन जाने पर भी अपनी पूर्वस्थिति को भूलता नही और सभी के साथ सद्व्यवहार करता है।

दक्षिण भारत के सुप्रसिद्ध सामाजिक नेता श्री श्रीनिवास शास्त्री एक समय विश्वविद्यालय के कुलपति थे। यह पद आधिपत्य और अधिकारो की दृष्टि से कम महान न था, फिर भी शास्त्रीजी मे इस पद या उच्चाधिकार का जरा भी अभिमान था। अध्यापक कई बार छात्रो पर भारी जुर्माना कर देते, तब वे छात्र प्राय. अपने

जुर्मानो की अपील लेकर सीधे शास्त्रीजी के पास जा पहुँचते। शास्त्रीजी उनके जुर्मानो की माफी लिख देते।

एक दिन अध्यापक मिलकर शास्त्रीजी के पास पहुँचे और कहने लगे—"हम जुर्माना करते हैं और आप उसे माफ कर देते हैं, इस तरह से क्या अनुशासन बिगड़ेगा नहीं ?"

शास्त्रीजी ने सहानुभूतिपूर्वक अध्यापकों की बात सुनी, और औचित्य भी माना। पर अपनी भावनागत कठिनाई बताते हुए कहा—"जब मैं छोटा था, तब बड़ी निर्धन स्थिति थी। साबुन खरीदने के लिए मेरी माँ जब एक आना न जुटा सकी तो मुझे मैले कपड़े पहनकर स्कूल जाना पड़ा। इस पर अध्यापक ने मेरे पर आठ आना जुर्माना कर दिया। एक आना साबुन के लिए ही न था तो आठ आने जुर्माने का कैसे भरता ? अपनी इस स्थिति का स्मरण करके मुझे छात्रों का जुर्माना माफ करने पर विवश होना पड़ता है।"

बन्धुओ ! अगर इस सज्जन अधिप के बदले दुष्ट अधिप होता तो उसका एकमात्र दण्ड ठोकने पर जोर रहता, वह दण्ड्य व्यक्ति की भावना, परिस्थिति आदि पर बिलकुल ध्यान न देता। वास्तव मे सहृदय, नम्र एव निरभिमानी अधिप ही दूसरो के प्रति सहानुभूति एव सहृदयता दिखा सकता है।

सच्चा अधिप गुणवृद्धि के लिए प्रयत्नशील

सच्चा अधिप गुणवृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहता है। उसे आडम्बर, वाचालता, प्रदर्शन एव तड़क-भड़क से नफरत होती है। वह किसी भी अधिकार एव पद को इसलिए ग्रहण करता है कि उससे जनता की सेवा हो, ससार मे सुख-शान्ति की वृद्धि हो और मेरे मे सेवा के साथ-साथ सहानुभूति, क्षमा, दया, करुणा, समता, कष्ट-सहिष्णुता आदि गुण बढे। वह जानता है कि गुणो के विकास के लिए या गुणो की अधिकता देखकर ही मुझे यह अधिकार या आधिपत्य मिला है, अब यदि मैं गुणो की वृद्धि के बदले अवगुणो का ही अधिक सग्रह करता रहूँगा तो उससे न तो मैं जनता के हृदय पर आधिपत्य जमा सकूँगा, और न ही अपनी प्रतिष्ठा रख सकूँगा, बल्कि अवगुण-वृद्धि मे दु ख और चिन्ताएँ ही बढेगी। इसी प्रकार दूसरो के दोष देखने या अपनी भूल या त्रुटि को दूसरो पर मढ देने मे कोई लाभ नही है, लाभ है, एकमात्र गुणग्रहण से। इसलिए अधिप का मूलमन्त्र होता है—गुणो को बढाना, गुणग्राहक बनना। नीतिशास्त्र भी यही बात कहता है—

> गुणेषु क्रियता यत्न. किमाटोपै प्रयोजनम् ?
> विक्रीयन्ते न घण्टाभिर्गाव' क्षीरविवर्जिता ॥

—आप तो गुणो को बढाने का ही प्रयत्न कीजिए, बाह्याडम्बरो से क्या प्रयोजन है ? जो गायें दूध नही देती, उनके गले मे बड़े-बड़े घटे बांध देने पर भी उन्हे कोई नही खरीदता, क्योकि उनका मूल्य तो दूध पर निर्भर है।

(इसलिए प्रत्येक क्षेत्र के अधिप (अधिकारी) को अपने मे सत्य, अहिंसा, सेवा, दया, क्षमा, शान्ति अदि सद्गुणो को बढाने एव प्रत्येक मनुष्य से गुण ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिए। व्यर्थ के आडम्बर, टीप-टाप, साज-सज्जा आदि से कोई भी व्यक्ति महान् या अधिपति नही बन सकता।)

कौरवो और पाडवो मे युधिष्ठिर को सर्वाधिक सम्मान मिलता था। दोनो ही उन्हे अपने परिवार का ज्येष्ठ, प्रमुख या नेता मानते थे, क्योकि वे सबके विश्वास-पात्र थे। उनके जीवन मे अनेक गुण विकसित हो चुके थे। महाभारत मे उन्होने स्वय कहा है—

सत्यं माता, पिता ज्ञानं, धर्मो भ्राता, दया सखा।
शान्तिः पत्नी, क्षमा पुत्रः, षडेते मम बान्धवा॥

—मेरी दृष्टि मे मेरे सगे सम्बन्धी ये ६ सद्गुण है—सत्य मेरी माता है, ज्ञान मेरा पिता है, धर्म मेरा भाई है, और दया मेरा मित्र है, शान्ति मेरी पत्नी है और क्षमा पुत्र है।

इन शब्दो मे युधिष्ठिर ने स्वीकार किया है कि गुण ही मनुष्य के सच्चे हितैषी है वे ही उसे ऊँचा उठाते है, समय पर सहायक बनते है और महानता या आधिपत्य की जड को सुदृढ करते है। सद्गुण जिस अधिप की सम्पत्ति है, वह चाहे वाह्याडम्बर, प्रदर्शन या दिखावा न करे तो भी लोग उसके हो जाते है। लोग उसके न चाहते हुए भी स्वत उसे अपना प्रमुख, अध्यक्ष या अधिपति बना देते है। इसीलिए सच्चे अधिप की दृष्टि गुणवृद्धि एव गुणग्रहण करने पर होगी, आडम्बर, प्रदर्शन आदि मे नही।

कर्तव्यनिष्ठ ही सच्चा अधिप है

अधिप कहे, अधिकारी कहे, बात एक-सी है। अधिप वही सच्चा होता है, जिसकी दृष्टि कर्तव्य पर हो, अधिकारो पर नही। जब वह कर्तव्य-पालन करेगा तो अधिकार तो स्वत ही उसे प्राप्त हो जायेगे, परन्तु उसे अधिकारो की चिन्ता नही होनी चाहिए। जो अधिकारी अपने कर्तव्यो का पालन नही करता, किन्तु सिर्फ अपने अधिकार चाहता है, उसकी एक कवि ने खूब भर्त्सना की है—

अधिकारपद प्राप्य, कार्यं नैव करोति यः।
अकारो लुप्तता याति, ककारो द्वित्वता व्रजेत्॥

—जो अधिकारी अधिकार और विशिष्ट पद पाकर तदनुरूप कार्य बिल्कुल नही करता, करता है तो ऊटपटाँग काम करता है, उस अधिकारी के आदि का अकार लुप्त हो जाता है और ककार डबल हो जाता है, अर्थात्—अधिकार के बदले उसे फिर 'धिक्कार' मिलता है।

वास्तव मे अधिकारी का अर्थ ही यह है कि जो अधिकाधिक कार्य करता है। परन्तु आज के अधिकारी जनता का कार्य कितना करते है, यह किसी से छिपा नही

है। प्राय वर्तमान अधिकारी वर्ग सैर-सपाटे और मौज-शौक करते हैं, उद्घाटन, भाषण और चाटन की त्रिवेणी मे स्नान करते हैं, जनता के कार्यों के प्रति आँखमिचौनी करते रहते है। आज जनता को न्याय सस्ता, शीघ्र और सुलभ नही मिल पाता, उसकी सुरक्षा का खास कोई प्रवन्ध नही है। आये दिन जनता को भ्रष्टाचारी अफसर और सरकारी कारिंदे लूटते रहते हैं, उसकी ओर प्राय उनका ध्यान नहीं है, उनका ध्यान है, सिर्फ अपनी कुर्सी बचाने की ओर। फिर भी इस घोर अन्धकारमय राष्ट्राकाश मे कोई न कोई टिमटिमाता नक्षत्र मिल ही जाता है, उसी अधिकारी को सच्चे माने मे अधिप कहा जा सकता है, जो कभी किसी से रिश्वत नही लेता, अपनी सुख-सुविधा न देखकर जनता का कार्य पहले करता है।

जिस समय सौराष्ट्र की स्वदेशी सरकार बनी थी, उस समय वहाँ के मुख्य-मन्त्री थे—उ० न० ढेवर। ढेवर भाई निरभिमानी निश्छल एव सरलात्मा थे। उन्होने यह नियम बना लिया था कि प्रात काल का दो-तीन घण्टे का समय वे अपनी सुख-सुविधाओ मे न लगाकर जनता की सेवा मे लगाएँगे, जो भी व्यक्ति अपनी कोई भी समस्या, प्रश्न या फरियाद लेकर आयेगा, उसे वे ध्यान से सुनेंगे, और उसका हल शीघ्र ही करेंगे। कहना न होगा कि श्री ढेवर भाई ने, जब तक वे मुख्यमन्त्री रहे, अपने इस कर्तव्य का पालन बहुत चुस्ती से किया।

एक और उदाहरण लीजिए अधिप की कर्तव्यनिष्ठा का। हरियाणा के तत्कालीन उपमन्त्री श्री केसरराम ने एक किसान की शिकायत सुनकर तत्काल उसका जिस तरह से फैसला किया, वह सराहनीय तो है ही, आदर्श भी है। उपमन्त्री आम जनता की शिकायत सुन रहे थे कि एक किसान ने खडे होकर कहा—"साहब! मेरे पास ११ कनाल जमीन है, परन्तु मुझसे १८ कनाल जमीन का आबियाना (सिंचाई-कर) वसूल किया जाता है।"

शिकायत सुनने के बाद आमतौर पर मन्त्रियो का तरीका यह होता है कि वे अपने निजी सचिव को आदेश दे देते हैं, कि लिखित अर्जी या मौखिक रूप से की गई शिकायत को आवश्यक कार्यवाही के लिए तत्सम्बद्ध विभाग के पास भेज दिया जाये। शिकायत करने वालो के सन्तोष के लिए उन्हे सूचित कर दिया जाता है। शिकायत की जाँच प्राय नही होती। मन्त्री केवल भला बन जाता है और जनता को शिकायत सुनने का सन्तोष मिल जाता है। परन्तु केसरराम (उपमन्त्री) ने इससे भिन्न तरीका अपनाया। तुरन्त जरीब लेकर वे किसान के साथ चल दिये, स्वय जमीन की पैमाइश की और यह देख लेने के बाद कि किसान की शिकायत सही है, पटवारी का तबादला करने और मामले की जाँच करने का आदेश दिया।

वर्षों पहले केन्द्रीय मन्त्री श्री रफी अहमद किदवई ने स्वयं मौके पर जाकर मामले की जाँच करके तत्काल कार्यवाही करने की कुछ मिसालें कायम की थी।

जनता को यदि इस तरह तत्काल न्याय मिले, उसकी समस्याएँ हल हो तो दु शासन के वदले न सिर्फ सुशासन की ही आशा पूरी होगी, वल्कि लोकतन्त्र की जडे भी मजबूत होगी !

अधिकारियो को मदैव ध्यान रखना चाहिए कि वे जनता के द्वारा ही अधिकारी वनते हैं, यदि वे जनता की भावनाओ का निरादर करेंगे, उससे सहयोग लेकर भी उसकी उपेक्षा करेंगे तो वह उन्हे उखाड फेंकेगी ।

अधिप को मौका आने पर विषपान भी करना पड़ता है

जैसे मनुष्यो मे अधिप होते हैं, वैसे ही देवो मे भी होते हैं, क्योकि उसके बिना देवो की सुरक्षा, विकास और उन्नति होनी कठिन होती है । देवो ने मिलकर महादेव को अपना अधिपति चुना ? पुराणो मे इसकी दिलचस्प कहानी है ।

सभी देवो और असुरो ने अमृत के लिए समुद्र मथन किया । मदराचल को मथानी का दण्ड और शेषनाग को मथानी की डोरी वनाया । समुद्रमथन करने पर १४ रत्न निकले । सर्वप्रथम कालकूट विष निकला । उसको जो भी पीयेगा तो वह अमर तो क्या वनेगा, तुरन्त मर जायेगा । यह देख देव बडे विचार मे पडे कि क्या किया जाये ? विष्णुजी ने कहा—तुम लोग महादेवजी के पास जाओ, वे इसे पी लेंगे । वे ही इसे पीने मे समर्थ है । देव पहुँचे महादेवजी के पास और उनसे उस कालकूट विष को पीने की प्रार्थना की । महादेवजी ने सब देवो के हित मे वह विषपान कर लिया। उन्होने विष को अपने गले मे ही रखा, नीचे नही उतारा । इसीलिए वे नीलकण्ठ कहलाये । इस प्रकार विषपान करने के कारण शकरजी को महादेव का पद मिला और सव देवो ने उन्हे अपना नेता भी माना ।

पुराण के इस आलकारिक रूपक के आवरण को हटाकर यदि हम उसके वास्तविक रहस्य को खोजे तो यही प्रतीत होगा कि जो नेता, अधिपति या अधिकारी वनता है, उसे सर्वप्रथम ऐसे जहर के प्याले पीने पडते हैं । नेता को पारस्परिक सघर्ष से उत्पन्न उपालम्भ, आक्षेप, दोषारोप तथा राग-द्वेष रूपी विष को पी जाना पडता है, शान्ति से, समभाव से । तभी जनता उसे अपना नेता या अधिप मानती है । मुहावरा है "सौ-सौ टंकी सहके महादेव वनते हैं ।" —जो कष्ट सहता है, वही वडा वनता है ।

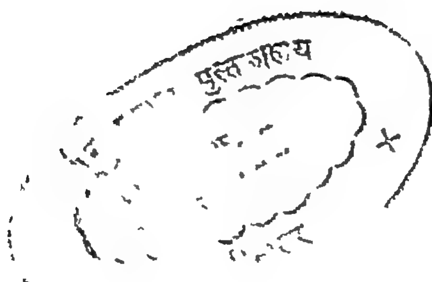
अधिप दुष्टता त्यागें, शिष्टता अपनाएँ

मानव-जीवन के किसी भी क्षेत्र मे कोई अधिप हो, चाहे उसके हाथ मे थोडे-से अधिकार हो, उसे कर्तव्यनिष्ठ, सेवाभावी, पर-दु खकातर, हितैषी, जनवत्सल और त्याग-वलिदान के लिए उद्यत होना अत्यन्त आवश्यक है । तभी वह जन-जन के हृदय मे स्थान पा सकेगा, अन्यथा कर्तव्यविहीन, सेवा मे उदासीन, परदु ख मे भागने वाला, स्वार्थी, कायर एव प्राणमोही व्यक्ति कदाचित् तिकडमबाजी एव चालाकी से किसी

सस्था का आधिपत्य प्राप्त भी कर ले, तो भी स्वपरहित की दृष्टि से उसका जीवन एकदम निकृष्ट, अधम और पतित होगा, जनता के हृदय मे उसके लिए कोई स्थान नहीं रहेगा। ऐसा धर्माचरणहीन, स्वार्थी एव कर्तव्यविमुख व्यक्ति किसी सस्था का आधिपत्य प्राप्त कर लेने पर अपनी गलतियो को छिपाने के लिए अपने अधीनस्थ व्यक्तियो को सताता, दबाता रहता है, जिन लोगो से उसका वास्ता पडता है, उन्हे वह शोषित, उत्पीडित एव त्रस्त करके दण्ड देता रहता है, उनसे रिश्वत लेकर हैरान करता है। यही दुर्नीति ऐसे दुष्टाधिप को ले डूबती है।

अभी इस विषय के अनेक पहलू अवशेष हैं, जिन पर हम अगले प्रवचन मे विचार करेंगे। आपसे यही अपेक्षा है कि महर्षि गौतम के सकेतानुसार किसी सस्था का आधिपत्य मिल जाने पर उसकी दुर्नीति से बचें।





४२

दुष्टाधिप होते दण्डपरायण—२

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपके समक्ष कल वाले विषय पर ही प्रकाश डालने का प्रयत्न करूँगा। यह विषय बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और वर्तमान राजनीतिक क्षेत्र मे भी प्रेरणा देने वाला है। इसलिए आज इसके अवशिष्ट पहलुओ पर ही मैं कुछ कहूँगा। महर्षि गौतम ने इस जीवनसूत्र में बताया है कि दुष्टाधिप का जीवन दण्डपरायण होता है, इसलिए मैंने पूर्व-प्रवचन मे अधिप शब्द का अर्थ, तथा अधिप के गुणो और योग्यताओ के विषय मे बताया था। पूर्व-प्रवचन मे राज्याधिप के अतिरिक्त अन्य अधिपो तथा शिष्ट एव सज्जन अधिपो के सम्बन्ध मे ही कुछ कहा था। अब राज्याधिप तथा शिष्ट एव दुष्ट राज्याधिप कैसे होते हैं ? इस पर मै सर्वप्रथम चर्चा करना चाहता हूँ। उसके पश्चात् यह भी बताना चाहता हूँ कि राज्याधिप तथा दूसरे प्रकार के अधिप अपने जीवन और कर्तव्य से कैसे भ्रष्ट, पतित और दुष्ट बन जाते हैं ? उसका क्या प्रतिकार है ? साथ ही वर्तमान राजनीति मे भी आये हुए धर्म के ह्रास के सम्बन्ध मे भी कुछ कहूँगा।

राज्याधिप को ही अधिप क्यों माना गया है ?

मैं पहले ही बता चुका हूँ कि राज्याधिपति को अधिप मानने की प्रथा क्यो और कब से चली ? वास्तव मे, प्राचीन काल मे इतने अधिकार और किसी को देने मे जनता हिचकिचाती थी। उसे यह भय था कि अन्य किसी को आधिपत्य सौंपने से उसके निरकुश और सत्तामदान्ध हो जाने का बहुत बडा खतरा है। जैसा कि त्रिपष्टि-शलाका पुरुप चरित्र मे बताया है—

आधिपत्यं हि प्रायोऽन्धीकरणं नराणाम्

"अधिपतित्व मनुष्यो को प्राय. अन्धा बना देने वाला है।"

इसलिए शासक को ही अच्छा अधिपति समझकर उसे ही सब अधिकार सौप दिये गये। पचतन्त्र मे राजा की विशेपताएँ तथा उपयोगिता बताते हुए कहा है—

राजा बन्धुरबन्धूनां, राजा चक्षुरचाक्षुषाम् ।
राजा पिता च माता च सर्वेषां न्यायवर्तिनाम् ॥

"राजा अवन्धुओ का वन्धु है, राजा अन्धो का नेत्र (मार्गदर्शक) है, राजा सभी न्यायवर्ती व्यक्तियो का माता-पिता है ।"

विभिन्न नीतिग्रन्थो मे राजा की विशेषताएँ इस प्रकार वर्णित हैं—

पर्जन्यमिव भूतानामाधारः पृथवीपतिः ।[1]

"राजा प्राणियो के लिए मेघ की तरह आधारभूत है ।"

न राज्ञः पर दैवतम्[2]

"राजा से वढकर कोई देवता नही है ।"

वालोऽपि नावमन्तव्यो, मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥[3]

"राजा वालक हो तो भी मनुष्य समझकर कदापि उसकी अवज्ञा नही करनी चाहिए, क्योकि राजा मनुष्य के रूप मे इस भूमण्डल पर महान् देव है ।"

इन्द्रात् प्रभुत्वं ज्वलनात् प्रतापं क्रोधो यमाद् वैश्रवणाच्च वित्तम् ।
पराक्रम रामजनार्दनाभ्यामादाय राज्ञः क्रियते शरीरम् ॥[4]

"इन्द्र से प्रभुता, अग्नि से प्रताप, यम से क्रोध, वैश्रवण से धन और राम-कृष्ण से पराक्रम लेकर राजा का शरीर वनाया जाता है ।"

राजा कालस्य कारणम्[5]

"राजा ही वास्तव मे काल के अच्छे-वुरे होने का कारण है ।"

कही-कही तो राजा को ईश्वर के समकक्ष माना गया था । इन सवका कारण यह है कि राजा से विशिष्ट त्याग, गुण तथा योग्यता की अपेक्षा रखी गई थी । श्रेष्ठ राजा के लक्षणो को देखिये—

सत्य शौर्य दया त्यागो, नृपस्यैते महागुणाः ।[6]

"सत्य, शौर्य, दया और त्याग, ये राजा के चार महागुण हैं ।"

विजितात्मा तु मेधावी स राज्यमभिपालयेत् ।[7]

"जो जितेन्द्रिय है, वुद्धिमान है, वही राजा राज्य का परिपालन कर सकता है ।"

पात्रे त्यागी गुणे रागी, भोक्ता परिजनैः सह ।
भावबोद्धा, रणेयोद्धा प्रभु पचगुणो भवेत् ॥[8]

"पात्र को दान देने वाला, गुणो का अनुरागी, परिजनो के साथ वस्तु का उपभोग करने वाला, दूसरे के मनोभावो को भाँपने वाला, और युद्ध आ पडने पर कुशल योद्धा, राजा इन पाँच गुणो से युक्त होना चाहिए ।"

---

१ कविता-कौमुदी २ चाणक्य-नीतिसूत्र ३ मनुस्मृति ७-८
४ कादम्बरी ५ मनुस्मृति ६. हितोपदेश ३/१२९
७. महाभारत ८ सुभाषित रत्न भाण्डागार

गणयन्ति न राज्याऽग्रे ऽपत्यस्नेह महीभुजः ।[1]

"वे ही सच्चे राजा होते हैं जो राज्य हित के लिए पुत्र-स्नेह की भी अवगणना कर देते है।"

व्यक्तक्रोधप्रसादश्च स राजा पूज्यते जनैः ।
योऽनुकूलप्रतिकूलयोरिन्द्र-यमस्थानं स राजा ॥[2]

"वस्तुत. राजा वही है, जो अनुकूलजनो के लिए इन्द्र और प्रतिकूलजनो के लिए यम के समान है।"

चक्षुषा मनसावाचा कर्मणा च चतुर्विधम् ।
प्रसादयति यो लोकं, त लोकोऽनुप्रसीदति ॥[3]

"जो राजा प्रेमदृष्टि से, स्नेहपूर्ण मन से, प्रिय वचनो से, और जनहितकर कार्यों से प्रजा को रजित (प्रसन्न) करता है, प्रजा उसी राजा से प्रसन्न रहती है।"

राजा के इन सव गुणो से, त्याग और शक्ति से, समय आने पर प्रजा की रक्षा एव हित के लिए अपने प्राणो का उत्सर्ग करने की वृत्ति से प्रभावित होकर ही जनता ने शासनकर्ता की अनिवार्यता एव उपयोगिता मानी थी। भले ही आज राज-तन्त्र के वदले लोकतन्त्र आ गया हो, परन्तु जैसे पहले भी राजा को जनता पसन्द करती थी, उसे वश परम्परा से राजगद्दी मिलती थी, वाद मे अयोग्य, निरकुश, उद्दण्ड या दुष्ट सिद्ध होने पर प्रजा उसे पदच्युत कर देती थी, वैसे ही आज भी शासनकर्ता वर्ग जनता द्वारा (वहुमत से) निर्वाचित होने पर सत्ता पर आता है और विभिन्न विभागो के मन्त्रियो के सहयोग से मिलकर प्रधानमन्त्री राज्य चलाता है, अयोग्य एवं निरकुश तथा भ्रष्टाचारी सिद्ध होने पर अविश्वास प्रस्ताव द्वारा उसकी सरकार को गिराया और हटाया जा सकता है।

इसलिए राजा से धर्मात्मा, त्यागी, प्रजापालक, प्रजाहितैषी, प्रजा के दु ख को अपना दु ख समझने वाला, आत्मीयजन एव प्रजावत्सल होने की अपेक्षा रखी गयी है। साथ ही नीतिशास्त्र मे राजा को पाँच धर्मों से युक्त, षट्विकारो से मुक्त तथा पिता की तरह प्रजारक्षक होने का भी विधान किया गया है—

दुष्टस्य दण्डः सुजनस्य पूजा, न्यायेन कोषस्य च सम्प्रवृद्धिः ।
अपक्षपातो निजराष्ट्रचिन्ता पञ्चापि धर्माः नृपपुंगवानाम् ॥

श्रेष्ठ राजाओ के पाँच धर्म ये हैं—दुष्ट को दण्ड देना, शिष्ट और सज्जन का सत्कार करना, राज्यसचालनार्थ न्यायपूर्वक कोष की वृद्धि करना, पक्षपात न करना और अपने राष्ट्र के सरक्षण एव हित की चिन्ता करना।

कामः क्रोधस्तथा लोभो मोहो मानो मदस्तथा ।
षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिंस्त्यक्ते सुखी नृपः ॥

---

२ अज्ञात ३. विदुरनीति २/२५

"काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान और मद, इन छ: विकारो को छोडने पर राजा अवश्य सुखी होता है।"

> तस्करेभ्यो नियुक्तेभ्य. शत्रुभ्यो नृप वल्लभात् ।
> नृपतिर्निजलोभाच्च प्रजा रक्षेत् पितेव हि ॥

"राजा तस्करो-चोरो से, नियुक्त कर्मचारियो एव अधिकारियो से, शत्रुओ से अपने प्रियजनो से तथा अपने लोभ (स्वार्थों) से प्रजा की पिता की तरह सुरक्षा करे।"

इसके अतिरिक्त श्रेष्ठ राजा के लिए मद्यपान, परस्त्रीसेवन, शिकार, जुआ आदि दुर्व्यसनो तथा प्रजा पर अत्याचार और शोषण से सर्वथा दूर रहने का नीतिशास्त्र मे यत्र-तत्र विधान मिलता है।

इन सब कारणो से जनता ने राजा को अपना सर्वश्रेष्ठ अधिपति माना, उसकी आज्ञा का ईश्वरीय आज्ञा की तरह पालन किया तथा उसे सर्वाधिक आदर और प्रतिष्ठा भी दी।

सचमुच राम और कृष्ण जैसे धर्मपरायण प्रजावत्सल राजाओ ने जनता के हृदय मे शासक का ही नही किन्तु आराध्य देव का स्थान पा लिया था। इसी प्रकार बाद मे धर्मराज युधिष्ठिर, राजा विक्रमादित्य, राजा भोज, राजा चक्कवेण आदि अनेक प्रतापी एव धर्मपरायण राजा भी हो गये है, जिन्होंने राजधर्म का पूर्णतया पालन करके प्रजा के हृदय मे अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। भारतीय प्रजा के मन मे राजा के चरित्र की आज भी वही उदात्त तस्वीर खिची हुई है।

राजा कितने त्यागी और धर्मपरायण होते थे, इसे मै राजा चक्कवेण के एक उदाहरण द्वारा आपको समझा दूं—

चक्कवेण राजा बडे ही धर्मात्मा, सत्यवादी, अध्यवसायशील, त्यागपरायण, विरक्त, ज्ञानी भक्त, तेजस्वी, तपस्वी और अनुभवी पुरुष थे। वे राजद्रव्य को दूषित समझकर अपने व अपनी पत्नी के उपयोग मे नही लेते थे। प्रजा से राज्य सचालनार्थ जो भी कर लिया जाता, वह सारा का सारा प्रजा के सेवा-कार्यो मे ही खर्च किया जाता था। उनके राज्य मे रामराज्य की तरह कोई दुखी न था। वे अपने व परिवार के जीवन-निर्वाह के लिए स्वय खेती करते थे। अपने खेत मे उत्पन्न अन्न से अपने परिवार का उदर भी भर जाता, कपास से वस्त्रो की पूर्ति हो जाती एव खेत मे पैदा हुई साग-भाजी, फल, मिर्च, हल्दी, अदरक आदि से व्यजन का काम चल जाता, तथा खेत मे उत्पन्न गन्ने से गुड मिल जाता। इस प्रकार राजा चक्कवेण का जीवन सीधे-सादे सदाचारी किसान-सा था। छह घण्टे शयन एवं शरीर कार्य के अतिरिक्त उनका सारा समय प्रभुभक्ति, परोपकार, शास्त्रार्थ एव तपश्चर्या मे बीतता था। कहते है, इसी कारण चक्कवेण राजा का प्रभाव ऋषि, मुनि, देव दानव, मानव, पशु-पक्षी सब पर पड़ता था।

ऐसे आदर्श राजा के शासनाधीन रहने से कौन इन्कार कर सकता है ? यही कारण है कि राजा को समस्त अधिपो मे मुख्य और सर्वशक्तिमान, सर्वतेजोमय माना गया। वास्तव मे यह उचित भी था।

सर्वश्रेष्ठ राज्याधिप कौन ?

कई लोग समझते हैं कि सत्ता प्राप्त हो जाने तथा जनता पर अधिकाधिक कर लादकर राज्य की आय बढाने, अपना रौब एव दबदबा जमाने एव प्रजा को मीठी-मीठी बातो से खुश कर देने मात्र से हम श्रेष्ठ राज्याधिप हो सकते हैं, पर यह निरी भ्रान्ति है। एक ऐतिहासिक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट कर देना उचित होगा—

प्रियदर्शी सम्राट अशोक का जन्मदिन महोत्सव था। सभी प्रान्तो के शासक आये हुए थे। सम्राट की ओर से घोषणा की गई—सर्वश्रेष्ठ शासक को पुरस्कार दिया जायेगा। उत्तरी सीमा के शासक के कहा—'प्रादेशिक शासन की आय मैंने तीन गुनी बढा दी है।' दक्षिण के प्रान्ताधिप ने कहा—'इस वर्ष राज्यकोष मे मेरे प्रान्त की ओर से गतवर्ष से दुगुना सोना अर्पित किया गया है।' पूर्वी प्रान्तो के शासक ने कहा—'पूर्वी सीमान्त के उपद्रवियो का मैंने सिर तोड दिया है ताकि वे फिर सिर उठाने का साहस न कर सकें।' पश्चिम प्रदेशाधिपति बोले—'मेरे राज्य मे सेवको का वेतन घटा दिया गया है एव प्रजा पर कर बढा दिया गया है, जिससे आय अनेक गुनी बढ गई है। आय के अन्य कई स्रोत भी ढूंढ लिये गये हैं।'

सबसे अन्त मे मगध के प्रान्तीय शासक उठे। उन्होने नम्र शब्दो मे कहा—"महाराज ! मैं क्या निवेदन करूँ ? मेरे प्रान्त ने इस वर्ष प्रतिवर्ष से आधे से भी कम धन राज्यकोष मे भेजा है। प्रजा पर कर कम कर दिये गये हैं। राज्य-सेवको को कुछ अधिक सुविधाएँ दी गई हैं, जिसके फलस्वरूप वे अधिक उत्साह, प्रामाणिकता और श्रम के साथ अपना कर्तव्य अदा कर रहे हैं। प्रान्त मे सर्वत्र धर्मशालाएँ और कुंए बनवाये गये है, चिकित्सालय भी खोल दिये गये हैं, जिनमे नि शुल्क चिकित्सा होती है, प्रत्येक कस्बे और बडे गाँव मे पाठशाला खोली गई है, जहाँ नि शुल्क शिक्षा का प्रबन्ध है।"

यह सुनकर सम्राट् सिंहासन से उठे और घोषणा की कि मुझे प्रजा के रक्त से रजित स्वर्णराशि नही चाहिए, प्रजा को सुख-सुविधाएँ मिलें यही मेरी हार्दिक इच्छा है। मगध के प्रान्तीय शासक सर्वश्रेष्ठ शासक हैं। इस वर्ष का पुरस्कार इन्हे देकर गौरवान्वित करो। सारा राज-दरबार 'धन्य-धन्य' शब्दो से गूंज उठा।

वास्तव मे राज्याधिप की सर्वश्रेष्ठता का मापदण्ड अधिकाधिक सत्ता और अधिकार प्राप्त करना नही है, अपितु सत्ता और अधिकारो का कम से कम उपयोग करके तथा कम से कम दण्डव्यवस्था और कानूनो से प्रजा पर शासन करना तथा प्रजा स्वत प्रेरित होकर नियमो और कानूनो का पालन कर सके, इस प्रकार से प्रशिक्षित करना है। जहाँ ऐसी प्रशिक्षित प्रजा होती है, वह स्वत. ही धर्म मर्यादा मे

चलती है, राज्य के कानून-कायदो के बिना ही अपनी अन्तःप्रेरणा से वह नागरिक के सभी नियमो का पालन करती है। पर यह सब श्रेष्ठ एवं बुद्धिमान् राज्याधिप के होने पर ही हो सकता है। अशिष्ट, दुष्ट एवं मूर्ख राजा तो अपनी दण्डशक्ति के बल पर नाचता है, उसके राज्य मे तो अमन-चैन, सुव्यवस्था और सुख-शान्ति चौपट हो जाती है।

शिष्ट राज्याधिप न्याय मे सुदृढ

जो सज्जन और शिष्ट राज्याधिप (शासक) होते है, वे न्यायपरायण होते है। न्याय के मामले मे वे अपने परिवार के किसी व्यक्ति के अपराध पर भी रियायत नही करते। वे प्रजा के प्रति वफादार होते है और प्रजा की ओर से उनके किसी सम्बन्धी के प्रति कोई शिकायत या दोष की फरियाद आने पर वे उचित न्याय किये बिना नही रहते।

प्राचीनकाल मे काशी के एक राजा अपने न्याय के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे। वह न्याय के मामले मे अपने पारिवारिक जनो को भी रियायत नही करते थे। उनकी रानी का नाम करुणा था। जैसा उसका नाम था, वैसा काम नही था। उसके हृदय मे अपने ही मौज-शौक की लालसा थी, प्रजाजनो के दुःख-निवारण की चिन्ता नही थी। एक दिन करुणा रानी की इच्छा हुई कि मैं वरुणानदी मे स्नान और जलक्रीडा करने जाऊँ। उसने राजा से इस बात के लिए अनुमति माँगी और वरुणा के तट पर व्यवस्था कर देने की प्रार्थना की। राजा स्वयं उदार स्वभाव के प्रकृति-प्रेमी थे। वे चाहते थे कि महिलाएँ भी सुखपूर्वक प्राकृतिक छटा का अवलोकन करें और प्रकृति से कुछ प्रेरणा ले। अतः उन्होने बिना किसी आनाकानी के सहर्ष महारानी को आज्ञा दे दी तथा कुछ सिपाहियो को वरुणानदी के तट पर इस व्यवस्था के लिए भेज दिया। सिपाही नदी तट पर पहुँचे और वहाँ जिन गरीब मजदूरो की झोपड़ियाँ थी, उन्हे सावधान कर दिया कि आज महारानीजी यहाँ जलक्रीडा के लिए पधारने वाली है। इसलिए तुम सब लोग अपना-अपना आवश्यक सामान लेकर घण्टाभर के लिए अपनी झोपड़ी छोड़कर दूर चले जाओ। जब महारानीजी वापस चली जाएँ, तब लौट आना। बेचारे गरीब लोगो ने बहुत खुशियाँ मनाई कि महारानी पधारेंगी तो हमे भी कुछ इनाम दे जाएँगी। वह खुशी-खुशी अपनी झोपड़ियाँ बन्द करके दूर चले गये।

इधर महारानीजी अपनी सौ दासियो के साथ रथ पर सवार होकर वरुणानदी के किनारे पहुँची। वरुणा की शान्त, सतत प्रवाहित जलधारा देखकर करुणारानी ने मन ही मन सुन्दर प्रेरणा ली। फिर नदी मे प्रवेश करके विनोद करने लगी। यथेष्ट जलक्रीडा करके जब रानी बाहर निकली तो उसे ठंड लगने लगी। पौष का महीना था। इसलिए पानी से बाहर निकलते ही रानी थर-थर काँपने लगी। उसने अपनी पङ्कजश्री नाम की दासी से कहा—'यहीं से ढूँढकर सूखी लकड़ियाँ लाकर जला दे, ताकि मैं तापकर अपनी ठंड मिटा सकूँ।"

चम्पकवती लकडियाँ लेने गई, मगर वहाँ सूखी लकडियाँ कहाँ मिलती ! उसने नम्रतापूर्वक निवेदन किया—"महारानीजी ! यहाँ तो कही सूखी लकडियाँ नही दिखाई देती । आप महलो मे पधारें वहाँ मैं सब इन्तजाम कर दूंगी । क्षमा करें, मैं लाचार हूँ ।"

महारानी बोली—"मुझे तो इतनी ठड लग रही है और तू महलो मे पहुँचने को कह रही है । इस समय मुझे तापना जरूरी है । देख तो, ये सामने झौपडियाँ खडी है, इनमे से एक मे आग लगा दे । इससे मेरा ठड मिटाने का काम हो जायगा ।"

चम्पकवती समझदार और दयालु दासी थी । वह नम्रतापूर्वक बोली—"महारानीजी ! आपकी आज्ञा सिर-माथे पर, परन्तु ऐसा काम करना अच्छा नही है । ये बेचारे गरीबो की झौपडियाँ हैं । बडी मेहनत से उन्होने बनाई हैं । एक झोपडी मे आग लगाने पर आसपास की पचासो झौपडियाँ जलकर स्वाहा हो जाएँगी । गरीब लोगो का सर्वनाश हो जायगा । वे बेघर-बार होकर ठड के मारे मर जायेंगे ।"

यह सुनकर महारानी का पारा गर्म हो गया । वह गुस्से मे आकर बोली—"बडी आई है दयावती कही की ? अगर इतनी दया थी तो लकडियाँ क्यो नही ले आई ? अच्छा, सुलेखा ! तू जा और झटपट किसी एक झौपडी मे आग लगा दे ।"

सुलेखा दासी ने महारानी की त्यौरियाँ चढी हुई देखी तो वह सहमती हुई-सी चुपचाप दौडकर एक झौपडी के पास पहुँची और उसमे आग लगा दी । झौपडी धाँय-धाँय जल उठी । महारानी ने अपने हाथ-पैर सेके और ठण्ड मिटाई । शरीर मे गर्मी आने से शान्ति हुई । फिर महारानी अपने रथ मे बैठकर दासियो सहित राजमहल को चल दी ।

इधर एक झौपडी के जलने से उसकी लपटें हवा के कारण दूर-दूर तक फैल गई और आस-पास की सभी झौपडियाँ शीघ्र ही जलकर खाक हो गईं । गरीब लोग जब अपनी झौंपड़ियाँ सँभालने आये और उन्होने यह दृश्य देखा तो सन्न रह गये । झौंपड़ियो के बदले राख का ढेर उन्हे मिला, घर का सामान भी उसी के साथ भस्म हो गया । बेचारे गरीब मजदूरो के शोक का पार न रहा । वे रोने-चिल्लाने लगे—"हाय ! हमने तो सोचा था महारानी हमे कुछ बख्शीस देकर जाएँगी, उन्होने तो हमारा सारा घर-बार ही नष्ट कर दिया । हम अब कहाँ आश्रय लेगे । एक ही तो ठिकाना था ! अब हमारी क्या दशा होगी ?"

उन गरीब मजदूरो की झौंपडियो के आस-पास कुछ फक्कड बाबा भी रहते थे । उनमे से एक बाबा ने गरीबो को रोते चिल्लाते देख उन्हे ढाढस बँधाया और कहा—मूर्खो ! यो रोने-चिल्लाने मे तुम्हारी झौंपड़ियाँ कौन बना देगा ? तुम्हे पुकार ही करनी हो तो चलो, सब मिलकर मेरे साथ चलो । राजाजी के आगे अपनी पुकार करो । उनसे न्याय माँगो ।"

बस, आगे-आगे बाबाजी और पीछे पीछे गरीब मजदूरों का झुण्ड। जब बाजार ने झुण्ड को गुजरते देखा तो लोगों ने पूछा—"बाबाजी! आज कहाँ चढाई करने जा रहे हो?" बाबाजी ने उन गरीबों की झोंपडी महारानी द्वारा जला देने की बात कही तो कुछ लोग कहने लगे—"महारानी ने गरीबों की झोंपड़ियाँ जला दीं तो कौन-सी लंका जल गई? घास-फूस की कमी तो है नहीं, फिर खडी कर लेना। इतनी छोटी-सी बात के लिए महाराज तक जाने की क्या जरूरत है?"

बाबाजी ने कहा—"तुम्हें पता नहीं है, उन झोंपड़ियों में और सामान में इन गरीबों का कितना श्रम लगा है? आज तो महारानी ने इनकी झोंपड़ियाँ जलायी हैं, कल को अपने मौज-शौक के लिए तुम्हारे पक्के मकान भी जला सकती हैं। जो आज छोटा अत्याचार कर सकता है, उसे कल बड़ा अत्याचार करते क्या देर लगेगी? इसलिए अभी से चेत जाओ और अगर तुम्हारे मन में इन गरीबों के प्रति कुछ सहानुभूति है, तो तुम भी हमारे साथ चलकर राजा से फरियाद करो।"

लोगों के बात समझ में आ गयी।

कुछ समझदार लोग सहृदयतावश उन गरीबों के झुण्ड के साथ हो लिये और एक विशाल जनसमूह राजमहल के चौक में जा खड़ा हुआ। राजा ने जनता का शोर सुना तो महल के झरोखों से बाहर की ओर झांका। बड़ी-सी भीड देखकर राजा ने पूछा—"प्रजाजनो! क्या बात है? क्या तुम लोगों को किसी ने सताया है या तुम पर कोई आफत आई है?"

प्रजा—"महाराज! हम गरीबों का सर्वस्व लुट गया। हमारी सब झोंपड़ियाँ और उसमें रखी हुई सामग्री सब जलकर खाक हो गई। अब हम सर्दी-गर्मी कैसे बितायेंगे? निराधार हो गये हम तो?"

राजा—"तुम्हारी झोंपड़ियाँ किसने और क्यों जलायी?"

प्रजा—"अन्नदाता! आज महारानीजी नदी पर स्नान करने पधारी थी। स्नान के बाद उन्हें ठण्ड लगी तो तापने के लिए शायद एक झोंपड़ी में आग लगवाई होगी, मगर हवा के प्रबल वेग से आग की लपटें दूर-दूर फैल गयी और आसपास की सब झोंपड़ियाँ सामान सहित जलकर भस्म हो गयी। हम गृह-विहीन हो गये।'

राजा—"अच्छा! ऐसा अत्याचार हुआ तुम पर! ठहरो, अभी तुम्हारा फैसला करता हूँ। घबराओ मत।"

राजा ने उसी समय चम्पकली दासी को महारानी को बुला लाने का आदेश दिया।

चम्पकली ने महारानी के पास जाकर उन्हें राजा का आदेश सुना दिया। महारानी ने पूछा—"इस समय क्यों याद कर रहे हैं?"

चम्पकली बोली—'महारानीजी! मैंने जो कहा था वही हुआ न! आप मानी नहीं। आपने एक झोंपड़ी में आग लगवाई जिससे वहाँ की तमाम झोंपड़ियाँ

जल गयी हैं और वे झोंपडियो वाले राजाजी से फरियाद करने आये हैं, अभी राज-महल के चौक मे खडे है।"

रानीजी—"तो मुझे क्यो बुलाया है, महाराज ने ? उनकी झोंपडियाँ बनवा दें या उन्हे हर्जाना दे दें खजाने से।"

चम्पकवती—"आपको शायद उन्हे न्याय देने के लिए बुलाते होगे।"

रानी—प्रजा के सामने मैं पर्दे मे रहने वाली कैसे आ सकूँगी ? राजा होश मे तो है न ? क्या प्रजा के सामने मेरा फैसला होगा ?"

चम्पकवती ने आकर राजा से कहा तो उन्होंने कहा—"जो अपराध करेगा, उसे फैसले के लिए राजदरबार मे उपस्थित होना ही होगा। एक तरफ की बात सुनकर फैसला कैसे होगा ? अगर रानी ऐसे नही आ सकती हो तो साधारण दासी के वेष मे उपस्थित हो।"

चम्पकवती ने महाराजा का आदेश दुहराया, तव बहुत समझाने पर महारानीजी राजा के समक्ष साधारण वेष मे उपस्थित हुईं।

महाराजा ने पूछा—रानीजी ! क्या ये लोग जो फरियाद कर रहे हैं, वह सच है ?"

महारानी बोली—"महाराज ! इनका कहना यथार्थ है।"

राजा—"तो इसका दण्ड कौन भरेगा ?"

रानी—"क्या मुझे दण्ड भरना होगा ? महाराज ! आप मेरी सुख-सुविधा के लिए हजारो रुपये खर्च कर देते हैं, तो इनकी झोंपडियाँ भी अपने खर्च से बनवा दीजिए।"

राजा—"अपराध करो तुम और दण्ड भरे प्रजा, यह कहाँ का न्याय है ? राजकोष अपना नही है, यह तो प्रजा के ही पसीने की कमाई से भरा गया है, उस पर प्रजा का अधिकार है। उसमे से दण्ड भरना प्रजा पर और जुल्म करना है। अत इसका दण्ड तुम्हे ही भरना होगा। न्याय तो सबके लिए समान है। वह राजा या राजपरिवार का भी लिहाज नही करता, समझ गईं न ?"

महारानी—"मैं समझ गई महाराज ! आप न्यायप्रिय राजा हैं, जो भी दण्ड देंगे, उसे मैं सहर्ष स्वीकार करूँगी।"

राजा ने प्रजाजनो के समक्ष गम्भीर होकर फैसला सुनाया—"रानीजी ! तुम्हारे कारण इन गरीबो की जितनी झोंपडियाँ जली है, उन्हे अपने हाथ से मेहनत-मजदूरी करके कमाये हुए पैसो से बनाओ, तब तक अपना पेट भी उसी कमाई से भरो। जब झोंपडियाँ तैयार हो जाएँ, तभी राजमहल मे पैर रखना।"

महाराज के मुँह से यह कठोर न्याय सुनकर प्रजाजनो की आँखो मे आँसू बरसने लगे। उन्होंने चिल्लाकर कहा—"अन्नदाता ! हमारा न्याय हो चुका,

अब हमारा कोई दावा नहीं है। कृपा करके महारानीजी को इतना कठोर दण्ड न दीजिए।"

महारानी बोली—"महाराज! आपने जो कुछ न्याय किया है, वह उचित है। अब इसे न लौटाइए, मैं प्रसन्नता से इसका पालन करूँगी।"

प्रजा—"महाराज! हम रानीजी को ऐसा कठोर दण्ड दिलवाना नहीं चाहते, हमारी अब कोई फरियाद नहीं है, हम आपसे कुछ नहीं चाहते।"

राजा बोले—"प्रजाजनो! तुम्हारी भक्ति की मैं कद्र करता हूँ। पर न्याय के समक्ष मैं विवश हूँ। महारानी भी यही चाहती हैं।

महारानी—"आपने न्याय की रक्षा की है, मुझे इस पर गर्व है कि मैं सच्चा न्याय पा सकी हूँ। मुझे आज्ञा दीजिए। मैं जाती हूँ।"

महारानी ने अपने बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण उतार दिये और साधारण वेष में राजमहल से विदा हुई।

राजघराने एवं सेठ-साहूकारों की स्त्रियों ने रानी को ऐसा करने से रोका, मगर उसने किसी की न मानी। उसने घर-घर जाकर बहनों से कहा—"बहनो! अगर मेरे प्रति आपकी सहानुभूति है तो मुझे मजदूरी के काम दो। मेरी इस प्रकार से सहायता करो। मैंने गरीबों पर अत्याचार किया है, उसका दण्ड मुझे भोगने दो।"

इस प्रकार मजदूरिन बनी हुई रानी ने छह महीने तक श्रम करके सभी गरीबों की झोंपड़ियाँ बनवा दीं और सबको सन्तुष्ट करके राजाज्ञा से पुनः महल में प्रवेश किया।

बन्धुओ! यह है शिष्ट राज्याधिप में पाया जाने वाला अनिवार्य न्यायनिष्ठा का गुण! जिस राज्याधिप में न्यायनिष्ठा का यह गुण नहीं होता, उसके राज्य में अराजकता छा जाती है। राजा न्याय के मामले में पक्षपात करता है तो प्रजा भी अन्याय पीड़ित होकर दुःखी हो जाती है। राजकर्मचारियों और अधिकारियों के अन्याय-अत्याचार की शिकार बनी हुई प्रजा उसको हृदय से बिलकुल नहीं चाहती। उसकी प्रतिक्रिया कभी न कभी भयंकर विद्रोह के रूप में अवश्य होती है। परन्तु न्यायप्रिय शिष्ट राज्याधिप इस बात को सह नहीं सकता। वह अपने राजपरिवार में होने वाले अन्याय को भी बर्दाश्त नहीं कर सकता। श्रेष्ठ राज्याधिप में वैभव, धन और अधिकार का अहंकार एवं प्रदर्शन नहीं होता, वह प्रजा के हित के लिए नम्रभाव से राज्यकार्य करता है।

जो राजा शिष्ट एवं सज्जन होता है, वह राज्य का संचालन सेवा समझकर करता है। पाश्चात्य विचारक एजेसिलाउस (Agesilaus) के शब्दों में अच्छे राज्याधिप के लक्षण देखिये—

The King will best govern his realm who reigneth over his people as a father doth over his children

"वही राजा अपने राज्य पर श्रेष्ठ शासन कर सकेगा, जो अपनी प्रजा पर उसी प्रकार शासन करता है, जिस प्रकार एक पिता अपने बच्चो पर करता है।"

शेरशाह सूरी इसी प्रकार का एक नीतिमान् राज्याधिप था। अच्छा शासक बनने के लिए क्या-क्या मूल्य चुकाने पडते हैं, यह शेरशाह जानता था, किन्तु शेरशाह का तरुण पुत्र इस बात से अनभिज्ञ था। वह तो राज्य को एक खेल और प्रजा को अपने लिए किसी भी प्रकार प्रयुक्त करने का अपना अधिकार समझता था।

एक दिन अपने शौर्य, साहस तथा बाहुबल के आधार पर भारत का शासक बनने वाले शेरशाह का उत्तराधिकारी हाथी पर बैठकर शहर मे घूमने निकला। युवराज सहज ही प्राप्त वैभव के अहकार मे झूमता हुआ जा रहा था। वह अपनी वृत्तियो पर नियन्त्रण न रख सका। रास्ते मे एक मोदी की दुकान पर उसकी दृष्टि पडी। मोदी की युवा पत्नी दुकान पर बैठी थी। उसका सौन्दर्य देखकर उसके असस्कारी मन मे विकार पैदा हुआ। पानदान मे से दो पान के बीडे उठाकर उसने उस सुन्दरी पर फैके। बेचारी महिला सहमकर रह गई। गरीब घर की महिला पति के सहयोग एव बच्चो के पालन के लिए दुकान पर बैठती थी। पर-पुरुष द्वारा अपने सतीत्व के अपमान से उसके हृदय को भी चोट पहुंची। उसके पति ने भी यह सब देखा, परन्तु प्रतिकूल परिस्थिति समझकर खून का घूंट पीकर रह गया। परन्तु उसका अन्त करण न माना। उसने पडौसियो से परामर्श किया, जिन्हे इस घटना पर क्षोभ था। उन्होंने सलाह दी कि "कम से कम अपनी फरियाद तो बादशाह को सुना दो।" मोदी शेरशाह के पास पहुँचा और अपनी फरियाद उन्हे सुना दी। शेरशाह ने मोदी को दूसरे दिन दरबार मे आने को कहा।

परन्तु शेरशाह इस घटना को सुनने के समय से ही गम्भीर और बेचैन थे। रात भर उन्हे नीद न आयी। रह-रहकर उनके सामने अपनी प्रगति का इतिहास तथा युवराज की करतूत घूम रही थी। उन्होने सामान्य जागीरदार से ऊपर उठकर भारत का सिहासन अपने पौरुष के बल पर प्राप्त किया, किन्तु उन्होने अपनी सेना, कर्मचारी-गण एव प्रजाजनो का हृदय विश्वास और सद्भावना से जीता, यह भी कम महत्वपूर्ण न था। अत गुण प्राप्ति के महत्त्व के ज्ञाता शेरशाह अपने पुत्र के अवगुण को देखकर चिन्तित थे। शेरशाह को लग रहा था कि यदि प्रजा की मर्यादा से खिलवाड की, उसकी भावनाओ की कीमत न की तो अनर्थ निश्चित है। यदि राजा-प्रजा मे परस्पर विश्वास, स्नेह एव सौहार्द समाप्त हो गया तो फिर राज्य चल ही नही सकता। युवराज को अपनी भूल का अनुभव एव उसकी गम्भीरता समझाना बहुत आवश्यक है। फलतः प्रात ही शेरशाह ने अपने युवराज को अपराधी की भाँति दरबार मे लाने की आज्ञा दी।

आज शेरशाह सूरी के दरबार मे विशेष चहल-पहल थी। दरबारे-आम मे हर व्यक्ति शकित, चकित और स्तब्ध बैठा था। प्रधान सेवक ने जब शेरशाह को दरबार भर जाने की सूचना दी तो वे उस ओर चल पडे।

युवराज को दरबार में लाया गया। शेरशाह ने पहले दुकानदार से उसकी शिकायत सुनी, फिर युवराज से प्रश्न पूछे। गवाहों से उसकी पुष्टि करायी। युवराज नतमस्तक था। उसने यह स्वीकार तो कर लिया था कि उसने दुकानदार की स्त्री पर पान फेंके, पर साथ ही उसने इस घटना को सामान्य सिद्ध करते हुए कहा—"जहाँपनाह! मैंने तो यूँही उस पर पान फेंक दिये थे, दुकानदार बेकार का तूल दे रहा है।"

शेरशाह शेर की तरह गर्ज पड़े—"यूँही! किसी की आबरू से खेल जाना यूँही हुआ? तुम किस गुमान में हो 'वली अहद' (युवराज)! किसी की बीवी की इज्जत क्या होती है, इसका तुम्हें एहसास नहीं है। मैं अभी तुम्हें समझाये देता हूँ।" और तुरन्त युवराज की पत्नी को दरबार में तलब किया गया। युवराज को अपना क्या अहंगा पड़ गया। लोग भौंचक्के-से होकर धड़कते दिल से सब कार्यवाही देख रहे थे। पुरदा ओढ़े जब युवराज वली अहद की बीवी दरबार में आई तो शेरशाह पुनः गर्जे—"इसका मुँह खोल दो।" युवराज ने आँखें बन्द कर लीं, बेगम भी नीची निगाह किये खड़ी रहीं। शेरशाह ने दुकानदार को अपने पास बुलाकर उसके हाथ में दो पान दिये और कहा—"ये पान गुनाहगार की बीवी पर फेंक दो।"

इतने कठोर दण्ड की आशा किसी को न थी। स्वयं शेरशाह का हृदय फटा-फटा रहा था। उसकी बहू लाचार सबके सामने मुँह खोले बेकसूर आँखों में आँसू भरे सहमी खड़ी थी। युवराज के जीवन की बड़ी हानि के सामने यह हानि कुछ बिसात में न थी। युवराज के जीवन को गलत दिशा से मोड़कर सही मार्ग पर लाना, इसके सिवाय कोई ही रास्ता था। अतः शेरशाह ऊपर से कठोर, किन्तु भीतर से शान्त व गम्भीर थे। फरियादी पान हाथ में लिये शान्त खड़ा था। मन में द्वन्द्व मच रहा था। सहसा आगे बढ़कर उस सहमी खड़ी युवती के पैरों पर दोनों पान रख दिये और हाथ जोड़कर बोला—"शाहंशाह! आपके हुक्म की तामील हो गई। मैं यहाँ अपराध रोकने की फरियाद लेकर आया था, अपराध करने नहीं। हम हिन्दुओं का तो कोई अपराध है नहीं। हमारे यहाँ तो स्त्रीमात्र पूज्य एवं देवी मानी जाती है। जो अपराध युवराज ने अज्ञानवश किया, यदि मैं भी जानबूझकर उस अपराध को करूँगा तो परमात्मा के आगे क्या जवाब दूँगा? युवराज को दण्ड मिल गया। जहाँपनाह! दुनिया ने देख लिया कि आपकी निगाह में प्रजा की हर बहू-बेटी की इज्जत अपनी बहू-बेटी के समान है। आपकी इस आज्ञा के न पालन करने का यदि कोई दण्ड हो तो मुझे दिया जावे, परन्तु इस देवी के प्रति मुझे अपराधी न बनाया जाय यह मेरी हार्दिक फरियाद है।"

सभी उपस्थित जनता, युवराज, बेगम एवं शेरशाह सब की आँखें गीली हो गईं। शेरशाह ने दुकानदार की पीठ ठोकी, बोले—"तुम्हारी यह फरियाद, फरियाद ही नहीं, हुक्म भी है, इसे टालने की मुझमें ताकत नहीं है। तुमने मेरे [illegible]

आसान बना दिया है। तुम्हारी बात मुझे मजूर है।" यो कहकर शेरशाह ने स्वयं आगे बढकर अपनी बहू का मुँह ढक दिया। उसी समय युवराज आगे बढकर दुकानदार से गले मिला और शेरशाह के चरणो मे गिरकर अपने अपराध के लिए माफी माँगी, भविष्य मे ऐसा अपराध न करने का वचन दिया।

भाग्यशालियो ! यह है श्रेष्ठ राज्याधिप की न्यायनिष्ठा एव व्यापक सूझ-बूझ-भरी दृष्टि, जिससे जनता का हृदय जीता जाता है।

श्रेष्ठ राज्याधिप में प्रजावत्सलता

राज्याधिप वही श्रेष्ठ माना जा सकता है, जो प्रजा के प्रति वफादार हो, प्रजावत्सल हो, प्रजा के दिल को दु खित न करता हो, प्रजा के दु ख को दूर करने के लिए सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार हो। 'ताओ-उपनिषद' मे बताया गया है कि **"जो देश के कड़े बोल सहता है, वही देश का स्वामी है, जो देश के लिए दुःख सहता है, वही सच्चा राजा है।"**

नीतिकारो ने राजा के लिए प्रजारजन का गुण आवश्यक बताया है—

प्रजां न रजयेद् यस्तु राजा रक्षादिभिर्गुणैः।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्॥

"जो राजा प्रजा को उसकी सुरक्षा आदि गुणो द्वारा रजित (प्रसन्न) नही करता, बकरी के गले मे लगे स्तन की तरह उसका जन्म निरर्थक है।"

वास्तव मे प्रजावत्सल राजा मे प्रजा के प्रति हार्दिक सहानुभूति एव दया होती है। नौवी सदी के पूर्व की गुजरात की एक घटना है। गुजरात पर राजा भीमदेव शासन करते थे। लगभग एक साल से अनावृष्टि थी, किसानो के खेतो मे कुछ भी अन्न न हुआ तो वे कर कहाँ से चुकाते ? कई गाँवो के किसान कर न दे सके तो राजा के सिपाही उन गाँवो मे घर-घर जाकर कर के बदले मे जो कुछ मिला, उठा लाए।

राजकुमार मूलराज अभी छोटे ही थे, पर मन मे प्रजावत्सलता कूट-कूटकर भरी थी। उनसे किसानो की यह दयनीयदशा तथा जबरन कर बसूल करने की प्रवृत्ति देखी न गई। वे उस समय घुडसवारी सीख रहे थे, राजाजी ने उन्हे कहा था—"मन लगा कर सीखोगे तो पुरस्कार मिलेगा।" राजकुमार ने रात-दिन उत्साहपूर्वक जुटकर घुडसवारी एक सप्ताह मे सीख ली और उसकी परीक्षा देने के लिए पिता के सम्मुख उपस्थित हुआ। राजकुमार के उत्साह व नैपुण्य को देखकर राजा ने उसे पुरस्कार माँगने को कहा। राजकुमार ने कहा— "मैं यही पुरस्कार चाहता हूँ कि गरीब किसानो के यहाँ से जो सामान राजसेवक, कर न दे ... कार ... हैं, वह उन्हे वापस लौटा दिया जाए।" भीमदेव यह ... —"मेरा

पुत्र इतना प्रजावत्सल है ! बेटा ! तुम अपने लिए भी कुछ माँग लो।" राजकुमार मृगराज बोले—"पिताजी ! मुझे बहुत प्रसन्नता होगी, यदि आप यह घोषणा करा दें कि जहाँ अकाल पड़ेगा, वहाँ के किसानों से कर नहीं लिया जायेगा।" यह पुरस्कार देकर राजा को भी बहुत प्रसन्नता हुई।

यह है श्रेष्ठ राजा की प्रजावत्सलता का नमूना। कई राजाओं में इससे भी अधिक प्रजावत्सलता पाई जाती है। राजा रतिदेव में इतनी प्रजावत्सलता थी कि अपने राज्य में घोर दुष्काल पड़ने पर राज्य का अन्नभण्डार आमजनता के लिए खोल दिया। स्वयं ४८ दिनों तक उपवासी रहे। पारणा के समय जो भी आया, उसे रोटी और पानी अपने पारणे के लिए आये हुए भोजन में से दिया। ऐसे राज्याधिप उत्कृष्ट प्रजावत्सल शासक कहे जा सकते हैं, जो प्रजा के हित के लिए अपने प्राणों को होमने के लिए तत्पर होते हैं।

श्रेष्ठ राज्याधिप के राज्य मे कोई चोर, डाकू, अनाचारी नहीं

श्रेष्ठ राज्याधिप का इतना प्रभाव होता है कि उसके राज्य मे कोई भी पापी नहीं रहता। पाप को अवकाश ही तब मिलता है, जब जनता के सुख-शान्ति और अमन-चैन में कोई बाधा हो। जहाँ प्रत्येक नागरिक के पास खाने-पीने-पहनने के पर्याप्त साधन हों, सभी यथालाभ सन्तुष्ट हों, दूसरों से ईर्ष्या न होती हो, सब अपनी धर्म-मर्यादा में चलते हों, किसी पर कोई आकस्मिक संकट आ पड़े तो धर्म-धुरंधर राजा उस संकट-निवारण के लिए प्रयत्नशील रहता हो, वहाँ चोरी, डकैती, बेईमानी, रिश्वतखोरी, दुराचार और अनाचार को स्थान ही कैसे मिल सकता है ?

राजा अश्वपति ऐसे ही एक आदर्श राजा हो गये हैं, जिनके राज्य में कोई भी चोर, डकैत, व्यभिचारी या अनाचारी नहीं था।

एक बार एक जगह अनेक ऋषि एवं ऋषिपुत्र आत्मा एवं ब्रह्म के बारे में विचार-विमर्श करने के लिए एकत्र हुए। विचार-चर्चा कुछ उग्र हो गयी, वाद-विवाद बढ़ता गया, किसी एक निश्चय पर वे न पहुँच सके। अतः वे सभी महर्षि उद्दालक के पास पहुँचे। उन्होंने कहा—"इस वैश्वानर आत्मा का ठीक-ठीक ज्ञान तो अश्वपति नृप को है। हम सब उनके पास चलकर निर्णय करें तो अच्छा होगा।' सभी लोग अश्वपति राजा के यहाँ पहुँचे। उन्हें अपने यहाँ आये देख अश्वपति को बड़ा हर्ष हुआ। उनको अभिवादन के पश्चात आसनादि दिये। फिर स्वयं चरण-प्रक्षालन किया। चन्दनमाला, पुष्प आदि से सत्कार (पूजन) किया। तत्पश्चात् उनके भोजन के लिए स्वादिष्ट सात्त्विक आहार स्वर्णपात्रों में भरकर तथा ऊपर से स्वर्णराशि दक्षिणा के रूप में निवेदित की। अभ्यागतों ने न तो भोजन को छुआ और न ही धन को। इस व्यवहार से अश्वपति को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे हाथ जोड़कर बोले—"[illegible] विदेव ! मैं जानता हूँ कि शास्त्र में राजा का अन्न [illegible] बताया गया है,

क्योकि राजा के कोष मे चोर, डाकू, अनाचारी आदि पर अर्थदण्ड का पापी धन भी आता है। प्रजा के पाप मे राजा को भी भागी होना पडता है। 'लेकिन' उसने कहा—

न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्यो, न च मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्, न स्वैरी, स्वैरिणी कुतः॥

"मेरे राज्य मे कोई चोर, डाकू, कृपण, शरावी, वेईमान अनाहिताग्नि एवं मूर्ख नही है, न अनाचारी पुरुष है तो अनाचारिणी स्त्री कहाँ से होगी ? अत मेरा अन्न और धन निर्दोष है।"

इस पर आश्वस्त होकर सब लोगो ने भोजन किया और फिर अश्वपति ने उन्हे आत्मज्ञान दिया।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि आदर्श राजा जनक जैसा निर्लिप्त, त्यागी, आत्मज्ञानी और तेजस्वी होता है कि उसके प्रभाव से समग्र राज्य मे पाप प्रविष्ट नही हो सकता और न ही पाप करने की बात किसी के मन मे आ सकती है।

श्रेष्ठ राजा प्रजा की पीड़ा जानने के लिए गुप्तवेष में घूमता है

श्रेष्ठ राज्याधिप मे यह गुण होता है कि वह दिन या रात मे अकेला वेष बदलकर अपने राज्य मे विचरण करता है अथवा अपने विश्वस्त गुप्तचरो को भेजता है, ताकि जो दीन प्रजा अपनी पीडा की पुकार राज्य-कर्मचारियो और अधिकारियो की भ्रष्टता के कारण राजा तक नही पहुँचा सकती, उसे राजा सीधे जान सके और योग्य उपाय कर सके। ऐसे राजा प्रजा के दु ख को अपना दुःख समझते थे, साथ ही प्रजा की प्रकृति, प्रतिक्रिया, भावना और आदत का भलीभाँति पता लगाकर उसकी गलत बातो का सुधार करते एव नये उपयोगी कानून बनाते थे।

लगभग २५० वर्ष पहले रूस मे सम्राट (जार) आईडॉन राज्य करता था, वह अत्यन्त प्रजाहितैषी एव जनता के सुख-दु ख मे सहभागी था। वह प्रजा के दु ख-दर्द को समझने तथा प्रजा की गति-विधियो को जानने के लिए गुप्तवेष मे घूमता था। एक बार वह फटेहाल बनकर मास्को प्रान्त मे अकेला घूम रहा था। वह एक छोटे से गाँव मे पहुँचा। रात हो गई थी। वह प्रत्येक घर मे जाकर प्रार्थना करता "मैं बहुत थक गया हूँ क्या आज रात को तुम्हारे यहाँ रहने को जगह मिलेगी ?" लेकिन इस गुप्तवेषधारी फटेहाल की बात पर किसी ने ध्यान नही दिया और निष्ठुरता से सबने इन्कार कर दिया। अपनी प्रजा के ऐसे निष्ठुर व्यवहार से मन मे अतिसताप करता हुआ सम्राट राजमहल की ओर लौट रहा था, तभी उसकी नजर मार्ग मे स्थित एक झोंपडी पर पडी। उसने पास जाकर दरवाजा खटखटाया। एक किसान दरवाजा खोलकर बाहर आया। पूछा—"कौन हो भाई ? कैसे आये हो ?" सम्राट ने कहा—"मैं एक थका-मांदा राही हूँ, क्या मुझे अपने यहाँ रात्रिनिवास करने दोगे ?

[illegible] कहा—"[illegible], [illegible] ! मेरे घर में थोड़ा-सा खाने को है, [illegible] [illegible] [illegible] आये। मेरी पत्नी आज बीमार है, इसलिए मुझसे मेहमानदारी [illegible] नहीं बनी। [illegible], अन्दर चले आओ, बाहर क्यों खड़े हो ?"

[illegible] [illegible] को झोंपड़ी के अन्दर बनी एक कोठरी में ले गया, जहाँ उसके [illegible] [illegible] बिछावन। [illegible] ने सम्राट् से कहा—"[illegible] पर बैठो। मैं [illegible] [illegible] की व्यवस्था करता हूँ।" इतना कहकर वह अन्दर से रोटी और [illegible] [illegible] [illegible] और बोला—"लो, मेरे बच्चों के साथ खाना खाओ, [illegible] मैं [illegible] पत्नी का [illegible] जाता हूँ।" वह थोड़ी देर में एक छोटे से [illegible] [illegible] [illegible] और कहने लगा—"कल इसका नामकरण होगा।" सम्राट् ने प्रेम से उसे गोद में लिया और बोला—"यह बालक बड़ा भाग्यशाली होगा।" [illegible] [illegible] हुआ। [illegible] [illegible] के पास [illegible] ही बिछौना था, जिसे उसने सम्राट् के लिए बिछा दिया, और स्वयं घास बिछाकर सो गया। सुबह आगन्तुक [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] कहा—"मैं [illegible] पहुँचकर अपने एक धनिक मित्र से [illegible] [illegible] [illegible] इस बालक का धर्मपिता बन जाय। तुम मुझे वचन दो कि मेरे [illegible] [illegible] इस [illegible] का नामकरण नहीं करोगे। मैं तीन घंटे में आता हूँ।" [illegible] ने [illegible] किया।

[illegible] [illegible] [illegible] कि तीन घंटे बाद [illegible] [illegible] सम्राट् [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] उसने कहा—'मैं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], मेरी गोद में इस बच्चे को दे दो, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], वह [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] सम्राट् ने [illegible] [illegible] [illegible] कहा—'तुमने [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हूँ।" [illegible] [illegible] सम्राट् [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] को खुशी से [illegible] किया।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] में [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है।

जैसा राजा, वैसी प्रजा

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] आचरण, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] भी [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रजा भी [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] राजा [illegible] [illegible] ॥

"राजा धर्मात्मा होगा तो प्रजा भी धर्मपरायण होगी, और पापी होगा त प्रजा भी पापिष्ठ होगी। राजा के समान ही प्रजा होगी। क्योकि प्रजा राजा क अनुसरण करती है, जैसा राजा होता है, वैसी ही उसकी प्रजा होती है।"

अत. शिष्ट राजा ऐसा कोई भी गलत कदम नही उठाता, न निकृष्ट, पापयुत्त अधार्मिक व्यवहार करता है, जिससे प्रजा को उसके अनुसरण का मौका मिले।

जो जनता के हृदय पर शासन करे, वही उत्कृष्ट राजा

वास्तव मे उत्कृष्ट राजा वह है, जो जनता के हृदय पर शासन करे। ऐसे त अपने मिथ्या पराक्रम से, छलबल से राज्य हस्तगत करके हर कोई राजा कहला लगता है, परन्तु अगर वह प्रजा को पीडित करता है, उनका शोषण करता है, सता हे तो वह प्रजा का हृदयसम्राट नही हो सकता। पाश्चात्य विचारक फोर्ड (Forc ने इसी बात का समर्थन किया है—

"Happy the kings, whose thrones are founded on their people hearts."

'वे भाग्यशाली राजा है, जिनके सिंहासन जनता के हृदय पर प्रतिष्ठित है।

जिन राजाओ के जीवन मे त्याग-बलिदान की मात्रा अधिक होती है, वे ह राजा जनता के हृदय पर अपना सिंहासन (आसन) स्थापित करते है। जो जरा-ज से स्वार्थ के लिए मरते है, प्रजा पर नाना प्रकार के कर लगाकर उसे चूसते है, जनता के हृदय मे अपना आसन नही जमा सकते।

प्राचीनकाल मे कौशल का एक राजा था, जो अपने को जनता का सेव मानता था, जनता के दु ख-दर्द के समय उसका हृदय चीत्कार उठता था। वह न्याय-नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करता था। एक बार उसकी वर्षगाँठ थी। कौशल की जनता ने तो उसकी वर्षगाँठ मनाई ही, अपने हृदय से हजारो आशीर्वादसूचक मगल-कामनाएँ भी की—"हमारे प्रजावत्सल राजा दीर्घायु और स्वस्थ्य हो," परन्तु आसपास के जनपदो की, यहाँ तक कि काशी की जनता ने भी उनकी मगल वर्षगाँठ मनाई, क्योकि वह इतने परोपकारी और दयालु थे कि कोई भी, किसी भी जनपद का निवासी भूखा, दुखी, दीन-हीन मानव उनके यहाँ पहुँच जाता, वह खाली नही लौटता था। उसे वह कुछ न कुछ सहायता देकर सन्तुष्ट करते थे। इसी कारण दूर-दूर तक की जनता के हृदय मे कौशलनरेश के प्रति गहरा अनुराग था।

परन्तु दुष्ट काशीनृप को कौशलनरेश के प्रति जनता का यह अनुराग और उनके प्रति प्रेम व्यक्त करने के लिए उनकी वर्षगांठ मनाना फूटी आँखो नही सुहाया। ईर्ष्यावश उसने जनता को ऐसा करने से रोका, जब जनता नही रुकी तो अपना अपमान समझकर बडी भारी सख्या मे सेना लेकर कौशल पर चढाई कर दी।

यद्यपि कौशल की सेना और जनता ने वीरतापूर्वक उसका सामना किया, किन्तु आखिर सख्या और शस्त्रास्त्र की कमी के कारण वह हार गई। कौशलनरेश को

अपना राज्य छोड़कर भागने को विवश कर दिया, काशीनरेश ने कौशल देश पर अपना अधिकार जमा लिया। इतना ही नहीं, काशीनृप ने यह घोषणा भी करवा दी कि 'जो कौशलनरेश का मस्तक लायेगा उसे मैं सवा मन सोना दूंगा।' कौशलेश ने जब यह समाचार पढ़े तो एक दिन एक दुःखी ऋणपीड़ित और सहायता के लिए कौशल देश जाने के इच्छुक यात्री को अपने साथ लेकर वे काशीनृप के दरबार में स्वयं अपना मस्तक देकर उसे सवा मन सोना दिलाने पहुँचे।

कौशलराज को परदुःखी के उद्धार के लिए स्वयं अपना सिर देने के लिए तत्पर देख काशीनृप का हृदय एकदम पलट गया। वे सद्गद होकर सिंहासन से उतर पड़े और [illegible] कौशलनरेश के सिर पर मुकुट लगाकर उन्हें सिंहासन पर बिठा दिया। काशीनृप का सारा अहंकार गल गया। उन्होंने कौशलेश को न चाहते हुए भी पुनः कौशल देश का राज्य सौंपा और स्वयं उनके सेवक बनकर रहने का निश्चय किया।

यह था [illegible] के हृदय पर शासन करने का श्रेष्ठ राजा का मूलमंत्र।

राज्याधिप कैसे बिगड़े ? कैसे दुष्ट हुए ?

[illegible] काशीनरेश जैसे सद्गुणी, न्यायपरायण, धार्मिष्ठ एवं श्रेष्ठ राज्याधिप कैसे बिगड़े और कैसे दुष्ट हो जाते हैं, इसका क्या कारण है? इसके [illegible] प्राचीन भारतीय इतिहास पर नजर डालनी होगी।

कोशिश करने लगे या झगडा, मार-पीट, चोरी-डकैती, दगा-फसाद करने पर उतारु हो गये। यही कारण हैं राज्याधिपो से उद्दण्ड और दुष्ट बनने के।

वास्तव मे जब राजा मे अन्याय, अत्याचार, निरकुशता, सत्ता का मद, शोषण, दुर्व्यसन, अति स्वार्थ आदि दूषण आ जाते है तो वह शिष्ट अधिप से दुष्ट अधिप बन जाता है, ऐसी दशा मे उस पर कोई नियन्त्रण-बल न हो तो वह दुष्ट से दुष्टतर होता जाता है। उसका शासन दु शासन बन जाता है। राजा को इसीलिए नीतिकारो ने परामर्श दिया है—

> राजन् ! दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेनां,
> तेनाद्य वत्समिव लोकममु पुषाण ।
> तस्मिश्च सम्यगनिश परिपुष्यमाणे,
> नानाफलं फलति कल्पलतेव भूमिः ॥

"राजन् ! यदि पृथ्वी रूपी गाय को (कर आदि से) दुहना चाहते हो तो पहले बछडे की तरह इस लोक (प्रजासतान) को सेवारूपी दूध पिलाकर पुष्ट करो। यदि प्रजासन्तान अहर्निश सम्यक् रूप से परिपुष्ट होगी तो यह पृथ्वी कल्पलता की तरह अनेक फल देगी।"

राजा के दुष्ट अधिप होने के कई कारण नीतिकारो ने बताये है—

> अवज्ञानाद्राज्ञो भवति मतिहीनः परिजनः,
> ततस्तत्प्रामाण्याद् भवति न समीपे बुधजनः।
> बुधैस्त्यक्ते राज्ये नहि भवति नीतिर्गुणवती,
> विपन्नायां नीतौ सकलमवशं सीदति जगत् ॥१॥

"राजा जब राज्यकार्य से बेखबर रहता है, अज्ञानी रहता है, तब उसके परिजन-पौरजन दुर्बुद्धि हो जाते है और ऐसा प्रमाणित होने पर राजा के पास कोई प्रबुद्ध विद्वान नही फटकता। जिस राज्य को बुद्धिमान लोग छोड देते हैं, वहाँ की राज-नीति दूषित हो जाती है। नैतिक सकट आ पडने पर सारा जगत् विवश होकर दु ख पाता है।"

> नृपः कामासक्तो गणयति न कार्यं, न च हितम्,
> यथेष्टं स्वच्छन्द प्रविचरति मत्तो गज इव।
> ततो मानध्मातः स पतति यदा शोकगहने,
> तदा भृत्ये दोषान् क्षिपति, न निज वेत्त्यविनयम् ॥२॥

"जब राजा कामासक्त हो जाता है तब उसे न तो अपना कर्तव्य सूझता है, और न ही स्व-पर-हित। ऐसी स्थिति मे वह मतवाले हाथी की तरह स्वछन्द होकर चलता है। जब उसके अभिमान पर (पराजित होने से) चोट पहुँचती है तब वह गहरे शोक मे डूब जाता है, और उसका दोष अपने सेवको और कर्मचारियो के गले मढता है किन्तु अपने अविनय को नही जान पाता।"

पानं स्त्री मृगया द्यूतमर्थदूषणमेव च ।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्यं व्यसनानि महीभुजाम् ॥३॥

"मद्यपान, परस्त्रीगमन, [illegible], शिकार, द्यूत, शोषण, अन्याय, अत्यधिक [illegible] आदि अर्थदण्ड, वाणी और दण्ड की कठोरता, ये राजाओं के दुर्व्यसन हैं, [illegible] हैं।"

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा, दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति, नरकं चैव गच्छति ॥४॥

"जो राजा अदण्डनीय को दण्डित करता है और दण्डनीय को दण्डित नहीं करता, वह महान् अपयश पाता है और नरक में जाता है।"

य उद्धरेत्करं राजा प्रजा धर्मेष्वशिक्षयन् ।
प्रजानां शमलं भुङ्क्ते, भगं च स्वं जहाति सः ॥५॥

"[illegible] धर्मानुकूल शासन [illegible] जो केवल उनसे विविध कर [illegible], वह प्रजाओं के पाप का उपभोग करता है और [illegible] अपने ऐश्वर्य

इस प्रकार के दुष्ट राज्याधिप तथा किसी भी क्षेत्र के दुष्ट अधिप या अधिकारी का ध्यान फिर अपने कर्त्तव्य और दायित्व की ओर नही रहता। वह जरा-जरा सी बात पर मूर्खतावश कठोर दण्ड देता रहता है। उसका जोर एकमात्र दण्ड पर ही रहता है, वह राज्य के कानून-कायदो या जीवन के अमुक क्षेत्र के नियमो मे सशोधन नही करता, न भ्रष्टाचार को रोक पाता है। स्वय अपने अनेक दूपणो से पतित और मूढ वना वह अधिप फिर सज्जनो को ही दण्ड देता रहता है, जो चालाक और वाचाल होते हैं, निकडमवाज होते हैं, वे दण्ड से वच जाते हैं। इसीलिए महर्षि गौतम ने स्पष्ट कहा है—

'दुट्ठाहिवा दंडपरा हवंति'

दुष्ट अधिप सिर्फ दण्डपरायण ही होते है। दण्ड पर ही उन्हे विश्वास होता है, किसी को दवाना, सताना, पीडित, शोपित और पददलित करना और अपना रौब जताना, एकमात्र दण्डशक्ति से जनता पर अपनी हुकूमत जमाना यही उनकी दुर्नीति होती है, परन्तु इस अत्याचार का दुष्परिणाम उन दुष्टाधिपो को भोगना ही पडता है।

दु खविपाक सूत्र मे एक इसी प्रकार के एक दुष्टाधिप की प्रेरणाप्रद कथा अकित है—

सिहपुर मे दुर्योधन नामक एक अन्यायी, अत्याचारी, प्रजा-पीडक एव महादुष्ट दण्डनायक था। वह अपने आपको राजा के समान ही सत्ताधीश के कम नही समझता था। जनता के हित, कल्याण एव जनता के लिए उत्सर्ग, त्याग या परोपकार की भावना उसमे नाममात्र को भी नही थी। वह अपने कर्तव्य और दायित्व को न समझकर केवल अधिकार के मद मे चूर रहता था। जनता को डरा-धमकाकर धन वटोरने, अपना स्थान और पद जमाने के लिए उन्हे त्रस्त और उत्पीडित करने मे ही उसका समय व्यतीत होता था। जनता को लूटने, अपहरण करने, स्त्रियो के साथ वलात्कार करने, झूठे मुकदमे लगाकर रिश्वत लेने, मारने-पीटने, सताने और दु ख देने मे ही उसे आनन्द आता था। विविध पापकर्म करने के बावजूद भी पूर्वकृत पुण्यवश उसका धन और वल वढता गया। इसका मद उसकी नस-नस मे छा गया। वह यह भूल गया था कि दूसरो को दु ख देने का परिणाम दु ख-प्राप्ति होता है, इसके विपरीत वुद्धि पर अहकार और अज्ञान का पर्दा पड जाने के कारण वह यही समझता था कि कौन है, जो मेरे सामने जरा भी चूँ-चपड कर सके ? किसकी ताकत है, मेरी आज्ञा की अवहेलना कर सके ? मेरी धाक जम गयी है। इस प्रकार की राक्षसी प्रवृत्ति और राक्षसी आकृति के कारण लोग उसके नाम से ही काँप उठते थे। इस प्रकार दुर्योधन दण्डनायक दुष्ट प्रवृत्तियो का आदी हो गया। उसका पुण्य प्रवल था, इसीलिए साधन, सम्पत्ति आदि अवश्य मिले, लेकिन दृष्टि निर्मल न होने से वे अधिकाधिक पापजनक बने। उसका पुण्य पापानुबन्धी था, क्षणिक सुख पर अनन्त काल के दु खो के बीज पडे हुए थे।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि जनता की सेवा के लिए मिले आधिपत्य का जो जनता को उत्पीडित एव क्रूरता से दण्डित करके दुरुपयोग करता है, उसे देर सवेर उन दुष्कर्मो का फल मिले बिना नही रहता।

प्राचीन भारतीय इतिहास मे ऐसे भी अनेको उदाहरण मिलते हैं, जो राज्याधिप निरकुश और उद्दण्ड होकर प्रजा को सताता था, धर्मविरुद्ध चलता था, दुराचारी बन गया था, उस सत्तामदान्ध राजा को प्रजा ने ऋषि-मुनियो और ब्राह्मणो के सहयोग से राजगद्दी से उतार दिया था।

वैदिक महाभारत मे राजा वेन की कथा आती है। वह अत्याचारी और निरकुश राजा था। उसने अपने अन्धाधुन्ध मनमाने व्यवहारो से अपने पिता को ही राज्य छोडकर भागने को विवश नही किया, बल्कि सात्त्विक ऋषियो को छेडकर उनके हृदय मे भी क्रोध का बीज अकुरित कर दिया। फलत प्रजा ने भडककर ऋषियो के नेतृत्व मे उसे उखाड फैंका। उसके स्थान पर ऋषियो द्वारा शपथ दिलाकर वेन के पुत्र वेन्य-पृथु को राजगद्दी पर बिठाया।

अत दुष्ट राज्याधिप को तो भारतीय जनता प्राय सहन नही कर पाती थी। मध्ययुग मे जब जनता के नैतिक सगठन निर्बल हो गये या न रहे, तब कई निरकुश, दुर्व्यसनी एव अत्याचारी राजाओ ने अपनी मनमानी चलाई।

राज्याधिप की अति कठोर दण्डपरायणता से क्या हानि, क्या लाभ ?

कई राज्याधिपति यह सोचा करते है कि कठोर दण्ड देने से उसके भय से जनता पापकर्म या धर्मविरुद्ध कार्य करने से रुक जायगी, परन्तु यह सोचना भी भूलभरा है। अत्यधिक दण्ड से प्रजा सुधरती नही, बल्कि धृष्ट होकर पाप या अकृत्य करती रहती है। फिर उसे रोकना या काबू मे करना कठिन हो जाता है। दण्ड देते-देते राजा थक जायगा, रात-दिन इसी क्रूर उधेडबुन मे पडा रहेगा।

अति कठोर दण्डपरायणता से क्या-क्या हानियाँ होती हैं? इसे समझाने के लिए मैं एक ऐतिहासिक उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ—

पाटलिपुत्र के तरुण राजा अशोक ने एक दिन अपने महामन्त्री से कहा—"मेरे राज्य मे पाप और अपराध का नामोनिशान भी न रहना चाहिए।"

महामन्त्री ने करबद्ध होकर कहा—"महाराज! भारतीय लोग सौगन्ध खाने के लिए भी झूठ नही बोलते, वे अपने घर के ताला नही मारते, चाहे जैसे झगडे के निपटारे के लिए अदालत मे नही जाते।"

"पर महामन्त्री! इतने मात्र से ही मुझे सन्तोप नही होता। मेरी महत्वाकाक्षा तो यह है कि मेरे राज्य मे पापकार्यमात्र नष्ट हो जाय, पापी का नाम भी न रहे।" सम्राट ने कहा।

महामन्त्री कुछ न बोले, वे गम्भीर विचार मे मग्न हो गये।

महामन्त्री ने दबे स्वर से कहा—"मनुष्य मात्र भूल का पात्र है, महाराज !"

राजा—"मै यह नही सुनना चाहता। मैने जो कहा है, वैसा ही करना है।"

"शिल्पियो को बुलाता हूँ", कहकर महामन्त्री चला गया।

कुछ ही दिनो मे एक एकान्त स्थल मे नरकागार बनकर तैयार हो गया। उसमे दण्ड के पृथक्-पृथक् खण्ड बनाये गये जैसे—हत्याविरोध-खण्ड, चौर्यविरोध-खण्ड, व्यभिचारविरोध-खण्ड, असत्यविरोध-खण्ड आदि। साथ ही कठोर दण्ड भी नियत किये, जिन्हे सुनते ही रोगटे थर्रा उठें, जैसे—किसी को गर्म तेल के कडाह मे डालने का, किसी के मारे शरीर को बाँधकर कोल्हू मे पेरने का, किसी को गर्म खम्भे के साथ बाँधने का, किसी को गर्मागर्म शीशा पिलाने का, साथ ही दण्ड को क्रियान्वित करने वाले कठोर हृदय पुरुप भी रखे गये। मृत्यु दण्ड का भी वे कठोरतापूर्वक अमल करते थे। परन्तु न जाने क्यो, बुझते दीपक की तरह अपराधियो की सख्या बढती ही चली गयी। हर रास्ते चलता आदमी फरियाद करने आता—अमुक ने मेरी सुई चुरा ली, अमुक मेरा पशु बाँधने का खूँटा उखाड ले गया, अमुक ने मुझे अपशब्द कहे इत्यादि। महाराज अशोक सुबह से शाम तक शिकायत सुनते-सुनते हैरान हो जाते। फिर भले ही 'ककडी के चोर को फासी की सजा' जैसी कहावत चरितार्थ की जाती हो। राजा को अब अपने न्याय के बारे मे शका होने लगी, फलत एक स्वतन्त्र न्याय विभाग खोला। जो अधिकारी वहाँ नियुक्त किये गये, वे भयकर दण्ड देने लगे। जनता मे हाहाकार मच गया।

इसी समय एक भिक्षु गुनाहगार के रूप मे पकडा गया। अपराध था—नास्तिक होने का, ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार करने का।[1] अशोक ने उससे कहा—"नास्तिक ! तेरा अपराध भयकर है।"

वह साधु बोला—"आस्तिक ! तेरा अपराध भी अक्षम्य है।"

अशोक—"अरे दुष्ट ! नास्तिक होकर भी इस प्रकार बोलता है ?"

साधु—"मुझसे बढकर अपराध तो तूने किया है। तू खुद ईश्वर बना है।"

अशोक—"कौन कहता है ?"

साधु—"मैं कहता हूँ। मनुष्य को तोलने का काम उसी का है। नरक-स्वर्ग की रचना उसी की है। उसका शाप भी वरदान रूप है। तेरे कत्लखाने-से नरक मे कहाँ ऐसी रचना है ? चल, तुझे तेरा अन्याय बताऊँ। वहाँ निरपराधी भद्र आदमी मारे जाते है, अपराधी स्वर्ग तुल्य की सी मौज उडाते है।"

अशोक यह सुनकर स्तब्ध हो गया। उसने साधु के साथ चलकर देखा सचमुच वहाँ निरपराध दण्डित हो रहे थे।" यह देख अशोक ने विनम्र होकर कहा—"महात्मन् ! मैं ही दण्डपात्र हूँ। आप मुझे दण्ड दें।"

---

१ इस कहानी मे वैदिक धर्म के ईश्वर-कर्तृत्ववाद की दृष्टि से भिक्षु ने ऐसा कहा है।

आदि क्षेत्रो मे आज स्वार्थवाद का बोलबाला होने से शिष्टाधिपता का ह्रास होता जा रहा है। एक तरह से कहूँ तो, शिष्टाधिपो का दुष्काल सा हो गया है। क्या पारिवारिक, क्या सामाजिक और क्या धार्मिक सभी क्षेत्रो मे सकीर्ण स्वार्थवाद घुस गया है, जिसके कारण उनके अधिपो (अग्रगण्यो या नेताओ) मे पक्षपात, स्वार्थ, कलह, मनोमालिन्य, दूसरो पर दोषारोपण आदि दोष घुस गये हैं, जिसके कारण वे दूसरो को उत्पीड़न, शोषण, त्रास, भय, धमकी आदि रूप मे दण्डित करते रहते है। यही उनकी दण्डपरायणता है, वे प्रेम से, आत्मीयता से, उनके हितैषी बनकर कार्य बहुत ही कम करते है अधिकतर अपने स्वार्थ और अधिकार को लेकर ही उनके काम होते हैं।

बन्धुओ ! मै बहुत ही विस्तार से इस जीवनसूत्र पर विश्लेपण कर गया हूँ। आप सब इस पर मनन-चिन्तन करे और अपने-अपने क्षेत्र मे से दुष्टाधिपता को निकालने और शिष्टाधिपता को स्थापित करने का प्रयत्न करे, तभी आप सुख-शाति-पूर्वक जीवनयापन कर सकेगे।



प्राचीन ग्रन्थो का अवलोकन करते समय हमे उन विद्याधरो की स्मृति हो आती है, साथ ही उनकी महान् परोपकारिता और जनसेवा की झलक भी मिलती है। यद्यपि प्राचीन विद्याएँ बहुत-सी लुप्त हो गई है वे केवल स्मृतिशेष रह गई हैं। फिर भी हमारे महान् आचार्यो ने उन पर शोध एव प्रयोग करके कुछेक विद्याएँ जीवित रखी हैं।

विद्याधर और विद्याएँ

विद्याधर का सामान्यरूप से अर्थ होता है—विद्याओ को धारण करने वाला, विद्याओ को सम्यक्रूप से ग्रहण करके स्मृति मे रखने वाला, विद्याओ का धारक। इस दृष्टि से तो दर्शन, व्याकरण, न्याय, ज्योतिष, आयुर्वेद, मन्त्र, तन्त्र, भौतिक विज्ञान, कला, शिल्प, योग आदि समस्त विद्याओ के धारक को हम विद्याधर कह सकते हैं। लेकिन हमे देखना यह है कि प्रस्तुत विद्याधर शब्द किस अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है? कौन-सी विद्या के धारक को विद्याधर कहना यहाँ अभीष्ट है?

जैनकथा साहित्य मे यत्र-तत्र अनेक विद्याधरो का उल्लेख आता है कि अमुक विद्याधर आकाशगामिनी विद्या जानता था, अमुक विद्याधर ने उडनखटोला बनाया, जो आकाश मे अधर रहकर उडता था, अमुक विद्याधर अवस्वापिनी विद्या के द्वारा दूसरो को निद्रित कर देता था, अमुक विद्याधर ने तिरोहित हो जाने की विद्या सिद्ध कर ली, जिससे वह किसी को नजर नही आता था, अमुक विद्याधर रूप परिवर्तन कर लेते थे। तात्पर्य यह है कि मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र विद्याओ मे जो विविध प्रकार के आश्चर्य-जनक एव उस युग मे मानव की साधारण शक्ति से बढकर जो कार्य, उनका प्रयोग करके दिखलाते थे, या प्रयोग करके वे स्वय लाभ उठाते थे, उन्हे ही प्रस्तुत मे विद्या-धर कहा जाना अभीष्ट है।

प्रस्तुत मे मन्त्रादि विद्याओ के धारक को विद्याधर कहने का कारण यह है कि यहाँ विद्याधर शब्द के साथ उसकी वृत्ति-प्रवृत्ति—मन्त्रपरायणता का उल्लेख जुडा हुआ है। इससे भी फलितार्थ यही निकलता है कि जो मन्त्रादि विद्याओ का धारक हो, वही विद्याधर है।

आगे हम आधुनिक विद्याधरो एव विमानो के सम्बन्ध मे भी इस जीवन-सूत्र की दृष्टि से विचार करेंगे, लेकिन फिलहाल तो मन्त्रादि विद्याओ के धारक के सम्बन्ध मे पहले विचार कर लेना आवश्यक है।

सघदासगणी की एक महत्वपूर्ण रचना है—'वसुदेव हिंडी।' इसके चतुर्थ [illegible] मे प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का चरित्र विस्तृत रूप मे वर्णित है। इस [illegible] मे एक कथा दी गई है, जिससे प्रतीत होता है कि विद्या (मन्त्रादि [illegible]) [illegible] का सम्बन्ध भगवान ऋषभदेव के समय से चला आ रहा है।

[illegible] भगवान [illegible] और [illegible] का [illegible] करके [illegible] करने को तैयार हुए, उस समय उन्होंने अपना

यक्ष-यक्षिणियाँ भी कहते है। ये सब देव-देवियाँ सम्यग्दृष्टिसम्पन्न होते हैं। चूंकि सभी तीर्थंकर तो सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाते है, वे लौकिक दृष्टि से किसी को भी कुछ लाभ नही पहुँचा सकते। परन्तु उनकी आराधना-अर्चना करने वाले भावुक साधको—आराधको को उनकी प्रभावकता को अविचल रखने के लिए वे यक्ष-यक्षिणियाँ लाभान्वित करती है।

यही कारण है कि आगे चलकर जैन परम्परा मे मन्त्र और विद्या के अर्थ मे कुछ भिन्नता आ गई है।[1] उत्तरवर्ती मन्त्रग्रन्थो से प्रतीत होता है कि जो मन्त्र स्त्री देवता द्वारा अधिष्ठित हो, उसे विद्या[2] और पुरुष देवता द्वारा अधिष्ठित हो उसे मन्त्र कहते है।

इसीलिए उत्तरवर्ती मन्त्रग्रन्थो मे जहाँ स्त्रीदेवता द्वारा अधिष्ठित मन्त्र हैं, उसे विद्या कहकर विद्यासाधक व्यक्ति प्रार्थना करता है—

एसा मे विज्जा सिज्झउ

"यह मेरी विद्या सिद्ध हो।"

परन्तु एक बात तो निश्चित है कि विद्या हो या मन्त्र—दोनो के साथ मन्त्र का अविनाभावी सम्बन्ध रहा है। विद्या मन्त्ररहित हो नही सकती और मन्त्र विद्या से युक्त भी होता है और देवाधिष्ठित होने पर शुद्ध मन्त्र भी। दोनो के साथ दोनो का सम्बन्ध रहा है। इसीलिए गौतम महर्षि के कहा है—विद्याधर मन्त्र साधना मे तत्पर रहते हैं, मन्त्रप्रयोगपरायण होते है।

प्राचीनकाल मे विद्या और मन्त्र मे इस प्रकार की भिन्नता नही थी। विशेषत जैन परम्परा के शास्त्रो और ग्रन्थो मे मन्त्र शब्द के बदले 'विद्या' शब्द का प्रयोग ही अधिक मिलता है। बारहवें अग दृष्टिवादशास्त्र के चौथे विभाग मे चौदह पूर्वों का वर्णन था। चौदह पूर्वो मे से १०वाँ पूर्व विद्यानुप्रवाद पूर्व है। यह परम्परा से एक करोड दस लाख पद परिमित माना गया है। इस विशाल विद्यानुप्रवाद पूर्व मे मुख्यतया मन्त्र-साधनाओ, सिद्धियो और उनके साधनो का ही वर्णन था। परन्तु खेद है कि

---

१ देखिये विद्या और मन्त्र मे थोडे-से अन्तर के विषय मे प्रमाण—

इत्थी विज्जाऽभिहिया, पुरिसो मंतो त्ति तव्विसेसो य।
विज्जा ससाहणा वा साहणरहितो भवे मंतो॥

जहाँ मन्त्र की देवता स्त्री है, वह विद्या कहलाती है, और जहाँ पुरुष देवता है, वह मन्त्र। यही विद्या और मन्त्र मे अन्तर है। हैं ये दोनो मन्त्र ही। अथवा साधन सहित मन्त्र विद्या और साधनरहित मन्त्र होता है। धर्म सग्रहिणी मे बताया है—**'पाठमात्रसिद्ध पुरुषाधिष्ठानो वा मत्र'** मत्र वह है, जो पाठ करने मात्र से सिद्ध हो जाता है और वह पुरुषदेवताधिष्ठित हो।

२ जैसे रोहिणी प्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ है।

गया है। व्याकरणशास्त्र के अनुसार 'मन्त्रि गुप्तपरिभाषणे' धातु (क्रिया) से मन्त्र शब्द बना है, इसीलिए रहस्यमय गुप्त परिभाषण को मन्त्र कहा जा सकता है। एक आचार्य ने मन्त्र का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इस प्रकार किया है—'मननात् त्रायते इति मन्त्र ' बार-बार मनन करने से जो मन्त्रसाधक की रक्षा करता है, वह मन्त्र है।

इन चारो अर्थों का समन्वय करने से एक बात पूरी होती है। जिसमे मानसिक एकाग्रता एव निष्ठा का समुचित समावेश हो, शुद्ध व्यक्तित्व की परिष्कृत, परिमार्जित एव व्यवस्थित वाणी से जिसकी साधना की जाये, जिसकी इस रहस्यमय सामर्थ्ययुक्त परिभाषण पर पूर्ण श्रद्धा हो, तथा जिसका अनावश्यक विज्ञापन न करके गुप्त रखा जाय, एव जिसके एकाग्रतापूर्वक पुन-पुन मनन से जीवन के मूल्यो का रक्षण होता है, वे प्रयोग मन्त्राराधना हैं।

मन्त्रशक्ति मे चार तथ्य आवश्यक होते हैं—(१) ध्वनि, (२) सयम (३) उपकरण और (४) विश्वास। शब्द संरचना और उच्चारण की शुद्धता से युक्त ध्वनि ही सार्थक होती है। मन्त्रसाधक अपनी शक्तियो को शारीरिक-मानसिक असयम से बचा कर मन्त्राराधना मे जुटाये रखे। माला, आसन, मात्र-प्रतीक, स्थान, उपचार, उपकरण आदि मे प्रयुक्त हुए पदार्थों मे शुद्धता का ध्यान रखा जाये, मन्त्राराधना के प्रति श्रद्धा-विश्वास मे कमी न आने दी जाये। भावना की उत्कृष्टता से मन्त्रसाधना प्राणवान बनती है। इसे यदि पूरी तरह से समझ लिया जाये तो इसमे निराश नही होना पडता। मन्त्र-साधना की प्रक्रिया मे वाचिक, उपांशु और मानसिक इन तीन प्रकार के सकल्पो का बहुत बडा महत्व है। संकल्प के लिए सात शुद्धियाँ अपेक्षित हैं—

(१) द्रव्य-शुद्धि (मन्त्रसाधक का अन्तरग क्रोध, दभ, ईर्ष्या से मुक्त, ऋजु और सरल हो),

(२) क्षेत्र-शुद्धि (स्थान शान्त, कोलाहल से दूर व पवित्र हो),

(३) समय-शुद्धि (समय तीन उपयुक्त हैं—प्रात , मध्याह्न और साय),

(४) आसन-शुद्धि (ध्यानासनो मे कवल काष्ठपट्ट या जमीन पर),

(५) विनय-शुद्धि (श्रद्धा, भक्ति और विनयपूर्वक जप हो),

(६) मन.-शुद्धि

(७) वचन-शुद्धि (उच्चारण शुद्ध हो, उपयुक्त स्थल पर विराम हो।

मन्त्रशक्ति को फलित करने के लिए विधि-विधान ही पर्याप्त नही, मन्त्रसाधक के व्यक्तित्व की प्रखरता का समावेश होना भी आवश्यक है। पूर्वमीमासा मे मन्त्र-शक्ति के विकास के चार आधार बताये गये हैं—

(१) **प्रामाण्य**—विधि मनगढन्त न हो, किन्तु उसके पीछे सुनिश्चित धान हो,

(२) **फलप्रद**—जिसका उपयुक्त प्रतिफल देखा जा सके,

इसी प्रकार पहाडी गद्दियो के भी कई मन्त्र है, वैदिक परम्परा मे अथर्ववेद काल से लेकर भक्तिकाल तक मन्त्र-तन्त्रो की रचना का वडा जोर रहा। इस प्रकार लाखो मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र आदि वन गये। भारतीय सस्कृति के एक विचारक ने तो यहाँ तक कह दिया—

> अमन्त्रमक्षरं नास्ति,
> नास्ति मूलमनौषधम्।
> अयोग्यः पुरुषो नास्ति,
> योजकस्तत्र दुर्लभः ॥

"कोई ऐसा भी अक्षर नही है, जो मन्त्र न हो, कोई मूल (वनस्पति की जड) ऐसा नही, जो औषध न हो, कोई भी मनुष्य ऐसा नही, जिसमे योग्यता के वीज न हो, पर दुर्लभ है, इनको व्यवस्थित ढग से जोडने वाला, योजना करने वाला।"

मन्त्रविद्या की उत्पत्ति का लक्ष्य

साधारण मनुष्य सुख-शान्ति प्राप्त करना चाहता है, परन्तु उसे सुख-शान्ति प्राप्त होने मे कई वाधक तत्त्व उपस्थित हो जाते हैं, वह उन्हे समझ या जान नहीं पाता, कई वार वह प्रयत्न करता है, सुख-शान्ति के लिए, परन्तु उसके वदले प्राप्त होते हैं—दु ख और अशान्ति। शब्दो मे निहित अव्यक्त शक्ति से वह परिचित नहीं होता, सकल्पशक्ति के गूढ रहस्य से भी वह अज्ञात होता है, पदार्थों के व्यक्त पर्याय कम हैं और परिणमनशील एव सयोगजन्य होने से अव्यक्त पर्याय बहुत अधिक हैं, उनकी शक्ति भी सामान्यतया ज्ञात नही होती, न शब्द सयोजना की विधि ज्ञात होती है। इसलिए सामान्य बुद्धि वाला मानव दु ख और अशान्ति पाता रहता है। परन्तु उसकी जिज्ञासा होती है कि कोई व्यक्ति किसी भी उपाय से मुझे अव्यक्त शक्तियो का रहस्य बताये और दु ख-दर्द दूर करे। इसी मे से मन्त्रविद्या की उत्पत्ति हुई है। जो शब्दो, सकल्पो तथा शब्द-सयोजना की शक्ति से परिचित और अभ्यस्त थे, उन्होने विविध मन्त्रो की रचना की और जिज्ञासु जनता को उनका रहस्य वताया।

यह सुना जाता है कि मन्त्र गुप्त रखा जाता है, उसे ही बताया जाता है, जो श्रद्धालु, जिज्ञासु और गम्भीर हो, जो मन्त्र का दुरुपयोग न करे, उसे स्वार्थसिद्धि और धनार्जन का साधन न बनाये। वास्तव मे यह बात यथार्थ है, बहुत-से लोगो ने मन्त्रो का दुरुपयोग किया, उनसे गलत प्रयोजन भी सिद्ध किये है, कई लोगो को पीडित भी किया है। यही कारण है कि मन्त्र अयोग्य को नही दिया जाता, वह अत्यन्त गुप्त रखा जाता है। कई बार लोग जिस मन्त्र से अत्यधिक परिचित हो जाते हैं, उसके प्रति उनकी श्रद्धा या रुचि नही होती, वे उस मन्त्र की अवज्ञा करने लगते हैं। अश्रद्धापूर्वक मन्त्र जाप करने से भी उसका यथेष्ट फल नही मिलता।

सूरत की बात है, वहाँ पीरभाई नामक एक मुसलमान रहता था। उसे किसी जैनमुनि ने जिज्ञासु एव श्रद्धालु समझकर नमस्कार मन्त्र सिखा दिया था।

वैसे मन्त्रो मे अचिन्त्य शक्ति है, उनका प्रभाव अमोघ होता है, उनसे अनेक कष्टसाध्य कार्य आसान हो जाते है। मन्त्रो (जिनमे विद्या और मन्त्र दोनो ही सम्मिलित है) से अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

संस्कृत गद्य साहित्य के मूर्धन्य ग्रन्थ कादम्बरी मे बताया है—

'अचिन्त्योहि मणिमन्त्रौषध्यादीना प्रभाव'

"मणि, मन्त्र और औपधि आदि का प्रभाव ही अचिन्त्य है।"

मन्त्रों के प्रकार और उद्देश्य

आचार्य कुन्दकुन्द ने मूलाचार मे दो प्रकार के मन्त्र बताये हैं—

सिद्धे पविदे मन्त्रे, विज्जा साधित सिद्धा

एक सिद्धमन्त्र होता है, दूसरा होता है—साधित मन्त्र। जो पठनमात्र से सिद्ध हो जाता है, उसे सिद्ध मन्त्र कहते है, जो विद्या साधित होने पर सिद्ध होती है, उसे साधितमन्त्र कहते हैं। यहाँ मन्त्र और विद्या का अन्तर भी आचार्यश्री ने स्पष्टत सूचित कर दिया है।

अब हम दूसरी दृष्टि से मन्त्रो को दो भागो मे विभक्त करते है—एक लौकिक मन्त्र, दूसरा लोकोत्तर मन्त्र। अथवा यो भी दो भेद किये जा सकते हैं —

(१) कामनायुक्त मन्त्र, और

(२) निष्काम-निष्काक्ष मन्त्र।

जो मन्त्र लौकिक कामनामूलक होते है, जिनका जाप करने से केवल इहलौकिक या पारलौकिक कामना पूर्ण होती है, धन-प्राप्ति, सन्तान-प्राप्ति, आकस्मिक सकट एवं भय का निवारण, रोग-निवारण, बल एव विजय की प्राप्ति आदि भौतिक इच्छाओ की पूर्ति के लिए जो मन्त्र होते हैं, वे कहलाते है, लौकिक मन्त्र। इसी प्रकार जिन विद्याओ से कुछ भौतिक सिद्धियाँ, या उपलब्धियाँ प्राप्त की जाती हैं, कुछ विशिष्ट भौतिक शक्तियाँ हासिल की जाती हैं, वे विद्याएँ भी लौकिक मन्त्र के अन्तर्गत हैं। परन्तु जिन मन्त्रो से केवल आध्यात्मिक शक्तियाँ प्राप्त की जाती हैं, मनोबल, मानसिक एकाग्रता, चित्त की स्थिरता, मनोविजय, इन्द्रीयवशीकरण, ध्यान मे स्थिरता, मन-वचन-काया की एकाग्रता और स्थिरता प्राप्त की जाती है, साथ ही स्मरणशक्ति, निर्णयशक्ति, निरीक्षण-परीक्षणशक्ति एव स्फुरणाशक्ति सिर्फ आत्मविकास, अध्यात्मज्ञानप्राप्ति एवं शुद्ध साधना (रत्नत्रय की) करने के लिए प्राप्त की जाती है, वह मन्त्र लोकोत्तर या निष्काम मन्त्र हैं।

यद्यपि मन्त्रो के ये दो भेद हमने स्थूल रूप से समझने के लिए किये हैं, तथापि यदि कोई मन्त्रसाधक लोकोत्तर मन्त्रो [नमस्कार मन्त्र, लोगस्स (चतुर्विंशति स्तव) शक्रस्तव (नमोत्थुण) आदि] का प्रयोग लौकिक कामनावश करता है, तो वह लोकोत्तर मन्त्र कहा जाने वाला मन्त्र भी लौकिक मन्त्र की कोटि मे आ जायगा।

हो सकता है। यही कारण है कि विद्याधरो या मन्त्रसाधको के लिए जैनमन्त्र-ग्रन्थो मे कुछ आचार सहिता दी गयी है उसका पालन करना उसके लिए नितान्त आवश्यक है —

(१) मन्त्रादि का प्रयोग वह किसी स्वार्थ के विना लोकोपकार के लिए करे।

(२) मन्त्रसाधना एकाग्रचित्त से पूर्ण श्रद्धाभक्तिपूर्वक करना आवश्यक है।

(३) वह किसी भी दुर्व्यसन से ग्रस्त न हो, सदाचारी हो।

(४) कई मन्त्रो की साधना के साथ उसका सत्यवादी, ब्रह्मचारी, अहिंसा-परायण तथा नीति-न्यायपरायण होना आवश्यक है।

(५) कई मन्त्रो के साथ भूमिशयन तथा तपश्चरण भी अपेक्षित है।

(६) मन्त्र का उच्चारण, शुद्ध एव स्पष्ट होना आवश्यक है, अन्यथा मन्त्र-जाप का यथेष्ट फल नही मिलेगा।

(७) मन्त्र-जाप के लिए शुद्ध स्थान, शुद्ध दिशा, शुद्ध वस्त्र, शुद्ध आसन, विधि की पूरी जानकारी, निर्धारित सख्या, पवित्र सुगन्धित वातावरण का ध्यान रखना आवश्यक है।

(८) जिस मन्त्र का वह जाप करना चाहता है, उसका मन्त्राधिष्ठित देव अनुकूल होना चाहिए।

(९) मन्त्र-तन्त्रादि का दुरुपयोग न करे, किसी पर मारण, विद्वेषण तथा उच्चाटन का प्रयोग न करे।

मन्त्रसाधक या विद्याधर के लिए ये और इस प्रकार के नियमो का पालन करना अपेक्षित है, अन्यथा मन्त्रसाधना मे वह सफल न हो सकेगा, अन्य अनिष्ट भी पैदा हो सकते हैं।

एक उदाहरण द्वारा इसे समझना ठीक होगा—

भरतक्षेत्रीय वैताढ्य पर्वत की उत्तरश्रेणी का आभूषण रूप देववल्लभ एक नगर था। वहाँ दो विद्याधर रहते थे। एक का नाम था—मेघरथ और दूसरे का नाम था विद्युन्माली। ये दोनो सहोदर भाई थे। दोनो मे परस्पर गाढ स्नेह था। यौवनवय मे पदार्पण करते ही दोनो ने एक दिन विचार किया—हमे जो विद्या सिद्ध करनी है, वह भूचर क्षेत्र मे नीच कुल के मनुष्य के यहाँ रहकर ही सिद्ध हो सकती है। अत हम दोनो को मनुष्यलोक मे जाना और किसी नीच कुल की कन्या के साथ विवाह करके एक वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करना होगा। दोनो ने इस प्रकार निश्चय किया और गुरु से आज्ञा लेकर दोनो मनुष्यलोक मे आये। दक्षिण भरतक्षेत्र के वसन्तपुर नगर मे पहुँचे। वहाँ दोनो विद्याधर चाण्डाल का वेष वनाकर चाण्डालो के मोहल्ले मे गये। वहाँ दोनो ने अपनी बुद्धिमत्ता से एक महाबुद्धिनिधान चाण्डाल के साथ मित्रता की। एक दिन सहसा चाण्डाल ने पूछ ही लिया—मैंने आज तक कभी

किन्तु स्त्री-मूढ विद्युन्माली विद्याधरो के दिव्य सुखो को भूलकर चाण्डालिनी पत्नी के गर्भ से उत्पन्न पुत्र को देख-देखकर हर्षित होने लगा। दूसरे वर्ष फिर विद्युन्माली की पत्नी ने गर्भ धारण किया। इधर मेघरथ को एक वर्ष बाद फिर अपने भाई की याद आयी, सोचने लगा—'कहाँ मैं देवागनासम विद्याधारियो के साथ दिव्य सुखभोग कर रहा हूँ, और कहाँ बेचारा विद्युन्माली, उस कुरूप चाण्डालिनी के साथ सुख मान रहा है। मैं सात मजिले मकान मे रहता हूँ और वह गन्दी, घिनौनी कोठरी मे रहता है, मैं तो विविध विद्याओ के जरिये मनोज्ञ भोजन-वस्त्र पाता हूँ, और वह फटे-टूटे वस्त्रो और तुच्छ अन्न पर गुजारा चलाता है। चलूँ, जाकर उसे यहाँ लिवा लाऊँ।' यो सोचकर मेघरथ विद्युन्माली के पास आया और कहने लगा—"भाई! चलो, एक वर्ष पूरा हो गया है, अब तो वैताढ्य चलो और विद्याधरो के सुखभोग करो।"

विद्युन्माली उदास चेहरे से बोला—"भाई! कैसे चल सकता हूँ मैं? मेरी स्त्री पुन गर्भवती हुई है। मैं उसे छोडकर आऊँ, ऐसा कठोर हृदय नही बन सकता। आप जाइए, यथावसर फिर दर्शन दीजिएगा। अभी तो मैं यही रहूँगा। आप इसमे बुरा मत मानना।"

मेघरथ ने अपने भाई विद्युन्माली को बहुत समझाया, पर वह टस से मस न हुआ। आखिर हार-थककर वह पुन वैताढ्य लौट आया।

अब तो विद्युन्माली के दूसरा पुत्र हुआ। उसे देखकर तो वह स्वर्ग से भी बढकर सुख मानने लगा। घर मे अन्न-वस्त्र की तगी थी, तो भी कष्ट सहता था। दोनो पुत्र उसकी गोद मे टट्टी-पेशाब कर देते तो वह उसे गगा स्नान के समान समझता था। चाण्डालिनी कभी उसे झिडक देती तो भी चुपचाप सह लेता।

स्नेहवश मेघरथ फिर तीसरी-चौथी बार उसके पास आया, और कहने लगा—"अरे, तू कुलीन होकर क्यो चाण्डाल कुल मे पडा है? क्या मानसरोवर का हस घर की तलैया मे आनन्द मान सकता है? विद्युन्माली! क्यो अपनी जिन्दगी बर्बाद कर रहा है, यहाँ?" परन्तु इतना समझाने पर भी विद्युन्माली अपनी जिद पर अडा रहा। मेघरथ ने भी अब साफ-साफ कह दिया—"अब मैं कभी तुम्हे समझाने नही आऊँगा।" वह अपने जन्म-स्थान मे लौट आया। वहाँ अपने पिता के राज्य का चिरकाल तक सचालन करके यथावसर अपने पुत्र को राज्य सौंपा और स्वय सुस्थित अनगार के पास दीक्षित हो गया। तप, जप, सयम का पालन करके देवलोक मे गया।

इस कथा का यह निष्कर्ष है कि जो विद्याधर समय आने पर ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक अपनी विद्या सिद्ध नही करता, वह फिर सारी जिन्दगी मोहमाया मे फँसकर बेकार खो देता है। अत सच्चा विद्याधर वही है, जो अप्रमत्त एवं ब्रह्मचर्यस्थ होकर समय पर अपनी विद्या सिद्ध कर लेता है।

किन्तु स्त्री-मूढ विद्युन्माली विद्याधरो के दिव्य सुखो को भूलकर चाण्डालिनी पत्नी के गर्भ से उत्पन्न पुत्र को देख-देखकर हर्षित होने लगा। दूसरे वर्ष फिर विद्युन्माली की पत्नी ने गर्भ धारण किया। इधर मेघरथ को एक वर्ष बाद फिर अपने भाई की याद आयी, सोचने लगा—'कहाँ मैं देवागनासम विद्याधारियो के साथ दिव्य सुखभोग कर रहा हूँ, और कहाँ बेचारा विद्युन्माली, उस कुरूप चाण्डालिनी के साथ सुख मान रहा है। मैं सात मंजिले मकान मे रहता हूँ और वह गन्दी, घिनौनी कोठरी मे रहता है, मैं तो विविध विद्याओ के जरिये मनोज्ञ भोजन-वस्त्र पाता हूँ, और वह फटे-टूटे वस्त्रो और तुच्छ अन्न पर गुजारा चलाता है। चलूँ, जाकर उसे यहाँ लिवा लाऊँ।' यो सोचकर मेघरथ विद्युन्माली के पास आया और कहने लगा—"भाई! चलो, एक वर्ष पूरा हो गया है, अब तो वैताढ्य चलो और विद्याधरो के सुखभोग करो।"

विद्युन्माली उदास चेहरे से बोला—"भाई! कैसे चल सकता हूँ मैं? मेरी स्त्री पुन गर्भवती हुई है। मैं उसे छोडकर आऊँ, ऐसा कठोर हृदय नही बन सकता। आप जाइए, यथावसर फिर दर्शन दीजिएगा। अभी तो मैं यही रहूँगा। आप इसमे बुरा मत मानना।"

मेघरथ ने अपने भाई विद्युन्माली को बहुत समझाया, पर वह टस से मस न हुआ। आखिर हार-थककर वह पुन वैताढ्य लौट आया।

अब तो विद्युन्माली के दूसरा पुत्र हुआ। उसे देखकर तो वह स्वर्ग से भी बढकर सुख मानने लगा। घर मे अन्न-वस्त्र की तगी थी, तो भी कष्ट सहता था। दोनो पुत्र उसकी गोद मे टट्टी-पेशाब कर देते तो वह उसे गगा स्नान के समान समझता था। चाण्डालिनी कभी उसे झिडक देती तो भी चुपचाप सह लेता।

स्नेहवश मेघरथ फिर तीसरी-चौथी बार उसके पास आया, और कहने लगा—"अरे, तू कुलीन होकर क्यो चाण्डाल कुल मे पडा है? क्या मानसरोवर का हस घर की तलैया मे आनन्द मान सकता है? विद्युन्माली! क्यो अपनी जिन्दगी बर्बाद कर रहा है, यहाँ?" परन्तु इतना समझाने पर भी विद्युन्माली अपनी जिद पर अडा रहा। मेघरथ ने भी अब साफ-साफ कह दिया—"अब मैं कभी तुम्हे समझाने नही आऊँगा।" वह अपने जन्म-स्थान मे लौट आया। वहाँ अपने पिता के राज्य का चिरकाल तक सचालन करके यथावसर अपने पुत्र को राज्य सौपा और स्वय सुस्थित अनगार के पास दीक्षित हो गया। तप, जप, सयम का पालन करके देवलोक मे गया।

इस कथा का यह निष्कर्ष है कि जो विद्याधर समय आने पर ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक अपनी विद्या सिद्ध नही करता, वह फिर सारी जिन्दगी मोहमाया मे फँसकर बेकार खो देता है। अत सच्चा विद्याधर वही है, जो अप्रमत्त एवं ब्रह्मचर्यस्थ होकर समय पर अपनी विद्या सिद्ध कर लेता है।

विद्याधर और जादूगर में अन्तर

कई लोग कहते हैं कि इन विद्याधरो और जादूगरो मे क्या अन्तर रहा ? विद्याधर भी तो विद्या सिद्ध करके अपने जीवन मे सुखभोग की क्रीडा करते हैं और जादूगर भी अपने जादू के खेल-तमाशे दिखाते हैं ?

इसके उत्तर मे यह कहना है कि विद्याधर अपनी विद्याओ का प्रदर्शन नही करता, वह या तो अपनी उचित सुख सुविधा के लिए विद्या का प्रयोग करता है, या फिर किसी लोकोपकार के कार्य के लिए विद्याप्रयोग करता है। व्यर्थ ही कौतुक दिखाना, लोगो से पैसे बटोरना या खेल-तमाशे दिखाकर प्रसिद्धि पाना विद्याधरो का लक्ष्य नही होता, न वे ऐसा करते ही हैं। फिर जादूगर के पास कोई विद्या सिद्ध की हुई नही होती, वह तो हाथ की सफाई तथा कुछ जादू के तरीके से खेल-तमाशे दिखाता है, जबकि विद्याधरो के पास अपनी सिद्ध की हुई मन्त्र-विद्या होती है, जिससे उन्हे हाथ की सफाई करने की जरूरत नही होती।

विद्याधर और पेशेवर मन्त्रवादी

अब एक सवाल यह उठता है कि विद्याधर भी मन्त्रविद्या सिद्ध करके उसका प्रयोग करता है, और पेशेवर मन्त्रवादी भी मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र के प्रयोग करता है, फिर इन दोनो मे क्या अन्तर रहा ?

इन दोनो मे यही अन्तर है कि विद्याधर का पेशा नही है कि वह जगह-जगह जाकर अपनी मन्त्रविद्या का प्रयोग दिखाये या किसी मन्त्र-तन्त्र का प्रयोग करके पैसा कमाये, जबकि मन्त्रवादी तो जगह-जगह जाकर अपने मन्त्रो का प्रयोग बताता है और लोगो को प्रभावित करके पैसा कमाता है, अथवा किसी-न-किसी काम के लिए मन्त्र-तन्त्रादि का प्रयोग करने हेतु बुला लिया तो वह उससे भारी रकम ऐंठता है। विद्याधर यह धन्धा नही करता और न ही किसी से धनराशि ऐंठना है। हाँ, कभी किसी व्यक्ति के दुःख निवारण के लिए लोकोपकार समझकर वह अपनी मन्त्रविद्या का प्रयोग करता है, तो फ्री करता है, एक पैसा भी नही लेता। बल्कि विद्याधर लोकहित के लिए या लोगो की सुख-सुविधा के लिए अपनी विद्या मे नयी-नयी शोध करते हैं, नयी-नयी चीजें बनाते हैं, उसका खुद उपयोग करते हैं, दूसरो को भी उपयोग करने को देते हैं। विद्याधर जिन लोगो को अपनी विद्या सिखाते हैं या जिनके लिए विद्याप्रयोग करते हैं, उनसे कुछ न कुछ दुर्व्यसन-त्याग आदि भी कराते हैं, जबकि मन्त्रवादी न तो स्वय त्याग करते हैं, न दूसरो से त्याग-नियम कराते हैं। विद्याधरो का सारा जीवन ही विद्याएँ सिद्ध करने और स्व-पर-सुख के लिए उनका प्रयोग करने मे व्यतीत होता है।

विद्याधरो की मन्त्रपरायणता, क्या और कैसे ?

मैंने पहले भगवान ऋषभदेव के पौत्रो की जो कथा सुनाई, उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि विद्याधर एक कुल है, और उस कुल का कुलाचार है—मन्त्रो और

विद्याओ की साधना के लिए अप्रमत्त होकर नियमित रूप से तत्पर रहना, सिद्धि प्राप्त न हो जाय, तब तक सत्य, ब्रह्मचर्य आदि यम-नियमो का पालन करना और अपनी सुख-सुविधाओ के लिए अथवा लोकोपकार के हेतु मन्त्रो का प्रयोग करना। यही विद्याधरो की मन्त्रपरायणता है। जो विद्याधरकुल मे जन्म लेकर भी मन्त्रो और विद्याओ की सिद्धि नही करता, आलस्य और प्रमाद मे पडा रहता है, या विद्या-सिद्धि के दौरान यम-नियमो आदि का पालन नही करता अथवा इनमे असावधानी करता है, अथवा लोभ-लालच मे पडकर लोकोपकार की दृष्टि छोडकर स्वार्थवश मन्त्रादि का प्रयोग करता है, अथवा मारण, उच्चाटन, विद्वेषण आदि के लिए मन्त्र प्रयोग करता है, वह विद्याधर कुलधर्म से भ्रष्ट हो जाता है, अथवा विद्याधर कुल को छोडकर हीनकुल का बन जाता है।

निष्कर्ष यह है कि विद्याधर सही अर्थों मे वह है, जो मन्त्रादि की साधना और प्रयोग मे कभी असावधानी या प्रमाद नही करता। वास्तव मे जो विद्याधर पुरानी विद्याओ की थ्योरी के आधार पर नयी-नयी विद्याओ और मन्त्रो का लोकहित या जनता की सुख-शान्ति के लिए आविष्कार और प्रयोग करता है, वह लोकहितकर्ता सच्चा विद्याधर है, उसे ही गौतम ऋषि मन्त्रपरायण कहते हैं। ऐसे विद्याधर का लोकहितार्थ मन्त्रपरायण जीवन होता है।

आधुनिक विद्याधर और उनकी विद्याएँ

वर्तमान युग के वैज्ञानिको को भी विद्याधर कहा जा सकता है। जैसे प्राचीन विद्याधरो ने उडनखटोला, विमान आदि यन्त्रो का आविष्कार और प्रयोग किया था, वैसे ही वर्तमान युग के विद्याधरो—वैज्ञानिको ने टेलीफोन, टेलीग्राम, टेलीपैथी, टेलीविजन, रेडियो, वायरलेस (बेतार का तार), विद्युत और उससे चलने वाले नाना इजिनो, यन्त्रो, रेलगाडी, मोटर, हवाईजहाज, स्टीमर, जल, थल और नभ पर नियन्त्रण करने वाले एक से एक बढकर वैज्ञानिक उपकरणो का आविष्कार करके दुनिया को चमत्कृत कर दिया है। वर्तमान वैज्ञानिको ने गणक मशीन (कम्प्यूटर), मशीन का मानव, मशीन की गाय आदि बनाकर तथा चन्द्रादि की अन्तरिक्ष यात्रा करके तो विश्व को आश्चर्य मे डाल दिया है। सचमुच, इन्हे आधुनिक विद्याधर कहा जा सकता है। इनकी विद्याएँ है—भौतिक विज्ञान, टेक्नोलॉजी, जीवविज्ञान, (ज्योलॉजी), अन्तरिक्ष विज्ञान, भूगर्भ विद्या आदि। ये विद्याएँ थ्योरिटिकल और प्रेक्टिकल अर्थात्—मन्त्रात्मक एव प्रयोगात्मक दोनो ही रूप मे हैं। आधुनिक विद्याधरो के मन्त्र है—विविध वैज्ञानिक थ्योरियाँ, जिनको सिद्ध करने के लिए वे वर्षों प्रयोगशाला (लेबोरेटरी) मे अनुसन्धान, अन्वेषण और एकाग्रचित्त होकर करते हैं। बडे-बडे वैज्ञानिक (आधुनिक विद्याधर) तो एक ही यन्त्र (थ्योरी) और प्रयोग मे वर्षों बिता देते हैं, वे अपना खाना-पीना तक भूल जाते है, विवाह नही करते, ब्रह्मचर्य से रहते हैं, अनेक बातो मे सयम से रहते हैं।

ऐसे विद्याधर फिर अपनी आविष्कृत वस्तु या (वर्षों तक के अभ्यास से) सिद्ध की हुई विद्या का लोकजीवन के सुखवृद्धि के लिए जन-हितार्थ प्रयोग करते हैं, स्वय भी उससे लाभ उठाकर अपनी सुख-सुविधाएँ बढाते हैं। तात्पर्य यह है कि आधुनिक विद्याधर भी मन्त्र और तन्त्र दोनो को सिद्ध करने और प्रयोग करने मे तत्पर रहते हैं। विविध थ्योरियो को मन्त्र एव तन्त्र के रूप मे सिद्ध करने का अभ्यास करते हैं और फिर उस विद्या का प्रयोग करने मे तत्पर हो जाते हैं। ये आधुनिक वैज्ञानिक (विद्याधर) भी आलस्य एव प्रमाद से दूर रहते हैं।

विद्या के आविष्कारार्थ अपना प्राणार्पण करने वाले भी

इन आधुनिक विद्याधरो मे हम उन लोगो की गणना भी कर सकते हैं, जो किसी भयकर रोग—टी. बी , कैंसर, महामारी (प्लेग), हैजा आदि की रोकथाम के लिए किसी दवा, इन्जेक्शन, टीका आदि साधनो के आविष्कार के लिए अपना बडे से बडा स्वार्थत्याग, या प्राणत्याग तक करने के लिए तत्पर रहते हैं। ऐसे लोकोपकारी महानुभाव को क्या हम आधुनिक विद्याधर की कोटि मे नही गिनेंगे ?

सन् १७२० की घटना है। फ्रास के मार्सेल्स नगर मे एकाएक भयकर महामारी (प्लेग) फैली। आदमी मक्खियो की तरह टपाटप मरने लगे। श्मशान मे लाशो का ढेर लग गया, उन्हे जलाने या दफनाने वाला भी नही रहा। सारा प्रान्त इस महाभय से कांप उठा। डॉक्टरो के सभी बाह्य उपचार निष्फल हो गये। कई डॉक्टर भी इस चेपी रोग के शिकार होकर मरण-शरण हो गये। आखिर इस महारोग के निदान और अकसीर इलाज की खोज के लिए प्रसिद्ध डॉक्टरो की मीटिंग हुई। सभी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह रोग सामान्य उपचारो से मिटने वाला नही है। महामारी के रोग से मरे हुए व्यक्ति की लाश चीरकर देखे विना इसका निदान असम्भव है। पर प्लेग से मरे हुए व्यक्ति की लाश को चीरे कौन ? प्लेग वाले की लाश को चीरना यमराज को न्योता देना था। कोई इसके लिए तैयार नही हो रहा था। सारी सभा विसर्जित होने को थी, तभी एक जवान खडा हुआ, उसकी आँखो मे करुणा और ओठो पर निर्णय था। उसका नाम था—डॉ हेनरी गायन। सभी डॉक्टरो का ध्यान उसकी ओर खिचा हुआ था कि यह कोई नई खोज तो नही लाया ? वह जरा आगे बढकर नम्रतापूर्वक बोला—"आप जानते हैं कि अपनी जिन्दगी का मोह छोडे विना दूसरो को जीवनदान नही दिया जा सकता। और कोई भी शोध जीवन अर्पण किये विना नही हो सकती। मेरे शरीर के अर्पण से यदि हजारो-लाखो माताओ एव भाई-बहनो के आँसू रुकते हो तो मैं अपना यह शरीर अर्पण करने को तैयार हूँ। लो, मेरा यह वसीयतनामा। मेरे आगे-पीछे कोई नही है। मेरी यह सारी सम्पत्ति महामारी के रोगियो की चिकित्सा के लिए खर्च करना। मनुष्य जीवन का इससे बढकर और अच्छा क्या उपयोग हो सकता है ?" यह सुनकर बडे-बूढे डॉक्टर देखते ही रह गये। जो देह की ममता वृद्ध न छोड सके, वह इस नवयुवक डॉक्टर हेनरी

लिया है, वैसे ही प्राचीन भारतीय वैज्ञानिको (विद्याधरो) ने पारद पर प्रयोग करके कई विधियाँ खोज निकाली थीं, जिनसे ताँबे का सोना बनाना, भौतिक शरीर को बहुत अशो मे अजर-अमर बनाना, कई रोगो का स्थायी इलाज करना पूर्णत सम्भव था।

रससिद्ध नागार्जुन ऐसे ही सौराष्ट्र निवासी एक विद्याधर थे, जिनकी रुचि अपने राज्य सचालन की अपेक्षा ज्ञान विज्ञान के अध्ययन और खोज की ओर विशेष थी। उन्होंने ससार का कायापलट कर देने के लिए 'अमृत' और पारस की खोज करने का निश्चय किया। अपनी एक बडी प्रयोगशाला बनाकर विभिन्न जडी-बूटियो द्वारा पारद सम्बन्धी परीक्षण मे जुट पडे। साथ ही रस वैज्ञानिको और साधको को बुला-कर उनका सहयोग भी प्राप्त करने लगे। अपनी आन्तरिक लगन, रसविद्या की सिद्धि की तत्परता और कठोर साधना के कारण उन्हें शीघ्र ही आश्चर्यजनक सफ-लता मिली। दोनो उद्देश्यो की सिद्धि मे वे सफल हुए। उनकी खोजो का साक्षी है—उनका 'रसोद्धारतन्त्र' नामक ग्रन्थ।

सौराष्ट्रान्तर्गत ढाक के राज्यकार्य की उपेक्षा करके जब नागार्जुन ने अपनी समस्त शक्ति और समय अमृत की खोज मे लगा दी, यह देख राज्यहितैषी मन्त्रियो ने प्रार्थना की—"आपकी विज्ञान-रुचि के कारण राज्यकार्य मे क्षति हो रही है, प्रादेशिक सामन्त स्वेच्छाचारी बनकर कर देना बन्द कर रहे हैं, उपद्रवी तत्व बढ रहे हैं।" मन्त्रियो की बात सुनकर नागार्जुन ने कहा—"अमृत की खोज में लगने के कारण राज्यकार्य मे क्षति हो रही है, यह ठीक है। पर जिन दो विपत्तियो का भय दिखाया, उनकी मुझे कोई चिन्ता नही है। अगर सामन्तो से कर न मिले तब भी मेरा खजाना स्वर्ण से भरा रह सकता है, यदि कोई विदेशी मेरे राज्य पर आक्रमण करने का साहस करेगा तो सेना के बजाय थोडी सी औषधि से ही उसे नष्ट करने का सामर्थ्य रखता हूँ। वैसे मेरा उद्देश्य अमृत की खोज करना है, किसी का विनाश करना नही। मैं तो मनुष्य मात्र को अर्थाभाव और मृत्यु के भय से मुक्त करने की विद्या की साधना मे सलग्न हूँ।"

पर जब मन्त्रियो ने आन्तरिक उपद्रवो का भय दिखलाया तो नागार्जुन ने कहा—"अगर राज्य को सभालने का आपका ऐसा ही आग्रह है तो युवराज को बुलाओ, मैं आज ही अपना राजमुकुट उसके मस्तक पर रख देता हूँ। फिर आप सब राज्यहितैषी लोग उसे उचित प्रशिक्षण देकर राज्य सचालन की व्यवस्था करें। मैं तो अमृत विद्या की शोध मे पूर्ण सफलता न मिलने तक अन्य किसी बात पर ध्यान नही दे सकता।"

सचमुच उस दृढनिश्चयी विद्याधर ने युवराज को राज्याभिषिक्त कर दिया और निश्चिन्त होकर पूर्ण रूप से अपने परीक्षणो मे दत्तचित्त हो गया। अज्ञात जडी-बूटियो का सेवन करके उनके प्रभाव की जाँच करना खतरे से खाली न था, कोई

गायन ने बात की बात मे छोड दी। वह तुरन्त आपरेशन रूम मे प्रविष्ट हुआ और महामारी से मरे हुए मनुष्य की लाश को चीरने लगा। भयकर बदबू से नाक फटी जा रही थी। फिर भी वह लाश को चीरता गया, और निदान करता गया। रोग के जन्तुओ के आक्रमण के स्थान, उनके कारणो और उनकी स्थायी चिकित्सा के सम्बन्ध मे उसने एक नोध तैयार की। यह नोध उसने रासायनिक द्रव्यो मे रखी, जिससे छूने वाले को रोग का चेप न लगे।

हेनरी गायन ने अपना काम पूरा किया, पर उसका शरीर तो बुखार से कभी का तप गया था। प्लेग के जन्तु इसके शरीर मे अपना घरौंदा बना चुके थे। वह खडा होने लगा, पर सहसा गिर पडा और वही उसके प्राण पखेरू उड गये। परन्तु उसके मुख पर अपनी शोध पूर्ण करने का सन्तोष था। वास्तव मे हेनरी गायन महामारी के निदान की विद्या और उसकी स्थायी चिकित्सा के विषय मे अन्वेषण करने वाला महान परोपकारी विद्याधर था, जिसने अपना प्राणोत्सर्ग करके लाखो मानवो को जीवन दान दिया।

इसी प्रकार लुई पाश्चर, मैडम क्यूरी आदि कई परोपकारार्थ अपने प्राणो को खतरे मे डालकर भी शोध एव प्रयोग करने वाले महानुभावो को आधुनिक विद्याधरो मे परिगणित किया जा सकता है।

प्राचीन विद्याधर, जो विद्याधरकुल के न थे

वैदिक धर्मग्रन्थो मे विद्या के दो प्रकार बताये है—पराविद्या और अपराविद्या। जिससे अक्षर परमात्मा का ज्ञान हो, वह पराविद्या है और ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद, शिक्षा (वर्णों के शुद्ध उच्चारण तथा लेखन विद्या), कल्प (धार्मिक आचार-विचारो की विद्या), व्याकरण, निरुक्त (शब्दो का विश्लेषण करने वाली विद्या), छन्द, ज्योतिप, आयुर्वेद, इतिहास-पुराण, मीमासा-न्याय और धर्मशास्त्र, ये १४ विद्याएँ अपराविद्या है। इन विद्याओ के अन्वेपण मे रत, इन विद्याओ के सूत्र, मन्त्र या नुस्खे देने वाले, तथा इनका प्रयोग व आचरण करने-कराने वाले महानुभाव भी प्राचीन विद्याधर की कोटि मे माने जा सकते है, भले ही वे वशपरम्परा से विद्याधरकुल के न थे, परन्तु उनकी लोकोपकारिता मे कोई सन्देह नही किया जा सकता।

मैं आयुर्वेद के अन्तर्गत रसायनविद्या को सिद्ध करने और उसके प्रयोग एवं सिद्धान्त (मन्त्र) के अन्वेपण मे दत्तचित्त नागार्जुन का उदाहरण आपके समक्ष प्रस्तुत करूँगा—

भारत के प्राचीन रसवैद्यो ने पारद और उसके विभिन्न आश्चर्यजनक प्रयोगो रे मे बडी खोजबीन की थी। जिस प्रकार आज के वैज्ञानिको ने 'यूरेनियम' धातु योग से अणुशक्ति को प्राप्त कर लिया है, उससे कई रोगो का शर्तिया इलाज रना सीख लिया है, मनुष्य को अजर-अमर बना देने का भी कीमिया जान

लिया है, वैसे ही प्राचीन भारतीय वैज्ञानिको (विद्याधरो) ने पारद पर प्रयोग करके कई विधियाँ खोज निकाली थीं, जिनसे ताँबे का सोना बनाना, भौतिक शरीर को बहुत अशो मे अजर-अमर बनाना, कई रोगो का स्थायी इलाज करना पूर्णत सम्भव था।

रसमिद्ध नागार्जुन ऐसे ही सौराष्ट्र निवासी एक विद्याधर थे, जिनकी रुचि अपने राज्य सचालन की अपेक्षा ज्ञान विज्ञान के अध्ययन और खोज की ओर विशेष थी। उन्होंने समार का कायापलट कर देने के लिए 'अमृत' और पारस की खोज करने का निश्चय किया। अपनी एक वडी प्रयोगशाला वनाकर विभिन्न जडी-बूटियो द्वारा पारद सम्बन्धी परीक्षण मे जुट पडे। साथ ही रस वैज्ञानिको और साधको को बुलाकर उनका सहयोग भी प्राप्त करने लगे। अपनी आन्तरिक लगन, रसविद्या की सिद्धि की तत्परता और कठोर साधना के कारण उन्हे शीघ्र ही आश्चर्यजनक सफलता मिली। दोनो उद्देश्यो की सिद्धि मे वे सफल हुए। उनकी खोजो का साक्षी है—उनका 'रसोद्धारतन्त्र' नामक ग्रन्थ।

सौराष्ट्रान्तर्गत ढाक के राज्यकार्य की उपेक्षा करके जव नागार्जुन ने अपनी समस्त शक्ति और समय अमृत की खोज मे लगा दी, यह देख राज्यहितैषी मन्त्रियो ने प्रार्थना की—"आपकी विज्ञान-रुचि के कारण राज्यकार्य मे क्षति हो रही है, प्रादेशिक सामन्त स्वेच्छाचारी बनकर कर देना बन्द कर रहे हैं, उपद्रवी तत्व बढ रहे हैं।" मन्त्रियो की वात सुनकर नागार्जुन ने कहा—"अमृत की खोज मे लगने के कारण राज्यकार्य मे क्षति हो रही है, यह ठीक है। पर जिन दो विपत्तियो का भय दिखाया, उनकी मुझे कोई चिन्ता नही है। अगर सामन्तो से कर न मिले तब भी मेरा खजाना स्वर्ण से भरा रह सकता है, यदि कोई विदेशी मेरे राज्य पर आक्रमण करने का साहस करेगा तो सेना के वजाय थोडी सी औषधि से ही उसे नष्ट करने का सामर्थ्य रखता हूँ। वैसे मेरा उद्देश्य अमृत की खोज करना है, किसी का विनाश करना नही। मैं तो मनुष्य मात्र को अर्थाभाव और मृत्यु के भय से मुक्त करने की विद्या की साधना मे सलग्न हूँ।"

पर जव मन्त्रियो ने आन्तरिक उपद्रवो का भय दिखलाया तो नागार्जुन ने कहा—"अगर राज्य को सभालने का आपका ऐसा ही आग्रह है तो युवराज को वुलाओ, मैं आज ही अपना राजमुकुट उसके मस्तक पर रख देता हूँ। फिर आप सब राज्यहितैषी लोग उसे उचित प्रशिक्षण देकर राज्य सचालन की व्यवस्था करें। मैं तो अमृत विद्या की शोध मे पूर्ण सफलता न मिलने तक अन्य किसी वात पर ध्यान नही दे सकता।"

सचमुच उस दृढनिश्चयी विद्याधर ने युवराज को राज्याभिषिक्त कर दिया और निश्चिन्त होकर पूर्ण रूप से अपने परीक्षणो मे दत्तचित्त हो गया। अज्ञात जडी-बूटियो का सेवन करके उनके प्रभाव की जाँच करना खतरे से खाली न था, कोई भी

अपने प्राणो को सकट मे डालने के लिए तैयार न था। किन्तु नागार्जुन प्राणो का मोह त्यागकर उनका प्रयोग अपने ही शरीर पर करने लगा। अमृत की खोज के लिए ऐसा करना अनिवार्य था। अपनी समस्त शक्तियो और भावनाओ को एक लक्ष्य पर केन्द्रित करके खाने-पीने, सुख-दु ख, विघ्न-बाधाओ की परवाह न करके नागार्जुन एक कठोरव्रती, योगी एव सच्चे साधक का-सा जीवन व्यतीत कर रहा था। धीरे-धीरे वह अपने कार्य मे सफल होने लगा। शरीर को इतना सहनशील बना लिया कि भले-बुरे सभी परीक्षणो के प्रभाव को नि शक सहन कर सकता था, शस्त्रादि तथा किसी प्रकार के विष आदि का प्रभाव उसके शरीर पर नही पड सकता था।

युवराज से एक दिन कहा—"बेटा ! अब मैं कुछ ही दिनो मे ससार से मृत्यु-भय को हटाने मे सफल हो जाऊँगा। अमर बनाने वाली समस्त औषधियाँ उपलब्ध हो चुकी हैं, सिर्फ उचित मात्रा मे विधिपूर्वक उनका योग करना ही शेष रह गया है। भगवान ने चाहा तो दरिद्रता और मृत्यु दोनो के भय से ससार को मुक्त कर सकूंगा।"

परन्तु दुर्भाग्य से नागार्जुन अपनी अमृतविद्या का प्रयोग अधूरा छोडकर ही इस ससार से चल बसे। किन्तु वे ससार को अपनी रससिद्धियो की बहुत बडी देन दे गये हैं। क्या ऐसे उपकारी विद्याधरो का ससार ऋणी नही रहेगा ?

बन्धुओ ! विद्याधरो पर प्राचीन और नवीन सभी पहलुओ से हमने विचार किया। चाहे वशपरम्परा से विद्याधर हो या अन्य प्रकार से जो लोकहितैषी बनकर विद्याओ की साधना करते है और उनमे सिद्धि प्राप्त करके ससार को दे जाते हैं, वे सदैव मन्त्रपरायण, विद्यासाधना तत्पर रहे, इसमे कोई सन्देह नही है, ऐसा जीवन धन्य है, सार्थक है। आपको विद्याधरो के मन्त्र-तत्पर जीवन से प्रेरणा लेनी चाहिए।

विद्या एवं मन्त्र : जीवन के तट पर

मैने विद्याधर एव मन्त्र की जो व्याख्या आपके सामने प्रस्तुत की है। वह प्राय. प्राचीन आचार्यों की शैली के आधार पर की है। अब जरा इन दोनो शब्दो की जीवन-स्पर्शी व्याख्या पर भी चिन्तन कर लें। विद्या एवं मन्त्र का हमारे व्यावहारिक जीवन के साथ क्या सम्बन्ध है और **'विज्जाहरा मंतपरा हवति'** के पीछे महर्षि का अन्य क्या आशय हो सकता है, इस पर भी चर्चा कर लें।

'विद्या' का सामान्य अर्थ है ज्ञान ! शिक्षण ! साधारण अक्षर-ज्ञान से लेकर उच्चतम ज्ञान के लिए—विद्या शब्द का प्रयोग होता है। 'शिशुओ आदि को जहाँ 'अक्षर-ज्ञान' कराया जाता है उन केन्द्रो को भी 'विद्यालय' कहा जाता है। और शरीर विज्ञान, मानस विज्ञान, तन्त्रविज्ञान आदि की उच्चतम शिक्षा के केन्द्र भी विद्यालय' नाम से ही सम्बोधित होते हैं।

विद्या का हमारे जीवन से अनन्य सम्बन्ध है। यह कहा जा सकता है कि मनुष्य-जीवन के विकास के लिए विद्या अनिवार्य है। विद्यारहित या विद्या-विहीन मनुष्य 'पशु' तुल्य माना गया है। जैसे कि कहा है—

विद्या विहीना पशुभि समाना

अविद्या या अज्ञान को महातम और अन्धकार बताया है और विद्या को दिव्य प्रकाश। शास्त्र मे कहा है—

णाणं पयासकरं

ज्ञान प्रकाश देने वाला है। वल्कि ज्ञान स्वय ही प्रकाश है, यह भी कह सकते हैं। ज्ञान दिव्यचक्षु है।

शरीर मे जितना महत्व चक्षुओ—आँखो का है, जीवन के विकास एव उत्थान मे उससे भी अधिक महत्व ज्ञान या विद्या का है।

'विद्या' एक ज्ञान है, अन्तर की स्फुरणा है, आत्मा का नेत्र है। फिर भी विषय की दृष्टि से इसके कई भेद हो जाते हैं। जैसे—लौकिक विद्या और अध्यात्म विद्या।

सामान्य अक्षर-बोध, पुस्तकीय ज्ञान या भूगोल, खगोल, शरीर, यन्त्र, तन्त्र आदि से सम्बन्धित विद्या लौकिक या लोक-विद्या कही जाती है तथा आत्मा, ईश्वर आदि अनुभूतिगम्य विषयो का ज्ञान, उनका चिन्तन-मनन आत्मविद्या कहलाती है। जीवन मे दोनो ही प्रकार की विद्या का महत्व है, आवश्यकता है।

यहाँ आचार्य ने 'विद्याधर' शब्द से यह सकेत किया है कि जो लौकिक वस्तुओ का ज्ञान रखता है, तथा आत्मा आदि का भी बोध रखता है वह 'विद्याधर' है। साधारण भाषा मे उस विद्याधर को हम 'विद्वान' कह सकते हैं। इस प्रकार 'विद्याधर' शब्द से हम विद्वान पढे-लिखे सुशिक्षित व्यक्ति का सकेत समझ सकते हैं।

मन्त्र—मननशीलता

विद्या की तरह 'मन्त्र' शब्द का भी जीवनस्पर्शी अर्थ है—चिन्तनशीलता, विचारशीलता या मननशीलता। मन्त्री शब्द मननशीलता का द्योतक है। आजकल मन्त्री शब्द की परिभाषा वदल गई है, अव तो चुनाव मे जीत जाय, अथवा जिसे सत्ता की कुर्सी मिल जाय, वही मन्त्री वन सकता है, चाहे वह पढा-लिखा हो या अगूठा छाप हो, चाहे विचारशीलता, मननशीलता से भी उसका कोई रिश्ता न हो, पर प्राचीन समय मे ऐसा नही था। प्राचीन युग मे मत्रियो के चुनाव के लिए जनमत नही लिया जाता था, किन्तु उनकी बौद्धिक परीक्षा की जाती थी। अनेक प्रकार की कठिन से कठिन वुद्धि परीक्षा करके, जटिलतम समस्याओ को सामने रखकर उनका परीक्षण किया जाता था। जिस व्यक्ति की विचारशीलता, मननशक्ति प्रखर होती थी, जो विचक्षण वुद्धि व गम्भीर विचारयुक्त होता था उसे ही 'मन्त्रि पद' दिया जाता था।

तो इससे स्पष्ट होता है कि 'मन्त्र' शब्द सिर्फ एक विशेष अक्षर समूह का ही सूचक नही है, किन्तु मन्त्र का अन्य अर्थ है— विचार या गम्भीर चिन्तन । मन्त्रण चल रही है—इस वाक्य का भी यही अर्थ है— कि गम्भीर विचार चर्चा हो रही है।

यहाँ पर जब हम 'विद्याधर' शब्द से विद्वान अर्थ लेंगे तो 'मन्त्र' शब्द से 'मननशीलता' या विचारशीलता का अर्थ होना चाहिए और तब '**विज्जाहरा मन्तपर हवंति**'—इस पद का अर्थ होगा—विद्वान विचार-परायण होते हैं, पढे-लिखे या सुशिक्षित व्यक्ति को गम्भीर, चिन्तनशील या मननशील होना चाहिए । ऐसा नहीं कि कोई भी बात या प्रसग आया और आनन-फानन मे कुछ भी निर्णय ले लिया उस पर विचार-चिन्तन किये बिना ही, उसके सभी पहलुओ पर मनन किये बिना ही निर्णय या फैसला कर बैठना मनुष्य की क्षुद्रता का परिचायक है, अपरिपक्वता का द्योतक है और उसे हम विद्वान या मन्त्री नही कह सकते जो बिना सोचे-विचारे ही कदम उठाये ।

बादशाह ने अपने नौजवान मन्त्रियो से पूछा—"जो मेरी दाढी को नोच ले, उसे क्या सजा देनी चाहिए ?"

तत्काल जवान वजीरो ने उत्तर दिया—"जो दुष्ट व्यक्ति आपकी दाढी को हाथ लगाने की जुर्रत करे उसे तुरन्त मौत के घाट उतार देनी चाहिए या उसके हाथ काट देना चाहिए ।"

बादशाह ने वीरबल की तरफ देखा, वीरबल ने गंभीर होकर कहा—"हजूर ! उसे इनाम देना चाहिए ।"

सभी सभासद और मन्त्री चकित रह गये, वीरबल ने कैसा उल्टा जवाब दिया है । बादशाह ने इसका स्पष्टीकरण पूछा, तो वीरबल बोला—हजूर की दाढी को हाथ लगाने की हिम्मत किसमे है ? हजूर का शहजादा (पोता) जो गोद मे बैठता है वही सिर्फ आपकी दाढी के बाल खीच सकता है, तो उसे मिठाई देना चाहिए कि नही ?

वीरबल की समझदारी पर सभी लोग चुप थे । वास्तव मे उसने जो उत्तर दिया वह उसकी गम्भीर विचारशीलता का परिचायक है । जैसे—जौहरी, हीरे को सभी पहलुओ से परखकर उसकी कीमत आकता है उसी प्रकार मनुष्य बात को सब पहलुओ मे सोचकर ही वह फैसला करता है।

हमारे यहाँ एक कहावत प्रचलित है—"बिना विचारे जो करे सो पाछे पछताय ।" इसी बात को एक कवि ने यो कहा है—

> कर सोचे सो कूर है, सोच करे सो शूर ।
> सोच किये मुख नूर है, कर सोचे मुख धूर ॥

जो व्यक्ति कार्य करके, बाद मे सोच करता है, काम करके फिर पछताता वह मूर्ख है, उसके सिर पर संसार धूल डालता है, किन्तु जो कार्य करने से पहले

सोच-विचार कर लेता है, काम से पहले उसका अजाम सोच लेता है, वह कभी बाद मे नही पछताता, और ससार मे भी उसकी इज्जत-प्रतिष्ठा बढती है।

कहा जाता है एक बार राजा भोज के दरबार मे महाकवि भारवि ने एक श्लोक भेंट किया। राजा ने वह श्लोक पढा, उसे बडा सुन्दर लगा। उसने उस श्लोक को सुन्दर अक्षरो मे लिखवाकर अपने शयनकक्ष मे टँगवा दिया और रोज प्रात. काल उठकर सर्वप्रथम उस श्लोक को पढ लेता।

एक बार राजा महलो मे देर रात गये सोने को गया, शयनागार मे देखता है कि रानी की शय्या पर कोई अन्य पुरुष सोया है और रानी भी सोई है। देखते ही राजा क्रोध मे पागल हो उठा। आँखो मे खून बरसने लगा, हाथ क्रोध से कांपने लग गये। तलवार खीची और मुंह से बडबडाने लगे—"दुराचारिणी! निर्लज्ज! यह आदत है तेरी। अभी इस कुकृत्य की सजा देता हूँ।" और एक कदम आगे बढाकर ज्योही तलवार उठाई कि सामने टँगा कवि भारवि का वह श्लोक दिखाई दिया। राजा रुक गया, श्लोक पर नजर टिकी—

> सहसा विदधीत न क्रिया—
> मविवेकः परमापदां पदम्।
> वृणुते हि विमृश्यकारिण
> गुणलुब्धा. स्वयमेव संपद ॥

एकदम, बिना विचारे कोई कार्य मत करो, अविचार सब आपत्तियो-विपत्तियो का घर है। विचारपूर्वक कार्य करने वाले को सम्पत्ति व सुख स्वय अपना लेते हैं।

श्लोक पढते ही राजा का हाथ रुक गया। तलवार आकाश मे ही खिंची रह गई। एक क्षण सोचने के लिए जैसे ही वह रुका, पैरो की आहट से रानी की नीद खुल गई। वह चौंककर उठी। राजा का विकराल रूप देखकर सहमी ही खडी हो गई।

राजा ने ललकारा—"दुष्टे! कौन है यह पुरुष? तेरा यह नीच आचरण!"

रानी ने स्वय को सँभालकर कहा—"महाराज! रुक जाइए। बडा राजकुमार है। रात को इसके सिर मे पीडा हो रही थी सो मैंने अपने पास ही सुला लिया और सिर दबा रही थी। सिर दबाते-दबाते राजकुमार को आराम मिला, आँख लग गई। आपके पधारने मे भी विलम्ब हो गया था सो मैं भी जरा कमर सीधी करने लेट गई और मेरी भी आँख लग गयी।"

राजा का मुँह फक्क हो गया। उसके कांपते हुए हाथ से तलवार नीचे गिर पडी। आँखो मे खून की जगह आँसू उमड आये। उसने पुन उस श्लोक पर नजर टिकाई—"बिना विचारे कोई काम मत करो।" आज इसी श्लोक ने मेरे पुत्र व पत्नी की जान बचाई। व्यर्थ मे ऐसा अन्याय कर बैठता, जिसके पश्चात्ताप की अग्नि से मेरा जीवन जलकर खाक हो जाता।

प्रात. राजा ने महाकवि भारवि को बुलवाया। इस श्लोक पर सवा लाख मोहरें इनाम दी और चाँदी के पत्र पर स्वर्णाक्षरो मे श्लोक को] मँढाकर अपने प्रत्येक कक्ष मे टँगवा दिया।

अगर राजा बिना विचारे कुछ कर बैठता तो क्या हाल होता? कितना अनर्थ हो जाता? इसलिए 'विद्याधर होते मन्त्र परायण'—इस पद का यह अर्थ भी बहुत गम्भीर और उपयोगी है कि विद्वान को सदा विचारशील, मननशील होना चाहिए, अथवा जो विचार-परायण होते है, वे ही विद्वान या विद्यासम्पन्न कहलाते हैं।

जीवन मे विद्या, ज्ञान या शिक्षा का उपयोग तभी है जब मनुष्य मे विचार-शीलता, मननशीलता आये, गम्भीरता आये। यही इस जीवनसूत्र का हार्द है।



४४

मूर्ख नर होते कोपपरायण

धर्मप्रेमी वन्धुओ !

आज मैं आपके समक्ष एक ऐसे जीवन की चर्चा करूंगा, जिसमे क्रोध, रोष का आवरण छा जाने के कारण ज्ञान का निर्मल प्रकाश बन्द हो जाता है, और मूर्खता के कीटाणु वहाँ जम जाते हैं। ससार मे ऐसे भी लोग हैं, जो समझदारी और विवेक-बुद्धि से जीवन विताना नही जानते, उनका जीवन दु ख-दारिद्र्य और अशान्ति मे व्यतीत होता है। वे दूसरो के साथ नम्र, मधुर और उदार व्यवहार करना नही जानते, जब देखो तब क्रोध का भयकर हथियार लिये रहते हैं। इसीलिए गौतमऋषि ने इस जीवनसूत्र द्वारा मूर्ख मनुष्य के जीवन का परिचय देते हुए कहा है—

'मुक्खा नरा कोवपरा हवति'

"मूर्ख मनुष्य कोपपरायण होते हैं, अथवा जो कोपपरायण होते हैं, वे मूर्ख कहलाते हैं।"

गौतम कुलक का यह सैंतीसवाँ जीवनसूत्र है, जिसके द्वारा महर्षि गौतम संसार के समझदार लोगो को मानो चेतावनी देते हुए कहते हैं—मूर्खताभरा जीवन मत विताओ, क्योंकि वह क्रोधानल से भरा रहता है, तथा क्रोध मत करो, ताकि मूर्खता तुम पर हावी न हो।

मूर्ख की मूर्खता : जीवनरत्न व्यर्थ फेंकना

मनुष्य जीवन एक अमूल्य रत्न है। परन्तु जो मूढ इस रत्न को पाकर इसका मूल्य और इसका सही उपयोग नही जानता, वह मूर्खतावश इसे फेंक देता है, यो ही विषय-भोगो और लडाई-झगडो मे इसे व्यर्थ गँवा देता है, जीवन-रस को यो ही निरर्थक लुटा देता है।

एक वन्दर को कही से कीमती हीरा मिल गया। वन्दर हीरे का मूल्य और उपयोग तो जानता नही था। उसने हीरे को खाने की चीज समझकर मुँह मे रखा, पर कुछ भी स्वाद न आया। फिर वह उसे जीभ से चाटने लगा, पर चाटने से वह पिघला भी नही। तव वह दाँतो से उसे तोडने लगा पर हीरा वन्दर के दाँतो से कैसे टूट सकता था? वह टूटा नही।

उसकी बुद्धि पर मोह का ऐसा पर्दा पड जाता है कि वह दूरदर्शितापूर्वक सोच नही पाता, गहराई से उसके नतीजे पर विचार नही कर पाता, उतावला होकर काम बिगाड लेता है, हर किसी को अपने क्षुद्र और मूढतापूर्ण कार्यों से भडका देता है, जिससे उसके प्रति किसी की सहानुभूति नही जागती, उससे जो हित की बात कहने जाता है उससे भी वह उलझ जाता है, टोक देता है, प्रतिवाद करता है, किसी की हितकर बात भी सुनना नहीं चाहता। न तो उसका विचारो पर कन्ट्रोल होता है और न ही वाणी पर, तथा न ही किसी व्यवहार या कार्य पर उसका कन्ट्रोल होता है। वैताल कवि ने मूर्ख की पहचान दो छप्पयो मे बता दी है—

बिन नौते घर जाय, बिन बतराए बोले।
बिन मौके हँस देत, प्रयोजन बिन ही डोले॥
बिना दिये सम्मान, जाय बैठे आगेरो।
बैठे अग भिडाय, फिरे फिर खावे फेरो॥
मारग चाले खावतो, गुप्त बात चौडे कहे।
'वेताल' कहे विक्रम ! सुनो मूरख छाना किम रहे ?॥१॥
बुद्धि बिन व्यापार, दृष्टि बिन यान चलावे।
सुर बिन गावे गीत, लाभ बिन खर्च बढावे॥
बल बिन माडे राड़, भूख बिन भोजन खावे।
गुण बिन जाय विदेश, सुयश बिन आगे आवे॥
अनहोनी इच्छा करे, बिना समझ की बात।
'वैताल' कहे विक्रम ! सुनो यह मूरख की बात॥२॥

भावार्थ स्पष्ट है। निष्कर्ष यह है कि जिसका बोलना, चलना, उठना-बैठना, विचारना, खाना-पीना आदि सारी प्रवृत्तियाँ समझदारी की न हो, सभी ऊटपटाग हों, बुद्धिमान व्यक्ति के व्यवहार मे ठीक विपरीत व्यवहार हो, जो अपनी बुद्धि, बल, दृष्टि, योग्यता, क्षमता, गुण, पद-प्रतिष्ठा आदि को समझे बिना तथा उसका मूल्याकन किये बिना ही उनकी सीमा का अतिक्रमण करके कार्य करता हो, वह मूर्ख शिरोमणि है।

एक उदाहरण लीजिए—

एक साहूकार के एक ही लडका था, पर था वह पूरा मूर्ख, जडबुद्धि। जब भी पिता किसी से बात करता तो वह बीच-बीच मे बोलता रहता। पिता ने समझाया—"बेटा ! बडो के बीच मे या सामने नही बोलना चाहिए।"

दूसरे दिन ही माता-पिता को किसी कार्यवश कही बाहर जाना पडा। पीछे घर मे लडका अकेला ही था। वह घर का दरवाजा बन्द करके अन्दर बैठ गया। चार घन्टे बाद पिता वापस लौटकर आया तो उसने दरवाजा बन्द देख आवाज

लगाई ; पर बोले कौन ? पिताजी ने सामने बोलने से इन्कार किया था, अत वह चुप्पी लगाये बैठा रहा। आखिर बहुत आवाज लगाने पर भी लडका न बोला तो पिता पडौसी के मकान की छत से उतरकर घर मे घुसा तो लडके को चुपचाप बैठे देख कहा—"अरे मूर्ख ! इतनी आवाजें दी, पर तू बोला क्यो नही ?"

लडके ने कहा—"आपने ही तो कहा था—'बडो के सामने नही बोलना'।"

पिता बोला—"अरे मूर्ख ! सामने नही बोलना, इसका मतलब तो था कि जोर से नही बोलना, पाँच आदमी बैठे हो, उस समय बीच मे न बोलकर, धीमे से कहने मे कोई हर्ज नही है।"

उसने पिता की बात स्वीकार करते हुए कहा—"अब ऐसा ही करूँगा।"

एक दिन घर मे आग लग गई। माता ने पिताजी को बुलाने हेतु लडके को भेजा। पिताजी कही दूसरी जगह बैठे चार-पाँच आदमियो से बात कर रहे थे। यह देख लडका दूर ही बैठ गया। दो घण्टे बाद जब वे सब चले गये, तो लडके ने पिता के पास जाकर धीमे से कहा—"घर मे आग लगी है, अत माताजी ने जल्दी घर पर बुलाया है।"

पिता—"कितनी देर हो गयी, आग लगे ?"

पुत्र—"दो-तीन घण्टे हो गये।"

पिता—"मूर्ख ! तब फिर इतनी देर चुपचाप क्यो बैठा रहा ?"

पुत्र—"आपने ही तो कहा था, पाँच आदमी बैठे हो, तब बीच मे बोलना नही।"

पिता ने मूर्ख लडके की जडबुद्धि पर सिर पीट लिया।

वास्तव मे मूर्ख बिना सोचे-समझे कोई बात कह देता है, जिसका परिणाम बहुत भयकर या अहितकर होता है, जिसे वह सोच नही पाता, बाद मे तो वह भी पछताता है, पर पहले नही सोचता। किसी ने ठीक कहा है—

"A wise man reflects before he speaks, a fool speaks and then reflects on what he has uttered."

"बुद्धिमान बोलने से पहले सोच लेता है, और मूर्ख बोल देता है, तब सोचता है, कि उसने क्या कह दिया ?"

एक सेठ का पुत्र लक्ष्मीचन्द बहुत बुद्धू था, इसलिए लोग उसका व्यवहार देखकर उसे 'मूरखचन्द' कहने लगे।

लक्ष्मीचन्द को यह नाम बहुत खटकता था। नाम बदलवाने के लिए उसने स्थान बदलने का निश्चय किया। तदनुसार उसने नयी पोशाक पहनी और सैकडो ...न दूर जाने के लिए घर से रवाना हुआ। रेलगाडी मे बैठा। एक स्टेशन पर पानी ... के लिए मूरखचन्द गाडी से उतरा। नल के पास जाकर अजलि से पानी पी

लेने के बाद भी वह वहाँ खडा-खडा मुँह हिलाता रहा। काफी देर तक उसकी चेष्टा देखने के बाद एक प्यासे यात्री ने कहा—"अबे मूरखचन्द! हट न अब यहाँ से, दूसरो को भी पानी पीने देगा कि नही ?"

यह सुन लक्ष्मीचन्द ने चकित होकर कहा—"लो हट जाता हूँ मैं, लेकिन यह तो बताइए जिस नाम को बदलवाने के लिए मैं सैंकडो मील दूर चला आया, उसे आपने कैसे जान लिया ?"

वह यात्री बोला—"यह तो मैंने तुम्हारे लक्षणो से ही जान लिया कि तुम मूरखचन्द ही हो।"

लक्ष्मीचन्द ने समझ लिया कि लक्षण या स्वभाव बदले बिना केवल वेश या स्थान बदलने से कोई नाम नही बदल जाता। परन्तु लक्ष्मीचन्द को यह समझ कब आयी ? अपनी प्रवृत्ति कर लेने के बाद आयी न ? यही तो मूर्खता का लक्षण है।

इसीलिए सुकवि 'अज्ञेय' ने मूर्ख के लक्षण बताए हैं—

> बिना सोचे समझे ही करता जो काम सदा,
> अपना बिगाडे काम जग को हँसावे है।
> पूरब को कहिये तो पश्चिम को चलता है,
> इसीलिए भले पुरुषों को नहीं भावे है ॥
> घर फूंक अपना तमाशा दिखलाता जो कि,
> दर-दर खाक छान उमर गँवावे है।
> स्वयमेव थूक कर स्वयमेव चाटता जो,
> सुकवि 'अज्ञेय' वही मूरख कहावे है ॥

वास्तव मे मूर्ख प्राय अपनी मूर्खता को नही जान पाता, जबकि बुद्धिमान अपनी मूर्खता को जान जाता है। यही मूर्ख और बुद्धिमान मे अन्तर है।

पाश्चात्य विद्वान थेकरे (Thackeray) ने सच ही कहा है—

"A fool can no more see his own folly than he can see his ears"

"मूर्ख जितना अपने कानो को देख सकता है, उतना अपनी मूर्खता को नही देख सकता।"

एक आदमी घास का गट्ठर बांधकर उसे घोडी पर लादकर घर की ओर चल दिया। रास्ते मे लोगो ने कहा—"घोडी गर्भवती मालूम होती है, इस पर बोझ लादना ठीक नही।" यह सुनकर उसने गट्ठर का बोझ अपने सिर पर उठा लिया। आगे चला तो दूसरे गांव वालो ने उसे देखकर कहा—"यह किसान कितना मूर्ख है। घोडी की पीठ खाली पडी है, फिर भी बोझ अपने सिर पर उठा रखा है।" यह सुना तो मूर्ख किसान घास का गट्ठर सिर पर उठाए ही घोडी पर सवार हो गया। लोगो ने देखा तो किसान की मूर्खता पर हँसने लगे—"कैसा मूर्ख है, क्या घास का

गट्ठर सिर पर उठा लेने से घोडी के भार मे कोई फर्क पडता है ? फिर भी यह मूर्ख घोडी पर चढकर भी गट्ठर अपने सिर पर उठाये हुए है।"

इसके अतिरिक्त मूर्खों मे एक और विशेषता होती है, वे जिस बात को एक बार पकड लेते है, फिर उसे जिन्दगी भर छोडते नही। चाहे उन्हें कोई कितना ही समझाए, उनके हित की बात कहे, उन्हे अहितकर बात को छोडने के लिए कितना ही ललचाए, वे उसे छोडने और हितकर बात को सुनने-समझने के लिए तैयार नही होते।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने मूर्ख के विषय मे ठीक ही कहा है—

फूलै फरै न बेत, जदपि सुधा बरसहिं जलद।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलै बिरंचि-सम॥

लगभग दो शताब्दी पहले यूरोप भी मूढताओ और अन्धविश्वासो का केन्द्र था। यूरोप की उस समय बडी दुर्दशा थी। लोग गन्दगी भरे स्थानो मे रहते थे। नगरो की सडकें घूरे के समान कूडे-कचरे से भरी रहती थी। यूरोप के एक नगर की बात है, जब नवयुग का प्रवेश हुआ, वहाँ म्युनिसिपल संस्थाओ की स्थापना हुई तो समझदार लोगो का ध्यान इस ओर गया। उन्होने सोचा कि इन सडको की सफाई कर डालना चाहिए। परन्तु इससे पहले कभी सडको की सफाई नही की गई थी। मूर्ख लोगो ने देखा कि यह तो बिल्कुल नयी बात है, ऐसा तो कभी हुआ ही नही, क्या हमारे पूर्वज मूर्ख थे ? अगर सडको की सफाई कराना आवश्यक होता तो वे क्यो न कराते ? न मालूम इस सफाई से कोई अनर्थ हो जाएगा तो ? अगर सडको की सफाई होगी तो देवता कुपित हो जाएँगे, वे रुष्ट होकर बीमारियाँ फैलायेंगे। हम मर जायेंगे।

म्युनिसिपल-अधिकारियो के सामने विकट समस्या खडी हो गई कि इस मूर्ख जनता को कैसे समझाएँ कि सडको की सफाई होने से बीमारियाँ बढेगी नही, घटेगी ही। अन्त मे यह निश्चय हुआ कि डाक्टरो की सलाह ली जाए और जनता के सामने उनकी राय रखी जाए तो शायद जनता समझ जाये। लेकिन मूर्ख जनता ने विचार कर लिया था कि अगर डाक्टर पुरानी रीति के विरुद्ध बोलेंगे तो उनका बायकाट किया जाएगा।

डाक्टरो ने जब यह सुना तो सोचा—'सडको की गन्दगी से लोग [illegible] मरते हो तो [illegible] आज मरें, हम अपना बायकाट कराके क्यो अपनी रोजी खोते ?'

[illegible] जब म्युनिसिपल अधिकारियो ने डाक्टरो से सलाह ली तो उन्होंने भी [illegible] दिया कि सडको की सफाई आवश्यक नही है, इससे [illegible] होगी। डाक्टरो के तो दोनो हाथो मे लड्डू हो गये। एक तो जनता के [illegible] हो गये, [illegible] इससे गन्दगी से बीमारी बढेगी, बीमार बढेंगे [illegible] होगी।

इस घटना को सुनकर आप उन महामूर्खों पर हँसेंगे, और उन डाक्टरों को भी नीच, स्वार्थी और मूर्खों के सरदार कहेंगे। पर यह सच्ची घटना है। गन्दगी से रोग बढ़ने लगे, तब म्युनिसिपैलिटी के युवक मेम्बरों ने कुछ समझदार लोगों को समझा-बुझाकर तैयार किया। सफाई में जुट गये। गन्दगी के ढेर साफ करने के बाद जब बीमारियाँ घटने लगी, तब जनता—जो अब तक मूर्खता की शिकार थी, प्रत्यक्ष प्रमाण देखकर सफाई के लिए सहमत हो गई। कुछ बूढ़े मूढ़ अब भी चिल्ला रहे थे—"सफाई तो कर रहे हो, पर देवता कुपित हो गए तो नगर का सर्वनाश हो जाएगा।" आज तो यूरोप में उस कुरूढ़ि का मूल से उच्छेद हो गया।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि मूर्ख के द्वारा क्रोध, विरोध, द्वेष और दुर्वचन होने का एक कारण है—अन्धविश्वास की पुरानी पर्तें उखाड़ना। जब मूर्ख यह देखता है कि पुरानी रूढ़ि या रीति को उखाड़ा जा रहा है, तब उसके दिल-दिमाग पर चोट पड़ती है, वह सोचता है, मानो सर्वस्व छीना जा रहा है। यही तो नासमझी है, अदूरदर्शिता है, मूढ़ता है, जिसे मूर्ख अपनाता है।

मूर्ख को जरा-सी हितकर बात कह दो, वह यह समझने लगता है कि मेरा अपमान किया जा रहा है, मेरे (मिथ्या) अभिमान पर चोट लगाई जा रही है, इसलिए वह एकदम चिढ़ जाता है और प्रतिकार करने लगता है। प्रतिकार के समय वह अन्धा हो जाता है और उस उपदेश को नहीं सुनता।

अभिमान में भरी एक लारी ने बैलगाड़ी से कहा—पों पों ऐ ! हटो आगे से कच्चे में चलो। यह तारकोल की काली सड़क तुम्हारे लिए नहीं है।" बैलगाड़ी ने नम्रता से कहा—"बहन ! रास्ता बहुत चौड़ा पड़ा है, तुम ही बचकर एक तरफ से निकल जाओ न !" इस पर लारी का क्रोध भड़क उठा। उसने तमककर कहा—"जवाब देती है, बदतमीज ! हट आगे से मुर्दे बैल वाली।" बैलगाड़ी ने व्यंग की मुद्रा में कहा—"हाँ, बड़ी रूपसी हो तुम तो ! पर बहन क्या किया जाए, तुम तो जड़ लोहा ही हो, और मेरे मुर्दा बैलों में भी धड़कता जीवन है।" लारी के अभिमान को गहरी ठेस लगी, क्रुद्ध सर्पिणी की भाँति वह फूंकार उठी—"पों, पों, हटो, नहीं तो टक्कर मारती हूँ।"

बैलगाड़ी ने तब भी प्यार से कहा—"लो बहन ! तुम दुखी न हो, मैं ही कच्ची सड़क पर चल देती हूँ। तुम खुशी से ही पक्की सड़क पर चलो। पर बड़ी बहन के नाते तुम मेरी एक बात तो मान लो कि तुम परदेशी हो और आजकल मेरे देश की मेहमान हो। मेहमान के लिए यह उचित नहीं कि वह मेजबान के घर पर कब्जा कर ले और उसे डाँटे।' निर्लज्जता से लारी ने कहा—"तुम्हारी जाति ही मूर्ख है जो इसे अनुचित समझो। हमारी जाति में तो यह नीतिपूर्ण वीरता ही समझी जाती है।" बैलगाड़ी पर धूल उड़ाती लारी सरसराती हुई आगे चली गई। इसी समय बैलगाड़ी की घण्टी टनटना उठी। यह शायद उसके हृदय का निःश्वास था।

यह एक रूपक है जो मूर्खों पर घटित होता है। मूर्ख अपने आपको अच्छा, उत्कृष्ट और दूसरे को खराब और निकृष्ट समझता है। उसकी यह समझ ही अपने मुँह मियाँ मिट्ठू-पन प्रगट करती है, अपने मुँह से अपनी प्रशसा मूर्ख ही कर सकता है, अक्लमन्द नही।

इस प्रकार अहकार पर चोट लगने से मूर्ख एकदम रोष से भर जाता है, और सामने वाले पर उचित-अनुचित छीटाकशी कर ही देता है। वह अपने जिद्दी स्वभाव के कारण अपनी मूर्खता को दोहराता जाता है, सुधारता नही। एक पश्चिमी विचारक ने मूर्खों के सम्बन्ध मे उचित ही कहा है—

"Any man may make a mistake, but none but a fool will continue in it."

"गलती कोई भी मनुष्य कर सकता है, किन्तु मूर्ख के सिवाय कोई उस गलती को लगातार करता नही रहेगा।"

एक अधिकारी ने अपने नौकर को हिदायत दी कि किसी की चीज नही उठानी चाहिए। एक दिन अधिकारी घोडे पर सवार होकर कही जा रहा था, उसका वह मूर्ख नौकर भी पीछे-पीछे पैदल चल रहा था। रास्ते मे अचानक अधिकारी का रूमाल गिर गया। कुछ आगे चलने पर घोडे ने लीद कर दी। थोडी देर बाद अधिकारी को पता चला कि उसका रूमाल कही गिर गया है। उसने नौकर से पूछा तो उसने कहा—"साहब! मैंने एक जगह आपका रूमाल गिरते देखा था। परन्तु आपका आदेश था, 'किसी की चीज उठानी नही चाहिए', इसलिए मैंने नही उठाया।" अधिकारी डाँटते हुए बोला—"मूर्ख! अपनी चीज को उठाने मे कोई हर्ज नही। जाओ, अपना रूमाल उठा लाओ।" नौकर गया, रूमाल रास्ते मे पडा था, नौकर ने उसे उठाया और उसमे घोडे की लीद भी बाँध ली। जब उसने घोडे की लीद सहित रूमाल अधिकारी को पकडाया तो उसने झुंझलाकर पूछा—"अबे बेवकूफ! इसमे यह क्या बाँधा है?

मूर्ख नौकर ने कहा—"साहब! यह तो घोडे की लीद है। वह तो अपनी ही चीज है, इसलिए मैं इसे उठा लाया।" अधिकारी उसकी मूर्खता पर हँसा और नाराज होते हुए कहा—"चला जा, बेवकूफ! मुझे तुम्हारे जैसा मूर्ख नौकर नही चाहिए, जो आदेश को भी ठीक से समझ नही सकता।"

वास्तव मे मूर्ख पहले तो बात को पूरी तरह सुनता-समझता नही, दूसरे वह उतावली मे आकर अपने मन मे समझ लेता है कि मैं सब मे समझदार हूँ। मगर मूर्खता को बार-बार दोहराने पर वह स्वय अनेक सकटो मे घिर जाता है।

इसीलिए एक भारतीय नीतिकार ने मूर्ख के पाँच चिह्न बताए है—

मूर्खस्य पंच चिह्नानि, गर्वो दुर्वचनो तथा।
हठी चाप्रियवादी च, परोक्तं नैव मन्यते॥

"मूर्ख के पाँच चिह्न हैं—(१) अभिमानी, (२) दुर्वचन बोलने वाला, (३) हठी, (४) कटुभाषी और (५) दूसरो का कहना न मानने वाला।"

मूर्ख अभिमानी और हठी होता है, इसी कारण वह दूसरो का कहना नही मानता, न पूरा सुनता-समझता है। वह अपनी धुन मे उल्टे-सीधे काम करता रहता है। साथ ही कोई उसे अच्छी बात कहता है तो झल्ला उठता है और उसे ही दुर्वचन कहने लगता है, कड़वी और चुभती, बिना प्रसग की बात कह देता है।

एक गाँव मे एक बार चार मूर्ख आये और धर्मशाला मे ठहर गये। रात को उन्हें दिया जलाने के लिए तेल की जरूरत पडी तो उनमे से एक मूर्ख एक रुपया लेकर तेली के यहाँ पहुँचा। वहाँ वह तेली की ओर घूरकर देखने लगा तो तेली ने पूछा—"क्या देखता है ?" उसने कहा—"मैं यह देखकर चिन्तित हूँ कि मरने पर आपके इतने मोटे शरीर की अर्थी उठाने वालो के कन्धे कितने छिल जाएँगे।" तेली ने उसे फटकार दिया—"भाग जा मूर्ख ! यहाँ से।" उसने धर्मशाला पहुँचकर दूसरे मूर्ख को रुपया देकर तेली के यहाँ से तेल ले आने को कहा। वह भी उसी का भाई था। तेली को देखकर बोला—"एक बैल पडौसी से माँग लेना, ताकि मरने पर आपकी लाश को आसानी से बैलगाडी मे डालकर श्मशान मे ले जाया जा सके, अन्यथा कन्धे छिल जाएँगे अर्थी उठाने वालो के।" तेली ने नाराज होकर उसे पीट कर भगा दिया।

अब तीसरा मूर्ख तेल लेने आया तो उसने भी गम्भीर होकर तेली से कहा—"मरने पर आपके शव को श्मशान मे ले जाने की जरूरत नही पडेगी, इसी कोल्हू मे रखकर जलाया जा सकेगा। ऐसा करने से न किसी के कन्धे छिलेंगे और न ही बैल माँगकर लाना पडेगा।" तेली ने तीसरे की भी खूब मरम्मत करके उसे भगा दिया। कहा—"मूर्ख ! यहाँ तेल लेने आया है या किसी की मौत बुलाने ? जा, तुझे तेल नही मिलेगा।" वह मुँह लटकाए धर्मशाला लौटा और सारी आपबीती कह सुनाई। अब चौथे मूर्ख की बारी थी, तेल लाने की। वह पहुँचा रुपया लेकर तेली के पास और तेल माँगा।

तेली ने कहा—"तेल किसमे लोगे ?" वह बर्तन लाना तो भूल ही गया था। अत सामने ही भैरोजी के मन्दिर से धूपदानी उठा लाया, जो दोनो ओर कटोरीनुमा होती है। तेली ने उसमे तेल भर दिया, किन्तु बचा हुआ तेल भरने को दूसरा बर्तन माँगा तो उस मूर्ख ने धूपदानी ही उलटकर उनके सामने धर दी। पहले वाला तेल तो सारा का सारा गिर ही गया था। बचा हुआ तेल धूपदानी के दूसरी ओर भरवा कर धर्मशाला लौटा। उसके साथियो ने पूछा—"बाकी के तेल का क्या हुआ ? कहाँ रख आए ?" तब उस मूर्ख ने तपाक से धूपदानी को उलटकर बता दिया कि बाकी का तेल इस प्रकार गिर गया। चारो मूर्ख अपनी मूर्खता के

जाता है। काम करने वाला मालिक काम कराने के बदले व्यर्थ का तूफान मचाकर समय बर्बाद करने वाले मूर्खों को अपमानित करके नौकरी से हटा देता है।

एक राजा का बड़ा महल बनवाया जा रहा था। उसके निर्माण-कार्य में हजारों मजदूर लगाये गये थे। राजा अपनी राजधानी में रहता था। महल पास के दूसरे गाँव में बनाया जा रहा था। इसलिए इन हजारों श्रमिकों में से किसी ने राजा को प्रत्यक्ष नहीं देखा था। इतने विशाल और अद्भुत कला-कौशलपूर्ण बनवाये जाते हुए राजमहल को देखकर कई मजदूर परस्पर बातें करने लगे—"जिसका इतना विशाल राजमहल है, वह राजा कितना बड़ा होगा? वह कैसे-कैसे बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहनता होगा?"

इस पर दूसरे मजदूर ने कहा—"नहीं जी! वह तो बिलकुल सीधा-सादा है, बहुमूल्य गहने-कपड़े नहीं पहनता।"

इसी बीच एक मियाँ भाई बोल उठा—"उसकी दाढ़ी बड़ी मजे की होगी।"

इसका प्रतिवाद करते हुए एक हिन्दू मजदूर बोला—"अजी! वह दाढ़ी रखता ही नहीं। उसके सिर पर तो चोटी है।"

एक मजदूर बोला—"वह बहुत स्वादिष्ट भोजन करता होगा।"

दूसरे ने कहा—"वह तो प्राय उपवास ही करता होगा।"

एक मजदूर ने कहा—"उसकी नजर सब ओर पड़ती है।"

दूसरे ने कहा—"वह कहीं नजर डालने को निकम्मा नहीं बैठा है। वह तो अपने महल में आनन्द में बैठा रहता है, किसी को दर्शन भी नहीं देता।"

किसी मजदूर ने कहा—"वह तो चातुर्य का भण्डार है।"

दूसरे ने उसकी बात को काटते हुए कहा—"अरे! वह चातुर्य का भण्डार होता तो हम उसकी रैयत होते हुए भूखे क्यों मरते, दुःखी क्यों रहते?"

एक ने कहा—"मेरा खयाल है, वह पीले कपड़े पहनता है।"

दूसरा तमककर बोला—"बिलकुल झूठ! वह तो सफेद वस्त्र पहनता है।"

फिर एक बोला—"उसकी मूँछें बहुत बड़ी-बड़ी हैं।"

दूसरा बोला—"तुझे कुछ पता ही नहीं है, यों ही हांके जाता है। वह मूँछें ही कहाँ रखता है?"

इतने में एक बोला—"वह अपनी प्रजा पर बहुत प्रेम करता है।"

दूसरे ने कहा—"उसमें तो प्रेम का नाम ही नहीं है। प्रेम होता तो इतना कठोर दण्ड क्यों देता?"

एक मजदूर ने कहा—"तब तो वह रंग का काला होगा।"

दूसरा बोला—"नहीं जी, वह तो गोरा और सुन्दर है।"

कारण तेल के अभाव मे पछताते रहे। अपनी विनमांगी सलाह देने के कारण दुःखी हो गये।

वस्तुत मूर्ख अपनी खराब आदतो के कारण बार-बार दुःखी होता रहता है। एक विचारक ने मूर्ख की १२ खराब आदतें बताई हैं, जिनके कारण वह बहुत-सी आफतें मोल ले लेता है। १२ दोषपूर्ण आदतें ये है—

(१) भगवान को भूल जाना।

(२) समय का मूल्य न समझना।

(३) अपने को बडा और बुद्धिमान मान बैठना।

(४) आपस मे बाते करते हुए लोगो के बीच मे जा बैठना।

(५) बडे आदमियो की मजाक उडाना।

(६) अपनी हैसियत से ज्यादा खर्च करना।

(७) सभा मे ऊँची जगह बैठने की कोशिश करना।

(८) बहुत बोलना और ऐसा बोलना जो दूसरो को अखरे।

(९) दूसरो से मीठे बोलकर उधार ले लेना, लेकिन उसे चुकाने की चिन्ता न करना।

(१०) किसी के भोज मे बिना न्यौते के ही जा पहुँचना।

(११) किसी के यहाँ अतिथि बनकर उस घर के मालिक पर हुकुम चलाना।

(१२) स्त्रियो के अग-प्रत्यग देखने की चेष्टा करना।

अगर मूर्ख इन बारह दोषयुक्त आदतो को छोड दे तो अनायास ही बहुत-सी आफतो से बच सकता है। परन्तु मूर्ख को कितना ही समझाया जाय, वह अपनी आदत से बाज नही आता।

इन सबसे भी भयकर मूर्ख—वज्र मूर्ख वे है, जो व्यर्थ ही जरा-जरा सी बात पर कुपित हो जाते है। जब देखो तब भौहे तनी हुई और आँखें लाल रहती हैं, या जरा-सी प्रतिकूल बात पर वैसी हो जाती है। कोप ही ऐसे मूर्खों का शस्त्र है, जिससे वे दूसरो पर अपना रौब जमाना और दबाव डालना जानते है।

मूर्ख मनुष्यों के कुपित होने के कारण

मूर्ख मनुष्यो के कुपित होने के कई कारण है, एक कारण है—**वाद-विवाद**।

कई दफा मूर्ख लोग अपने मूल कार्य को छोडकर व्यर्थ के वाद-विवाद मे पड जाते हैं, जिससे समय बेकार चला जाता है, जो काम करना है, वह होता नही और व्यर्थ की तकरार बढ जाती है। वह तकरार कभी-कभी इतना उग्र रूप धारण कर लेती है कि उसमे से परस्पर गाली-गलौज, अपशब्द और हाथापाई तक नौबत आ जाती है, काम तो काम के ठिकाने धरा रह जाता है और यह नया बवडर और पैदा हो

जाता है। काम करने वाला मालिक काम कराने के बदले व्यर्थ का तूफान मचाकर समय बर्बाद करने वाले मूर्खों को अपमानित करके नौकरी से हटा देता है।

एक राजा का बडा महल बनवाया जा रहा था। उसके निर्माण-कार्य मे हजारो मजदूर लगाये गये थे। राजा अपनी राजधानी मे रहता था। महल पास के दूसरे गाँव मे बनाया जा रहा था। इसलिए इन हजारो श्रमिको में से किसी ने राजा को प्रत्यक्ष नही देखा था। इतने विशाल और अद्भुत कला-कौशलपूर्ण बनवाये जाते हुए राजमहल को देखकर कई मजदूर परस्पर बातें करने लगे—"जिसका इतना विशाल राजमहल है, वह राजा कितना बडा होगा ? वह कैसे-कैसे बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहनता होगा ?"

इस पर दूसरे मजदूर ने कहा—"नही जी ! वह तो बिलकुल सीधा-सादा है, बहुमूल्य गहने-कपडे नही पहनता।"

इसी बीच एक मियाँ भाई बोल उठा—"उसकी दाढी बडी मजे की होगी।"

उसका प्रतिवाद करते हुए एक हिन्दू मजदूर बोला—"अजी ! वह दाढ़ी रखता ही नही। उसके सिर पर तो चोटी है।"

एक मजदूर बोला—"वह बहुत स्वादिष्ट भोजन करता होगा।"

दूसरे ने कहा—"वह तो प्राय उपवास ही करता होगा।"

एक मजदूर ने कहा—"उसकी नजर सब ओर पडती है।"

दूसरे ने कहा—"वह कही नजर डालने को निकम्मा नही बैठा है। वह तो अपने महल मे आनन्द से बैठा रहता है, किसी को दर्शन भी नही देता।"

किसी मजदूर ने कहा—"वह तो चातुर्य का भण्डार है।"

दूसरे ने उसकी बात को काटते हुए कहा—"अरे ! वह चातुर्य का भण्डार होता तो हम उसकी रैयत होते हुए भूखे क्यो मरते, दु खी क्यो रहते ?"

एक ने कहा—"मेरा खयाल है, वह पीले कपडे पहनता है।"

दूसरा तमककर बोला—"बिलकुल झूठ ! वह तो सफेद वस्त्र पहनता है।"

फिर एक बोला—"उसकी मूँछें बहुत बडी-बडी हैं।"

दूसरा बोला—"तुझे कुछ पता ही नही है, यो ही हाँके जाता है। वह मूँछें ही कहाँ रखता है ?"

इतने मे एक बोला—"वह अपनी प्रजा पर बहुत प्रेम करता है।"

दूसरे ने कहा—"उसमे तो प्रेम का नाम ही नही है। प्रेम होता तो इतना कठोर दण्ड क्यो देता ?"

एक मजदूर ने कहा—"तब तो वह रंग का काला होगा।"

दूसरा बोला—"नही जी, वह तो गोरा और सुन्दर है।"

एक बोला—"वह तो बूढा है।"

दूसरे ने कहा—"नही जी, वह जवान है।"

तीसरा बोला—"वह तो बालक-सा है।"

चौथे ने कहा—"अरे यारो! क्यो फिजूल की बकवास कर रहे हो? कुछ लेना, न देना, व्यर्थ की इल्लत मोल ले रहे हो।"

इस पर सब उसे झिडकते हुए कहने लगे—"वाह! यह भी कोई बात है? हम अपनी सच्ची बात भी प्रकट न करें? हमने राजा को जिस रूप मे समझा है, वह भी न कहे?"

इस प्रकार व्यर्थ का वाद-विवाद करते-करते वे आपस मे लडने झगडने और गाली-गलौज करने लगे। समय काफी बेकार चला गया, शाम होने को आई, पर इस विवाद मे उलझकर उन्होने काम कुछ भी न किया। सन्ध्या समय राजा के सिपाही आए। विवाद करने वाले उन तमाम मजदूरो को पकडकर अधिकारी के सामने ले गये और कहने लगे—"साहब! महाराजा का बडा महल बनवाने के काम मे इन मजदूरो को रखा गया था, पर इन्होने आज रत्तीभर भी काम न किया, आपस मे वादविवाद और लडाई-झगडे मे सारा समय खो दिया। अत इन्हे सजा देनी चाहिये।"

अधिकारी ने उन सब मजदूरो से पूछा—"बोलो, तुम क्या कहना चाहते हो? तुम लोगो ने आज काम क्यो नही किया?"

इस पर उन मजदूरो ने आपबीती सारी बात कह सुनाई। अन्त मे कहा—"हम तो महाराजा की ही बात कर रहे थे, और कोई खराब बात तो नही कर रहे थे? उन बातो मे रह जाने से काम नही हो सका।"

यह सुनकर अधिकारी ने कहा—"यह बहानेबाजी नही चलेगी। तुम्हे काम के लिए रखा था या बातें बनाने को? बातें बनानी थी, तो घर ही रहते, यहाँ किस लिये आये थे? महाराजा दयालु हैं या कठोर, काले हैं या गोरे, मूँछें रखते हैं या नही, जवान हैं या बूढे, दाढी रखते हैं या चोटी? इन सब बातो के बिना तुम्हारा कौन-सा काम अटका पडा था? इन सब बातो को जाने बिना तुम्हारा क्या बनता-बिगडता था? तुम्हारा कर्तव्य था, राजमहल का निर्माण-कार्य करना, उसमे तुम लगे नही और व्यर्थ की बहस मे लग गये। इसलिए तुम सब नालायक हो। तुम्हे आज का वेतन नही मिलेगा। मुँशीजी! जेलर से कहो कि जिन-जिनने काम नही किया, आपस मे लडे-झगडे उनका पिछला वेतन जब्त कर लो, और कैद मे डालकर उनसे सख्त मेहनत कराओ।"

भाइयो! यह है मूर्खों की असली पहचान, जो असली काम से हाथ नही लगाते और व्यर्थ की बकवास, बहस और तकरार करते रहते है।

क्षणे रुष्टा : क्षणे तुष्टा

कई बार ऐसे मूर्ख क्षणभर मे तुष्ट और दूसरे क्षण रुष्ट हो जाते हैं। उनकी प्रसन्नता भी भयकर होती है और रोष भी। उनके पल्ले कुछ भी नही पडता, फिजूल तू तू-मैं-मैं करके अपना सिर खपाते रहते हैं। ऐसे मूर्खो के लिए गुजराती मे एक कहावत है—

'भेंस भागोले, छास छागोले ने घेर धमाधम।'

एक किसान ने अपने खेत पर दो मजदूर लगा रखे थे, दोनो आपस मे मामा-भानजे थे। खेत मे फसल लहलहा रही थी, दोनो मजदूर अपने श्रम का सुन्दर फल जानकर प्रसन्न हो रहे थे कि अचानक पासा पलटा। मामा ने कल्पना के घोडे दौडाते हुए कहा—इस खेत मे दो टन गेहूँ निकलेंगे। भानजा कहने लगा—दो टन ही क्यो, तीन टन निकलेंगे। आपका अदाज गलत है। इसी बात पर दोनो मे मतभेद खडा हो गया और तू-तू-मैं-मैं होने लगी। अन्त मे विवाद इतना उग्र हो गया कि दोनो हाथा-पाई पर उतर आये।

एक समझदार पडोसी किसान वहाँ आया, उसने डाँटकर कहा—'अरे मूर्खो! गेहूँ जितने भी होंगे, मालिक के होंगे, तुम्हे तो केवल मजदूरी ही मिलेगी, फिर क्यो आपस मे सिर-फुटौव्वल मचा रहे हो?' दोनो बहुत शर्मिन्दा हो गये और चुप होकर पश्चात्ताप करने लगे। इसी प्रकार मूर्खो का जीवन क्षणे रुष्ट और क्षणे तुष्ट के झूले मे झूलता रहता है।

कलहप्रिय एव छिद्रान्वेषक—मूर्ख

मूर्खों के कुपित होने का तीसरा कारण है—कलह और छिद्रान्वेषण। मूर्खों की आदत होती है, बात-बात मे तकरार और कलह करने की। जिस समय वे तकरार करते हैं, उस समय भान भूल जाते हैं, परिणाम का विचार नही करते और दूसरो के द्वारा उत्तेजित किये हुए सांडो की तरह वे परस्पर लडने लगते हैं। इसमे गुस्से का तो उफान चलता ही है। गुस्से मे आकर एक-दूसरे की शिकायत करने लगते हैं, छिद्र भी प्रगट करने लगते है। हालांकि परस्पर एक दूसरे का छिद्र प्रगट करने मे उन दोनो की भारी हानि होती है। पर मूर्ख इस बात को क्यो सोचने लगा?

सास-बहू मे प्राय प्रतिदिन जमकर लडाई होती थी। दोनो आक्रोशपूर्वक एक-दूसरे को कटुवचन, व्यग्य एव तानाकशी करती थी। बहू इसी फिराक मे थी कि सास का कोई ऐसा छिद्र मिल जाये तो उसे इतना दबा दूं कि फिर बोल न सके। एक दिन उसे सास के जीवन की एक दुर्बलता का पता लग गया बस फिर क्या था, तकरार होते ही बहू ने क्रोधावेश मे आकर वचन का तीर छोड दिया—"मैं जानती हूँ, तुम कैसी पतिव्रता हो। अब तुम बढ-चढकर बातें कर रही हो। ननदजी को मैंने देखा था, उस दिन पतिव्रतापन कहाँ चला गया था?" बस, सास को

बोलती बन्द हो गई । उसने इस दु ख से आत्महत्या कर ली, उसके पीछे उसके ससुर, पति और स्वय को भी आत्महत्या करनी पड़ी । कितना भयकर रूप है मूर्ख के कोप और तज्जनित मर्मोद्घाटन का ?

छिद्रान्वेषक और मर्मोद्घाटक मूर्ख कोपावेश मे आकर भयंकर अनर्थ कर बैठता है । एक भारतीय मनीषी ने ठीक ही कहा है—

"आत्मच्छिद्रं न पश्यति, परच्छिद्रं पश्यति बालिशः ।"

"मूर्ख अपना छिद्र (दोष) नही देखता, वह दूसरो के छिद्र देखने की ताक मे रहता है ।"

सस्कृत साहित्य मे एक नीति कथा आती है—एक जगह दो सर्पो मे लडाई हो गई । लडाई इतनी भयंकर हुई कि दोनो सर्प अपना आपा खो बैठे । दोनो एक दूसरे को नष्ट करने तथा उनकी बाँबियो को समाप्त करने पर तुल गये । एक सर्प ने गुस्से मे आकर कहा—"तू क्या बढ-चढकर बात करता है, अगर तेरी बाँबी मे गर्मा-गर्म तेल डाला जाए तो तेरा सारा आश्रय-स्थान ही खत्म हो जाए ।" दूसरे सर्प ने भी क्रुद्ध होकर उसका छिद्र प्रगट करते हुए कहा—"हाँ, हाँ, मैं भी जानता हूँ, तेरे विनाश का उपाय । अगर तेरी बाँबी मे जलती हुई लकडी डाली जाए, तो तेरा पता भी न लगे ।" इन दोनो मूर्ख सर्पो की बाते कोई सुन रहा था । उसने एक की बाँबी मे गर्मागर्म तेल डाला, जबकि दूसरे सर्प की बाँबी मे जलती हुई लकडी डाली । इससे दोनो छिद्रोद्घाटक मूर्ख सर्पों का सर्वनाश हो गया ।

यह है—मूर्खता का भयकर नमूना । इसी प्रकार के कई मूर्ख होते हैं जो एक-दूसरे का छिद्र—रहस्य खोलकर अपने विनाश को न्यौता दे देते हैं ।

अपना दोष दूसरों के सिर मढ़ना—मूर्ख का लक्षण

मूर्खों के कुपित होने का चौथा कारण है—**अपनी हानि होने पर दूसरों (निमित्तो) पर दोषारोपण ।** प्राय· देखा जाता है कि जब अपनी कोई हानि या क्षति अपनी ही गलती से हो जाती है तो मूर्ख लोग दूसरो पर उसका सारा दोष डाल देते हैं । वे अकसर कहने लगते हैं—अमुक ने ऐसा किया, इसलिए मेरा इतना नुकसान हो गया । अमुक ऐसा नही करता तो मेरा इतना नुकसान क्यो होता । इस प्रकार उस निमित्त को दोषी और अपराधी मानकर मूर्ख व्यक्ति उस पर रोष करता है, उसे डाँटता-फटकारता है, उसे गुस्से मे आकर भला-बुरा कहता है, मारता-पीटता भी है ।

इस प्रकार निमित्तो को कोसकर मूर्ख उन पर अपना गुस्सा उतारता है, परन्तु वह यह नही देखता कि इस कार्य के बिगडने या इसमे हानि या क्षति होने मे मेरा कितना दोष या अपराध है ? मेरी कितनी व्यावहारिक भूल हुई है ? या मैं किस दायी हूँ ? मेरा उपादान शुद्ध होता या मेरे कर्म शुभ होते तो यह

क्षति या हानि होनी ही क्यो ? इसमे मूल दोष तो मेरे कर्मो का या उपादान का है, निमित्त तो कोई भी बन सकता है, यह नही तो अन्य कोई निमित्त बनता। मेरी पात्रता जितनी थी, उतना मुझे मिल गया, इसमे दूसरो को दोष देने मे क्या लाभ ?

(एक रूपक द्वारा इसे स्पष्ट कर दूँ—पहाड़ी झरना अपनी मस्ती मे बहा जा रहा था, न जाने किधर और क्यो ? गाव की एक किशोरी आई और उसने अपना कटोरा पानी से भर लिया। तभी घड़ा लिए आई एक दुल्हन। उसने अपना घड़ा भर लिया और सामने दूसरे तट पर खड़ी हो गई। किशोरी ने जब अपने कटोरे की ओर देखा तो घृणा से देख झरने की ओर घूर कर कहा—"तुम बडे बेइन्साफ हो जी !"

झरने ने पूछा—"क्यो क्या बात है ?"

किशोरी ने रोष मे आकर कहा—"देखते नही, उस दुल्हन को तो तुमने इतना पानी दे दिया कि वह बोझ से दबी चले, और मुझे दिया चार चुल्लू पानी।"

किशोरी ने झरने का उत्तर सुने बिना ही एकदम गुस्से से उबलकर अपने कटोरे का पानी धरती पर फैंक दिया। झरना कुछ कहने को ही था कि एक भिश्ती वहाँ आकर खड़ा हो गया। उसने अपनी भारी मशक पानी से भर ली।

झरने के अट्टहास से दिग्मडल गूंज उठा। किशोरी अपना खाली कटोरा लिये खड़ी थी। वह कभी झरने पर, कभी दुल्हन पर और कभी भिश्ती पर गुस्से मे आकर तानाकशी कर रही थी कि झरने ने मुझे पानी कम क्यो दिया ? इस दुल्हन और भिश्ती ने पानी इतना अधिक क्यो ले लिया ?)

यह रूपक ठीक उस मूर्ख पर घटित होता है, जो अपना पात्र नही देखता कि वह कितनी योग्यता या क्षमता वाला है ? और दूसरे अधिक योग्य व्यक्तियो को जीवन घट मे सुख रूपी जल लेते देखकर उनसे ईर्ष्या करता है, कभी भगवान को और कभी अपने अन्य अधिकारी या साथियो को कोसता है। कभी-कभी रोष मे आकर जीवन घट से थोड़े-से सुखरूपी जल को भी फैंक देता है और कुढता रहता है। इसीलिए विदुरनीति मे ऐसे व्यक्ति को मूढतम कहा है—

> पर क्षिपति दोषेण, वर्तमान. स्वयं तथा ।
> यश्च क्रुद्ध्यत्यनीशान , स च मूढतमो नर. ॥

"जो व्यक्ति स्वयं दोषयुक्त हुआ भी दूसरो पर दोष मढ देता है, स्वयं अयोग्य या असमर्थ होता हुआ भी दूसरे पर रोष करता है, वह मनुष्य सबसे बड़ा मूर्ख है।"

धम्मपद मे अपनी योग्यता-अयोग्यता न जानने वाले को मूर्ख कहा है—

> यो बालो मञ्ञति बाल्य, पण्डितो वापि तेन सो ।
> बालो च पण्डितमानी, स वे बालोति वुच्चति ॥

"जो मूर्ख अपनी मूर्खता को जानता-मानता है, उतने अंश मे वह पण्डित है, असली मूर्ख तो वह है जो मूर्ख होते हुए भी अपने आपको पण्डित समझता है।"

कई मूर्ख लोग किसी समाज, सस्था या व्यक्ति पर अवसर न देने की शिकायत करते है, या परिवार के नेता या माता-पिता की शिकायत करते हैं कि उन्होंने हमे योग्य नहीं बनाया, पढाया-लिखाया नहीं, परन्तु ससार के इतिहास मे ऐसे सैकडो उदाहरण मौजूद है, जिनमे अत्यन्त गरीब, असहाय एव अनाथ अथवा अपाहिज व्यक्तियो ने किसी की सहायता या अवसर न मिलने की शिकायत नही की, वे स्वय आत्म विश्वास के बल पर आगे बढे। परन्तु मूर्ख लोग बात-बात मे दूसरो की शिकायत करते रहते हैं, उन पर गुस्सा करते रहते हैं। अपनी योग्यता और पात्रता नहीं देखते।

व्यर्थ का झगड़ा : मूर्खता की निशानी

मूर्खों के कुपित होने का पाँचवाँ कारण है—व्यर्थ की रार, रास्ते चलते छेडखानी। 'आ बैल सीग मार' की कहावत के अनुसार मूर्ख बिना किसी कारण के किसी से झगड पडता है और गुस्से मे आग-बबूला हो जाता है। बचपन मे एक कहानी पढी थी—

एक बकरी का बच्चा (मेमना) नदी के सकडे लट्ठे पर से पार हो रहा था उधर सामने से एक भेडिया आ रहा था। भेडिये ने मेमने से लडाई छेड दी—"अबे ! मेरे रास्ते मे क्यो आया ? किसने कहा था कि तू मेरे मार्ग मे आये ? तेरी माँ ने मेरे साथ टक्कर ली थी, तो अब मैं तेरे से टक्कर लेता हूँ।" यो कहकर मेमने के टक्कर मारी और गुस्से मे आकर चल दिया।

इस दृष्टान्त का तात्पर्य यह है कि कई मूर्ख ऐसे होते है जो 'मान न मान, मैं तेरा मेहमान' की तरह जानबूझकर दूसरो से टक्कर लेते हैं, झगड पडते हैं, कोई कारण न होते हुए भी गुस्से मे आकर लडाई ठान बैठते है।

पूर्वाग्रह : मूर्खता का छठा चिह्न

मूर्खों के कुपित होने का छठा कारण है—**साम्प्रदायिक, जातीय, प्रान्तीय आदि किसी भी प्रकार का पूर्वाग्रह।**

पूर्वाग्रह एक ऐसा रोग है कि वह जिस व्यक्ति के साथ लग जाता है, वह अकारण ही द्वेष, वैर-विरोध, कलह और घृणा करने लगता है। अन्य सम्प्रदाय वाले व्यक्तियो को देखते ही अकारण ही रोष से उबल पडता है। ऐसा मूर्ख भी कम खतरनाक नही होता।

जब किसी व्यक्ति या बात के प्रति पूर्वाग्रह हो जाता है, तब व्यक्ति दूसरे की कही हुई हित की बात पर भी ध्यान नही देता, बल्कि जिस व्यक्ति के प्रति पूर्वाग्रह हो जाता है, उस व्यक्ति को उखाड फैंकने का प्रयत्न करता है। वह मन ही मन उसके प्रति कुढता रहता है। क्रोधानल के आन्तरिक दाह से वह मूर्ख क्लेश पाता

भारत-विभाजन के समय पंजाब में साम्प्रदायिक उन्माद छाया हुआ था। सदियों से पास-पड़ौस में रहने वाले हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहवश एक-दूसरे के खून के प्यासे बने हुए थे। एक-दूसरे को देखकर आँखों में खून उतर आता था। न मनुष्य के प्राणों का मूल्य था और न बहनों की इज्जत का। निरीह बच्चों को मारकर, बहनों की इज्जत लूटकर सृष्टि की सर्वोत्तम देन को नष्ट करने पर तुले हुए थे।

वास्तव में, उन मूर्खों में साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह का नशा चढ़ा हुआ था, जो क्रोध, द्वेष और वैर-विरोध का खेल करवा रहा था। इसी प्रकार के जातीय और प्रान्तीय पूर्वाग्रह द्विभाषी बम्बई राज्य के समय बम्बई आदि में गुजराती-महाराष्ट्रियों में देखा जा रहा था। 'मुम्बई अमची' कहकर पूर्वाग्रह के भूत से ग्रस्त मूर्ख विरोध करने वालों की खोपड़ी फोड़ डालते थे। आज भी देश में धर्म, सम्प्रदाय, जाति-बिरादरी के नाम पर हृदय दहलाने वाले नृशंस काण्ड होते सुने जाते हैं। यह सब मनुष्य की महामूर्खता के लक्षण हैं।

इस सम्बन्ध में विदुरनीति में बताया है—

> अमित्रं कुरुते मित्रं, मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च।
> कर्म चारभते दुष्टं, तमाहुर्मूढचेतसम्॥

"जो शत्रु को मित्र बना लेता है और जो उसके अपने हितैषी मित्र हैं, उनके साथ द्वेष रखता है, उन्हें मार डालता है, तथा भयंकर दुष्कर्म करता है, उसे मूढचेता कहते हैं।"

जरा-सी बात पर भड़क जाना—मूर्खता का सातवाँ चिह्न

इसके पश्चात् मूर्ख के कुपित होने का सातवाँ कारण है—किसी के द्वारा जरा सा छेड़ना। छेड़ना तो दूर रहा, मूर्ख को अगर कोई जरा-सी भी उसकी भूल बता देता है तो वह उबल पड़ता है। कभी-कभी क्रोधावेश में आकर वह दूसरे की हत्या भी कर बैठता है।

आज से लगभग २६ साल पहले की दिल्ली की एक घटना है—एक जौहरी का लड़का नन्दकिशोर और राधेश्याम एक ही मुहल्ले में रहते थे। नन्दकिशोर मैट्रिक में फेल हो गया। [illegible] के परीक्षाफल निकलने के दूसरे दिन दोनों एक जगह मिल गए। राधेश्याम ने नन्दकिशोर से मजाक में कहा—"सुना है, तू फेल हो गया। जरा ढंग से पढ़कर आ!" यह बात मूर्ख नन्दकिशोर को चुभ गई। उसने उसे गाली निकालकर कहा—"तू कौन होता है कहने वाला?" इस पर मूर्ख राधेश्याम ने भी चाकू निकाला और नन्दकिशोर पर तीन वार किये। वह घायल होकर गिर पड़ा। उसे तुरन्त अस्पताल पहुँचाया गया, जहाँ उसकी तुरन्त मृत्यु हो गई।

यह घटना बताती है कि मूर्ख—विशेषतः कठिन मूर्ख तो जरा-सा छेड़ते ही तुरन्त कुपित होकर अनर्थ कर बैठता है।

पाश्चात्य विचारक जिम्मरमेन (Zimmerman) कहता है—

Fools with bookish knowledge, are children with edged we pons, they hurt themselves and put others in pain.

"केवल किताबी ज्ञान वाले मूर्ख तो तेज धार वाले हथियार लिये हुए ब हैं, जो स्वयं को तो नुकसान पहुँचाते ही हैं, दूसरो को भी मुसीबत मे डाल देते हैं

इसीलिए एक अनुभवी कहता है—

शत दद्यान्न विवदेति विज्ञस्य सम्मतम् ।
विना हेतुमपि द्वन्द्वमेतन्मूर्खस्य लक्षणम् ।।

"विज्ञ मनुष्य की यह सम्मति है कि सौ रुपये देने पर भी मूर्ख के स विवाद या छेडछाड नही करना चाहिए, क्योकि मूर्ख की आदत है, वह बिना ही कार लडाई ठान लेता है ।"

यद्यपि क्रोधावेश मे आकर किसी नम्र सज्जन से लड पडने मे मूर्ख की हा अधिक है, पर वह अपने हानि-लाभ पर विचार करे तब न ?

एक रूपक याद आ रहा है—

एक बार आग और पानी मे विवाद खडा हो गया । आग ने पानी से कहा- "मूर्ख पानी ! चल, मेरे पास से दूर हट जा । जानता नही, मेरी ज्वाला के समक्ष संसार मे कोई नही टिक सकता । मैं अपनी शक्ति से सारे ससार को जलाकर खाक कर सकती हूँ ।"

पानी मुस्कराया । उसने हँसकर उत्तर दिया—"बहन ! सच ही तो कहती हो, तुम्हारी शक्ति की कोई समता नही कर सकता, पर बुरा न मानो तो एक बार मेरी शीतलता का स्पर्श तो कर देखो ।"

आग झपटी कि जल को जला डालूं, पर हुआ यह कि वह स्वय ही बुझ गई ।

हाँ तो, मूर्ख मानव की क्रोध की आग सज्जन मनुष्य की शीतलता का स्पर्श करते ही स्वय बुझ जायगी, वह अपने ही अस्तित्व को खो बैठेगी ।

पर मूर्ख मनुष्य मानते कब है ? वे क्रोध की आग लेकर हर एक पर झपटते है, फिर भले ही उन्हे मुंह की खानी पड जाए ।

एक बेवकूफ यात्री अभिमान मे अकड कर अधाधुन्ध जा रहा था । रास्ते मे बाड का ध्यान न रखने से उसके पैर मे बाड का एक काँटा चुभ गया । चुभते ही उसे बहुत दु ख हुआ । उसे काँटे की बाड पर इतना गुस्सा चढा कि एक के बाद एक १०-१५ लाते उस पर जमा दी । मगर ऐसा करने से परिणाम क्या आयेगा, यह उस मूर्ख यात्री ने सोचा नही था । यही हुआ कि एक काँटे के बदले उसके पैर मे कई काँटे चुभ गये, अधिक पीडा हुई । कारण यह है कि बाड के लात मारने से बाड तो कोई खिसकती नही, उसका कुछ भी नही बिगडता, नुकसान होता है लात मारने वाले का ही ।

यही हालत मूर्ख व्यक्ति के क्रोध की है, वह जरा-सा कटु वचन का अमनोज्ञ शब्द का कांटा चुभते ही, कहने वाले व्यक्ति पर टूट पड़ता है, धड़ाधड़ दस-पन्द्रह गालियाँ बक देता है, अपशब्द कह देता है, पर उससे नुकसान किसका हुआ ? यह उस कुपित होने वाले मूर्ख को नहीं सूझता। इसी सूझबूझ के अभाव में वह क्रोधाविष्ट होकर अपनी शक्ति और सहानुभूति खो बैठता है।

मूर्ख यात्री जैसे बाट के कांटों में उलझ पड़ा, वैसे ही मूर्ख मनुष्य जरा सी बात पर क्रोध से उलझ पड़ता है। बात में चाहे कुछ भी तथ्य न हो, वह उसे बतंगड़ बना देता है, तिल का ताड़ बनाकर वह उस बात से महाभारत छेड़ देता है। यह है, मूर्खता की निशानी।

एक अंग्रेजी कहावत है—

A fool may be known by six things—anger, without cause, speech, without profit, change, without progress; inquiry, without object, putting trust in a stranger and mistaking foes for friends."

मूर्ख व्यक्ति ६ बातों से जाना जा सकता है—

(१) बिना ही कारण क्रोध से,

(२) बिना लाभ के बोलने से

(३) बिना उन्नति के परिवर्तन करने से,

(४) बिना प्रयोजन पूछताछ करने से,

(५) अजनबी आदमी पर सहसा विश्वास करने से, और

(६) शत्रुओं को मित्र मानने की गलती कर बैठने से।

ये और इसी प्रकार के कुछ कारण हैं, जिनसे मूर्ख कुपित होते हैं।

मूर्ख क्रोध करता ही नहीं, कराता भी है

मूर्ख स्वयं ही क्रोध नहीं करता, अपितु अपने व्यवहार या वचन से दूसरों को भी कुपित कर देता है। मूर्ख के कुछ व्यवहार या वचन ही अजीब ढंग के होते हैं कि [illegible] क्रोध [illegible] देते हैं।

एक रोगी था [illegible] मूर्ख और बेसमझ। उसे वैद्य जी ने दवा दी और लिखकर [illegible]। [illegible] पढ़ा-लिखा था, [illegible] से [illegible] की [illegible] चला [illegible] रहा था [illegible]।"

[illegible] पर बैठने वाले [illegible] हुए किसी किसान ने उसे [illegible] और कहा— [illegible]।"

[illegible] बैठा था, उसने [illegible] ऐसे [illegible]

वह यो कहता जा रहा था कि चोरो ने सुनकर खूब मरम्मत की फिर कहा—"यों बोल—आते जाओ, धरते जाओ।"

रास्ते मे कुछ लोग मुर्दे को श्मशान की ओर ले जा रहे थे, उन्हें ये शब्द बहुत बुरे लगे। उन्होने इस मूर्ख की खूब पिटाई की और कहा—"यो बोल—ऐसा दिन तो कभी न आए।"

यो बोलता हुआ जब गाँव मे पहुँचा तो वहाँ गाँव के ठाकुर को पुत्र-रत्न की प्राप्ति होने से उत्सव मनाया जा रहा था। इस मूर्ख की अमंगल वाणी सुनकर लोगों को बहुत गुस्सा आया, उन्होने डडो से इसकी पूजा की। मूर्ख रोगी ने घर मे घुसकर निश्चय कर लिया कि मैं उस चीज को कभी न खाऊँगा, जिसके नाम लेने पर इतना तूफान खडा हो गया।

वास्तव मे यह तूफान खडा किया था, मूर्ख ने स्वय ही। उसने अपनी मूर्खता-वश अमगलसूचक या प्रतिकूल वचन बोलकर लोगो का क्रोध भडका दिया जिसकी सजा भी उसे पूरी-पूरी मिली। जगह-जगह उसकी अच्छी तरह पूजा हुई। अत मूर्ख स्वय ही क्रोध नही करता, दूसरो मे भी क्रोध उत्पन्न करता है।

कोपपरायणता से हानि या लाभ ?

मूर्ख प्राय यह समझते है कि हम दूसरे पर कोप करके उसे डाँटे-फटकारेंगे, तो उस पर हमारा दवाब पड़ेगा, हमारी धाक जम जाएगी। आयन्दा वह कभी सिर नही उठाएगा, परन्तु यह निरी भ्रान्ति है। किसी पर क्रोध करने से कदाचित कोई दुर्बल व्यक्ति दब जाए, मगर उसके मन मे उसकी प्रतिक्रिया जाग उठती है और वह किसी न किसी दिन भयकर रूप मे फूट पडती है।

सच पूछे तो मूर्ख की कोपपरायणता से कदाचित जरा-सा लाभ दिखाई दे, किन्तु उससे अपार हानि होती है। जिस समय मूर्ख मे क्रोध का उफान आता है, उस समय उसे बोलने का भान नही रहता, वह शिष्टता, सभ्यता और सौम्यता खो बैठता है। वह क्रोध के समय प्राय अधिकार की भाषा मे बोलता है। इससे उसके प्रति लोगो मे नफरत पैदा होती है, लोग उसके निकट नही आते, उसके साथ कोई व्यवसाय सम्बन्धी बात नही करते। इससे वह सबका स्नेह, आत्मीयता और सहानुभूति गँवा बैठता है। स्नेह और सभ्यता के व्यवहार से वह जो लाभ उठा सकता था, दूसरे से सहानुभूति, सुरक्षा और सुख शान्ति पा सकता था, उससे वचित हो जाता है। क्रोधावेश मे वह जो कुछ कटु वचन बोलता है उससे सामने वाला व्यक्ति शत्रु बन जाता है। क्रोधावेश मे कई वार अपनी वस्तु का भी बहुत नुकसान हो जाता है। एक रोचक दृष्टान्त लीजिए—

एक अहीर-अहीरन घी के घडे गाडी मे भरकर निकटवर्ती नगर के बाजार मे आए। घी बेचने का सौदा किसी के साथ कर लिया। अहीर गाडी मे से घी का घडा उतारने के लिए नीचे खडी हुई अहीरन के हाथ मे घडा सोपने लगा। यो घड़े

देते-लेते एक छोटा-सा घड़ा असावधानी के कारण अहीरन के हाथ से नीचे गिर पड़ा। वह टुकड़े टुकड़े हो गया, उसका घी जमीन पर फैल गया। अहीर को अत्यन्त दुःख हुआ। उसने अहीरन को फटकारते हुए कहा—पापिनी, कुलटे! मालूम होता है, तू कामपीड़ित होकर किसी रूपवान पुरुष को देख रही थी, इसीलिए तो घड़ा ठीक से न पकड़ा, उसे फोड़ डाला।"

मूर्ख आदमी को क्रोधावेश में कुछ भी भान नहीं रहता। जब आदमी कोई गलती कर देता है और उसे समझाये जाने पर भी स्वीकार नहीं करता, तब वह गुस्से में लाल हो जाता है।

पाश्चात्य विचारक हैलीबर्टन (Haliburton) यही बात कहता है—

When a man is wrong and won't admit it, he always gets angry.

"जब मनुष्य गलती पर हो, और उस गलती को स्वीकार नहीं करता, तब वह गुस्सा हो जाता है।"

हाँ, तो उस मूर्खा ने अपनी भूल स्वीकार नहीं की, किन्तु अपने पति के वचन सुनकर होठ फड़फड़ाती हुई भौंहें तानकर बोली—"अरे अधम गँवार! देख लिया तुझे। खुद तो घी का घड़ा ठीक से पकड़ाना नहीं, अन्यमनस्क होकर सुन्दर कामिनी का मुँह देखता जाता है, उल्टा मुझे डाँटता है?"

यह सुनकर उसका मूर्ख पति भी क्रोधाग्नि से दग्ध होकर अटसट बकने लगा। बहुत-से ग्रामवासी लोग मूर्ख पति-पत्नी का झगड़ा देख वहाँ इकट्ठे हो गये। दोनों में गाली-गलौज धक्के-धक्के हाथापाई और मारपीट होने लगी। इसी धमाचौकड़ी में पैर आगे-पीछे पड़ने से घड़े का सारा घी जमीन पर गिर गया। कुछ घी जमीन सोख गई, कुछ कुत्ते चाट गये और बाकी का घी वहाँ खड़े हुए चोर ले गये।

इतना झगड़ा बढ़ गया कि सूर्य अस्त होने तक वह निपटा। दोनों को थोड़ा होश आया। अब वे दोनों गाड़ी में बैठे। बचे हुए घी की रकम लेकर वे अपने गाँव की ओर जा रहे थे। रास्ते में ही रात हो गई। घना अँधेरा हो गया। कुछ लुटेरों ने एकदम इनकी गाड़ी पर हमला बोल दिया। इनसे धनराशि छीन ली, वस्त्र, बैल एवं गाड़ी भी वे लूट ले गए। बेचारे अहीर दम्पती अपना-सा मुँह लेकर घर लौटे।

यह है क्रोधपरायण मूर्खों को क्रोधाविष्ट होने की सजा। ऐसा ही दण्ड प्रायः प्रत्येक क्रोधपरायण मूर्ख को एक या दूसरे रूप में भोगना पड़ता है।

बन्धुओ! इसीलिए महर्षि गौतम ने कुलक में स्वानुभव से जो इस जीवन-सूत्र द्वारा साक्षात्कार किया है—

'मुक्खा नरा कोवपरा हवंति'

आप भी मूर्खों के क्रोधपरायण जीवन से प्रेरणा लें और ऐसे मूर्खतापूर्ण क्रोध-परायण जीवन से तो कोसों दूर रहने का प्रयत्न करें।

४५

सुसाधु होते तत्त्वपरायण—१

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज आपके समक्ष सुसाधु के जीवन के सम्बन्ध मे चर्चा करना चाहता हूँ। महर्षि गौतम का विचार है कि जो सुसाधु होते हैं, वे तत्त्वपरायण होते हैं। वे तत्त्व-दृष्टि के अनुसार चलते है, वे प्रत्येक वस्तु की तह मे पहुँचते हैं और उसके असली स्वरूप को जानकर अपना कर्तव्य निर्धारित करते हैं, वे ऊपर-ऊपर नही तैरते, वस्तु के बाह्य सौन्दर्य को, या उसके सुरूप-कुरूप को देखकर कोई निर्णय नही करते। गौतम कुलक का यह अडतीसवाँ जीवनसूत्र है, जो इस प्रकार है—

"सुसाहुणो तत्तपरा हवति"

—सुसाधु तत्त्व-परायण होते हैं।

सुसाधु कौन, कुसाधु कौन ?

यहाँ 'सुसाधु' शब्द होने से पहला सवाल यही उठता है कि सुसाधु और कुसाधु के क्या लक्षण हैं ? उन दोनो की पहिचान क्या है ? क्योकि सुसाधु की तरह कुसाधु या नकली साधु भी साधु के वेष मे रहता है, वह भी साधु की तरह क्रिया करता है, वह भी सुसाधु की तरह बल्कि सुसाधु से बढकर लच्छेदार भाषण देता है, लोगो के साथ सम्भाषण करने और उनको प्रभावित करके अपने हित के लिए लाखो रुपये दान कराने मे कुशल होता है, सुसाधु की अपेक्षा कुसाधु का आडम्बर और धुआधार प्रचार भी अधिक होता है, वह देश-विदेशो मे फैल जाता है। बुझते दीपक की तरह उसकी चमक-दमक दूसरो को एकदम चकाचौध कर देती हैं। इसलिए साधारण लोगो के लिए यह पहचानना कठिन होता है कि यह साधु ठीक है या ठीक नही ?

साधारण लोगो की दृष्टि तो वेशभूषा एव क्रियाकाण्ड तक ही जाती है, इसलिए वे झटपट सुसाधु-कुसाधु का निर्णय नही कर सकते। यही कारण है कि गौतम महर्षि ने यहाँ **'सुसाहुणो'** शब्द विशेष अभिप्राय से दिया है।

सम्यक्त्व के पाठ मे देव, गुरु और धर्म, इन तीन तत्त्वो के ग्रहण—स्वीकार करने की जहाँ बात आती है, वहाँ भी स्पष्ट उल्लेख किया है—**'सुसाहुणो गुरुणो'**

सुसाधुगण ही श्रेष्ठ गुरु हैं, कुसाधु नहीं। इसलिए सहसा यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि सुसाधु कौन होते हैं? उनकी पहचान क्या है?

वैसे तो साधु का अर्थ होता है—

'साध्नोति स्वपरकार्याणीति साधुः।'

"जो स्व और पर का कार्य साधता है, वह साधु है। स्व-पर-हित साधना में जो विशेष दक्ष व सुन्दर रीति से लगा हो, वही सुसाधु होता है।"

इस दृष्टि से सुसाधु वह नहीं, जो केवल अपने ही स्वार्थ में रत रहता है, अपनी सुख सुविधाओं की ही चिन्ता करता रहता है, अपनी प्रसिद्धि, अपनी कीर्ति और अपनी प्रतिष्ठा के लिए अनेक आडम्बर और खटपट करता रहता है, परन्तु जहाँ दूसरों के कल्याण, उपकार एवं दूसरों को तत्त्वज्ञान देकर सुधारने—सन्मार्ग पर लाने की बात आती है, वहाँ वह कहने लगता है—"साधु को समाज से क्या मतलब? साधु को तो अपनी मस्ती में रहना चाहिए। संसारी लोगों के कल्याण के लिए वह नहीं होता, वह तो अपने कल्याण के लिए ही बँधा है।" ये और इस प्रकार की बहानेबाजी करके जो दूसरे—जिज्ञासु और मुमुक्षु लोगों के उद्धार या कल्याण से बिलकुल निरपेक्षता बरतता है, उसे 'सुसाधु' कहने में संकोच होता है। हाँ, कोई सुसाधु पहले अपने जीवनकाल में स्वकल्याण के साथ परकल्याण की प्रवृत्ति कर चुका है, अब वह आत्मसाधना करने के लिए उद्यत रहता है अथवा अब उसने जिनकल्पी साधना अंगीकार कर ली है, या वह अपंग, अशक्त या असाध्य रोग से पीड़ित है, इस कारण परकल्याण की प्रत्यक्ष प्रवृत्ति नहीं कर सकता है, वह भी सुसाधु ही है।

अथवा क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच (पवित्रता), सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य, इन दशविध साधना के गुणों से युक्त हो, वह सुसाधु है। दशवैकालिक सूत्र में साधु की परिभाषा करते हुए (९ अध्ययन, ३ उद्देशक) में बताया गया है—

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू।
गिण्हाहि साहूगुण मुंचऽसाहू॥
वियाणिया अप्पगमप्पएणं।
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो॥

"गुणों से साधु होता है और अगुणों (दुर्गुणों) से असाधु। इसलिए साधुगुणों—साधुता—को ग्रहण करो और असाधुगुणों—असाधुता—को छोड़ो। आत्मा को आत्मा से जानकर जो राग और द्वेष में सम (मध्यस्थ) रहता है वही पूज्य है।"

नकली साधु से असली बनने में कारण : तत्त्वज्ञान की किरण

[illegible]

है। कदाचित् उसके अन्तर्हृदय मे प्रेरणा जगे और तत्त्वज्ञान की किरण मिले तो वह नकली साधु से असली साधु भी बन जाता है।

यमुना नदी के एक हिस्से मे मछलियाँ पकडने और मारने का निषेध था। एक दिन निषिद्ध क्षेत्र मे एक मच्छीमार मछलियाँ मारने का प्रयास कर रहा था, कि वहाँ अकबर बादशाह आ पहुँचा।

मच्छीमार ने दूर से ही जब बादशाह को आते देखा तो वह एकदम घबरा गया। संकट से बचने के लिए उसने धूनी जलाई और जाल को आग मे फैंककर भस्म कर दिया। वही भस्म शरीर पर रमा ली और अन्य औजार झाडियो मे फैंक दिये। फिर वह एक महर्षि की तरह ध्यान लगाकर धूनी के पास बैठ गया। बादशाह वहाँ आया। उसने उस मच्छीमार को सन्यासी समझकर श्रद्धापूर्वक नमस्कार किया और अपने गन्तव्य स्थल की ओर बढ गया।

बादशाह के चले जाने पर नकली साधु के हृदय मे तत्त्वज्ञान की स्फुरणा जागी। उसने सोचा—वाह! साधु-वेष का कितना प्रभाव है। इसी वेष के कारण मुझे दिल्ली का सम्राट् भी आकर प्रणाम कर गया। यदि मैं सच्चा तत्त्वज्ञानी साधु बन जाऊँ तो कितना अच्छा हो।

इस प्रकार तत्त्व-स्फुरणा से वह सच्चे माने मे ससार से विरक्त हो गया और साधुवेष को छोडे बिना ही सच्चा साधु बन गया।

साधुओ के लिए आदर्श प्रेरक सच्चा साधु

सन्त कबीर ने सच्चे साधु की व्याख्या करते हुए कहा है—

> गाठी दाम न बांधई नहि नारी-सों नेह।
> कह कबीर ता साध की हम चरणन की खेह॥
> वृच्छ कबहुँ नहि फल भखै, नदी न सचै नीर।
> परमारथ के कारने, साधुन धरा शरीर॥

वास्तव मे जो देह, गेह, वस्त्रादि से निरपेक्ष, सन्तोषी, परमार्थी तत्त्वज्ञानी और ब्रह्मचारी सन्त होते हैं, वे ही सच्चे सन्त होते हैं। वे तत्त्वज्ञानी पुरुष स्वयं कष्ट-सहिष्णु होते हैं, दूसरो द्वारा कहे गये कटुवचनो को सहते है, दूसरो को कभी कटु, कठोर, हिंसायुक्त, मर्मस्पर्शी, आघातजनक वचन नही कहते। किसी की निन्दा-चुगली नही करते, माया-कपट नही करते, क्रोध और अभिमान से तथा लोभ से ग्रस्त नही होते। जो रस-लोलुप नही होते, इन्द्रजाल आदि के चमत्कार नही दिखाते। यह स्वय आत्मश्लाघा नही करते, न ही दूसरो से करवाते हैं। वह प्रसिद्धि के चक्कर से दूर रहते हैं। सहजभाव से जो कुछ हो जाए, उसी मे सन्तोष मानते हैं। स्त्री हो या पुरुष, बालक हो या वृद्ध, प्रव्रजित हो या गृहस्थ किसी को उनके पूर्व दुश्चरित्र की याद दिलाकर लज्जित नही करते, न उसका तिरस्कार करते है, न उस पर रोष या द्वेष

करते हैं। वे अपने उच्च आचरण की डींग नहीं हांकते। ऐसे गुणों के सागर, स्वपर-कल्याणसाधक, तत्त्वज्ञानी सुसाधु ही पूजनीय होते हैं।

सच्चा तत्त्वज्ञानी सुसाधु अपनी तपस्या, साधना एवं संयम का फल पाने के लिए अधीर नहीं होता। वह अपनी साधना में सतत विवेकपूर्वक रत रहता है, अपनी आत्मशुद्धि के लिए प्रयत्नशील रहता है। उसके जीवन में कितना ही कष्ट, संकट या परीषह आए पर भी दीनता और अधीरता नहीं आती। वह देव (वीतराग परमात्मा), गुरु और धर्म पर पूर्ण आस्थावान, विश्वासी एवं दृढ श्रद्धालु होता है। वह उनसे भौतिक सुखों की याचना या कामना नहीं करता, सांसारिक सुखों के लिए मन में वाञ्छा भी नहीं करता।

वास्तव में जो कुसाधु होता है, उसके रोम-रोम में धर्मसाधना रमती नहीं, वह अपनी साधना करते ही प्रसिद्धि के लिए मचल उठता है, चमत्कार-प्रदर्शन के लिए उतावला हो उठता है, साधना से सुख सुविधा पाने के लिए अधीर हो उठता है। उसकी स्वकल्याण-साधना भी स्वार्थ-साधना बन जाती है, परकल्याण-साधना तो कोसों दूर हो जाती है। वह आत्म-साधना के साथ-साथ विश्वात्म-साधना के विचार और आचार के प्रति रुचि नहीं रखता, न ही उसके तत्त्वज्ञान पाने की उसमें जिज्ञासा होती है। वह तो खाना-पीना और ऐश आराम करने तथा आलस्य में या दिखावे के लिए कुछ क्रियाकाण्डों में पड़कर अपनी अमूल्य जिन्दगी खो बैठता है। उसका वेष तो साधु का होता है, क्रियाकाण्ड भी साधु जैसे होते हैं, पर अन्तर् में उसके साधुता नहीं होती, वह अन्तर् से जागृत, विवेकी और तत्पर नहीं होता। यही कारण है कि एकदा वह सुसाधु-सा लगता हुआ कुसाधु साबित हो जाता है। ऐसे कुसाधुओं के लिए उत्तराध्ययन सूत्र (अ० १७) में स्पष्ट कहा है—

> जे केइ उ पव्वइए, निद्दासीले पगामसो।
> भोच्चा पेच्चा सुहं सुवइ, पावसमणे त्ति वुच्चई॥
> बहुमाई पमुहरे, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
> असंविभागी अचियत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चई॥
> विवादं च उदीरेइ, अहम्मे अत्तपन्नहा।
> वुग्गहे कलहे रत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चई॥
> दुद्धदहीविगईओ, आहारेइ अभिक्खणं।
> अरए य तवोकम्मे, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

अर्थात् प्रव्रजित होकर (दीक्षा लेकर) अत्यन्त निद्राशील रहता है, [illegible] खा-पीकर [illegible] सो जाता है, [illegible] वह पापश्रमण (पापी साधु) कहलाता है।

[illegible]

"जो शान्त हुए विवाद और कलह को फिर उभारता है, अधर्मरत है, आत्मज्ञान से हीन है, जब देखो तब विग्रह और कलह करने के लिए उद्यत रहता है, वह पापी साधु है।"

"जिसका अपने खाने-पीने और सुख-सुविधाओ की ओर ही ध्यान है, बार-बार दूध, दही आदि विकृतिजनक सरस स्वादिष्ट भोजन करता है। तपस्या का नाम सुनते ही जिसे बुखार चढ जाता है, ऐसा साधु भी पापश्रमण कहलाता है।"

यह है कुसाधुओ का आन्तरिक रूप, जिससे हर कोई उन्हे पहचान सकता है।

एक ऐसे ही बाबाजी की घटना देकर इस बात को स्पष्ट करता हूँ—दिल्ली से लगभग २० मील दूर बुलदशहर जिले के धूमदादरी गाँव के मन्दिर मे एक बाबा जी रहते थे। गाँव वालो ने उनके जीवन-निर्वाह के लिए मन्दिर के साथ थोडी-सी जमीन एवं कुछ सम्पत्ति लगा दी, लेकिन वह इतने आलसी थे कि जमीन की जरा भी देखभाल नही करते थे। फिर भी गाँव वाले उनके भोजन एव दूध-पानी की व्यवस्था करते थे। बाबाजी तो सिर्फ खा-पीकर और भाग-गाजे का दम लगाकर पडे रहते थे, उन्हे न लोकशिक्षण से कोई मतलब था और न ही तपस्या से या साधना से। स्वावलम्बन की बात तो बेचारे सोचते ही कहाँ से, तत्त्वज्ञान की उनमे कोई रुचि ही न थी।

एक जिज्ञासु युवक उनके पास आया-जाया करता था। उससे ज्ञान या सत्सग की बात तो क्या करते, पर दुनिया से वैराग्य की बातें करके उसमे वैराग्य चढाते थे, क्योंकि बाबाजी को बुढापे मे सेवा के लिए एक शिष्य की जरूरत थी। शिष्य की जिज्ञासा कैसे तृप्त की जा सकती है, उसका आत्म-विकास कैसे हो सकता है, इस ओर बाबाजी का कोई ध्यान न था। सिर्फ चेला मूंडने की ओर ही ध्यान था, अत. उसे फुसलाकर चेला बना लिया, नाम रखा—सोमदत्त गिरि।

कुछ ही महीनो के सग से सोमदत्त को पता चल गया कि बाबाजी कितने गहरे पानी मे हैं। उसे उनसे क्या उपलब्धि हो सकती है? साधुओ को समाज का मार्ग-दर्शन एव जिज्ञासुओ को तत्त्वबोध देकर सन्मार्ग पर लाने के कर्तव्य से च्युत जानकर सोमदत्त गिरि को बड़ा दुख हुआ। जिसमे जन-जन के कल्याण का मार्ग पाने की आशा से जनता भगवान की तरह पूजती है, उस साधु वर्ग की यह दयनीय दशा! ओफ! इतना पतन है, साधु वर्ग का! सोमदत्त गिरि गहरे मन्थन मे पड गये। अब मुझे क्या करना चाहिए? अब पीछे कदम हटाकर गृहस्थ मे जाना ठीक नही, इसमे साधुता का पथ कलकित होने का भय है। इसलिए सोचा कि यदि हम समाज को कुछ भी नही दे सकते तो हमे उस पर आश्रित रहने का भी कोई अधिकार नही होना चाहिए।

जब तक सोमदत्त के गुरु जीवित रहे, तब तक वे धर्मग्रन्थो का अध्ययन, स्वाध्याय तथा कीर्तन के द्वारा अपनी योग्यता और साधना बढाते रहे। इसी बीच

[illegible] आ गया। अब गिरिजी ने विचार किया—अब मुझे पुरानी [illegible] में कुछ सुधार करना चाहिए, कथा-कीर्तन और भजनोपदेश द्वारा लोक[illegible] करनी चाहिए। समाज-कल्याण की कुछ प्रवृत्ति भी करनी चाहिए, आत्म[illegible] भी करनी चाहिए। साधु जीवन कलंकित न हो, इस प्रकार के कुछ उपयोगी [illegible] चाहिए। साधु के दायित्व का भी निर्वाह करना चाहिए।

उन्होंने कुछ शिक्षित और विचारशील सज्जनों से परामर्श करके सबसे पहले [illegible] उसके आसपास की जगह की सफाई का कार्य ग्रामीणजनों के सहयोग से [illegible] किया। फिर मंदिर में नियमित भजन-कीर्तन एवं प्रार्थना की व्यवस्था की। जो [illegible], युवक और वृद्ध पहले अपने खाली समय का उपयोग झगड़े, राजनैतिक पार्टीबाजी [illegible] में बिताते थे, वे अब इन बुराइयों से बचने लगे। लोक मनोरंजन के [illegible] धर्म-भावना, भक्ति भावना एवं परस्पर आत्मीयता बढ़ने लगी। लोगों में परस्पर [illegible], समता और समाज-सुधार की लहर दौड़ गई। फलतः अवांछनीय कुरूढ़ियों [illegible] को लोगों से दूर करना शुरू हो गया। मृतक-भोज, शादी-विवाहों [illegible], दहेज, [illegible] का मोह, कर्जदारी, बालिकाओं को न पढ़ाने, बाल-विवाह [illegible] और कुरीतियों में एकदम परिवर्तन आ गया। जनता में शराब, [illegible], जुआ, चोरी, व्यभिचार, लूट-पाट आदि दुर्व्यसनों में कमी आने लगी। [illegible] नये आदर्शों और मान्यताओं को लोग क्रियान्वित करने लगे।

[illegible] गिरि ने इस प्रकार अपनी साधना के साथ ग्रामीणों की [illegible] में वृद्धि करके समाज-[illegible] के कई कार्य किये तथा उनकी प्रेरणा से [illegible] हो गया।

इस प्रकार उन्होंने मंदिर को समृद्ध और न्यायनिष्ठ [illegible] प्रदान [illegible] आश्रम में साधु का कर्तव्य और दायित्व भी निभाया।

[illegible] के कर्तव्य एवं दायित्व की उपेक्षा को उन्होंने पूर्ण रूप [illegible], [illegible] साधु के प्रति श्रद्धा भावना विकसित की।

[illegible] गिरि ने जो [illegible] से [illegible] [illegible] ही विशिष्ट कारण था। [illegible] ने [illegible] और साधु जीवन के दायित्व एवं कर्तव्य का निर्वाह [illegible] किया।

[illegible]

तत्त्व क्या ? उसका ज्ञान क्या ? तत्त्वपरायणता क्या ?

[illegible] है [illegible] क्या है ? [illegible] क्या है ? [illegible] क्या है ?

हम क्रमश एक-एक प्रश्न को छुएँगे। सर्वप्रथम हमे समझ लेना चाहिए कि तत्त्व क्या है ?

अगर हम विविध धर्म-सम्प्रदायो की दृष्टि से इसका उत्तर पाना चाहेगे तो इसके अलग-अलग उत्तर मिलेंगे—

जैनशास्त्र कहते है—"**जिणपणत्त तत्तं**" जिनप्रज्ञप्त ही तत्त्व है।

बौद्ध-आगम कहते हैं—तथागत द्वारा निर्दिष्ट धर्म ही तत्त्व है।

वैदिक धर्मशास्त्र वेद कहते हैं—वेदविहित कर्म या आचरण ही (धर्म) तत्त्व है।

इसलिए हमे तत्त्व शब्द के अर्थ पर व्यापक दृष्टि से विचार करना चाहिए, जिसमे किसी भी धर्म-सम्प्रदाय का विरोध न हो।

'तत्त्व' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है—

'तद्भाव. अथवा तस्य भावः तत्त्वम्'

"जिस वस्तु का जो भाव है, वस्तु स्वभाव है, वही तत्त्व है।"

तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि के अनुसार—

'योऽर्थो यथावस्थितिस्तथा तस्य भवनमित्यर्थ.'

"जो पदार्थ जिस रूप मे अवस्थित है, उसका उस रूप होना यही यहाँ तत्त्व शब्द का अर्थ है।"

तत्त्वार्थराजवार्त्तिक के अनुसार—

'अविपरीतार्थ विषयं तत्त्वमित्युच्यते'

"अविपरीत (सम्यक्) अर्थ का विषय तत्त्व कहलाता है।"

जैनसिद्धान्तदीपिका के अनुसार—

'तत्त्व पारमार्थिकं वस्तु'

"जो पारमार्थिक वस्तु है, वही तत्त्व है।"

मतलब यह है कि जो वस्तु जिस रूप मे है, उसका जो सम्यक् रूप है, वही तत्त्व है। किसी भी वस्तु का वस्तुत्व ही तत्त्व कहलाता है। उदाहरणार्थ—पशु को जिन गुणो के कारण पशुसज्ञा प्राप्त हुई है, उस समग्र का स्वरूप यानी पशुमात्र का सामान्य तत्त्व—पशुत्व कहलाता है।

साधारण मनुष्य वस्तु को ऊपर-ऊपर से स्थूल रूप मे देखता है। वह उस वस्तु का वाह्य तत्त्व है। वाह्य तत्त्व क्या है ? वाहर का ढाँचा है, वाहर का आकार-प्रकार है। परन्तु उसका अन्तरग रूप कुछ और होता है, वह विशेषत गुणो से ही सम्बन्धित होता है। उसे अन्तस्तत्त्व कहते हैं। यद्यपि वस्तु को वाह्य स्थूलरूप मे भी जानना-देखना आवश्यक है, क्योंकि वस्तु के वाह्य रूप को देखे विना उसके साथ ठीक मे व्यवहार नहीं हो सकता।

ससार का सारा व्यवहार वाह्यरूप पर आधारित है। जैसे कोई व्यक्ति किसी [illegible] रग-रूप, चाल-ढाल, आकृति-प्रकृति और

[illegible] को देखता है, पर घोड़े के अन्तरंग तत्त्व को नहीं देखता है कि घोड़े में भी [illegible] आत्मा है, उसके भी पंचेन्द्रिय हैं, उसके भी मन है, उसके साथ भी [illegible] उसे भी हमारी तरह सुख प्रिय है, जीना पसन्द है, [illegible] तथा रहने के लिए अन्य सुविधाएँ चाहिए।

[illegible] का बाह्य रूप-रंग आदि बाह्य तत्त्व है और अन्तरंग बातें, [illegible], स्वभाव आदि अन्तरंग तत्त्व हैं। केवल अन्तस्तत्त्व से ही काम नहीं चलता, [illegible] भी आवश्यक है। [illegible] केवल अन्तरंग रूप से ही काम नहीं चलता, उसे [illegible], तथा अपने रूप में अपने को व्यक्त करने के लिए बाह्य रूप भी आवश्यक है। इसी प्रकार बाह्य रूप का गुड़ और अपना असली रूप, जिसकी शक्ति [illegible] प्रकाश [illegible] दिया हुआ है, वह उसका अन्तरंग रूप है। दोनों ही [illegible] है।

[illegible] आत्मा तत्त्व के सम्बन्ध में कहा गया है—

'अंतरतच्चं जीवो, बाहिरतच्चं हवंति सेसाणि।'

"[illegible] (आत्मा) अन्तस्तत्त्व और बाकी सब द्रव्य बहिस्तत्त्व हैं।"

यहाँ जो अन्तस्तत्त्व और बहिस्तत्त्व का लक्षण बताया है, वह चेतनावान [illegible] गया है। संसार के सारे द्रव्यों—चेतन हो या अचेतन—की [illegible] का यही बताया लक्षण ही ठीक है।

[illegible] पदार्थ का अन्तस्तत्त्व ही वास्तविक तत्त्व है। इसीलिए [illegible] दिया गया है—

[illegible] निश्चयम्।
[illegible] स्वभावं निर्विकल्पं च ॥८॥

"[illegible] क्योंकि वह स्वभाव से ही [illegible], वह स्वभाव है और निर्विकल्प है।"

[illegible]।
[illegible] ॥

[illegible]

[illegible] सिद्ध होता है।

तत्त्वज्ञान : सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान

[illegible]

रूप प्रतीत होता हो, वह नही, किन्तु वस्तु का सिद्ध, परिनिष्ठित, वास्तविक रूप जानना और देखना—सम्यग्ज्ञान है। इसी को दूसरे शब्दो मे तत्त्वज्ञान कहते हैं।

तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति

विश्व मे आपको अनेक पदार्थ दृष्टिगोचर होते है। अनेक घटनाएँ घटित होती हैं। आपको पदार्थों से सुख-दु ख, आश्चर्य, भय होता है। आप इन सब पदार्थों, घटनाओ तथा परिस्थितियो को उनके यथार्थ अन्तस्वत्त्व के रूप मे न समझकर राग-द्वेष से युक्त होने के कारण भिन्न-भिन्न रूप मे समझ लेते है। आप उन पदार्थों और पदार्थों से अपने पर होने वाले प्रभावो को यथार्थ वस्तु रूप मे लक्ष्य मे नही लेते, और जैसे-तैसे उसी राग-द्वेष के प्रवाह मे बहते चले जाते हैं। जो विचारक होते हैं उन्हें यह प्रतीत हुए बिना नही रहता कि इन सब पदार्थों और विश्व की रचनाओ को मैं जिस रूप से देखता हूँ, वे उसी रूप मे हैं, या उनका स्वरूप कुछ और तरह का है। जगत् मे ये अकस्मात् ही होते जाते हैं या इनके भी कार्य-कारण रूप कुछ नियम हैं ? इसी जिज्ञासा मे से तत्त्वज्ञान पैदा होता है।

मनुष्य ने जब पहले-पहल प्रकृति की गोद मे जन्म लिया और विश्व की ओर आँखें खोलकर देखा तो उसके सामने अनेक चामत्कारिक वस्तुएँ तथा घटनाएँ उपस्थित हुईं। एक ओर सूर्य, चन्द्रमा, अगणित तारामण्डल, दूसरी ओर गर्जता हुआ समुद्र, पर्वत, विशाल नदी प्रवाह, मेघगर्जना और बिजली की चमक-दमक ने उसका ध्यान आकर्षित किया। मनुष्य का मानस इन और ऐसे ही अन्य आश्चर्यजनक स्थूल पदार्थों के सूक्ष्म चिन्तन मे प्रवृत्त हुआ, और उसके बारे मे अनेक प्रश्न उसके दिल-दिमाग मे प्रादुर्भूत हुए। उसके बाद आन्तरिक विश्व के गूढ और अति सूक्ष्म स्वरूप के बारे मे भी उसके मानस मे विविध प्रश्न पैदा हुए। इन प्रश्नो मे से जो वस्तु की तह तक पहुँचकर उसके यथार्थ स्वरूप, आन्तरिक और बाह्य स्वरूप की छानबीन की गई, वही ज्ञान तत्त्वज्ञान का कारण बना।

उदाहरण के तौर पर—इस विश्व के वस्तुतत्त्व की जब जिज्ञासा हुई तब उसके बाह्य एव आन्तरिक रूप के सम्बन्ध मे कई प्रश्न समुद्भूत हुए होंगे—यह विश्व शाश्वत है या परिवर्तनशील ? यह विश्व कब और कैसे उत्पन्न हुआ होगा ? यह अपने आप उत्पन्न हुआ होगा या किसी ने इसे उत्पन्न किया होगा ? उत्पन्न हुआ हो तो क्या यह विश्व ऐसा ही था, ऐसा ही रहेगा ? इस विश्व की रचना और सचालना, जोकि व्यवस्थित और नियमबद्ध है, वह बुद्धिपूर्वक हुई है, होती है, या यन्त्रवत् अनादि सिद्ध होती है ?

इसी प्रकार आत्मा, परमात्मा के सम्बन्ध मे, आत्मा से सम्बन्धित शरीर, इन्द्रियाँ, मन, अहकार, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के सम्बन्ध मे भी विविध प्रश्न उठाकर उनका समाधान करने हेतु जो तत्त्व की छानबीन करता है, उसके असली स्वरूप के बारे मे निश्चय करता है, यही तत्त्वज्ञान है।

निष्कर्ष यह है कि किसी वस्तु के वास्तविक स्वरूप की शोध करके यथार्थ निश्चय करना तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञान करने वाला वस्तु के यथार्थ स्वरूप—आन्तरिक

[illegible] शोध [illegible] इसी शोध का परिणाम [illegible] है। वस्तुत [illegible] फलित हुए या [illegible] होने वाले सिद्धान्त ही [illegible] के [illegible]।

[illegible] शोध [illegible]। मनुष्य [illegible] विषय का अध्ययन [illegible] सम्बन्ध [illegible] है। [illegible] मन के [illegible] निर्लिप्त [illegible] जो कुछ भी सोचेगा [illegible] में आ जाता है।

[illegible] है। [illegible] वस्तुओं [illegible] और उनके सामान्य [illegible] व्यापक नियमों [illegible] का विचार करता है।

[illegible] पुरुषों ने, [illegible] ने [illegible] सिद्धान्त [illegible] किये हैं, कई वस्तुओं के [illegible] द्रव्य आदि, उनके विषय में [illegible] और स्वयं अनुकूल [illegible] अनुसरण करना [illegible] है, जो तत्त्व [illegible]।

साधु-जीवन का आन्तरिक सामर्थ्य : तत्त्वज्ञान-परायणता

[illegible] अनुभव किया है [illegible] विशाल [illegible] समाज [illegible] आगे बढ़ [illegible] पानी पर [illegible] मुझे [illegible]।

[illegible]

नि.सत्त्व एव खोखला होता है, वह विपत्ति की जरा-सी आँधी आते ही, प्रतिकूल परिस्थिति का जरा सा झौंका आते ही, परीषह की जरा-सी लपट आते ही ढह जाता है, हतोत्साह होकर उत्पथ पर चल पडता है, वह पतित और भ्रष्ट भी हो जाता है। तत्त्वाज्ञानरूप आन्तरिक सामर्थ्य के अभाव मे बाह्य साधु-वेशभूषा मे लिपटा, वाह्य-क्रियाकाण्डी साधु विकारो की आंधियो के सामने टिक नही सकता। सुख-दु ख आदि द्वन्द्वो मे उसका मन विषमता और क्लेश से या राग-द्वेष से भर जायगा, वह सतुलित एव स्वस्थ नही रह सकता।

साधुजीवन मे जब तत्त्व-परायणता होती है, तो वह बडी से बडी विपत्ति एव सकट घटा मे भी उद्विग्न नही होगा। सुखो का सागर लहराता हो तब भी उसका मन उनके लिए ललचाएगा नही, दु ख हो या सुख, जीवन हो या मरण, शत्रु हो या मित्र, भवन मिले या विकट वन, सयोग हो या वियोग, तत्त्वपरायण साधु का मन सदैव समता की पगडडी पर अविचल रहेगा। वह तत्त्वज्ञान के सहारे सुख-दु.ख, शत्रु-मित्र, भवन-वन, सयोग-वियोग आदि द्वन्द्वो का यथार्थ वस्तु स्वरूप जान लेता है कि ये सब नाशवान् पदार्थ, है, क्षणिक है, इनके प्रति न तो मोह या असक्ति होनी चाहिए, न द्वेष या घृणा। ये तो स्वय अपने आप मे कुछ नही है। मनुष्य अपने मन मे इनके बारे मे जैसी-तैसी अच्छी-बुरी कल्पना कर लेता है, जिस किसी प्रकार से मन को उल्टा-सीधा समझाता है, तभी एक पर राग और दूसरे पर द्वेष होता है। अत. मुझे इन वस्तुओ से मन पर होने वाले अच्छे-बुरे परिणामो से बचना चाहिए।

इतनी बात तत्त्वज्ञानी साधु ही समझ सकता है, और तत्त्व-परायण साधु ही इन विचारो से अपनी आत्मा को बचा सकता है।

तत्त्व-परायणता केवल तत्त्व जानने से नहीं

कई लोग यह समझते हैं कि तत्त्व जान लिया, इतने भर से तत्त्वज्ञानी बन गये, परन्तु केवल तत्त्वों को जानने मात्र से तत्त्वज्ञान-परायणता नही आ जाती, अपितु, तत्त्व को जीवन मे उतारने से ही कार्य हो सकता है। अग्नि को केवल जानने या अग्नि के तत्त्व का ज्ञान होने मात्र से रोटियाँ नही बन जाती, पानी के तत्त्व को केवल जानने भर से वह प्यास नही बुझा सकता, इसी प्रकार किसी पदार्थ के तत्त्व को जानने भर से काम नही चलता, उसके हेय अश से दूर रहकर उपादेय अश को अपनाने से ही मनुष्य कृतकार्य हो सकता है। जैसे—असत्य तत्त्व है। इस तत्त्व को हेय जानकर भी यदि मनुष्य बार-बार असत्य मे प्रवृत्त होता है तो वह जानना केवल बौद्धिक विलास है। असत्य हेय तत्त्व है, यह जानकर भी असत्य से लिपटे रहने वाले व्यक्ति को क्या आप तत्त्वज्ञ कहेगे ? कदापि नही। तत्त्वज्ञ या तत्त्वपरायण वह तभी कहलायेगा, जब वह हेय, ज्ञेय और उपादेय को वास्तविक रूप मे जानकर हेय का त्याग करे, ज्ञेय को जाने और उपादेय को ग्रहण करे। इसीलिए एक विचारक ने कहा है—

जानन्ति केचित् न तु कर्तुमीशाः, कर्तुं क्षमा ये न च ते विदन्ति ।
जानन्ति तत्त्वं प्रभवन्ति कर्तुं, ते केऽपि लोके विरला भवन्ति ॥

[illegible] जानते हैं, लेकिन वे तदनुसार आचरण नहीं कर [illegible] समर्थ होते हैं, लेकिन वे तत्त्व को नहीं [illegible] कौन-सा तत्त्व हेय, ज्ञेय या उपादेय [illegible] परन्तु जो [illegible] तत्त्व को जानते हैं और तद- [illegible] वे तो विश्व में बहुत थोड़े-से होते- [illegible]

[illegible] वे लोग सम्यग् नियति [illegible] वे लोग केवल क्रिया- [illegible] उनका उद्देश्य क्या है [illegible] बातों को वे [illegible] लिए ठीक नहीं है।

केवल शब्दों को पकड़ने वाले भी तत्त्व तक नहीं पहुँच पाते

दूसरी ओर कुछ बुद्धिजीवी लोग ऐसे है, जो शास्त्र के शब्दो को पकडक अपने मनमाने अर्थ की खीचतान करते रहते हैं। कोरा पाण्डित्य और बौद्धिकता जीवन के लिए ऐसा खतरा है, जिसका प्रत्यक्ष अनुभव नही होता। शस्त्रो का खत तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है, जबकि शास्त्रो का खतरा साक्षात् दृष्टिगोचर नही होता इसीलिए शंकराचार्य ने कहा है—

"अन्य वासनाओ के खतरे से बचना आसान है, लेकिन शास्त्र-वासना से मु होना अत्यन्त दुष्कर एव दु शक्य है। शास्त्रजीवी लोग शास्त्र के शब्दो की छीछाले करते हैं, वे उन शब्दो की भावना एव हार्द को नही समझते, उनकी आत्मा को न पकडते, केवल स्थूल मे ही आग्रहपूर्वक लगे रहते हैं। ऐसे शास्त्रजीवी भी तत्त्व नही पकड पाते।"

चार पण्डित काशी मे बारह वर्ष तक पढे, किन्तु उन्होंने सिर्फ शब्द रटे वे उन ग्रन्थो के हृदय तक नही पहुँच पाये। वे एक बार अपनी जन्मभूमि की अ आ रहे थे, तभी नदी के पार एक ऊँट को तेजी से दौडता देख उनमे से एक सोचा—धर्मग्रन्थो मे कहा गया है—

'धर्मस्य त्वरिता गतिः।'

"धर्म की गति तीव्र है, अत तीव्र गति मे दौडने वाला ऊँट ही धर्म है।"

दूसरे पण्डित को श्मशान पर गधे को खडा देखकर शास्त्र वाक्य याद आ गय

'राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः।'

"राजद्वार और श्मशान पर जो खडा हो, उसे अपना इष्ट बन्धु मान चाहिए। अत गधा हमारा इष्ट बन्धु है।"

तभी तीसरे पण्डित को याद आया—

'इष्टं धर्मेण योजयेत्।'

"इष्ट बन्धु को धर्म के साथ जोड देना चाहिए।" अत उसने ऊँट और गधे को एक साथ बाँध दिया।

अब रहा चौथा पण्डित, उसने नदी पार करते समय अपने पण्डित मित्रो को डूबते देखकर तलवार से उनका सिर इसलिए काट लिया क्योंकि नीतिशास्त्र मे कहा गया है—

'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः।'

"सम्पूर्ण नष्ट होने की स्थिति मे पण्डित आधे को छोड देता है, आधे को बचा लेता है।"

इन चारो पठित मूर्खों ने—शास्त्र का आलम्बन लेकर तत्त्व की बातें बघारने वालों ने—शास्त्र का [illegible] नहीं किया। शास्त्र के शब्दों और वाक्यों

[illegible] शास्त्र [illegible]

[illegible] प्रमाण [illegible] । शास्त्रों [illegible] के नाम पर [illegible] । लेकिन [illegible] शास्त्रों [illegible] । परन्तु [illegible] काम, क्रोध आदि [illegible] कर्ते [illegible] नहीं [illegible], [illegible] 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' आदि [illegible]

[illegible] शास्त्रों [illegible] इसीलिए [illegible]

धर्माचरण के पुरुषार्थ के साथ तत्त्वज्ञान न हो तो

[illegible] तत्त्वज्ञान न हो [illegible] है, [illegible] ([illegible]) [illegible]

[illegible]

[illegible] का अनादर

[illegible]

कर रहा हूँ, उसका परिणाम क्या आएगा ? क्या ऐसा करना साधु-जीवन के लिए उचित है। तत्त्वज्ञानहीन साधक के सामने जब अनेक परीषह और उपसर्ग, कठिनाइयाँ और विपत्तियाँ, कष्ट और सकट धर्मपालन के मार्ग मे आते हैं तो वह उस समय अपनी आत्मशक्तियो, आत्मगुणो और स्व-स्वभाव को नही जान पाता, उन्हे विस्मृत कर बैठता है, परीषह, उपसर्ग आदि के आ पडने पर वह तत्त्वज्ञ साधक की भाँति परिस्थितियो का सामना न करके उनसे मुख मोड लेता है और सुख-सुविधा वाले किसी भी पाप-मार्ग या अधर्म पथ पर चल पडता है अथवा अपनी शक्तियो को भूलकर कठोर परिस्थितियो मे वह गिडगिडाने, रोने-धोने या आर्तध्यान करने लगता है, जो कि एक प्रकार का पाप है। अथवा वह निमित्तो को कोसने लगता है कि अमुक व्यक्ति के ऐसा करने से हम पर सकट आए, विघ्न आए और विपत्तियाँ आयी।

इस प्रकार अमुक दुष्परिस्थितियो के लिए तत्त्वज्ञानहीन साधक दूसरो पर दोषारोपण करने लगता है। ये परिस्थितियाँ स्वय की ही बनाई हुई हैं, ऐसा नही मानता। और इसी कारण वह अधिकाधिक मानसिक सक्लेश पाता है। अगर साधक मे तत्त्वज्ञान का सामर्थ्य हो तो वह कैसी भी परिस्थिति और वातावरण मे निर्भय रह सकता है, शक्तिहीन नही होता। जैसा कि दशवैकालिक सूत्र (अ० १०) मे तत्त्वज्ञ भिक्षु जीवन के सम्बन्ध मे कहा है—

जो सहइ हु गामकटए, अक्कोस-पहार-तज्जणाओ य।
भय-भेरव-सद्द-सप्पहासे, समसुहदुक्खसहे य जे स भिक्खू॥

"जो साधक ग्रामकटको (गाँव मे आने वाले कष्टो) को तथा आक्रोश, प्रहार, तर्जना (डाट-फटकार), भय, भयकर शब्द, भयकर हसी मजाक आदि को समभावपूर्वक सह लेता है, सुख और दु ख मे सम रहता है, वही सच्चा भिक्षु है।"

बात यह है कि सुसाधु प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को जानता है, वह कैसी भी परिस्थिति मे अपने तत्त्वज्ञान के बल पर स्थिर रहता है, सन्तुलन नही खोता, अधीर होकर दूसरो को भला-बुरा नही कहता या आर्तध्यान नही करता।

शास्त्रो मे मुनि गजसुकुमाल, मैतार्य मुनि, हरिकेशबलमुनि आदि मुनियो पर मरणान्त कष्ट आने का वर्णन जब हम पढते हैं तो रोगटे खडे हो जाते हैं परन्तु अगर उनमे मृत्यु का तत्त्वज्ञान न होता तो क्या वे ऐसे भयकर सकट के समय मे समभावपूर्वक स्थिर रह सकते थे ? कदापि नही। अगर उनमे आत्म-तत्त्व की निष्ठा न होती तो वे भी दूसरो को कोसते, प्रहार करने या कष्ट देने वाले को शत्रु मानकर उसका सामना करते, उसे गाली देते या आक्रोश करते, उसकी शिकायत राजा या अधिकारी से करते अथवा उसे दण्ड दिलाते। परन्तु उनके जीवन मे तत्त्वनिष्ठा कूट-कूटकर भरी थी। इसी कारण उन्होंने समभावपूर्वक मृत्यु का वरण किया।

साधक में तत्त्वज्ञान न हो तो सारे सुख, दुःख में बदल जाते हैं

[illegible] और [illegible] है। इसके अभाव में [illegible] और [illegible] सारा [illegible] में दुःख [illegible] है।

[illegible] मनचाही वस्तुएँ [illegible] नहीं आता था [illegible] मनचाही [illegible] पूरी [illegible] इस व्यक्ति में तत्त्वनिष्ठा [illegible] हो जाते हैं।

[illegible] परन्तु यदि [illegible] दुःख में [illegible] है।

राजा जब पहुँचा तो उसने ज्ञानी साधु को प्रणाम किया और जिज्ञासुभाव से उनके समक्ष बैठा। तत्त्वज्ञानी साधु ने राजा का चेहरा उदास और खिन्न देखकर जान लिया कि यह किसी विपत्ति का मारा हुआ है। अतः राजा से उदासी एव खिन्नता का कारण पूछा तो उसने अपनी सारी कष्टकथा सुनाई और कहा—"महात्मन्! इससे तो अच्छा है, मैं एक साधारण मनुष्य रहता, राजा न बनता, क्योंकि मेरे सामने पाँच वर्ष बाद मौत नाचती दिखाई दे रही है, वह इन सब सुख-साधनो को दु खसाधन बना रही है। मुझे ऐसा कोई उपाय बताइए, जिससे मैं इस दु:ख से मुक्त हो सकूं।"

तत्त्वज्ञ साधु ने राजा की सारी आपबीती सुनकर शान्ति से उत्तर दिया—"राजन्! तुम्हारे हाथ मे अभी लगभग पांच वर्ष तो हैं न? फिर क्यो चिन्ता करते हो? पाँच वर्ष मे तो तुम अपने सारे दु खो से मुक्त हो सकते हो।"

राजा—"महात्मन्! वह कौन-सा उपाय है, जिससे मैं दु ख से मुक्त हो सकूं।"

तत्त्वज्ञ साधु ने कहा—"उपाय तुम्हारे हाथ मे है। सर्वप्रथम तो तुम्हे अपने मन से इस ममत्व को हटा देना है कि राज्य, वैभव, ठाठ बाट, खजाना, सुख-साधन आदि मेरे हैं। साथ ही तुम्हे अपने शरीर और शरीर से सम्बन्धित परिवार, जनता आदि सचेतन एव धन, वैभव, राज्य आदि अचेतन वस्तुओ पर से मेरेपन का भाव हटा लेना है। यह सोचना है, ये सब चीजें मेरी नही हैं, मेरी तो सिर्फ आत्मा है, जो कभी नष्ट नही होती। अगर शरीर आदि सभी वस्तुएँ तेरी होती तो तुझ से कभी अलग क्यो होती? ये सब चीजें नाशवान है, तेरी नही हैं, सिर्फ सयोग के कारण तू इन्हे अपनी मान बैठा है। यह ममत्व जिस दिन मेरे चित्त से हट जायगा, बस फिर दु.ख का नामोनिशान न रहेगा।"

भगवान महावीर ने कहा है—

दुक्खं हयं जस्स न होई मोहो।

"जिसका इन पर-भावो पर से मोह हट जाता है, समझ लो, उसका दु ख नष्ट हो गया।"

यह उपाय राजा के गले उतर गया और उसी दिन से राजा ने ममत्व-त्याग की साधना प्रारम्भ कर दी। आप मानें या न मानें, एक ही महीने मे राजा के चित्त मे शान्ति हो गई।

एक दिन फिर जब राजा प्रसन्नचित्त होकर तत्त्वज्ञ साधु के पास पहुँचा तो उसने दूसरा पुण्यमय उपाय बताया—"राजन्! अब दूसरा उपाय यह करो कि तुम्हारे पास अपार सम्पत्ति है, उससे इस भयानक जगल को बस्ती मे बदल दो, नया नगर बसा दो। और जो भी इसमे बसना चाहे, उसके लिए पाँच वर्ष तक फ्री आवास का प्रबन्ध कर दो। उन नवीन नगरवासियो को सब तरह की सुख-सुविधाएँ दो,

साधु के पास आगम (तत्त्वज्ञान) रूपी नेत्र होता है। नेत्रविहीन व्यक्ति के लिए सारा लोक अन्धकारमय है, इसी प्रकार तत्त्वज्ञानहीन साधक के लिए इस ससार मे जो भी कुछ उत्कृष्ट है, उसे देख सकना असम्भव है। इसीलिए भगवान महावीर ने अपनी ओजस्विनी वाणी मे साधको को कहा है—

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएण,
एगतसोक्ख समुवेइ मोक्ख ॥

"समस्त (तत्त्व) ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान तथा मोह के दूर होते ही, जब राग और द्वेष का सक्षय हो जाता है तब साधक एकान्तसुखरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।"

निष्कर्ष यह है कि तत्त्वज्ञान के आधार पर ही साधक श्रेय और पाप का, धर्म और कर्तव्य का, शुभाशुभ का, एव उचितानुचित का तथा हेयोपादेय का विवेक कर सकता है।

पापमय प्रलोभनो एव इन्द्रिय-विषयो के आकर्षणो के पार अन्त दूरवर्ती हित का देख सकना तत्त्वज्ञान से ही सम्भव है। इसीलिए महर्षि गौतम ने साधनामय जीवन के लिए तत्त्वज्ञानपरायणता अनिवार्य बताई है।



४६

सुसाधु होते तत्त्वपरायण—२

[illegible] ।

[illegible] के सम्बन्ध में प्रवचन [illegible] था। आज [illegible] में [illegible] । पिछले प्रवचन में [illegible] तथा साधु-जीवन में तत्त्वज्ञान [illegible] किया है। [illegible] जाते हैं—जैसे कि [illegible] जाते हैं? [illegible] में भी कैसे गुण [illegible] जानते हैं? [illegible] जीवन कैसा होता है? [illegible] आदि का तत्त्व- [illegible] विशेषताएँ होती हैं? [illegible] ।

मे कर्मवन्ध कर लेता है, क्योकि राग और द्वेप, ये दो ही मुख्यतया कर्मवन्धन के कारण हैं। वह जाति आदि के भेदभाव से युक्त होकर राग-द्वेपवश कर्मवन्ध करता है, तथैव इष्टवियोग-अनिष्टसयोग के अवसर पर भी। परन्तु तत्त्वज्ञाननिष्ठ साधक क्रोध, अभिमान, लोभ, मोह, और मत्सर आदि के प्रसगो मे उत्तेजित, आसक्त एव मूढ नही बनता, वह समभावपूर्वक शान्ति और विवेक के साथ अपना कदम वढाता है। इसी प्रकार वह जाति, धर्म-मम्प्रदाय, भापा, प्रान्त या सकीर्ण राष्ट्रवाद को कतई स्थान नही देता, और न परस्पर भेद करके एक दूसरे से घृणा, द्वेप, वैर या मोह करता है। वहाँ भी वह समभावपूर्वक व्यवहार करता है। **'पण्डिता समदर्शिनः'** की उक्ति ऐसे ही तत्त्वपरायण साधको के लिए है। वह इष्टवियोग और अनिष्टसयोगो के अवसर पर भी अपना मन्तुलन नही खोता, वह रोता-धोता नही, न आर्तध्यान करता है, इसी प्रकार अनिष्ट-वियोग एव इष्टसयोग के समय भी वह हर्पित होकर फूलता नही। यही कारण है कि वह राग-द्वेप से दूर रहने के कारण कारण कर्मवन्ध नही करता।

योग वाशिष्ठ मे कहा है—

'विचारात् ज्ञायते तत्त्वं, तत्त्वाद् विश्रान्तिरात्मनि।'

"विचार से तत्त्वज्ञान होता है और तत्त्वज्ञान से आत्मा मे शान्ति प्राप्त होती है।"

तत्त्वज्ञान से शून्य व्यक्ति इन्द्रियो के मनोज्ञ एव प्रलोभनकारी विषयो के मिलते ही एकदम आकर्षित हो जाता है और उनमे फँस जाता है, जबकि तत्त्व-परायण साधक इन्द्रिय-विषयो की वासना और प्रलोभनो की तृष्णा के नचाये नही नाचते। वे इद्रियो के तत्त्व को भलीभाँति जानते हैं। यही कारण है कि तत्त्वज्ञानी साधक जब परिपक्व हो जाते हैं तब उन्हे कैसे भी आकर्षणकारी एव प्रलोभनकारी वातावरण मे रख देने पर भी वे लुब्ध नही होते।

कामविजेता स्थूलभद्र का नाम तो आपने सुना ही होगा। बारह वर्ष तक वे कोशा वेश्या के प्रणय-वन्धन मे इस तरह फँसे रहे कि उन्होने अपने पिता, भाइयो तथा सम्वन्धियो तक की भी सुध न ली और पिता की मृत्यु के वाद स्थूलभद्र को वासना से विरक्ति हो गई। यद्यपि कोशा ने अपने आप को तन-मन से स्थूलभद्र के प्रति समर्पित कर दिया था, फिर भी कोशा के प्रति उनका आकर्षण एकदम समाप्त हो गया और एक दिन कोशा के महलो मे सौन्दर्य की अर्चना करने वाला स्थूलभद्र अब आत्मतत्त्व के साक्षात्कार के लिए चल पडे, घरबार, पाटलिपुत्र, कोशा, कुटुम्बीजन आदि सवको छोडकर।

स्थूलभद्र पचेन्द्रिय विषयो के तत्त्वो का गहराई अध्ययन-मनन एव निदि-ध्यासन करके लगे। पहले आत्मतत्त्व का दर्शन (स्पर्श), आत्मतत्त्व का अन्तर्दर्शन (ज्ञान) यानी उसका सभी पहलुओ से ज्ञान, और फिर वे आत्मतत्त्व के आनन्द के

मे कर्मबन्ध कर लेता है, क्योकि राग और द्वेप, ये दो ही मुख्यतया कर्मबन्धन के कारण है। वह जाति आदि के भेदभाव से युक्त होकर राग-द्वेपवश कर्मबन्ध करता है, तथैव इष्टवियोग-अनिष्टसयोग के अवसर पर भी। परन्तु तत्त्वज्ञाननिष्ठ साधक क्रोध, अभिमान, लोभ, मोह, और मत्सर आदि के प्रसगो मे उत्तेजित, आसक्त एव मूढ नही बनता, वह समभावपूर्वक शान्ति और विवेक के साथ अपना कदम बढाता है। इसी प्रकार वह जाति, धर्म-सम्प्रदाय, भाषा, प्रान्त या सकीर्ण राष्ट्रवाद को कतई स्थान नही देता, और न परस्पर भेद करके एक दूसरे से घृणा, द्वेप, वैर या मोह करता है। वहाँ भी वह समभावपूर्वक व्यवहार करता है। 'पण्डिता समदर्शिनः' की उक्ति ऐसे ही तत्त्वपरायण साधको के लिए है। वह इष्टवियोग और अनिष्टसयोगो के अवसर पर भी अपना सन्तुलन नही खोता, वह रोता-धोता नही, न आर्तध्यान करता है, इसी प्रकार अनिष्ट-वियोग एव इष्टसयोग के समय भी वह हर्षित होकर फूलता नही। यही कारण है कि वह राग-द्वेप से दूर रहने के कारण कारण कर्मबन्ध नही करता।

योग वाशिष्ठ मे कहा है—

'विचारात् ज्ञायते तत्त्वं, तत्त्वाद् विश्रान्तिरात्मनि।'

"विचार से तत्त्वज्ञान होता है और तत्त्वज्ञान से आत्मा मे शान्ति प्राप्त होती है।"

तत्त्वज्ञान से शून्य व्यक्ति इन्द्रियो के मनोज्ञ एव प्रलोभनकारी विषयो के मिलते ही एकदम आकर्षित हो जाता है और उनमे फँस जाता है, जबकि तत्त्व-परायण साधक इन्द्रिय-विषयो की वासना और प्रलोभनो की तृष्णा के नचाये नही नाचते। वे इद्रियो के तत्त्व को भलीभाँति जानते है। यही कारण है कि तत्त्वज्ञानी साधक जब परिपक्व हो जाते हैं तब उन्हे कैसे भी आकर्षणकारी एव प्रलोभनकारी वातावरण मे रख देने पर भी वे लुब्ध नही होते।

कामविजेता स्थूलभद्र का नाम तो आपने सुना ही होगा। बारह वर्ष तक वे कोशा वेश्या के प्रणय-बन्धन मे इस तरह फँसे रहे कि उन्होने अपने पिता, भाइयो तथा सम्बन्धियो तक की भी सुध न ली और पिता की मृत्यु के बाद स्थूलभद्र को वासना से विरक्ति हो गई। यद्यपि कोशा ने अपने आप को तन-मन से स्थूलभद्र के प्रति समर्पित कर दिया था, फिर भी कोशा के प्रति उनका आकर्षण एकदम समाप्त हो गया और एक दिन कोशा के महलो मे सौन्दर्य की अर्चना करने वाला स्थूलभद्र अब आत्मतत्त्व के साक्षात्कार के लिए चल पड़े, घरबार, पाटलिपुत्र, कोशा, कुटुम्बीजन आदि सबको छोडकर।

स्थूलभद्र पचेन्द्रिय विषयो के तत्त्वो का गहराई अध्ययन-मनन एव निदि-ध्यासन करके लगे। पहले आत्मतत्त्व का दर्शन (स्पर्श), आत्मतत्त्व का अन्तर्दर्शन (ज्ञान) यानी उसका सभी पहलुओ से ज्ञान, और फिर वे आत्मतत्त्व के आनन्द के

रूप मे उसमे मन को रमण कराने लगे। जब उनकी तत्त्वनिष्ठा परिपक्व हो गई तो उन्होंने अपने गुरुदेव के चरणो मे निवेदन किया—"गुरुदेव ! मैं अब कोशा को प्रतिबोध देने हेतु उसके यहाँ वर्षावास बिताने की आज्ञा चाहता हूँ।" गुरुदेव ने उनके तत्त्वज्ञान की परिपक्व दशा देखकर सहर्ष आज्ञा दे दी।

तत्त्वनिष्ठ स्थूलभद्र मुनि ने कोशा के भव्य भवन मे प्रवेश किया। साधु के वेष मे भी तत्त्वज्ञानी स्थूलभद्र का देदीप्यमान चेहरा अत्यन्त सुन्दर लग रहा था। उनके मुखमण्डल पर तप-सयम का तेज कम आकर्षक न था। कोशा तो उन्हे देखते ही मुग्ध हो गई, वर्षो के अरमान पूरे होने की उसकी आशा जाग उठी। चिर-विरह की धूप के बाद वर्षा का सुहावनापन जिस तरह मन को भा जाता है, वैसे ही स्थूलभद्र को अचानक आये देखकर प्रसन्नता से पागल-सी हो उठी। उनके भवन मे फिर से बहार आ गई।

कोशा ने अपना सारा महल सुसज्जित, सुगन्धित और आकर्षक बनवा डाला। कोशा ने वे उत्तम वस्त्राभूषण धारण किये, जिन्हे ससुराल जाने से पूर्व दुल्हन पहली बार धारण करती है।

तत्त्वज्ञ स्थूलभद्र के हृदय मे पाँचो ही इन्द्रियो के मनोमोहक आकर्षण और प्रलोभनो के वातावरण मे भी शान्ति, सन्तुलन एव समता थी। वे निर्लिप्त भाव से अपने आत्मचिन्तन मे बैठे थे। प्रत्येक वस्तु का यथास्थित स्वरूप वे जानते थे। विचलित होने का कोई प्रश्न नही था।

परन्तु अब इससे भी अधिक विस्खलित कर देने वाला दृश्य उनके सामने उपस्थित था। सोलह शृगारो से सजी रूपसी कोशा उनके समक्ष हाव-भाव, कटाक्ष एव अभिनय के साथ नृत्य, गीत और वाद्यसहित उपस्थित थी। बहुत अनुनय-विनय किया उसने अपने भूतपूर्व हृदयेश्वर को रिझाने, मनाने का। लेकिन तत्त्वज्ञ स्थूलभद्र तो आत्मा के असीम सौन्दर्य मे लीन हो गये थे। उन्हे कोशा का सौन्दर्य फीका लग रहा था। कोशा उन्हे एक चचल बालिका-सी लग रही थी। वह आज हैरान थी कि उसके कामदेवता बोलते क्यो नही ? पूर्ववत् उन्हे उसके शरीर और सौन्दर्य पर मोह क्यो नही ? उसे क्या पता था कि स्थूलभद्र तो अब विनश्वर सौन्दर्य की अपेक्षा शाश्वत सौन्दर्य मे लीन है। वे प्रत्येक आत्मा के आन्तरिक तत्त्व, अन्त-सौन्दर्य को निहारते हैं। फिर भी कोशा ने हिम्मत न हारी, आशा न खोई। उसने प्रतिदिन नित नये शृगार सजे, गीत नृत्य और वाद्य नव-नवीन स्वरो मे प्रस्तुत किये, किन्तु कामविजेता स्थूलभद्र को वह जरा भी मोहित, चलित एव विस्खलित न कर सकी। वे अपने आत्मतत्त्व पर चट्टान के समान दृढ रहे। तत्त्वज्ञ कामविजेता स्थूलभद्र मुनि के चातुर्मासिक सान्निध्य से कोशा का भी हृदय परिवर्तन हो गया। वह भी बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा आत्मिक सौन्दर्य की पुजारिन बन गई। उसने गणिकावृत्ति छोड दी। वह व्रतबद्ध श्राविका बन गई।

हाँ तो मै कह रहा था कि तत्त्ववेत्ता स्वय भी विषयादि प्रलोभनो से डिगता नही और दूसरो को भी अपनी तत्त्वनिष्ठा से प्रभावित करके मूल एव स्वाभाविक धर्म पर स्थिर कर देता है, उनमे आत्मनिष्ठा जगा देता है।

स्थूलभद्र मुनि की कथा को तो काफी अर्सा हो गया, वर्तमान युग के तत्त्व परायण स्वामी विवेकानन्द के जीवन की एक घटना सुनिए—

खेतडी के राजा अजितसिंह स्वामी विवेकानन्द को अपना गुरु मानते थे। एक बार राजा और दरबारी लोग एक वाटिका मे बैठे थे। राजा साहब को कुछ उदासी और सुस्ती प्रतीत हुई। उन्होंने सगीत-निपुण एक वृद्धा गायिका को गाना सुनाने का आदेश दिया। स्वामी विवेकानन्द भी उन दिनो राजा साहब के यहाँ पधारे हुए थे। अत उन्होने स्वामीजी को भी गायन सुनने के लिए बुला भेजा। स्वामीजी ज्योही पधारे गायिका ने गाना प्रारम्भ किया। प्रथम तो स्वामीजी सन्यासी के शिष्टाचार के अनुसार वहाँ के झट उठकर चल दिये। लेकिन गायिका अपनी मस्ती मे गाती रही—"**प्रभु मेरे अवगुन चित न धरो**", यह सूरदासजी का प्रसिद्ध भजन।

कहते है, स्वामीजी ने बाहर जाकर जब गीत की सारी कडियाँ सुन ली तो सहसा ठिठक गये और उसके तत्त्व पर विचार करने लगे—'क्या तू तत्त्वज्ञानी और अद्वैतवाद का पुरस्कर्ता वेदान्ती सन्यासी होते हुए भी गायको की आत्मा से घृणा करता है ? घृणा पाप से होती है, पापी से घृणा कैसी ? और फिर पूजागृह के लोहे और वधिकगृह के लोहे मे क्या पारस अन्तर करता है ? क्या गंगा नदी नाले का गन्दा पानी और छोटी पहाडी नदी का स्वच्छ पानी दोनो को अपने मे एकभाव से नही समा लेती ? फिर तू समदर्शी और तत्त्वज्ञानी होते हुए भी इस माता के प्रति क्यो हृदय मे भेदभाव को लिये हुए है ?

बस, स्वामीजी इस तत्त्वचिन्तन मे इतने डूब गये कि उनकी आँखो से अश्रुधारा बह निकली।

वे गीत के अन्त मे फिर लौटे, वृद्धा गायिका को अपनी शिक्षिका, गुरुणी तथा माता माना। इस घटना के बाद उस वृद्धा गायिका ने अपना शेष समस्त जीवन प्रभुभक्ति के गीत गाने मे सात्त्विकता से बिताया।

यही कारण है कि तत्त्वज्ञाननिष्ठ साधक बधन के प्रसगो मे भी सावधान होकर बन्धन से दूर रहते हैं। वे स्वतन्त्र विचार के धनी होते है।

तत्त्वज्ञानशून्य व्यक्ति मुँह से तो कहता है—हमे बन्धन से मुक्त होना है, परन्तु वास्तव मे देखा जाय तो वह बन्धन से मुक्त होना नही चाहता, बधन मे पडे रहने मे ही उसे आनन्द आता है।

एक व्यक्ति ने एक तोते को पिंजरे मे बन्द कर रखा था। एक सन्त ने उसके मालिक से पूछा—"भाई ! इस तोते को तुमने पिंजरे मे क्यो बन्द कर रखा है ?"

उसने इसका कुछ भी जवाब दिये बिना तुरन्त पिंजरे का द्वार खोल दिया। तोता बन्धन से मुक्त हुआ, थोडा उडा, परन्तु आप आश्चर्य करेंगे कि बन्धन मे ही सुख मानने वाला वह तोता आकाश मे कुछ चक्कर लगाकर फिर आकर उसी पिंजरे मे बद होकर बैठ गया।

क्या आज तत्त्वज्ञान से हीन साधारण मनुष्यो की स्थिति इस तोते जैसी नही है? वे तत्त्व का स्वाभाविक आनन्द लेना भूल गये हैं, वे प्रवचन भी सुनते हैं, शास्त्र की पवित्र वाणी उनके कानो मे पडती है, बन्धन मुक्ति की बातें कई बार स्वय भी करते हैं किन्तु घूम-फिरकर पुन उसी मोह-माया के बन्धन मे—स्त्री-पुत्र धन-सम्पत्ति आदि के मोह मे और शरीर, इन्द्रियो आदि की गुलामी के बन्धन मे पुन पड जाते हैं। कभी मसानिया वैराग्य आ भी जाता है तो वह चिरस्थायी नही होता। क्षणिक आवेश एव सोडावाटर के उफान की तरह वैराग्य का उफान उन्हे आता है, और फिर वे ससार के उसी प्रवाह मे बहे चले जाते हैं।

उन सासारिक लोगो मे तत्त्वज्ञान की झाँकी कब तक टिकती है? जब तक कि विषय-वासना का झौका न आ जाए, कषायो की जरा-सी आँच न लगे, क्योकि उनके तत्त्वज्ञान की जडें गहरी नही हैं। वृक्ष की जडें जितनी गहरी होती हैं, उतने ही वे ऊपर को बढते, फलते-फूलते और मजबूत होते हैं, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान की जडें जिसकी जितनी गहरी होती हैं, उसका जीवन उतना ही वृद्धिगत एव पुष्पित-फलित होता है, साथ ही उतना ही वह सुदृढ होता है। चाहे जितनी वासना की आँधियाँ चलें, चाहे जितनी कषायो की आग चारो ओर भडके, वह शीतल, शान्त, निर्विकार, सिद्धान्तनिष्ठ, अटल-अचल होता है। तत्त्वज्ञानशून्य साधारण मानवो मे यह बात नही होती।

स्प्रिंग लगे हुए गद्दे पर बैठते ही वह नीचे को दब जाता है, परन्तु उठने के साथ ही वह फिर पहले की तरह ऊपर उठ जाता है। इसी प्रकार सासारिक पुरुष जब तक धर्म की या आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान की बातें सुनते हैं, तब तक उनके विचार धार्मिकता तथा रटे-रटाए या धर्मग्रन्थो के द्वारा मस्तिष्क मे ठूँसे हुए थोडे-बहुत तत्त्व-ज्ञान मे युक्त रहते है, परन्तु ज्यो ही वे किसी सासारिक व्यवहार मे जुटते हैं, त्यो ही वे उन धार्मिकता एव तत्त्वज्ञान के उच्च तथा उत्तम विचारो एव आदर्शों को भूलकर पूर्ववत् आचार-विचारयुक्त बन जाते हैं।

लोहा जब तक भट्टी मे रहता है तब तक वह लाल सुर्ख रहता है, मगर भट्टी से बाहर निकलते ही फिर पहले की तरह काला हो जाता है। तत्त्वनिष्ठा से दूर साधारण सासारिक लोगो की भी यही हालत है। वे धर्मस्थानो, मन्दिरो, उपा-सना-गृहो या साधु-सन्तो के प्रवचन-श्रवणार्थ सत्सग मे रहते हैं, तब तक विरक्ति या श्रेष्ठ भावो मे अनुरक्त रहते हैं, परन्तु वहाँ से बाहर निकलते ही श्रेष्ठ भावो को भूल-कर पूर्ववत् विषय वासनाओ के काले भावो मे डूब जाते हैं।

मक्खियाँ हलवाई की दुकान मे बिक्री के लिए रखी हुई मिठाइयो पर आकर बैठती है, लेकिन जब वे आसपास विष्ठा से भरी हुई टोकरियाँ या गदगी का ढेर देखती हैं तो तुरन्त उन मिठाइयो को छोडकर उन विष्ठा से भरी मैली टोकरियो या गन्दगी पर बैठ जाती है। परन्तु मधुमक्खी ऐसा नही करती। वह सदैव फूलो के मधु-आस्वादन मे लगी रहती है।

ससार मे फँसे हुए तत्त्वज्ञानहीन मनुष्य भले ही जरा-सी देर के लिए धर्म-ग्रन्थो मे या प्रवचन-श्रवण से आध्यात्मिक ज्ञान का आनन्द ले ले, क्षणिक आस्वाद पा लें, परन्तु विषय-वासना की गन्दगी की तरफ उनकी स्वाभाविक सस्कारबद्ध प्रवृत्ति होने के कारण वे फिर झटपट उसी तरफ लौट आते है। परन्तु तत्त्वज्ञानी अध्यात्मरस के रसिक साधु पुरुष उन मधुमक्खियो की तरह सदैव सतत तत्त्वज्ञान के मधुर आस्वाद मे या अध्यात्मज्ञान के दिव्य आनन्द मे ही मग्न रहते है, विषय-वासनाओ की गन्दगी की तरफ उनका ध्यान जाता ही नही।

मछली पकडने के लिए बने हुए बास के जाल मे चमकते हुए पानी को बहते हुए देखकर छोटी-छोटी मछलियाँ उसमे बडी प्रसन्नता से चली जाती हैं, किन्तु जाने के बाद फिर वे बाहर नही निकल सकती, वही फँस जाती है। इसी तरह ससार की मिथ्या चमक-दमक से मोहित तत्त्वज्ञानशून्य मूढ लोग विषय-वासना के जाल मे चले जाते हैं, परन्तु लौटने का रास्ता सुगम न होने से वे उन छोटी मछलियो की तरह वही फँस जाते है और सदा के लिये बँध जाते हैं। मगर तत्त्वपरायण साधु पुरुष पहले तो मूढ होकर जाल मे फँसते ही नही, कदाचित धोखे से फँसा भी दिये जायें तो वे आसानी से निकल जाते है, वे उसमे फँसे और बँधे नही रहते।

तत्त्वनिष्ठ साधनाशील को विषयो से विरक्ति एवं अरुचि

जिस साधनाशील व्यक्ति मे तत्त्वनिष्ठा बढ जाती है, उसमे विषयो के प्रति आसक्ति एव रुचि अत्यन्त कम होती जाती है, उसे विषयो से विरक्ति हो जाती है, वह अपनी आत्मा को आत्मगुणो की वृद्धि करने और समस्त दर्शन ज्ञान-चारित्र की उत्कृष्ट साधना करने मे लगाता है और परमात्मा के निकट पहुँचने का सतत प्रयत्न करता है। इष्टोपदेश मे सत्य ही कहा है—

> यथा-यथा समायाति, सवित्तौ तत्त्वमुत्तमम।
> तथा-तथा न रोचन्ते, विषया सुलभा अपि॥
> यथा-यथा न रोचन्ते, विषया सुलभा अपि।
> तथा-तथा समायाति, सवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्॥

बुद्धि मे ज्यो-ज्यो उत्तम तत्त्व का प्रवेश होता है, त्यो-त्यो इन्द्रिय-विषयो की प्राप्ति आसान होने पर भी उसे उन शब्दादि विषयो मे रुचि नही रहती, तथा ज्यो-ज्यो इन्द्रिय-विषयो मे भी उसकी रुचि हटती जाती है, त्यो-त्यो उसकी बुद्धि मे तत्त्व प्रविष्ट होता जाता है।

मैंने एक वार आपके समक्ष मैत्रेयी की आत्मसाधना के सम्बन्ध मे कहा था। आज यहाँ प्रसगवश उसका सक्षेप मे उल्लेख करना अनुचित न होगा।

जिस समय याज्ञवल्क्य आत्मसाधना करने अरण्य मे जाने वाले थे, वे पहले अपनी सारी सम्पत्ति एव सुख-सामग्री अपनी दोनो पत्नियो—कात्यायनी और मैत्रेयी मे बांट देना चाहते थे। जब उन्होने मैत्रेयी से कहा—"यह आधा धन और ये आधे सुख-साधन तुम ले लो, इनसे तुम सुख से जीना और सुख से रहना," तब मैत्रेयी ने कहा—"क्या आप मुझे यही सम्पत्ति और सामग्री देना चाहते हैं? अगर ये ही वस्तुएँ मेरे लिए आत्म-कल्याणकारिणी हो तो आप इन्हे छोडने को क्यो उद्यत हुए हैं? क्या मुझे इन सबसे अमृत (आत्म) तत्त्व मिल जाएगा? जिसमे अमृततत्त्व न मिले, उसे लेकर मैं क्या करूँगी? जिसे लेने के बाद फिर छोडना पडे, या छूट जाए उसे लेकर मैं क्या करूँ? मुझे तो वह साधना-सम्पत्ति प्रदान कीजिए, जिस साधना से आप आत्मतत्त्व प्राप्त करना चाहते हैं।"

मतलब यह है कि मैत्रेयी को वह तत्त्वज्ञान मिल गया था, जिससे वह धन-सम्पत्ति, भौतिक साधन-सामग्री के असली तत्त्व को प्राप्त कर चुकी थी कि ये सभी नाशवान हैं, पराधीन बनाने वाले हैं, क्षणिक सुख के बदले इनमे असीम दु ख के बीज छिपे हुए हैं। इसी तत्त्वज्ञान के कारण उसे इस विषयसुख-सामग्री से विरक्ति हो गई थी और वह उस असीम, अमृत, शाश्वत सुख को प्राप्त करने के लिए सर्वथा उद्यत हो गई थी। उसने सुलभ और अपने अधिकार मे आई हुई विषयसुख-सामग्री को तिलाजलि दे दी और उस अमृततत्त्व की साधना के लिए याज्ञवल्क्य के पथ पर चल पडी।

परमात्म-भक्ति के तत्त्व मे मस्त मीराबाई राजस्थान की एक अपूर्व साध्वी-महिला हो गई है। मीराबाई की रग रग मे प्रभुभक्ति का तत्त्व रमा हुआ था, इसलिए उसका विवाह चित्तौड के राणा के साथ हो जाने पर भी वह सासारिक विषयो से विरक्त रही। मीरा के लिए महल था, मनोज्ञ शयनीय साधन सामग्री थी, उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण थे, स्वादिष्ट भोज्य सामग्री थी, लेकिन भक्तितत्त्व मे लीन मीराबाई का चित्त इन सबसे विरक्त था, उसकी रुचि सासारिक पदार्थों के उपभोग मे नही रही। मीराबाई के पति राणाजी ने जब उससे कहा—

मीरा! कुण ही साधुजी थाने भोलव्या?
मीरा! हिंगलूरा ढोल्या परिहर्या, थारो चित्त तो चटाई रे माय,
हो मेडताणी राणी!
मीरा! नवसेरो हार जो परिहर्या, थारो चित्त तो तुलसीमाला रे माय,
॥ हो मेडताणी० ॥
मीरा! महल बगीचा परिहर्या, थारो चित्त टूटी झूपी रे माय,
॥ हो मेड़ताणी० ॥

मीरां ! शालदुशाला परिहर्या, थारो चित्त सादी साड़ी माय,
।। हो मेडताणी०

मीरा ! लाडूजलेबी परिहर्या, थारो चित्त सूखा टुकड़ा रे माय,
।। हो मेडताणी०

मीराबाई की इन सब विषयसुख-सामग्री के त्याग और सभी सीधे-सा साधनो के ग्रहण के सम्बन्ध मे स्वीकारोक्ति थी। वह किस कारण से थी—एकमा भक्तितत्त्व की परमनिष्ठा के कारण, भक्तितत्त्व की इतनी पराकाष्ठा पर वह पहुँच ग थी कि जब राणाजी ने रुष्ट होकर मीराबाई को जहर का प्याला पीने के लिए भेज तो भी बिना किसी प्रकार की आनाकानी किये भगवच्चरणामृत मानकर पी गई औ सचमुच वह विष भी मीरा के लिए अमृत रूप हो गया।

यह था तत्त्वनिष्ठा या तत्त्वलीनता का चमत्कार ! क्या तत्त्वज्ञान से रहित व्यक्ति इतना साहस कर सकता है कि वह जहर को भी अमृत मानकर पी ले ? अपमान और निन्दा की कडवी घूंटे भी भगवद्भक्ति की कसौटी समझकर सहिष्णुता-पूर्वक पी ले ?

तत्त्वज्ञाननिष्ठ सुख को अपने भीतर खोजता है

तत्त्वज्ञान से शून्य व्यक्ति वाह्य विषयो मे, वस्तुओ मे, धन, वस्त्राभूषण आदि बाह्य साधनो मे सुख ढूँढता है, जबकि तत्त्वनिष्ठ व्यक्ति अपनी आत्मा मे डूबकर अपने आत्मगुणो मे सुख खोजता है, वह वाह्य विषयो मे, या वस्तुओ मे सुख नही देखता, वह बाह्य विषयो या वस्तुओ मे सुख की मृग-मरीचिका देखता है, जो कि सुख नही, सुखाभास है। तत्त्वज्ञान से रहित व्यक्ति उसे अपनी दृष्टि से आँकते हैं, उसे अपने ही समान वैषयिक सुखो मे लिप्त करना चाहते हैं, लेकिन तत्त्वपरायण साधुमना व्यक्ति वैषयिक सुखो मे लिप्त न होकर अपने भीतर ही सुख को ढूँढता है, उसे आत्मतुष्टि का ऐसा अनुपम सुख मिलता है कि उसे दुनिया के सभी क्षणिक सुख फीके लगने लगते हैं।

श्रावस्ती के कोषाध्यक्ष की अनुपम सुन्दरी षोडशी कन्या उत्पलवर्णा यौवन के सिंहद्वार पर पहुँच चुकी थी। उसके अग-प्रत्यग से अद्भुत कान्ति, सौष्ठव और कमनीयता फूट रही थी। यही कारण था कि अनेक श्रेष्ठी, सामन्तो और राजकुमारो की उत्पलवर्णा के साथ विवाह के लिए प्रार्थनाएँ आने लगी। कोषाध्यक्ष के लिए उत्पलवर्णा का सौन्दर्य समस्या बन गया था। वह उसका हाथ किसे दे और किसे न दे, यह निर्णय करना भी कठिन हो रहा था।

परन्तु उत्पलवर्णा जितनी रग-रूप से सुन्दर थी, उतना ही उसका अन्त करण तथागत बुद्ध के चरणो मे पहुँचकर उपदेश श्रवण से तत्त्वज्ञानरूपी सौन्दर्य से ओत-प्रोत था। चिन्ता मे डूबे हुए अपने पिता को देखकर वह स्वय पिता के पास आकर बोली—"पिताजी ! एक बात आपसे पूछूं।"

पिता ने दृष्टि ऊपर उठाई और पुत्री के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—"कहो, क्या कहना चाहती हो, बेटी उत्पल!"

तत्त्वज्ञान की गम्भीरता से उत्पलवर्णा कहने लगी—"पिताजी! आप मुझे सुखी देखना चाहते हैं न? मैं इन बाह्य विषय-सुखो मे सुख नही देखती, इनमे तो दु:ख के बीज छिपे हुए हैं। विवाह करने से मैं सुखी नही हो जाऊँगी, बल्कि विषय-जाल मे फँसकर और अधिक दु:खी हो जाऊँगी। आपकी चिन्ता मेरे लिए योग्यवर के तलाश की और मेरे झूठे सौन्दर्य की समस्या को हल करने की है। विवाह का प्रस्ताव लेकर आये हुए किसी भी कुमार मे मुझे आदर्श गृहस्थोचित जीवन का स्थायित्व नही दीखता। ये सब तो रूप के प्यासे कीट-पतगे हैं। इनसे तो दूर रहना ही अच्छा?

"आपने नही सुना, उस गगातीखासी ने पहले विवाह किया। अपनी वासनाएँ शान्त करने के लिए भार्या के जीवन-सत्त्व को निचोडा, फिर उसने एक अन्य स्त्री को रख लिया। उसके गर्भ से कन्या पैदा हुई, उसे भी उसने सहगामिनी बनाया। बताइये, जिस समय सामाजिक मर्यादाएँ और व्यवस्थाएँ इस प्रकार तिनके की तरह तोड दी जाती हैं, नीति कहती है—उस समय तत्त्वज्ञ लोगो को अपने लौकिक और क्षणिक वैषयिक सुखो का परित्याग करके समाज के समक्ष एक आदर्श—वास्तविक सुख का पथ—प्रस्तुत करना चाहिए। इसलिए आप आज्ञा दें तो मैं तथागत बुद्ध से प्रव्रज्या ग्रहण करके आजीवन अविवाहित रह जाऊँ और वैषयिक सुखाभास की चकाचौंध मे पथभ्रष्ट समाज को अपनी तत्त्वज्ञान की शक्ति एव साधना द्वारा सत्यपथ पर लाने का प्रयास करूँ।"

आर्य पिता ने अपनी कन्या के सुसस्कार एव तत्त्वज्ञान के तेज से चमकते मुखमण्डल की ओर देखा तो उसमें पूर्ण निश्चय की दृढता झलक रही थी। उसे हृदय से लगाते हुए स्नेहपूर्वक कहा—"उत्पल! तुम धन्य हो! तुमने सासारिक सुखो को महत्त्व न देकर साधना के द्वारा अन्त विराजित सुख प्राप्त करके आत्मकल्याण के साथ समाजकल्याण का मार्ग अपनाने का निश्चय किया है। तुम्हारे इस आदर्श मे भारतीय नारी वर्ग और समाज युग-युगो तक प्रकाश और प्रेरणा लेता रहेगा। तुम सुख से प्रव्रज्या ग्रहण करो। मैं अन्तर् से आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारी साधना फले-फूले।"

और एक दिन उत्पलवर्णा ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। तथागत बुद्ध ने अपना पितृतुल्य स्नेह, अपनी साधना की शक्ति और अधिकाधिक तत्त्वज्ञान देकर उसे आत्मिक आनन्द की स्थिति तक पहुँचा दिया।

बन्धुओ! यह है तत्त्वद्रष्टा साधनाशील के जीवन की उत्कृष्ट स्थिति का दर्शन! तत्त्वशून्य और तत्त्वनिष्ठ के जीवन मे यही बडा अन्तर है।

आपने देखा होगा, सुख-सुविधापूर्ण जीवन बिताने के पर्याप्त साधन उपलब्ध होने पर भी तत्त्वज्ञानशून्य लोग अपनी अज्ञानता और मूढता के कारण सन्तप्त, अशान्त और उद्विग्न रहते हैं। इसके विपरीत तत्त्वज्ञान के धनी सन्त-महात्मा

गृहस्थसाधक भी मामूली साधनो मे भी यहाँ तक कि अभावो मे भी सुख-शान्ति और सन्तोष का जीवन व्यतीत कर लेते है, जीवन के सहज आनन्द को प्राप्त करते है। योगवाशिष्ठ (६, ८१/१४) मे स्पष्ट कहा है—

> देहदु ख विदुर्व्याधिमाध्याख्य मानसामयम् ।
> मौर्ख्यमूलं हि ते विद्यात्तत्त्वज्ञाने परिक्षय ॥

अर्थात्—शारीरिक दु खो को व्याधि और मानसिक दु खो को आधि कहते हैं। ये दोनो दु ख अज्ञानमूलक है। तत्त्वज्ञान से ही ये दोनो दु ख नष्ट होते हैं।

वस्तुत जिन साधको के जीवन मे तत्त्वज्ञान का प्रकाश होता है, वे बाह्य सुख साधनो एव सुविधाओ मे नि स्पृह एव निरपेक्ष रहते है, यथालाभ सन्तोष ही उनका जीवन-सूत्र हो जाता है।

शुभाशुभ कर्मो से उत्पन्न होने वाले हर्ष-शोक, प्रसन्नता-विक्षोभ एव मानसिक असन्तुलन अतत्त्वज्ञ मनुष्य के मन और शरीर मे तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं। हर्ष के प्रति आसक्ति और शोक से उत्पन्न होने वाली दु खानुभूति, दोनों ही तत्त्वज्ञानशून्य मानव के मन को मोहित कर उसे विवेकशून्य बना देते है। इसका परिणाम होता है—गलत कार्य, गलतफहमी, गलत अनुभव, जिनका पर्यवसान होता है—दु ख, द्वन्द्व क्लेश, शोक आदि मे। किन्तु जिस मनुष्य का अन्त करण तत्त्वज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होता है, वह इन दोनो ही प्रपचो से मुक्त रहकर आत्मस्थिर, नि स्पृह और आत्मतृप्त हो जाता है। तत्त्वज्ञानी किसी भी कार्य मे लिप्त और आसक्त नही होता, वरन् तटस्थ एव निष्कामभाव से अपने कार्य मे लगा रहता है। इसलिए वह कर्म-बन्धनो से मुक्त हो जाता है।

तत्त्वज्ञाननिष्ठ दुष्परिस्थितियो से भागता नही

साधारण तत्त्वज्ञान से रहित मनुष्य के सामने जब विपरीत परिस्थितियाँ आती हैं, तब वह वहाँ से भागने लगता है, वह समझदारी और सूझबूझ के साथ टिक नहीं पाता। जबकि तत्त्वनिष्ठ साधक कैसी भी प्रतिकूल परिस्थिति हो, वहाँ से हटता नहीं, दृढतापूर्वक डटा रहता है, परिस्थितियों को सुधारने का प्रयत्न करता है। तत्त्वज्ञाननिष्ठ साधक इस प्रकार से चिन्तन करता है कि यह संसार बहुत विस्तृत है। इसमें फूल भी है, काँटे भी हैं, पहाड भी हैं तो गहरे समुद्र भी हैं। मैदान हैं तो ऊबड-खाबड घाटियाँ भी हैं। इस विविधतापूर्ण संसार में हर वस्तु का विरोधी साथ विद्यमान है। सद्गुण हैं तो दुर्गुण भी हैं, अच्छाइयाँ हैं तो बुराइयाँ भी हैं। माना कि अन्याय, अत्याचार, अनीति, अधर्म, हिंसा, असत्य, भ्रष्टाचार, बेईमानी आदि बुराइयाँ अधिक हैं, पर क्या इनसे संसार जगत् की शेष बहुत-सी अच्छाइयों और सदाचारों का ... विपरीत परिस्थितियों से मुँह मोड लेना ठीक है? क्या विवेकी और तत्त्वज्ञ मानव इस प्रकार से पलायन वृत्ति अपना सकता है? कदापि नहीं।

जिसके जीवन मे तत्त्वज्ञान का प्रकाश हो गया है, वह चाहे जैसी बुरी परिस्थिति मे से भी समझदारी से जीने का रास्ता निकाल लेता है, जबकि तत्त्वज्ञानहीन मानव उसी परिस्थिति मे रहकर मन मे क्लेश करता रहता है, कुढता रहता है, दूसरो को कोसता रहता है और यो रोना-पीटता जिंदगी बिताता है। वह अच्छी परिस्थिति वाले स्थान मे जायेगा तो वहाँ भी अपने अज्ञान और मूढता के कारण उसे बुरी बना देगा, वहाँ भी दु ख और क्लेश मे घुटता रहेगा।

चीन के प्रसिद्ध तत्त्वज्ञ सन्त कन्फ्यूशियस एक बार बडे सवेरे पदयात्रा कर रहे थे। यात्रा करते-करते वे एक निर्जन स्थान मे पहुँचे, वहाँ देखा कि एक महात्मा पेड की छाया मे लेटे विश्राम कर रहे है। कन्फ्यूशियस ने पूछा—"महात्मन् ! हरी-भरी बस्ती को छोडकर आप यहाँ जनशून्य एकान्त मे क्यो पडे हैं ?"

महात्मा ने उत्तर दिया—"भद्र ! इस राज्य का राजा बडा दुष्ट है। वह स्वय तो अकर्मण्य और अत्याचारी है ही, उसके राज्य मे बहुत-से लोग स्वेच्छाचारी, अनुशासनहीन, कलहकारी, अत्याचारी, कुटिल और दुष्ट हो गये हैं। ऐसी स्थिति मे मेरे जैसे शान्तिप्रेमी, सद्‌गुणो और आत्मशान्ति पर विश्वास रखने वाले व्यक्ति के लिए ऐसे समाज मे रहना कठिन हो गया है। क्यो न आप भी यहाँ आकर एकान्त और शान्त प्रकृति का आनन्द लूटते हैं ? अत्याचारो के कारण पैदा हुई निराशा से बचने का क्या यह सर्वोत्तम उपाय नही है ?"

कन्फ्यूशियस मुस्कराकर कहने लगे—"क्या थोडी-सी बुराइयो या बुरे आदमियो के कारण अच्छाइयो की रक्षा करना और उनसे लाभ उठाना तत्त्वज्ञ साधक का कर्तव्य नही है ? थोडे-से व्यक्तियो के कर्तव्यच्युत हो जाने से क्या तत्त्वदर्शी भावनाशील साधको को अपने कर्तव्य से मुँह मोड लेना चाहिए ? जब बुराई आगे बढने से हार नही मानती तो क्या भलाई की शक्ति को हार मान लेना चाहिए ? अच्छाई की ताकत को भी अजमाना चाहिए। किन्तु उसको नपु सक बनाकर भाग जाना तो बेहतर नही है ?"

महात्मा ने कहा—"सो तो ठीक है। मगर इतने झझटो की अपेक्षा स्वय बुराई से हट जाना क्या बेहतर नही है ? हम बुराई से स्वय हटकर यहाँ अच्छाई का रसास्वादन कर रहे है।"

कन्फ्यूशियस से कहा—"महात्मन् ! आप भूल रहे हैं कि झझटो से भरा जीवन आपके जीवन का आधार है। नही, आपकी शान्ति अपने पास है। आप कही भी रहे, वह छीनी नही जा सकती। फिर आप यहाँ रहकर भी तो समाज की कमाई पर जीवित हैं, उसी के आश्रय से पल रहे हैं, जिस समूचे समाज को आप बुरा कह रहे हैं। क्या यह कृतघ्नता न होगी कि समाज से जीवन निर्वाह के लिए लेकर उसकी बुराइयो को सुधारने के अवसर पर आप मुख मोडकर जगल मे भाग जाएँ। फिर आप जिन्हे झझट कहते हैं, कष्ट और कठिनाई मान रहे हैं, वह तो आपकी साधना

का एक अंग है। वे तो नौकाएँ है, जो असम्भव को पार करने मे सहायक होती हैं। रही बात बुराइयो की, हम उनसे भागें क्यो? स्वय बुराइयां ही क्यो न भागें? हमारे भागने का मतलब है—सद्गुण और सज्जन दुर्गुणो और दुर्जनो मे दुर्बल हैं, सत्य असत्य की अपेक्षा निर्बल है, तत्त्वज्ञान पर अज्ञान ने कब्जा कर लिया है।"

महात्मा भी यो ही हार मानने वाले न थे, वे अपनी बात को पुष्ट करते हुए बोले—"हम यहाँ सद्गुणो की ही तो रक्षा कर रहे हैं, बुराइयो की ओर से आँखें मूंदकर। आप ही बताइए, क्या मै भलाई को बुराई का ग्रास होने से नही बचा रहा हूँ?"

कन्फ्यूशियस ने कहा—"असम्भव महात्मन्! जिस भलाई को आप समूह मे बुराई के आगे पराजित करके आ गये वह भलाई यहाँ कैसे जीवित रह सकती है। यहाँ भी हिंस्र पशुओ की बुराई के आगे आप उसे समर्पित कर देंगे। हर वस्तु एकान्त मे नष्ट हो जाती है, समूह मे वह बहुगुणित होती है। अच्छा होता, आप समूह मे रहकर अपने सद्गुणो का प्रकाश करते तो सद्गुणो की वृद्धि होती? और वे वृद्धिगत सदगुण दुर्गुणो को अवश्य ही पराजित कर देते। उसका प्रतिफल भी आपको देखने को मिलता। जनता तत्त्वपरायण साधुजनो का अनुसरण करती है। आप मे वह प्रकाश स्पष्ट हुआ होता तो नि सन्देह बुराई की मात्रा घटती और अच्छाई की बढती।"

आखिर तत्त्वज्ञानी कन्फ्यूशियस के सामने महात्मा निरुत्तर हो गये।

निष्कर्ष यह है कि सच्चा तत्त्वनिष्ठ साधक बाधक परिस्थिति को देखकर हिम्मत हारता नहीं, और न ही वहाँ से भागता है।

वस्तुत मनुष्य मे अनेक महत्त्वपूर्ण शक्तियां मौजूद है, परन्तु तत्त्वज्ञानी साधक उनका सदुपयोग करके गिरी हुई परिस्थितियो मे भी निरन्तर प्रगति करके अनेक बाधाएँ पार कर सकता है, तथा उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँच सकता है, पर जिसके जीवन मे तत्त्वज्ञान का प्रकाश नही है, वह शक्तियाँ होते हुए भी अपने आपको शक्ति-हीन मानता है, वह न तो शक्तियो का ठीक-ठीक उपयोग कर पाता है और न ही अपने मार्ग मे आने वाली विघ्न-बाधाओं को पार कर सकता है, उसका उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचना तो और भी कठिन है।

लोहा एक ठोस पदार्थ है। उसमे बहुत ही शक्ति निहित है। उसमे बडी-बडी शक्तिशाली मशीने बनाकर चलाई जाती है और उनसे बडे-बडे कार्य किये जाते है। परन्तु उनके साथ उस लोहे के तत्त्वज्ञान का जानकार व्यक्ति का स्पर्श हो, तभी उसका उत्तम उपयोग होता है। अन्यथा, कोरी मशीन पडी रहे, उसका चलाने वाला ज्ञानवान व्यक्ति न हो तो वह बेकार हो जाती है। इसी प्रकार मनुष्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, हृदय और आत्मा, इन सबका ठीक तरह से यथायोग्य संचालन और उपयोग करने वाला तत्त्वज्ञानी साधक न हो, तब तक इनसे कोई खास लाभ प्राप्त

ही किया जा सकता। पशु-पक्षियो की तरह अज्ञानग्रस्त मानव भी जैसे-तैसे इनका उपयोग-दुरुपयोग करके जीवन बिता देता है। इसमे न तो जीवन की सार्थकता है और न ही जीवन का सच्चा आनन्द ! इसी कारण तत्त्वज्ञान से रहित व्यक्ति अपने मे निहित शक्तियो का सदुपयोग कर ही नही पाता। वह अपने सामने बडी-बडी विघ्न-बाधाएँ या बाधक वस्तुएँ देखकर पस्तहिम्मत हो जाता है।

रामायण का एक प्रसग है—हनुमानजी मे अपार शक्ति मौजूद थी। उनका शरीर वज्राग था। उनकी इन्द्रियाँ भी सशक्त थी। अगोपाग भी सुडौल थे। परन्तु तत्त्वज्ञान के अभाव में वे लका पहुँचने के लिए समुद्र लाँघने का साहस नही कर रहे थे। जाम्बवन्त ने हनुमानजी को आत्मशक्तियो का तत्त्वबोध दिया तो शीघ्र ही खुशी-खुशी वे तैयार हो गये और सहज ही उस कार्य को सम्पन्न करने मे सफल भी हो गये। हनुमानजी की उस सफलता मे उनकी शक्तियो का तत्त्वबोध कराने मे जाम्बवन्त का उद्बोधन महत्त्वपूर्ण रहा।

अगर जाम्बवन्त के स्थान पर कोई और कायर या भीरु तत्त्वज्ञानहीन परामर्श-दाता या उद्बोधक रहा होता, जो वह नाना आशकाएँ व्यक्त करके उनमे निहित शक्तियो को कुण्ठित कर देता, उनका मनोबल गिरा देता। ऐसी स्थिति मे उनके लिए समुद्र लाँघने का काम असभव ही हो जाता।

तत्त्वज्ञानी को कहीं न कहीं से सही मार्ग मिल जाता है

तत्त्वज्ञान से रहित व्यक्ति के जीवन मे जब उलझनें आती हैं, तो वह घबरा जाता है, किंकर्तव्यविमूढ हो जाता है, लेकिन तत्त्वज्ञानी उलझनें आने पर, समस्या आ पडने पर घबराता या चिन्ता नही करता, वह तत्त्वदृष्टि से गहरा चिन्तन-मन्थन करता है और कोई न कोई रास्ता निकाल ही लेता है। तत्त्वज्ञानी इस अहकार मे नही रहता कि मैं सामान्य व्यक्ति से प्रेरणा क्यो लूं या इसे महत्त्व क्यो दूं? वह जहाँ कही से प्रेरणा मिले, ले लेता है। जैनशास्त्र मे एक जगह बताया गया है, कि साधु को चक्रवर्ती की सामान्य दासी से भी बोध मिले या सत्य (तत्त्व) मिले तो तो ग्रहण कर लेना चाहिए। उसके हृदय मे सरलता और गुणग्राहकता होनी चाहिए। एक विचारक ने कहा है—

> गहे तत्त्वज्ञानी पुरुष, बात विचारि-विचारि।
> मथनहारि तजि छाछ को, माखन लेत निकारि ॥

तत्त्वज्ञ साधको की तत्त्वग्रहण की यही पद्धति है।

तथागत बुद्ध ने घोर तपस्या करके शरीर को कृश कर दिया था। फिर भी अभी तक उन्हे बोधि प्राप्त नही हुई थी। वे किसी उपाय की खोज मे थे, सतत चिन्तन करते रहते थे, कि मुझे कब और कैसे बोधि प्राप्त हो? सभी लोग तपस्या से कृश हुए उनके शरीर को देखकर चिन्तित थे। एक दिन एक नर्तकी अपनी कुछ

गायिकाओ के साथ उसी रास्ते से जा रही थी। वह रास्ते मे अपनी साथिनियो का समझा रही थी—देखो! वीणा के तारो को अत्यन्त मत कसो, बहुत अधिक कसन से भी तार टूट जाते है और आवाज अच्छी नही निकलती। इसी प्रकार वीणा के तार अत्यन्त ढीले नही होने चाहिए। क्योकि तार ढीले होने से भी आवाज सुरीली नही निकलेगी।"

नर्तकी ने फिर अपनी बात दोहराई—'वीणा के तार न तो अत्यन्त कसे हो और न ही अत्यन्त ढीले हो। तार सन्तुलित अवस्था मे हो, तभी वीणा से मधु स्वर निकलता है।"

नर्तकी की बात तथागत बुद्ध के कानो मे पडी। पडते ही वे मन्थन मे प गये—शरीर भी तो वीणा के समान वाद्ययन्त्र है। इसके तार भी न तो अत्यन्त क जाने चाहिए, यानी शरीर को कठोर तप या कठोर यातना देकर इसे अत्यन्त कसन उचित नही, इसी प्रकार शरीररूपी वाद्ययन्त्र के तार अत्यन्त ढीले भी नही हो चाहिए। शरीर को विषयो मे दौडने की अत्यन्त खुली छूट न दे दी जाए या न इ अत्यन्त आरामतलब बनाओ, न ही आलसी, अकर्मण्य, सुस्त और प्रमादी बनाओ अन्यथा शरीर निकम्मा हो जायेगा। इसमे जो सत्कार्य करने का साहस, शक्ति, सा या क्षमता है, वह खत्म हो जायेगा। इस प्रकार की प्रेरणा नर्तकी से पाकर तथागत बुद्ध एकदम सतर्क हो गये। उन्होने अपनी तपस्या समेट लेने का विचार कर लिया, और शरीर को यथोचित सयम मे रखने लगे। इसी तत्त्वनिष्ठा से तथागत बुद्ध को मध्यम मार्ग मिला।

हाँ, तो मै कह रहा था कि तत्त्वज्ञानी साधक किसी समस्या या उलझन का कोई न कोई उचित हल निकाल ही लेता है, वह घबराता नही।

तत्त्वज्ञानी अनिष्ट प्रवृत्ति मे फँसा नही रहता

तत्त्वज्ञानी पहले तो किसी भी प्रवृत्ति की हेयोपादेयता या इष्टानिष्टता का भली भाँति विचार कर लेता है। वह सहसा किसी भी अनिष्ट प्रवृत्ति मे फँसता नही, कदाचित् धोखे से या सरलता से कभी किसी प्रवृत्ति को इष्ट या उपादेय मानकर फँस भी जाए तो वह घूरे पर बैठने वाली मक्खी की तरह जब चाहे तब झटपट उस प्रवृत्ति को छोड देता है। वह मोहवश उस अनिष्ट प्रवृत्ति मे फँसा नही रहता। इसके विपरीत तत्त्वज्ञान से शून्य व्यक्ति पहले तो प्रवृत्ति की हेयोपादेयता या इष्टानिष्टता का कोई विचार करता नही कदाचित् कर भी ले तो भी जब एक बार किसी अनिष्ट प्रवृत्ति का चस्का लग जाता है तो फिर छूटता ही नही। उसमे गले तक वह डूब जाता है। मोहवश निकलना भी नही चाहता, भले ही वह प्रवृत्ति उसके लिए दुःखदायी हो। मैं एक व्यावहारिक उदाहरण द्वारा इसे समझा दूँ—

एक सज्जन थे। वे चुनाव मे दो बार हार गये थे। फिर भी अपने इष्ट मित्रो के सामने रोना रोते हुए कह रहे थे—क्या करें साहब! राजनीति का नशा ऐसा है, जो छुडाए छूटता ही नही।

भला बताइए, जिसकी बुद्धि मे तत्त्वज्ञान भरा है, जागरूक चेतना है, विवेक-युक्त स्वस्थ सन्तुलित मनोभूमि है, भला वह ऐसे अनिष्ट मे फंस ही कैसे सकता है? या फँसा कैसे रह सकता है? साँप को निकट आते देख लेने पर क्या विवेकी मनुष्य उससे दूर हटे बिना कैसे रह सकता है?

तत्त्वज्ञानी अन्धविश्वास में भी नहीं फँसता

तत्त्वज्ञानी प्रत्येक वस्तु, घटना, वचन एव कार्य-प्रवृत्ति पर तात्त्विक दृष्टि से गहराई से विचार करता है। उसकी तत्त्वनिष्ठा उसे धोखा नही दे सकती। वहाँ अन्धविश्वास मे फँसने का तो कोई प्रश्न ही नही है। वह वस्तु तत्त्व का विचार करके हेय को हेय समझता है, उपादेय को उपादेय और ज्ञेय को और ज्ञेय।

जर्मन निवासी तत्त्वज्ञानी मार्टिन लूथर एक अन्धविश्वासोच्छेदक था। वह धर्म के मामले मे रोम में प्रचलित पोपलीला को धर्म के लिए कलंक मानता था। वह अन्धविश्वास के खिलाफ लोगो को समझाता तथा उसकी हानियाँ भी बताता। इससे तत्त्वशून्य कट्टर पादरी भडक उठे और उसे मारने को दौडे। एक पादरी ने उससे कहा—देखो! यह जो सोपान दृष्टिगोचर हो रहा है, उस पर चढकर ईसामसीह स्वर्ग सिधारे थे। इस पाइलट स्टेअर का यह प्रभाव है कि पोप जिसको इस पर चढ़ा देते हैं, उसके समस्त पाप दूर हो जाते हैं, वह अवश्य ही स्वर्ग चला जाता है। मगर मार्टिन लूथर को यह सब पादरियो का ढोग लगा।

मार्टिन स्वय सच्चा पादरी (धर्माचार्य) बनकर लोगो को सद्विचार देने लगा। रोम मे प्रचलित अन्धविश्वास और धर्म मे प्रविष्ट विकारो को दूर करने का उसने बीडा उठाया। उस अन्धकार युग मे अन्धविश्वासो का खण्डन करना अत्यन्त साहस का काम था। लूथर ने अपनी तत्त्वनिष्ठा का परिचय देते हुए सबसे बडी बात यह कही कि—**'मनुष्य अपने सत्कर्मों द्वारा स्वय मुक्ति प्राप्त कर सकता है।'** अत अन्धपरम्पराओ को न मानो। उद्धार का मार्ग है—**'पाप कर्मो से स्वय बचना तथा अब तक जो ऐसे कृत्य बन गये हो, उनके लिए प्रभु से क्षमा माँगना।'** परलोक मे स्वर्ग मिल जाने के नाम पर लोगो से लाखो रुपये बटोरकर पोप उक्त व्यक्ति को हुण्डी लिख देता था। इसका मार्टिन लूथर ने विरोध किया, जिसका स्वीकार वहाँ के तत्त्व-प्रेमी लोगो ने किया। इस प्रकार मार्टिन लूथर ने आजीवन पादरी रहकर धार्मिक अन्धविश्वासो से लोगो को बचाया।

वास्तव मे तत्त्वनिष्ठ साधु की वाणी मे वह बल होता है कि लोग अन्ध-विश्वासो मे नही फँसते।

आचार्य शकर की जगह और कोई शुष्क तत्त्ववादी होता तो चाण्डाल की खोपडी फुडवा देता, किन्तु पूर्वाग्रह को न छोडता, न सत्य तत्त्व को क्रियान्वित करता। तत्त्वनिष्ठ पुरुष मे यह विशेषता होती है कि वह सत्य को शीघ्र अपना लेता है।

तत्त्वज्ञानी आन्तरिक एवं शाश्वत सौन्दर्य को देखता है

तत्त्वज्ञान से विहीन साधारण जन ससार की सभी वस्तुओ—देह, गेह, खाद्य पेय आदि—के बाह्य सौन्दर्य एव चमक-दमक को देखकर प्रसन्न होता है, उसमे आसक्त हो जाता है, परन्तु तत्त्वद्रष्टा पुरुष बाह्य सौन्दर्य नही देखता, वह वस्तु के आन्तरिक सौन्दर्य, सुन्दर स्वभाव, सुन्दर के साथ सत्य एव शिव की शोभा को देखता है। साँप और मोर वाहर से कितने सुन्दर दिखते है, मगर उनकी प्रकृति मे सुन्दरता नही है, उनके अन्तर् मे उज्ज्वलता नही है। वगुला और हस दोनो ही वाहर से तो श्वेत एव स्वच्छ लगते हैं, अन्दर से दोनो के स्वभाव के सौन्दर्य मे रात-दिन का अन्तर है। कोयल और कौआ दोनो एक-से काले हैं, दोनो की आकृति भी प्राय एक-सी मिलती है। परन्तु दोनो की वाणी और प्रकृति मे महान अन्तर होता है। तत्त्वद्रष्टा वस्तु के आन्तरिक सौन्दर्य को देखता है, और तत्त्वविमुख देखता है—वाह्य रूप-रग को जिसके कारण वह बहुत-सी बार धोखा खा जाता है।

बौद्ध ग्रन्थो मे वर्णन है—मगध सम्राट विम्विसार[1] तथागत बुद्ध के स्वागत की तैयारियाँ करा रहे थे। तथागत बुद्ध लोकयश को यथा उच्च-नीच के भेद को नि सार बताते थे। जीव मात्र परस्पर समता, सहयोग और शुचिता से सुखपूर्वक जीवन विताएँ। वे छोटे वनकर रहना पसन्द करते थे, इसलिए राजकीय अतिथि होते हुए भी उन्होंने राजभवन की अपेक्षा वेणुवन मे निवास करना पसन्द किया।

आज एक सामान्य परिचारिका से लेकर मगधनरेश तक सुसज्जित होकर तैयार थे उनके स्वागत के लिए, सिर्फ मगध सम्राज्ञी क्षेमा अव तक तैयार न थी, वह अन्यमनस्क थी, अन्त पुर के स्वाध्याय कक्ष मे बैठी आचार्य धर्मपाल का जीवन दर्शन पढ रही थी। तथागत बुद्ध के परम निष्ठावान शिष्य सागलनरेश की पुत्री क्षेमा के अन्त करण मे तथागत के प्रति उपेक्षा भाव खटकने वाला था। स्वय नरेश ने उपस्थित होकर कहा—"प्रियतमे! सारा राजप्रासाद तथागत की अगवानी के लिए तैयार है, लेकिन तुमने अभी तक परिधान भी नही वदले। राजकुल के अतिथि की अवमानना अच्छी नही, उठो, स्वागत हेतु शीघ्र तैयार हो जाओ।"

महारानी क्षेमा ने करवट के साथ पुस्तक का पृष्ठ वदलते हुए कहा—"जिस व्यक्ति के लिए ससार और सौन्दर्य नि सार हो, उस व्यक्ति के सम्मुख जाकर ससारी मानव क्या करे? वहाँ जाने पर यही प्रवचन सुनने को मिलेगा—यह ससार भ्रम

---

१ उस समय विम्बसार (श्रेणिक) राजा वौद्धधर्मानुयायी थे। —सम्पादक

वैष्णव भक्त नरसिंह मेहता ने एक कुत्ते को अपनी बनाई हुई रोटियो मे से एक सूखी रोटी मुंह मे दबाकर ले जाते हुए देखा तो वे उसके पीछे दौडे घी की हडिया लेकर। पुकारा—"अरे भगवान ! मुझे क्या पता था, आप इतने भूखे है। पर यह सूखी रोटी आपके गले मे अटक जायगी, जरा घी से चुपड तो लेने दो।" कहते है—जहाँ कुत्ता रुका, नरसिंह मेहता ने वह रोटी घी से चुपडकर उसके सामने धर दी। नरसिंह मेहता की पारदर्शी दृष्टि कुत्ते मे भी भगवान को देख रही थी। **'शुनि चेव श्वपाके च पण्डिता. समर्दाशन.'** (कुत्ते और श्वपाक—चाण्डाल मे तत्त्वज्ञ पण्डित समदर्शी होते हैं), यह उक्ति यहाँ चरितार्थ हो रही थी और भगवान महावीर को **'एगे आया'** की दृष्टि भी।

परमार्थी तत्त्वनिष्ठ साधक अपने अधिकारो के लिए पुकार नही करता, वह अपने कर्त्तव्य और दायित्व को निभाता है, **'सियाराम-मय सब जग जानी'** का भावदीप उसके तत्त्वपरायण हृदय मे जगमगाता रहता है। स्वार्थ उसके पास ही नही फटकता। वह परमार्थ मे असीम आनन्द मानता है, दु खो और कष्टो की भी परवाह नही करता।

हवाई द्वीप की सरकार ने मोलोकाई नामक एक छोटे से टापू पर कोढियो को वसा दिया था। कोढ से पीडितो को समस्त समाज से पृथक इस उत्तरद्वीप मे निर्वासित करने के वाद वहाँ पहुँचे हुए व्यक्ति का शेष सारे ससार से सम्पर्क टूट जाता था।

तत्त्वज्ञ सत फादर डेमियन को इस वात का पता चला तो उन्होने उन्ही निर्वासित कोढियो के बीच जाकर रहने की अपनी योजना बनाई। उनके हितैषीजन इसे देख सिहर उठे, उन्होने वहाँ जाकर रहने की योजना को जानबूझकर आग मे कूदना वताया और उन्हें मना किया। लेकिन फादर डेमियन तो तत्त्वद्रष्टा सन्त थे, प्राणि-मात्र के प्रति उनकी आत्मीयता थी। उन्होने कहा—"सरकार ने तो जनसुरक्षा की दृष्टि से उन्हे अलग वसाकर अपने कर्तव्य का पालन किया है, लेकिन हम भी उन्हे उपेक्षा की दृष्टि से देखें, तो यह अनैतिकता होगी। वे वेचारे शरीर के रुग्ण हैं तो क्या उन्हे अपनी आत्मा की दिव्यता जगाने का भी अवसर नही दिया जाना चाहिए ? वे भी प्रभु के प्रिय वच्चे हैं। उन्हे हम शारीरिक सुविधाएँ न दे सकें तो क्या हृदय का प्यार भी न दें। और प्राणो के चले जाने का भय क्यो हो, जवकि हमने परमात्मा के प्रति अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया है।"

और प्रसन्नता से वह चल पडे मोलोकाई टापू की ओर। हितैषियो की आँखो मे आँसू थे, हृदय भारी था, किन्तु शुभकामनाओ से लवालव भरा हुआ।

सन्त फादर डेमियन सिर्फ तैंतीस वर्ष की उम्र मे चले जा रहे थे कोढियो के ससार मे आग से खेलने। वे पहुँचे तो देखा—मोलोकाई द्वीप ऐसी जगह है, जहाँ एक ओर ऊँचे-ऊंचे पर्वत हैं, दूसरी ओर अथाह समुद्र है। वीच मे थोडी-सी जगह है,

जहाँ ८०० चलते-फिरते निर्जीव से शरीर रह रहे हैं। न उनमे आशा की चमक थी, न उत्साह की लहर। फादर डेमियन वहाँ पहुँचे तो १६०० भावहीन आँखें उनकी ओर उठी—आश्चर्य भाव से कि आगन्तुक कोढी नही है, फिर यहाँ क्यो आया है।

फादर डेमियन ने उन्हे शब्दो से नही, अपने कार्यों और व्यवहारो के द्वारा शीघ्र ही उनके दिमागो मे यह बात बिठा दी कि वह उनकी भलाई के लिए उनके जीवन में दु ख बँटाने तथा सुख का सचार करने आया है। उन्हे यह भरोसा हो गया कि आगन्तुक उन्हे हृदय से प्यार करने आया है। फादर के प्यार ने कुछ ही दिनो मे उन निष्प्राण-से मानवो मे प्राण डाल दिये, उनके उदास चेहरे मुस्कराने लगे। साथ ही उन्हे ईश्वरीय प्रेम की अनुभूति भी करा दी, उनकी आत्मा मे दिव्यचेतना भी प्रगट कर दी। उनके मन मे जो हीनता की भावना थी, अपने आपको दण्डित और पापी मानते थे, वे सब फादर ने उनके जीवन मे आत्मगौरव की भावना भरकर काफूर कर दी। कोढियो का मन स्वर्गीय सुख से सराबोर हो उठा।

मोलोकाई द्वीप एक आध्यात्मिक द्वीप बन गया। वहाँ के लोगो में आत्मशक्ति प्रगट हो गई। वहाँ पर आवास, अन्न, जल, विद्यालय आदि की सुन्दर व्यवस्था भी फादर ने की। प्रार्थना-गृह भी बनाया, जहाँ बैठकर सभी प्रतिदिन प्रार्थना करते थे और प्रवचन भी सुनते थे। सच्चे इन्द्रियजयी की तरह तत्त्वनिष्ठ फादर डेमियन ने बारह वर्षों तक अम्लान भाव से परमात्म-भक्ति समझकर कोढियो की सेवा की और उन्हे उनके एक सच्चे साथी तथा प्रभुभक्त होने का अनुभव करा दिया।

और एक दिन इस तत्त्वपरायण सुसाधु ने प्रसन्न चित्त से अपना पार्थिव शरीर छोड दिया।

ऐसे तत्त्वपरायण सुसाधु के जीवन को भला कौन उच्च कोटि का न कहेगा? परन्तु इस प्रकार का उच्चकोटि का जीवन उनकी तत्त्वनिष्ठा से ही बन पाया, अन्यथा, कौन इस प्रकार का साहस करता?

तत्त्वनिष्ठ साधु दूसरो को भी तत्त्व समझाते है

तत्त्वनिष्ठ सुसाधु मस्तिष्क को पूर्वाग्रह, राग-द्वेष या पक्षपात से दूर रखकर सोचते हैं और तदनुसार निष्पक्ष व्यवहार करते हैं, इस कारण उनका तत्त्वज्ञान बिना बोले या समझाये, सिर्फ उनके तत्त्वपरक आचरण से ही दूसरों को मिल जाता है और वे प्रतिबुद्ध होकर अनुकूल बन जाते हैं।

आर्य स्थूलभद्रजी के दो तत्त्वनिष्ठ शिष्य थे—आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ति। आर्य महागिरि ने अनेक शिष्य बनाये, उन्हे शास्त्रीय वाचना दी और [illegible] वृद्ध हो जाने पर अपने गच्छ का भार आर्य सुहस्ति को सौंप दिया। [illegible] [illegible] [illegible]

एक बार आर्य महागिरि पाटलिपुत्र पधारे। आर्य सुहस्ति ने वहाँ वसुभूति सेठ को प्रतिबोध देकर जीवादि तत्त्वो का ज्ञाता श्रावक बनाया। वह जीवादि तत्त्वज्ञ श्रावक आर्य सुहस्ति की धर्मदेशना के अनुसार अपने कुटुम्ब को बोध देने लगा, परन्तु कोई भी तत्त्वबोध प्राप्त नही करता। सेठ ने आर्य सुहस्ति से प्रार्थना की—"गुरुदेव! मेरा प्रतिबोध मेरे परिवार को लगता नही, अत आप पधारकर प्रतिबोध दें तो अच्छा हो, आप विशिष्ट तत्त्वनिष्ठ सुसाधु हैं।" आर्य सुहस्ति सेठ के यहाँ पधारकर धर्मदेशना दे रहे थे। इसी दरम्यान आर्य महागिरि भी वहाँ भिक्षा के लिए पधारे। उन्हें देखते ही आर्य सुहस्ति ने खडे होकर नमस्कार किया। यह देखकर सेठ बोला—"गुरुदेव! आप तो जगद्वन्दनीय है, आपके भी कोई गुरु है, जिन्हे आप नमस्कार कर रहे हैं?"

आर्य सुहस्ति ने कहा—"ये आचार्यश्री मेरे तत्त्वबोधदाता गुरु हैं। मैं तो इनकी चरणरज भी शिरसा वन्द्य मानता हूँ। ये महातिमहान् त्यागी हैं, सर्वथा उपेक्षित फैंकने योग्य शुद्ध आहार ये ग्रहण करते हैं। इनमे तत्त्वबोध देने की प्रबल शक्ति है।" इस प्रकार गुणगान करने से सेठ का सारा परिवार शीघ्र ही प्रतिबोधित हो गया। सेठ ने भी आर्य महागिरि के प्रति महाभक्तिवान् होकर अपने परिवार को कह दिया—"जब भी ये गुरुदेव भिक्षा के लिए पधारें, तब फैंकने योग्य आहार कहकर इन्हे आहार-पानी देना।"

दूसरे दिन आर्य महागिरि भिक्षा के लिए पधारे। सेठ के परिवार ने अत्यन्त आग्रहपूर्वक, यह आहार फैंकने योग्य है यो कहकर उन्हे भक्तिभाव से आहार देना चाहा। परन्तु आचार्य ने उपयोग लगाकर देखा तो उस आहार को अकल्प्य व सदोष जानकर ग्रहण न किया, आहार लिये बिना ही अपने धर्मस्थान मे वापिस लौट गये। वे आर्य सुहस्ति को मधुर उपालम्भ देने लगे—"वत्स! तुमने मेरा विनय तथा गुणगान किया, तथा वसुभूति सेठ के परिवार को उपदेश दिया, इससे उसका परिवार भक्तिवश होकर भिक्षा मे मुझे अशुद्ध आहार देने लगा। तुमने यह अच्छा नही किया, वत्स!" यह सुनते ही तत्त्वनिष्ठ आर्य सुहस्ति ने आर्य महागिरि के चरणो मे नमन करके अपने अपराध के लिए क्षमा मांगी और भविष्य मे ऐसा न करने का वचन दिया।

यह है तत्त्वपरायण सुसाधुओ के जीवन व्यवहार का निदर्शन! जहाँ एक भी तत्त्वपरायण सुसाधु रहता है, वहाँ जनता मे विचार-जागृति आ जाती है। उसके निमित्त से अनेक लोग तत्त्वज्ञ बन जाते हैं, प्रतिबुद्ध हो जाते हैं और धर्म-प्रभावना के अनेक सत्कार्य करते हैं। सम्प्रति राजा ने आर्य सुहस्ति की प्रेरणा से पूर्वजन्म मे मुनि-दीक्षा ग्रहण की थी, उसके प्रभाव से वह इस जन्म मे उज्जयिनी का सम्राट् बना। उसने आचार्यश्री के प्रति उपकृत भावना धर्म-प्रभावना करने हेतु आन्ध्र आदि अनार्य देशो मे साधुवेशी सुभट भेजकर वहाँ की जनता को भद्र और साधुओ के प्रति भक्तिशील बना दिया। उसके बाद सम्प्रति राजा की प्रार्थना पर आर्य सुहस्ति अपने

शिष्यों सहित उन अनार्य, किन्तु सुलभ बोधि जनपदो में पधारे और अनेक भव्य मानवो को तत्त्वबोध दिया।

सच्चे तत्त्वनिष्ठ सुसाधु की पहचान

बहुधा तत्त्वनिष्ठ साधु की पहचान बडी कठिन होती है। जो आडम्बरी, वाचाल और प्रपची होते है, वे तत्त्वज्ञानी होने का दावा करते हैं और भोले-भाले लोग उन्हे तत्त्वज्ञ और पहुँचे हुए महात्मा समझ लेते है। परन्तु सच्चा तत्त्वनिष्ठ प्रपंची और आडम्बरी नही होता, वह विज्ञापन नही करता। वह सामान्य से सामान्य कार्य मे भी तत्त्वदृष्टिपरायण होता है। एक महात्मा को बगीचे मे सफाई करते देखकर कुछ दर्शनार्थी सत्सगी यह कहकर वापस लौटने लगे कि आये थे सत्सग करने, किन्तु आपको कार्य-व्यस्त देखकर लौट रहे हैं।

महात्मा ने कहा—"केवल वाणी से ही बोध नही मिलता, क्रिया से भी तत्त्व-बोध मिलता है। जैसे अभी मैं सफाई कर रहा था। इसके पीछे तत्त्वबोध यह है कि मनोभूमि मे जो व्यर्थ का कूडा-कर्कट इकट्ठा हो गया है, उसे साफ करके बाहर निकाल दो, तभी सद्विचारो के पौधे लग सकते है। इस तरह ससार के प्रत्येक पदार्थ से तत्त्वबोध मिल सकता है।" सच्चा तत्त्वनिष्ठ पुरुष अनासक्त कर्मयोग का, पचेन्द्रिय के विषयो मे अनासक्तिपूर्वक उपयोग का, सुख-शान्ति एव सौन्दर्य आदि का सच्चा तत्त्व जानता है और उसके अनुसार व्यवहार भी करता है। उसकी अनुभवी आँखे दिव्य तत्त्वज्ञान मे लगी रहती है। यही उसकी पहचान है। तत्त्वपरायण की पहचान के लिए एक उदाहरण ले ले—

एक धार्मिक व्यक्ति गुरु-दीक्षा लेना चाहता था। सच्चा तत्त्वज्ञानी हो, उसे गुरु बनाना था। गुरु बनने को तो अनेको साधु तैयार थे, पर वह पहचान नहीं कर पा रहा था कि कौन तत्त्वनिष्ठ गुरु है। उसे चिन्तित देखकर उसकी पत्नी ने चिन्ता का कारण पूछा। उसने कहा—"मैं तत्त्वज्ञानी गुरु की तलाश मे हूँ, परन्तु कौन तत्त्वज्ञानी सुसाधु है, उसकी पहचान नही कर पा रहा हूँ।" पत्नी सुनते ही बोली—"यह कौन कठिन बात है, इसकी पहचान मैं कर दूंगी। जिस व्यक्ति को आप गुरु दीक्षा देने बुलाएँ उसे घर बुला लाया करें। मैं उनकी परीक्षा करके बतला दूंगी कि कौन [illegible] गुरु बनने के लिए उपयुक्त है।" पति बहुत ही प्रसन्न हुआ और प्रतिदिन [illegible] तत्त्वज्ञानी को जो गुरु बनने की इच्छा से बुलाये जाते थे, घर ले आता था।

[illegible] पत्नी ने [illegible] में झाडू बन्द कर रखा था, जो भी साधु सन्यासी या महात्मा आता, उसी से पूछती—"भगवन्! यह झाडू ही है न?"

[illegible] सुनते ही बहुत से साधु बिगड़ [illegible], कई उपालम्भ देने लगे, कई समझाने लगे कि यह [illegible] नहीं, [illegible], [illegible]

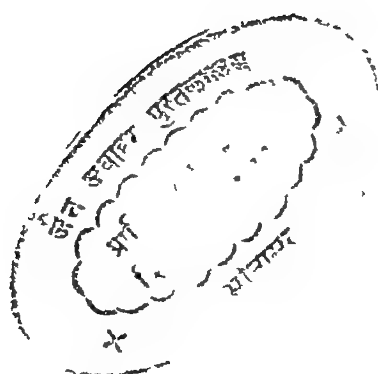
[illegible]

मूर्ख कबूतर कहेगा इसे ? स्त्री अपमानजनक बातें सुनकर उनसे झगड पडती, किसी की बात न मानती, उसके दुराग्रह पर नाराज होकर लड-झगडकर वे चले जाते।

एक दिन एक महात्मा आये तो स्त्री के पूछने पर कि महात्माजी ! यह कबूतर ही है न ? जरा भी नाराज न हुए। बोले—बेटी ! यह कबूतर नही कौआ है। जब वह पूर्ववत् कबूतर मनवाने के लिए अड गई, बिगड गई। तब भी वे न क्रुद्ध हुए, न घबराये। शान्ति से प्रेमपूर्वक समझाने लगे कि कौए और कबूतर के ये लक्षण होते हैं। तुम ही विचारकर देखो इन बताये हुए लक्षणो मे से किनसे किसका लक्षण, चाल-ढाल, ढग आदि मिलता है। फिर भी समझ मे न आया हो तो मैं तुम्हे पक्षियो के झुडो में एक-एक करके ले जाऊँगा और दिखलाऊँगा कि यह कौए के समान है या कबूतर के ? बात सही थी, समझाने का ढग भी अच्छा था, फिर भी आग्रहवश वह न मानी तो धैर्य न खोया, विविध प्रमाणो से उसे समझाते रहे। स्त्री ने पति को सकेत किया कि ये ही सच्चे तत्त्वपरायण सुसाधु गुरु बनने योग्य हैं। इनसे गुरु-दीक्षा ले लें। बन्धुओ ! इसीलिए महर्षि गौतम ने सुसाधु की पहिचान बताई है—

"सुसाहुणो तत्तपरा हवति।"





४७

उग्रतप की शोभा : क्षान्ति—१

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं तपस्वी-जीवन की शोभा के सम्बन्ध मे चर्चा करूँगा। वैसे तो तपस्या ही मानव-जीवन की शोभा मे चार चाँद लगाने वाली है, परन्तु तपस्या मे जैसे जीवन को तपाना पडता है, मन और इच्छाओ को तपाकर वृत्तियो को परिष्कृत करना पड़ता है, उसमे शरीर और मन के तपने के साथ-साथ दिमाग भी वहुधा तप जाया करता है, उग्र तपस्वी के जीवन के लिए यह शोभास्पद नही है। इसीलिए उग्र तपस्वी जीवन के लिए क्या शोभास्पद है ? इसे महर्षि गौतम इस जीवन सूत्र द्वारा वताते हैं—

"सोहा भवे उग्गतवस्स खंती"

"उग्र तप की या उग्रतपस्वी की शोभा क्षमा होती है।"

गौतमकुलक का यह उन्तालीसवाँ जीवनसूत्र है। अव हम इस पर विविध पहलुओ से विचार करना चाहते हैं।

तप क्या है, क्या नहीं ?

सर्वप्रथम आपको यह विचार कर लेना है कि तप किसे कहते हैं ? उग्रतप की गहराई समझने के लिए हमे तप के लक्षणो की ओर ध्यान देना होगा। तप का लक्षण स्थानाग सूत्र (ठा० ५ उ० १) की टीका मे इस प्रकार किया गया है—

रस-रुधिर-मांस-मेदोऽस्थिमज्जाशुक्राण्यनेन तप्यन्ते, कर्माणि चाशुभानि इत्यतस्तपो नाम निरुक्तम् ।

—जिससे तप का कर्ता अपने रस, रक्त, मांस, चर्वी, हड्डी, मज्जा, वीर्य इन सात धातुओं को तपाता है, या अशुभ कर्मों को तपाता है। उसका नाम तप है।

सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ मे तप का लक्षण वताया है—

कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तप ।

कर्मक्षय के लिए जो सम्यग्दर्शनपूर्वक तपा जाता है या शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि को तपाया जाता है, उसे तप कहते हैं।

कोई व्यक्ति मक्खन मे से घी निकालना चाहे तो वह क्या करता है ? वह सर्वप्रथम कचरा, मैल या छाछ के अश को अलग करता है, तत्पश्चात् उस बर्तन को आँच पर रखकर मक्खन को तपाता है, उसे पिघलाता है, और घी निकालता है। इसी प्रकार जीवनरूपी मक्खन मे से कषाय, काम, मोह, विषय-वासना एव तज्जनित कर्मों का मैल निकालने के लिए उपवास आदि तपो की आँच से शरीर, इन्द्रियाँ और मनरूपी बर्तनो को तपाया जाता है। इस प्रकार शरीर आदि को तपाने से विषय-कषाय, मोह, काम आदि विकारो तथा तज्जनित कर्मों का कचरा-मैल अलग हो जाता है। आत्मा शुद्ध, तेजस्वी, बलवान और गुण समृद्ध हो जाता है।

(निष्कर्ष यह है कि तप वह है, जिसके द्वारा बाह्य और आभ्यन्तर अर्थात् शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकार के कुसस्कारो या विकारो को विविध क्रियाओ द्वारा तपाकर निकाला जाय।)

सस्कार शोधन : तप

एक होते हैं—बाह्य कुसस्कार (दुष्कर्म), जो स्थूल शरीर से सम्बन्धित हैं। बाह्य कुसस्कार शरीर और इन्द्रियो से बनते हैं। शरीर जब बुरे कामो मे (फिर वह चाहे हिंसा हो, झूठ हो, चौर्यकर्म हो, बेईमानी हो, अब्रह्मचर्य हो या ममतापूर्वक सग्रह वृत्ति हो) प्रवृत्त होता है, तो उनसे जो कर्मबन्ध होते हैं, उन्हे बाह्य तप द्वारा तपाकर रोका जाता है या नष्ट किया जाता है। इसी प्रकार आभ्यन्तर कुसस्कार सूक्ष्म शरीर (मन, बुद्धि, हृदय आदि) से सम्बन्धित है, जिससे विविध प्रकार की बुरी इच्छाएँ, बुरे (आर्त्त-रौद्रध्यानयुक्त) विचार, कामनाएँ, वासनाएँ जागृत होती हैं, उनसे भी राग-द्वेषवश कर्मबन्ध होते हैं, उन्हें आभ्यन्तर तप द्वारा तपाकर रोका जाता है या नष्ट किया जाता है। सक्षेप मे—एक बाह्य तप है, जिसका प्रयोजन है बाह्य क्षेत्र के कुसस्कारों का मूलोच्छेद करना और दूसरा है—आभ्यन्तर तप, जिसका प्रयोजन है, आभ्यन्तर क्षेत्रवर्ती कुसस्कारो को नष्ट करना। सस्कार शुद्धि तप का प्रथम प्रयोजन है।

वास्तव मे देखा जाय तो यह सारा तपन आत्मा को अपने शुद्ध रूप मे निखारने के लिए है। इसीलिए नियमसार मे तप का लक्षण बतलाया गया है—

"प्रसिद्धशुद्धकारण परमात्मतत्त्वे सदान्तर्मुखतया प्रतपनं यत्तत्तपः।"
"आत्मानमात्मन्यात्मना सधत्ते, इत्यध्यात्म तपनम्॥"

प्रसिद्ध शुद्ध कारण परमात्मतत्त्व मे सदा अन्तर्मुख रहने मे जो प्रतपन (मन, इन्द्रियो, बुद्धि, हृदय या शरीर को) होता है, वह तप है।

अथवा आत्मा को आत्मा मे धारण (टिका) कर रखता है जोडे रखता है, वह अध्यात्म है, और इस प्रकार के अध्यात्मभाव मे सतत (मन, बुद्धि, चित्त, इन्द्रियाँ, शरीर आदि को) रखना ही तप है।

चूँकि अपनी आत्मा को शुद्ध आत्मतत्त्व या परमात्मतत्त्व मे स्थिर रखना, जरा भी इधर-उधर न होने देना, बहुत बडा तप है, इसलिए व्यवहारदृष्टि से धवला मे तप का लक्षण यो किया गया है—

"तिण्णं रयणाणमाविब्भावट्ठमिच्छाणिरोहो तवो।"

तीनो रत्नो (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्चारित्र) को प्रगट करने के लिए (इष्टानिष्ट इन्द्रियविषयो तथा कषायो के) इच्छानिरोध को तप करते हैं।

प्रवचनसार मे भी इसी आशय का लक्षण दिया गया है कि भावो मे समस्त इच्छाओ का त्याग करके स्व-स्वरूप मे प्रतपन करना (मन, इन्द्रिय, काय आदि का सन्निरोध करना) तप है।

निष्कर्ष यह है कि आत्मप्रतपन यानी आत्मतेज या आत्मशक्ति को जाग्रत करना ही तप है। आत्मशक्ति के जाग जाने पर साधक मन, वाणी, काया, इन्द्रियो, बुद्धि आदि द्वारा उत्पन्न सस्कारो को ललकार सके, उनके (कर्मों के) साथ युद्ध ठान कर उनकी शक्तियो को उधर जाने से रोककर शुद्ध आत्मस्वरूप मे लगा सके, यही तप का उद्देश्य है।

संस्कारो (शुभाशुभ कर्मों) को ललकारने और उनके साथ युद्ध करने का तात्पर्य है—प्रतिकूल वातावरण मे जाकर तप साधना करना, अथवा इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, शरीर आदि प्रतिकूल पथ पर-—विपरीत प्रवाह पर जा रहे हो तो उन्हे रोकना और शुद्ध धर्म के अनुकूल प्रवाह या पथ की ओर द्वादशविध बाह्याभ्यन्तर तपो से मोडना ही तप है, यही इच्छा निरोध है।

मोक्ष पचाशत् मे यही वात मन-वचन-काया से होने वाले तप का वर्गीकरण करके कही गई है—

तस्माद् वीर्यं समुद्रेकादिच्छानिरोधस्तपो विदुः।
वाह्यं वाक्कायसम्भूतमान्तरं मानसं स्मृतम्॥४८॥

—विविध तपस्या द्वारा शक्ति का उद्रेक होने से इच्छानिरोध को तप कहते है जिसमे वाह्य तप वाणी और काया से होता है और आभ्यन्तर होता है मन से।

यद्यपि तप साधना का प्रारम्भ अनुकूल वातावरण मे करके आत्म-शक्ति मे वृद्धि कर ली जाती है, तव इसी शक्ति के आधार पर प्रतिकूल वातावरण का सामना किया जाता है।

इसलिए तप का प्रयोजन है—सस्कारो (शुभाशुभकर्मजनित) के साथ युद्ध ठानकर उनका मूलोच्छेद करना। तप के दो भेद भी इसी उद्देश्य से किये गये हैं। वाह्य तप मे उन सस्कारो का विनाश किया जाता है जो कि शारीरिक कष्ट, दुख, विपत्ति या सकट आ पडने पर व्यक्ति को समता और शान्ति मे विचलित कर देते है तथा अन्तरग तप मे उन सस्कारो का विच्छेद किया जाता है, जो मानव के अन्तर् मे विषयादि की इच्छाओ और कषायो के रूप मे आविर्भूत होकर उसे विविध अपराध

या दोष करने के लिए प्रेरित या प्रवृत्त करते रहते हैं। इसलिए बाह्य तप मे कुछ ऐसी अनशन (उपवास आदि), ऊनोदरी आदि क्रियाएँ की जाती हैं, जिनसे शरीर को ताप (सताप) पहुँचे, परन्तु उस सताप को समभाव से सहने की शक्ति तप साधक मे आ जाए तथा अन्तरग तप मे कुछ ऐसी मानसिक प्रवृत्ति (भावनाएँ, सकल्प आदि) के साथ-साथ शारीरिक क्रियाएँ की जाती हैं, जिनसे विविध इच्छाओ, वासनाओ तथा कषायो को ताप पहुँचे और उससे इनका दमन-शमन एव शोधन हो।

मतलब यह है कि तप साधक अनशन (उपवासादि), ऊनोदरी, वृत्तिपरिसख्यान, रस-परित्याग, विविक्तशय्यासन (या प्रतिसलीनता) एव कायक्लेश, इन ६ बाह्यतपो के द्वारा तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग इन ६ आभ्यन्तर तपो के द्वारा शरीर मन और वचन की शक्ति को न छिपाता हुआ पूरे उत्साह, समता और शान्ति के साथ निर्भय होकर आगे बढता जाता है और कर्मों के साथ युद्ध करके विजय प्राप्त करता है, अपनी आत्मा को शुद्ध करता है।

यद्यपि इन तपस्याओ मे कष्ट-सहन तो है ही, चाहे शारीरिक कष्ट-सहन हो, चाहे मानसिक कष्ट-सहन, वह अवश्य है, पर यह कष्ट दूसरो के द्वारा लादा हुआ नही होता, तप साधक स्वेच्छा से इन कष्टो को आमत्रित करता है और अपनी आत्मशक्ति, मनोबल, सकल्प शक्ति बढाता है। वह अपने शरीर और मन को मोक्ष (कर्ममुक्ति या रत्नत्रय द्वारा समस्त कर्म मुक्ति) के उत्पादनार्थ लगाए हुए यत्रो से अधिक नही समझता। यत्र कदाचित् बिगडता है, चलते-चलते रुक जाता है, या मन्द चलता है तो यत्र के मालिक को इतनी चिन्ता नही होती, वह इसे दुरुस्त करा लेता है, इसी प्रकार शरीर और मन के यत्र के बिगडने या मन्द पडने की चिन्ता तप साधक को नही होती, वह जानता है कि तप से ये यत्र शुद्ध होकर अधिक काम करेंगे, अन्यथा इनमे कूडा-कर्कट, कीटा, मैल आदि आ जाएगा और कर्मक्षयरूप उत्पादन को ठप्प कर देगा।

शरीर की आवश्यकताओ पर विजय प्राप्त करना या उन्हें रोकना बाह्य तप के द्वारा होता है, जबकि मन की आवश्यकताओ या इच्छाओ का निरोध करना आभ्यन्तर तप से होता है। दोनो ही प्रकार के तपो द्वारा शारीरिक, मानसिक शक्तियो मे वृद्धि होने से कर्मो से समभावपूर्वक जूझने का कार्य आसान हो जाता है।

आज तप का नाम लेते ही लोग समझ लेते हैं कि उपवास करना ही एक मात्र तप है, किन्तु भगवान महावीर ने केवल भूखे रहने और उसके पीछे कोई उद्देश्य, प्रयोजन, चिन्तन, सम्यग्दर्शन आदि न रहे तो उसे वास्तविक ज्ञानमय तप नही कहा है, उसे बालतप (अज्ञान तप) कहा है।[1]

मान लो, उपवास के सिवाय अन्य बाह्यतप या प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर तप का भी अनुष्ठान किया, लेकिन अगर उस तप के पीछे कोई प्रसिद्धि, आडम्बर,

---

१ देखें भगवती सूत्र एव औपपातिक सूत्र।

सत्कार, पूजा, प्रतिष्ठा या नामना की कामना है, यशोलिप्सा है, अथवा अन्य कोई धन साधन, पद, या सत्ता आदि की इच्छा है या इहलौकिक अथवा पारलौकिक विषय सुखभोग की इच्छा है, भोग के उत्तम साधनो या स्वर्गादि सुखो की लालसा है अथवा वैसा तप करके जल्दी से जल्दी शरीर को समाप्त कर देने की इच्छा है, अथवा शरीर को स्वस्थ एव सशक्त बनाकर उससे वैषयिक सुखोपभोग की या दीर्घायु बनने की लिप्सा है। ये और इस प्रकार की कोई भी लिप्सा तप के पीछे है तो अध्यात्म की दृष्टि मे वह तप सच्चा तप नही है। देखिये तप के सम्बन्ध मे भगवान महावीर का सम्यक् दृष्टिकोण—

नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।
नो कित्तिवन्नसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा॥

इहलौकिक सुखभोग या किसी पदार्थ या सिद्धि आदि की वाञ्छा से तप न करे। न पारलौकिक सुख-भोगादि की इच्छा से तप करे, पूजा, सत्कार, सम्मान, कीर्ति, प्रसिद्धि, वाहवाही, प्रशसा या नामवरी की दृष्टि से तप न करे। किन्तु एक मात्र निर्जरा (कर्मक्षय) के हेतु से तप की साधना करे।

एक आचार्य ने तपस्या का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए कहा है—

निर्दोषं निर्निदानाढ्य तन्निर्जरा प्रयोजनम्।
चित्तोत्साहेन सद्‌बुद्ध्या तपनीय तपः शुभम्॥

—दोषरहित, निदान (सुखादि वाञ्छा का नियाणा) से रहित, सिर्फ निर्जरा के प्रयोजन से, चित्त के उत्साह के साथ सद्‌बुद्धि तथा विवेकपूर्वक शुभ तप करना चाहिए।

तपस्या के उद्देश्य को न समझकर जो लोग बिना विवेक के केवल प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा आदि की दृष्टि से मूढतावश दुराग्रहपूर्वक तप करने जाते है, वे गीता की भाषा मे तामसिक या राजसिक तप करते हैं। गीता तो स्पष्ट कहती है—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्त, राजसं चलमध्रुवम्॥

—(जो मूढतावश, दुराग्रहपूर्वक, केवल अपने को उत्पीडित करने, शरीर को तोडफोड कर समाप्त कर देने की दृष्टि से या दूसरो को उखाडने या हैरान करने के अभिप्राय से तप किया जाता है वह **तामस तप** कहलाता है।)

(जो तप सत्कार सम्मान और पूजा, प्रतिष्ठा के लिए, दम्भ-दिखावा करके किया जाता है, वह **राजस तप** है, जोकि चचल और अस्थायी है।)

गीता मे जो सात्त्विक तप—(उद्देश्य युक्त—सकाम) बताया है, उसकी परिभाषा देखिये—

> श्रद्धया परमा तप्तं, तपस्तत्त्रिविधंनरैः ।
> अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥

किसी भी प्रकार की फलाकाक्षा (इहलौकिक, पारलौकिक सुखभोग-वाञ्छा आदि) के रखे विना जो व्यक्ति मानसिक, वाचिक, कायिक—त्रिविध तप करता है, वह **सात्त्विक तप** कहलाता है।

जव तप साधक सम्यग्ज्ञानयुक्त तपोभावना से सुसस्कृत होकर विषय-सुख-त्यागरूप अनशनादि तप करता है, तव सहज ही इन्द्रिय-दमन हो जाता है, उसकी इन्द्रियां विषयो की ओर दौडती नही हैं।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि तप जव आत्म-विशुद्धि के अभिप्राय से समाधि-पूर्वक किया जाता है, तव वह तपस्वी के लिए आनन्ददायक शान्तिप्रदायक मालूम होता है।

इसके अतिरिक्त तपस्या के साथ तप साधक की मानसिक शान्ति भग नही होनी चाहिए। जिस तप से मानसिक शान्ति भग हो जाती है, वह तप निरर्थक हो जाता है। परन्तु जो समभावी साधक इस लोक और परलोक के सुखो का अपेक्षा न करके कायक्लेश आदि अनेक प्रकार का तप करता है, उसका तप निर्मल होता है। साथ ही यह वात अवश्य ध्यान मे रखना है कि पाँचो इन्द्रियो के विषयो को तथा चारो कषायो को रोककर शुभध्यान की प्राप्ति के लिए जो अपनी आत्मा का चिन्तन करता है, उसके नियम से तप होता है।

उग्रतप दुःख का कारण—कितना है, कितना नही ?

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जव मनुष्य पहले वताया हुआ सच्चा तप भी जव अधिकाधिक मात्रा मे करने लगता है, यानी तप जव उग्र या घोर हो जाता है, तब शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि सबको दुःख होता है, ऐसी स्थिति मे वह उग्रतप सुख-शान्ति और समाधि का कारण, आत्मशुद्धि और चित्तशुद्धि का कारण कैसे हो सकता है ?

दीर्घतपस्वी भगवान् महावीर की दृष्टि से इस प्रश्न का समाधान यही है, जिस तप के साथ केवल देह-दमन होगा, आत्मा और शरीर का भेदविज्ञान, सम्यग्-दर्शन-ज्ञान नही होगा, उद्देश्य शुद्ध नही होगा, वह तप तप न रहकर ताप वन जाएगा, सतापकारक हो जाएगा। इसीलिए तपस्या के सम्बन्ध मे ज्ञानसार मे स्पष्ट निर्देश किया है—

> तदेव हि तप कार्यं दुर्ध्यान यत्र नो भवेत ।
> येन योगा न हीयन्ते, क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि वा ॥

—वही तप करना चाहिए, जिसके करने मे आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान .... हो, मन-वचन-काया से प्रवृत्ति करना दु शक्य न हो, इन्द्रियाँ बिलकुल क्षीण न हो जायँ।

यद्यपि तपस्या करने वाला साधक स्वेच्छा से ही करता है, परन्तु स्वेच्छा के साथ यदि अपनी मन समाधि का ध्यान नही रखकर शरीर को एकदम निढाल एवं निश्चेष्ट बना देता है, इन्द्रियो को तोडफोड या मार-पीटकर प्रवृत्ति करने से रोकता है, मन मे आर्त्तध्यान या रौद्रध्यान पैदा होता है, तो वह उग्र तप सुख-शान्तिकारक नही हो सकता। वह उग्रतप असमाधिकारी होने से बिलकुल हेय है। परन्तु जिस तप मे मन की समाधि भग न होती हो, साधक अपने आत्मस्वरूप या स्वाध्याय सेवा आदि मे इतना तल्लीन हो जाता है, कि उसे खाने-पीने की कभी मन में नही आती, न इन्द्रियो को कोई थकान महसूस होती है, मन मे भी कभी यह विचार नही आता कि कहाँ प्रत्याख्यान ले बैठा इतने उपवासो के ? या कहाँ मैंने जिम्मेवारी ले ली इसकी सेवा करने की ? या कहाँ मैं फँस गया इस तपस्या के चक्कर मे ? तो अच्छा नही हुआ ? इस प्रकार का आर्त्तध्यान या दूसरो को मारने-पीटने, सताने धोखा देने, परिग्रह बढाने आदि रौद्रध्यान के विचार कतई नही आते, तो ऐसा उग्र तप कभी असमाधिकारक नही हो सकता। ऐसा उग्र तप सम्यग्दर्शन एव ज्ञानपूर्वक होने से सच्चा है, सुख-शान्तिकारक है।

उग्रतप से शरीरादि को साधा जाय

यह ध्यान रहे कि तपस्या से शरीर, मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि आदि सबको साधना है, इन्हे मारना नही है। मारने और साधने मे बहुत अन्तर होता है। मारने मे तो शरीरादि पर रोप, द्वेप, घृणा आदि आने की सम्भावना है, और यदि रोप, द्वेप आदि मन मे आ गए या केवल हठाग्रह करके शरीरादि पर बलात्कार किया गया तो, वहाँ तप समाधि समाप्त हो जायगी। शरीरादि पर अत्याचार करना तप नही है, वह ताप है। शरीरादि को साधने के लिए तप साधक पहले अपनी आत्मा और शरीर के भेदविज्ञान को समझ लेता है, फिर स्वेच्छापूर्वक अपनी मस्ती से तपश्चरण आगे से आगे बढाता जाता है, अपनी आत्मसमाधि नही खोता। वही सच्चा उग्र तप है, जिसमे दु ख, क्लेश, आर्त्तध्यान आदि नही होते।

तप से शरीर, मन और इन्द्रियो को तपाकर इन्हे साधने की प्रक्रिया क्या है ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। तप से शरीर आदि को साधने का मतलब है—शरीरादि को बेकाबू होने से रोकना, उन्हे नियन्त्रण मे रखना या इन पर शासन करना, ताकि जिस समय जैसे चाहे वैसे ही रूप मे हमारे शरीर, मन, इन्द्रियाँ आदि रह सकें। सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, साधनो का अभाव, सकटो की बौछार जैसी कोई भी विकट परिस्थिति हो, समभावपूर्वक हमारे मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रियाँ आदि हमारे अनुचर बनकर रह सकें, विकट से विकट स्थिति मे हम सुख, सन्तोष व आनन्द

हसूस कर सकें। आप उस परिस्थिति के गुलाम नहीं,
ान-पान, वस्त्र तथा अन्य साधन मिले या न मिले
नोऽनुकूल न मिले, परन्तु तपस्या के कारण आपके शरीर और
यारी रहे कि आप उस समय मस्ती से, शान्ति से
रो-धोकर समय न काटें, अपितु, प्रसन्नता से
की इतनी तैयारी रहे कि प्रत्येक कष्ट, रोग,
कर सकें। जब तपस्या से शरीर और मन
तो साधक काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मनोविकारों
बनाकर खदेड सकेगा। जो अशुभ कर्म पहले बँधे हुए हैं,
शरीर और मन को तपाकर, इच्छा निरोध करके

तवसा धुणइ

तपस्या के प्राचीन (पहले बँधे हुए
और इन्द्रियों को तप द्वारा कैसे
दृष्टान्त लीजिए—

एक धनाढ्य सेठ की
विवाह योग्य हुआ तो किसी
दिया। दुर्दैव से लडका
भाग्य में पति का सुख
लिए अपने पीहर चली
ऐसा सोचकर वह
परायण और विवेकवान
भाँति समझता था।
इसे दुःखित करेगा तो
परिस्थिति असह्य हो
अतः अच्छा तो यह है
घर में लगा रहे

सेठ ने
सावित्री।
तू इतना
कुछ भी
ने कोई
कुल को

पाकर

पडने से उसमे गम्भीरता भी आती गई। घर और पडौस के सभी लोग उसे 'बहू जीजी' कहकर पुकारते थे। वह भी अपने अच्छे और उदार स्वभाव के कारण सबकी प्रिय हो गई, सबका पालन-पोषण माता की तरह करने लगी। श्वसुर की ओर से वह निश्चिन्त थी। खान-पान की सारी सुविधाएँ और सब प्रकार की आजादी उसे मिल ही गई थी। अत वह उत्साहपूर्वक अपने कार्यों मे जुटी रहती। धीरे-धीरे वह अपने वैधव्य का दु ख भूल गई।

यद्यपि सेठ ने दीर्घदृष्टि से सोचकर अपनी विधवा पुत्रवधू को सुन्दर ढंग से जीवन यापन करने की स्वतन्त्रता दी थी, परन्तु आप जानते हैं कि अत्यधिक सुख-सुविधाएँ, सरस स्वादिष्ट गरिष्ठ खान-पान और सब तरह की आजादी के साथ जीवन मे यदि तप, सयम और त्याग का नियन्त्रण न हो, जीवन को तप की तालीम देकर साधा न जाय तो उसके पतन का खतरा रहता है। विधवा युवती की उम्र भी अधिक नही थी फिर तप-सयम का नियन्त्रण न होने से कामोन्माद ने अपना रग जमाना शुरू कर दिया। प्रारम्भ मे तो वह सभल गई। पर जब उसकी उत्कटता छा जाने लगी तब उसने मन ही मन सोचा—कोई ऐसा उपाय किया जाय, जिससे कामवासना भी शान्त हो जाय और दोनो कुलो की आबरू भी न जाय। अगर यह बात कही फैल गई तो मेरे दोनो कुलो को दाग लगेगा, नीचा देखना पडेगा। अत बहतर यही कि घर मे ही ऐसा कोई उपाय किया जाय।

जब मनुष्य बुरी राह पर चलने को तैयार होता है तो उसकी बुद्धि कोई न कोई खोटा रास्ता भी खोज लेती है। सेठ की विधवा पुत्रवधू को भी अपने विचार को अमल मे लाने की युक्ति सूझ गई। उसने दूसरे ही दिन अपने बूढे श्वसुर से कहा—"पिताजी! अपना रसोइया बहुत बूढा हो गया है, उसे आँखो से भी कम दिखाई देता है, रसोई बनाने मे भी उसे दिक्कत होती है, अत आप कोई जवान रसोइया तलाश करके ले आइए। मैं आज से अपने पुराने रसोइये को छुट्टी दे रही हूँ।"

सेठ के बाल पक चुके थे। उसकी बुद्धि जीवन के कई उतार चढाव के, गम्भीर अनुभवो की आँच मे तपी हुई थी। वह पुत्रवधू की बात सुनते ही उसकी तह तक पहुँच गया। उसे डाँटने-फटकारने और धमकाने के बदले सेठ ने आत्मनिरीक्षण किया—'अहो! इसमे मेरी ही भूल है कि इसे इतनी सुख-सुविधाओ और साधनो की पूरी छूट तो दे दी, मगर इसके साथ ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि पर स्वैच्छिक अकुश रखने की—तप की तालीम न दे सका। अन्यथा, इसे ऐसा सोचने की नौबत ही न आती। अपनी भूल का प्रायश्चित्त मुझे ऐसा करना चाहिए, जिससे इसे भी तप की तालीम मिले और इसके मन से दुर्विचारो का सफाया हो जाय।'

सेठ ने अपनी वणिक् बुद्धि का उपयोग किया। पुत्रवधू से स्नेहभरी मृदु वाणी मे कहा—"बेटी! आज तो एकादशी है। मेरे तो उपवास है। तुम आज की रसोई का काम किसी तरह से चला लो। कल दूसरे रसोइये की तलाश करूँगा।"

बहू ने अपनी प्रतिष्ठा जमाने के लिए कहा—"पिताजी ! आपको भोजन कराये बिना मैं भी भोजन नही करूँगी, मैं भी आज उपवास करूँगी।"

सेठ ने उसे प्रोत्साहन देते हुए कहा—"पुत्री ! जैसी तेरी इच्छा ! सुसस्कारी पुत्रवधू का यही धर्म है।"

बेचारी पुत्रवधू ने कभी उपवास किया नही था, किन्तु अब सयानी होने से अपने श्वसुर की आन रखने के लिए उसने उपवास कर लिया।

सेठ उसके शरीर और मन पर उपवास की प्रक्रिया देख रहा था, क्योंकि वह चाहता था कि यह शरीर और मन को साधने के लिए पर्याप्त मात्रा मे उपवास करे। परन्तु एक दिन मे शरीर पर कोई खास प्रभाव न पडा। दूसरे दिन सेठ ने पुत्र-वधू से कहा—"बेटी ! आज अमुक तीर्थंकर का जन्म कल्याणक का दिन है, इसीलिए मैं आज दूसरा उपवास करूँगा।"

बहू ने भी तपाक से कहा—"पिताजी ! मैं भी आज दूसरा उपवास (बेला) करूँगी।"

सेठ ने भी पूर्ववत् प्रशसा के फूल बिखेर दिये।

तीसरे दिन भी सेठ ने अमुक तीर्थंकर का निर्वाण कल्याणक कहकर तीसरा उपवास करने को कहा तो बहू ने भी उत्साहपूर्वक अनुसरण किया। सेठ पुत्रवधू के शरीर और मन पर तप से होने वाले प्रभाव का पूरा ध्यान रख रहा था।

चौथे दिन चतुर्दशी थी। अत सेठ ने कहा—"बेटी ! आज तो चतुर्दशी है, मुझे तो आज भी भोजन नही करना है, आज मेरा चौथा उपवास रहेगा।"

पुत्रवधू बोली—"मैं भी आज भोजन नही करूँगी, चतुर्दशी को तो उपवास रखना चाहिए।"

सेठ ने पुत्रवधू की प्रशसा करते हुए कहा—"बेटी ! तुझ-सी धर्मात्मा ललनाओ के प्रताप से यह धरती टिकी है।"

पाँचवे दिन थी पूर्णिमा। सेठ ने कहा—"मैं तो आज पारणा नही करूँगा, क्योकि आज पर्व दिन है।

पुत्रवधू का शरीर तीसरे ही दिन से शिथिल होने लग गया था। कभी इतना उग्र तप किया न था। फिर भी साहस करके कहा—"मेरे मन मे तपस्या मे शान्ति रहती है। अत मैं भी आज पारणा नही करूँगी। पाँचवाँ उपवास करूँगी।" पाँचवें उपवास मे पुत्रवधू का शरीर और इन्द्रियाँ और शिथिल पड जाने से, मन भी शान्त हो गया। मन की गुफा मे कामवासना के जो बुरे विचार थे, वे सब काफूर हो गये। तप के प्रभाव से घृणित विचारो के बदले शुद्ध भाव धारा बहने लगी—'प्रभो ! मैं कितनी दुष्टा हूँ। मुझे श्वसुरजी ने सब तरह की स्वतन्त्रता दी, अधिकार दिये, किन्तु मैंने अपने तन-मन पर तप का अकुश न रखा, जिससे मेरे मन मे कुल-कलकित करने वाले निन्द्य विचार आये। धिक्कार है मुझे ! मुझे तप के अकुश की तालीम देने के लिए

श्वसुर जी को ५ उपवास करने का कष्ट उठाना पडा । अब मै सुबह होते ही अपना अपराध उनके सामने प्रगट करके उनसे क्षमा माँगूंगी ।'

इधर सुबह होते ही श्वसुर ने पत्रवधू ने कहा—"बेटी ! अब आगे मेरी शक्ति नही है, तप करने की। आज पारणा करने के बाद मैं जवान रसोइये को ले आऊँगा ।"

पुत्रवधू ने अश्रुपूरित नयनो से करबद्ध होकर कहा—"पिताजी ! अब मुझे जवान रसोइये की जरूरत नही है। मुझे आपसे शरीर और मन को तप द्वारा साधने की तालीम मिल चुकी है। मुझे क्षमा करें। आपको मेरे लिए इतना कष्ट उठाना पडा।" यो कहकर उसने श्वसुर के चरणो मे गिर धर्मपिता के रूप मे मानकर सारी अपराध कथा कह डाली ।

श्वसुर ने आश्वासन देते हुए कहा—"बेटी ! यह तो मेरी गलती थी कि मैंने तुझे इतनी आजादी के साथ-साथ पहले से ही तप की तालीम नही दी। तू तो अबोध लडकी थी। जो भी हुआ, उसके लिए मैं भी कुछ हद तक जिम्मेवार हूँ। क्षमा कर दे मुझे ! भविष्य मे अपने पर तप का अकुश रखकर धर्म पर दृढ रहना।"

उसी दिन से बहू ने अपना शरीर, इन्द्रियाँ और मन तप से तपाकर साधना शुरू किया। सादा भोजन और बीच-बीच मे कभी उपवास, आयबिल आदि तप का क्रम जीवन पर्यन्त उसने चालू रखा।

यह है—तप द्वारा शरीर आदि को साधने का उपाय।

आत्मसमाधि से रहित उग्रतप व्यर्थ

उग्र तप मे यदि आत्मसमाधि न रहती हो, तो यह केवल शारीरिक कष्ट है। औपपातिक सूत्र मे बडे-बडे तपस्वियो की कहानियाँ दी गयी है। वे तपस्वी बहुत ही उग्र तप करते थे, कांटो की शय्या पर सोते थे, पाँचो ओर पंचाग्नि तप तपते थे, औंधे लटककर रहते थे, घण्टो पानी मे खडे रहते थे, बहुत ही थोडा, कन्दमूल, फल आदि का आहार लेते थे। परन्तु इन सबके पीछे उद्देश्य आत्मशुद्धि का न होने से, तथा ये अज्ञानमूलक होने से आत्मसमाधिकारक नही होते थे, केवल शरीर और मन के लिए क्लेशकारक होते थे।

इसलिए इन्हे बालतप कहा गया है। अगर कोई व्यक्ति उग्र तपश्चरण करता है, किन्तु वह आत्मसमाधि या तपसमाधि से रहित है, तो भले ही शास्त्रो का ज्ञाता हो, तत्त्वज्ञान की बातें बघारता हो, या तपस्या के तत्त्व को जानता हो, या साधु जीवन की धार्मिक क्रियाएँ करता हो, उसका उग्र तप भी वास्तविक तप की कोटि मे परिगणित नही किया जा सकता। परमात्म प्रकाश मे ठीक ही कहा है—

> घोरं करंतु वि तवचरणु, सयल वि सत्थं मुणतु।
> परमसमाहि विवज्जियउ, णवि देक्खइ सिउ संतु॥

—जो घोर तपश्चरण करता है, समस्त शास्त्रो को भी जानता है, लेकिन यदि

आत्मानुशासन मे भी स्पष्ट कहा है—

> सकल शास्त्र सेविता सूरिसघानन्
> दृढयतु च तपश्चाभ्यस्यस्यतु स्फीत योगम् ।
> चरतु विनयवृत्ति बुध्यता विश्वतत्त्वं,
> यदि विषयविलास· सर्वमेतन्न किंचित् ॥

—कोई तपस्वी समस्त शास्त्रो का अध्ययन करे, आचार्य के सघ मे रहकर सघ-प्रभावना मे उसे सुदृढ करे, निश्चल योगो से तपश्चर्या भी करे, विनयवृत्ति भी धारण करे और विश्व के समस्त तत्त्वो को भी जाने किन्तु उसके जीवन मे विषय-विलास है तो ये सब निरर्थक है।

निष्कर्ष यह है कि आत्मसमाधि, सयम और आत्मज्ञान के बिना उग्र से उग्र तप भी निरर्थक है, वह मोक्षफल देने मे असमर्थ है। उग्र तपस्या करते समय प्रतिकूल वातावरण एव विपरीत परिस्थितियाँ तथा अन्य आत्मसमाधि भग करने के प्रसग भी आ जाएँ तो भी सम्यग्द्रष्टा साधक इस बात की पूरी सावधानी रखता है कि कही मै अपनी शान्ति से विचलित न हो जाऊँ, मेरे अन्त करण के किसी भी कोने मे क्षोभ प्रकट न हो, मेरे चित्त मे शान्ति और प्रसन्नता निराबाध रहे। यही सच्चा उग्र तप है।

निर्ग्रन्थ-परम्परा का मूल स्वर यही रहा कि देहदमन या कायक्लेश कितना ही उग्र क्यो न हो, यदि उसका उपयोग आध्यात्मिक शुद्धि तथा चित्तक्लेश निवारण मे नही होता तो वह देहदमन या कायकष्ट वृथा है। निर्ग्रन्थ परम्परा देहदमन या कायक्लेश को तभी सार्थक मानती है, जब उसका सम्बन्ध आत्मिक शुद्धि के साथ हो। महर्षि पतजलि ने भी योगदर्शन मे स्पष्ट कहा है—"तप का प्रयोजन—क्लेशो को निर्बल करना तथा समाधि के सस्कारो को पुष्ट करना है।"

तथागत बुद्ध ने कई वर्षों तक कठोर तप किया। राजभवनो के सुखभोग छोडे, वन मे सतत रहे। शरीर अत्यन्त कृश एव अस्थिपजर हो गया, उन्हे आत्मसमाधि प्राप्त न हुई। आत्मसमाधि प्राप्त न होने से आत्मशक्ति तो मिलती ही कहाँ से ? अत तथागत बुद्ध के उस उग्र तप को आत्मसमाधिजनक नही कहा जा सकता, वह सिर्फ देहदमन या कायकष्ट ही हुआ। उस उग्र तप से उनका कर्मक्षय नही हुआ, क्योकि उस तप से उनकी आत्मा मे शान्ति, समता एव निश्चिन्तता न आई, प्रत्युत उस उग्र तप से उनका चित्त विचलित हो उठा, उनकी श्रद्धा डोल उठी और अन्त मे एक दिन उन्होने सुजाता के हाथ से खीर लेकर पारणा कर ही लिया।

महाराजा शिविध्वज ने अपना राज-पाट छोडकर उग्रतप करने के लिए जगल की ओर प्रस्थान किया। वहाँ तप करते हुए उन्होने अनेक कष्ट सहे परन्तु उस तप के साथ सम्यग्दर्शन, आत्मा और शरीर का भेदविज्ञान एव तदनुसार आत्मसमाधि नही थी। फलत उन्हे आध्यात्मिक शान्ति नही मिली।

कहते हैं उनकी पतिव्रता पत्नी चूडाला ब्रह्मचारी के वेष मे उनके पास गई और उग्र तप के साथ अनिवार्य नियमो, व्रतो एव कर्तव्यो का उपदेश दिया जिससे उनकी गुत्थियाँ सुलझ गयी। उनके तप के साथ फलाकाक्षा की तीव्रता, अहकार की ग्रन्थि एव लौकिक लाभ की स्पृहा जुड गयी थी, जिससे उनकी आत्मसमाधि भग हो गई थी। किन्तु चूडाला के उपदेश से उन्हे स्पष्ट सूझ गया कि अभी तक वह उग्र तप के योग्य नही बने। सामान्य तप तो राज्यकार्य करते हुए भी किया जा सकता है।

निष्कर्ष यह है कि आर्यावर्त के तप-त्यागमय जीवन का उद्देश्य आध्यात्मिक शान्ति रहा है। आध्यात्मिक शान्ति का अर्थ है—क्लेशो और विकारो की शान्ति। दीर्घ-तपस्वी श्रमण भगवान महावीर ने इतने उग्र तप (लगभग ६-६ महीने तक के) किये, लेकिन उन तपश्चर्याओ मे उनकी आध्यात्मिक शान्ति कभी भग न हुई।

निष्कर्ष यह है कि तप की सीमा का अतिक्रमण करने, तप समाधि को भग करने एव आत्मसमाधि नष्ट हो जाने से यथार्थ माने मे उग्र तप नही होता, वह एक प्रकार से शरीर और मन को उग्र ताप देना हो जाता है।

उग्रतपरूपी तलवार रक्षक भी, संहारक भी

उग्र तपस्या एक तलवार है। वह अगर तेज धार वाली हो तो कर्मरूपी शत्रुओ को नष्ट कर डालती है अन्यथा समय पर धोखा दे देती है, स्वय के लिए हानिकारक हो जाती है। अर्थात् उग्र तपस्या अगर बाह्य के साथ आभ्यन्तर भी हो, सात्त्विक हो, राजसिक-तामसिक न हो, इहलौकिक-पारलौकिक सुखभोग की वाञ्छा से युक्त न हो, फलाकाक्षा से निरपेक्ष हो, प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा आदि की कामना से रहित हो और आत्मसमाधि से युक्त हो तो वह अवश्य ही कर्मशत्रुओ का सफाया कर सकती है।

जैसा कि एक आचार्य ने कहा है—

> **अनादिसिद्ध दुष्कर्म द्वेषि संघातघातकम्।**
> **इदमाद्रियते वीरैः खड्गधारोपमं तप ॥**

—तपोवीरो के द्वारा ही अनादिकाल से सचित दुष्कर्म शत्रुओ के घातक तलवार की तीक्ष्ण धार के समान यह उग्रतप अपनाया जाता है।

परन्तु मोथरी तलवार की तरह जिस उग्र तपस्या मे कोई तेज न हो, जो नामना-कामना, हठाग्रह-दुराग्रह से युक्त हो, जिसके साथ आभ्यन्तर तप न हो, आत्म-समाधि न हो, जिससे विषय-कषाय प्रवल हो गये हो, जो तामसिक-राजसिक हो, वह कर्मशत्रुओ को नष्ट करना तो दूर रहा, उलटे कर्मशत्रुओ से पराजित होकर उन्हे जिता देती है। कर्मशत्रु ऐसी मारक उग्र तपस्या से तप.साधक पर हावी हो जाते हैं। ऐसी स्थिति मे उग्र तपस्यारूपी मोथरी तलवार किसी काम की नही होती। वह कर्मशत्रुओ का सफाया करने के बदले आत्मगुणो का सफाया कर देती है, दूसरो को हराने के वदले, वह उसके साधक को ही हरा देती है।

तुलसीकृत वैदिक रामायण का प्रसग है। परशुरामजी उग्रतप के लिए प्रसिद्ध हैं। वे जितने उग्र तपस्वी थे उतने ही उग्र क्रोधी भी। जिन दिनो वे पर्वत शिखर पर तपस्यारत थे, उन्ही दिनो, जनक के यहाँ रखा हुआ शिवधनुष सीताजी के स्वयवर मे आये हुए अनेक राजाओ एव राजकुमारो मे से श्रीराम ने तोडा था। धनुष टूटने की आवाज दूरस्थ पर्वतशिखर पर भी पहुँच गई थी। उग्र तपस्वी परशुरामजी जनक के यहाँ शिवधनुष को टूटा जानकर तुरन्त स्वयवर मण्डप मे पहुँचे। क्रोध से लाल उनके नेत्र, उनकी भयकर कुटिल भृकुटि एव फडकते हुए नथुनो को देखकर सभागत सभी राजा आदि भयभीत होकर काँपने लगे। परशुरामजी के एक कधे पर परशु रखा था, एक पर धनुष लटक रहा था। सभी राजा उनके चरणो मे प्रणाम करने लगे। राजा जनक ने जब प्रणाम किया तो परशुराम ने क्रुद्ध होकर पूछा—"जनक! किसने तोडा है, यह शिवधनुष ?"

राजा जनक उनके क्रोधाविष्ट प्रश्न से काँप उठे। वे चुप हो गये। शीलगुण-निधान श्रीराम ने उत्तर दिया—"मुनिवर! धनुष को तोडने वाला आपका ही कोई सेवक है।"

परशुराम क्रोध से गर्ज उठे—"वह सेवक नही, मेरा शत्रु है।"

श्रीराम परशुराम के क्रोध का शान्ति से उत्तर देना चाहते थे। लक्ष्मण ने जब परशुरामजी के क्रोध का क्रोध और व्यग्य वचनो से प्रतिकार किया तो राम ने आँखो के इशारे से उन्हें चुप कर दिया। श्रीराम ने परशुरामजी का कोप शान्त करने के लिए मधुर वाणी मे कहा—"भृगुकुलमणि! आपका अपराधी मैं हूँ। मेरे हाथ से ही यह शिवधनुष टूटा है। आपका क्रोध जिस तरह से शान्त हो, उसी प्रकार का दण्ड दीजिए। मैं सहर्ष दण्ड पाने को तैयार हूँ।"

श्रीराम के शान्ति-सुधामय वचनो से परशुराम का क्रोध कुछ ठण्डा हो गया। वे बोले—"राम! यदि धनुष तुमने ही तोडा है, तो तुम मुझसे युद्ध करो।"

राम ने शीतलताप्रद उद्गार निकाले—"विप्रवर! ब्राह्मण और क्षत्रिय मे युद्ध कैसा ? मैं तो आपका दास हूँ। आपके हाथ मे फरसा है, मेरा मस्तक झुका हुआ है, लेकिन भृगुवशमणि! आप तपस्वी हैं, आपको तो क्रोधविजयी होना चाहिए। तपस्वी मे तो शम, दम, तप, शौच, क्षमा आदि अनेक गुण होते हैं। इन गुणो के कारण हम क्षत्रिय आपके साथ कभी युद्ध नहीं करते। इसलिए आप युद्ध का विचार त्याग दीजिए।"

परशुराम—"यदि तुम युद्ध नहीं करना चाहते हो तो परीक्षा दो।"

श्रीराम—"कैसी परीक्षा, विप्रवर!"

परशुराम—"मेरा यह धनुष लो, इसे चढ़ाकर दिखाओ।

श्रीराम—"जो आज्ञा! मैं इसे चढ़ाने के लिए तैयार हूँ।"

ज्यो ही परशुराम धनुप देने को तैयार हुए, त्यो ही वह अपने आप श्रीराम के हाथो मे चला गया। परशुराम विस्मित-से, पराजित-से, हतप्रभ होकर श्रीराम को देखने लगे। राम की शान्तस्निग्धधारा उनके मन-मस्तिष्क मे समा गई, उनका क्रोध एकदम ठण्डा हो गया।

सच है, उग्रतप के साथ जहाँ क्रोध होता है, आत्मसमाधि नही होती, वहाँ वह व्यक्ति पराजित और अपमानित हो ही जाता है, उग्र तपस्या रूपी तलवार उसकी रक्षा करने के बदले उसके आत्मगुणो का सहार कर देती है।

उग्रतप ज्ञान-गंगा के साथ चमकता है

वस्त्र मलिन होता है तो उसे स्वच्छ करने के लिए दो चीजें जरूरी होती हैं—पानी और साबुन। अकेले पानी से वस्त्र भली-भाँति स्वच्छ नही होता और न अकेले साबुन से ही। अकेला साबुन वस्त्र पर रगडने से उस पर कोई प्रभाव नही पडेगा। इसी प्रकार आत्मा की स्वच्छता के लिए तपरूपी साबुन के साथ ज्ञानरूपी जल की नितान्त आवश्यकता है।

आत्मा अनन्त-अनन्त काल से वासना, कुसस्कार एव कर्मों के सयोग के कारण मलिन, अपवित्र और अशुद्ध हो गया है, विषयो के प्रति आसक्ति और क्रोधादि कषायो ने उसकी स्वच्छता समाप्त कर दी है। अत उसे स्वच्छ और शुद्ध करना आवश्यक है। आत्मा की शुद्धि और स्वच्छता के बिना कोई भी साधना सफल नही होती। जीवन साधनाजनित अहकार और मद मे फूलकर मलिन हो जाता है। कोरा उग्रतप भी ज्ञान के बिना आत्मा को गर्वित और मदग्रस्त बना देता है। तप से जो भी शक्ति पैदा होती है, वह दूसरो को पीडित करने, शाप देने, और अहकार मे आकर दूसरो पर रौब गाँठने मे काम आती है। इसलिए उग्रतप के साथ ज्ञान का होना परम आवश्यक माना गया है।

तप, ज्ञान और जप

तप और ज्ञान के साथ जप भी हो तो सोने मे सुगन्ध है। तप, जप और ज्ञान इन तीनो के सयोग से आत्मा शुद्ध और पवित्र हो सकता है। तप से साधक अपनी आत्मा को तपाता है, जप से अपने स्वरूप के प्रति श्रद्धा को दोहरा कर विश्वास पक्का करता है और ज्ञान से अपने आपको पहचानता है। एक कवि ने अपना सुन्दर चिन्तन व्यक्त किया है—

> **ज्ञान की निर्मल गगा और तप-जप की यह जमना।**
> **बोल मानव! बोल, सगम होगा कि नहीं? ॥ध्रुव॥**
> **मन मैला है, तन है उजला, कैसी यह तेरी माया है?**
> **दिल मे नफरत, मुँह का मीठा, दोहरा रंग बनाया है।**
> **तन-मन का रंग एक तेरा, कभी होगा कि नहीं? बोल ...**

इस मिट्टी के तन को सजाकर, क्यों तू अकडा जाता है ?
मन मे तेरे, पाप घनेरे, कोरे तप से तू छिपाता है ।
ज्ञान विना वे कैसे धुलेंगे, फिर साफ होगा कि नहीं ? बोल....

समाधि शतक मे इसी बात का जोरदार शब्दो मे समर्थन किया गया है—

यो न वेत्ति पर देहादेवमात्मानमव्ययम् ।
लभते स न निर्वाण, तप्त्वाऽपि परमं तप ।।

"जो अविनाशी आत्मा को शरीर से भिन्न नही जानता, वह घोर तपश्चरण करके भी मोक्ष को नही प्राप्त कर सकता ।"

निष्कर्ष यह है कि उग्रतप ज्ञान की गगा के साथ हो तो दोनो के सयोग से आत्मा चमकता है, निर्मल हो जाता है ।

भोपाल से कुछ ही दूर एक बीहड वनस्थली थी, जहाँ पहले साँप, बिच्छू, रीछ, भेडिये आदि पशु अड्डा जमाये रहते थे, चोरो और लुटेरो का भी आवास-स्थान वही था । वहाँ भारतीय धर्म और सस्कृति के सन्देशवाहक साधु नारायणदासजी ने आकर अपना डेरा जमाया । कुछ दिनो तक उन्हे इस भयकर स्थान मे नीद ही पूरी न आई । एक दिन प्रात उठकर उन ऊबड-खाबड जगह को साफ सुथरी बनाकर सकल्प किया कि इस जगह को अध्यात्मविद्या का केन्द्र बनाऊँ । सकल्प करना आसान है, लेकिन उसे निभाना बहुत ही कठिन है । बडी भारी तपस्या करनी पडती है, सकल्प सिद्धि के लिए । दूरवार डाकुओ ने सोचा सरल साधु है, आज यहाँ है, कल चला जायेगा । हमारी चोरी-डकैती जैसे अपराध से क्या मतलब ? परन्तु जब कई दिन हो गये तो एक दिन उनसे आमना-सामना हो गया । डाकू गर्म होकर बोले—"यहाँ से सवेरे ही चले जाना ।" पर साधु नारायणदास किसी और ही धातु के बने हुए थे । उन्होने कहा—भाइयो ! मेरी धरती माता के पुत्र अपने जीवनोद्देश्य से भटककर बुरे कर्म करें, उन्हे उनसे न छुडाकर मैं अन्यत्र जाकर सुख की नीद सोऊँ, भला यह मेरे जैसे साधु से कैसे हो सकता है ? इसलिए मुझे यही रहकर तप करना होगा ।'

वे लोग साधु की वाणी से प्रभावित तो हुए पर इतनी जल्दी अन्यत्र कहाँ जाने वाले थे ? उन्होंने उन्हे तग करना शुरू किया । पर साधु तो धुनवान थे, इसलिए अपना लक्ष्य साकार करने के लिए डटे रहे । अन्ततोगत्वा सभी डाकू वहाँ से भाग गये । पर अभी कई परीक्षाएँ शेष थीं । एक दिन एक निर्धन ने उन्हें [illegible] न कोई दवा न सेवा करने वाला । उनकी धूनी में एक चुटकी [illegible] । [illegible] दिन [illegible] तीसरे दिन [illegible] और [illegible] पूर्ववत् स्वस्थ हो गया ।

[illegible] हुआ थी वहाँ उसे भी स्वस्थ किया । [illegible] ; [illegible] करने के लिए [illegible] भी [illegible] गये ।

एक दिन साधुजी ने रामायण उठाकर देखी, उसमे सुवाक्य था—"**तपु आधार सब सृष्टि, भवानी !**" उपनिषद् मे एक वाक्य मिला—'**दिवमारुहत तपस्या तपस्वी**' तपस्वी तप के प्रभाव से स्वर्ग को प्राप्त करता है। और फिर एक वाक्य मिला—'**तपः स्वाध्यायाभ्या मा प्रमदः**'—तप और स्वाध्याय से विषय मे प्रमाद मत करो। सोचा—तप से आत्मशुद्धि और स्वाध्याय से आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए। उन्होने कुछ दिन तक अल्पाहार रखा, फिर आशिक उपवास, तत्पश्चात् पूर्ण उपवास किये। तप और स्वाध्याय दोनो का क्रम चलता रहा। इनसे आत्मशुद्धि और आत्म-ज्ञान दोनो प्राप्त हुए, सासारिक मोहबन्धन टूटने लगे, केवल कर्त्तव्य शेष रहा।

और एक दिन सरकार और जनता के सहयोग से वहाँ एक आध्यात्मिक संस्थान खडा हो गया। साधु नारायणदासजी की उग्र तप साधना ज्ञानयोग के साथ सफल हुई।

उग्रतप का महत्व और लाभ

उग्रतप का वर्णन सुनने के बाद आप यह तो समझ ही गये होगे कि उग्रतप कितना लाभदायक है ? फिर भी हम उग्रतप के माहात्म्य के सम्बन्ध मे महापुरुषो के चिन्तन की सक्षिप्त झाकी प्रस्तुत करते हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र एव दशाश्रुतस्कन्ध मे यत्र-तत्र तप की महिमा का गान किया गया है—

भवकोडी सचिय कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ।

"करोडो जन्मो के सचित कर्म तपस्या से जीर्ण होकर झड जाते हैं।"

तवेण परिसुज्झइ।

"तपस्या से आत्मा पवित्र होती है।"

तवेण वोदाणं जणयइ।

"तपस्या से व्यवदान—कर्मशुद्धि—होती है।"

तवसा अवहट्टलेस्सस्स दंसणं परिसुज्झइ।

"तपस्या से लेश्याओ को सवृत करने वाले व्यक्ति का दर्शन—सम्यक्त्व-परिशोधित होता है।"

उग्रतप के साथ सहिष्णुता हो, तभी महाशक्ति

मनुस्मृति मे तपस्या की महाशक्ति का वर्णन करते हुए कहा है—

यद्दुस्तरं यद्दुरोहं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तु तपसा साध्य तपो हि दुरतिक्रमम्॥

"ससार मे जो भी दुस्तर है, दुष्प्राय है, दुर्गम है, अथवा दुष्कर है, वह सब तप द्वारा सिद्ध किया जा सकता है, क्योकि तप दुरतिक्रम है—इसके आगे कठिनता या दुर्लभता जैसी कोई चीज नही है।"

उग्रतप से दुष्प्राप्य वस्तु प्राप्त होने की साक्षी योगवशिष्ठ भी दे रहा है—

"तपसैव महोग्रेण यद्दुरापं तदाप्यते।"

"जो भी दुष्प्राप्य वस्तुएँ हैं, वे महा उग्रतप से ही प्राप्त होती हैं।"

परमात्म-प्राप्ति या परमात्म-साक्षात्कार सबसे कठिन कार्य है, परन्तु तप से आत्मशुद्धि होने पर परमात्मपद-प्राप्ति भी हो जाती है। सरलात्मा बालक ध्रुव की उग्र तपस्या इस सम्बन्ध में ज्वलन्त उदाहरण भागवत में प्रसिद्ध है।

बालक ध्रुव एक दिन खेलते-खेलते आया और अपने पिता राजा उत्तानपाद की एक तरफ की खाली गोद में बैठ गया। उत्तानपाद राजा उस समय अपनी मानीती छोटी रानी के महल में बैठा था। उसकी एक तरफ की गोद में छोटी रानी का लड़का बैठा था। सौत के लड़के को अपने लड़के की बराबरी में बैठे देख छोटी रानी ईर्ष्या से भड़क उठी। उसने ध्रुव को पिता की गोद से हटा दिया। वह बोली—"अगर इस गोद में बैठना था, तो मेरे पेट में जन्म लेना था।"

बालक ध्रुव सौतेली माँ के इस क्रूर व्यवहार से दुखित हो रोता-रोता अपनी माँ के पास पहुँचा। उसने अपना वृत्तान्त सुनाते हुए कहा—"माँ! तुम्हारे पेट से जन्म लेने के कारण क्या मैं पिताजी की गोद में बैठने लायक भी न रहा?" पुत्र की यह बात सुनकर सहनशीला सुनीति रानी को कितना दुःख हुआ होगा? किन्तु उसने यह सुनकर पति और सौत के विरोध में एक शब्द भी न कहा। बालक से कहा—"बेटा! मुझसे बिना पूछे तू पिताजी की गोद में बैठने गया ही क्यों? हम तो परमात्मा की गोद में बैठे हैं, फिर किसी और की गोद में बैठने की हमें जरूरत ही क्या है? तप करके ईश्वर के प्रति अर्पित कर देने से वह सर्वश्रेष्ठ गोद-रूप पद प्राप्त होता है। बेटा! उस राज्य के समक्ष सभी कुछ तुच्छ है!"

बन्धुओ! ध्रुव की माता में कितनी सहनशीलता और धीरता थी! कितनी उदात्त भावना थी! अपने पुत्र को परमात्म-पद की प्राप्ति के लिए उसने उग्रतप की कितनी उच्च शिक्षा दी थी। और अन्त में यह भी कहा—"बेटा! इस उग्रतप की साधना किसी के प्रति द्वेष-दुर्भावना न रखते हुए सहिष्णु होकर करनी होती है।"

वह स्वयं अपने पति द्वारा किये हुए घृणित व्यवहार को उनके प्रति कुछ भी शिकायत किये बिना शान्ति से सहन करती थी और अपनी वर्तमान स्थिति में सन्तुष्ट थी। कोई कुछ सहानुभूति प्रगट करता तो वह कहती—"मुझ पर उनका कितना अनुग्रह है कि उन्होंने मुझे सांसारिक मोह से हटाकर परमात्म-भक्ति और धर्माचरण में जीवन बिताने का सुअवसर दिया।" वह अपने प्रति अपमानयुक्त व्यवहार को भी पापक्लेश का प्रायश्चित्त तप करने का लाभ मानती थी। कितनी उच्च तपस्या थी उनकी! तभी तो वह ध्रुव को उग्र तप की शिक्षा दे सकी! अगर

वह उग्रतप की तालीम न पाई हुई होती तो पति और सौत के निष्ठुर व्यवहार पर क्रुद्ध और दु खित होकर रोने लगती, या ईर्ष्यावश तप करके शक्ति अर्जित कर बदला लेने की सोचती। परन्तु ऐसा करने से वह सच्चा उग्र तप न कर पाती।

उससे बालक ध्रुव ने कहा—"माँ ! तू कितने उच्च विचार वाली शक्ति-दायिनी देवी है। तप द्वारा परमात्म-पद की शक्ति प्राप्त करने की तुम्हारी शिक्षा से मैं निहाल हो गया हूँ। अब मैं वही उग्रतप करके परमात्मा की गोद मे बैठूंगा। मुझे आज्ञा दो, माँ ! मैं उस उग्रतप को करने जाऊँ ?"

आप कहेगे कि ध्रुव जैसा छोटा सा बच्चा यह कैसे जानता था कि उग्रतप किस चिडिया का नाम है, और उसमे कहाँ सामर्थ्य था, इतना उग्रतप करने का ? परन्तु मैं पूछता हूँ, उस अतिमुक्तक (अयवता) मुनिवर मे तप-सयम पालन की शक्ति कहाँ से आ गई ? छोटे से गजसुकुमार मुनि मे आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान के साथ महाकाल श्मशान मे जाकर तप करने की शक्ति कहाँ से प्राप्त हो गई थी ? ध्रुव को तो माता ने कुछ-कुछ बता भी दिया था—उग्रतप उसकी विधि और माहात्म्य के बारे मे, लेकिन अतिमुक्तक एव गजसुकुमार जैसे बालक मुनिवरो को किसने बताया था ? मगर उनके पूर्वजन्म के उत्तम सस्कार थे, जिनके कारण वे इतना उत्तम उग्रतप इतनी सहिष्णुता एव क्षमा के साथ कर सके। यही कारण है कि ध्रुव को भी पूर्वजन्म के सस्कारो से प्रेरित तप शक्ति प्राप्त हुई थी।

ध्रुव माता की आज्ञा लेकर वन मे तप करने के लिए चल पडा। वीरमाता उसे अकेले वन मे भेजने से घबराई नही। वह जानती थी कि यह बालक भले ही है, इसकी आत्मा मे अनन्त शक्ति मौजूद है, तप से कर्मावृत्त शक्तियाँ प्रकट हो जाएँगी।

ध्रुव को वन मे जाते देख नारदजी ने उसका रास्ता रोककर कहा—"बेटा ! तू अभी छोटा-सा बच्चा है, इस कोमल उम्र मे तुझसे यह उग्रतप कैसे होगा ? छोड दे अपने इस साहस को !"

दृढप्रतिज्ञ बालक ध्रुव ने निर्भीकता से उत्तर दिया—"भक्तराज ! आप तो परमात्मा के भक्त है, आपको तो मुझे इस उग्रतप के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए था, मगर आप तो मुझे इस उग्रतप से रोक रहे हैं। मैं राज्य करता तो आप न रोकते, किन्तु तप करने जा रहा हूँ, तो रोकने आए हैं, इससे मुझे तप की महाशक्ति मे बडा आकर्षण लगता है, इसकी गरिमा की प्रतीति भी होती है।"

नारदजी ने कहा—"मुझे तुम्हे तप करने से रोकने की इच्छा नही, किन्तु अगर तू घर से रुष्ट होकर भागकर जगल मे देह-दमन करने जा रहा हो तो तुझे रोकना मेरा कर्त्तव्य है।"

ध्रुव ने उत्तर दिया—"मैं क्षत्रिय-पुत्र हूँ। घर से रूठकर वन मे नही जा रहा हूँ, अपितु अपनी माता से तप की शिक्षा पाकर उनकी आज्ञा से वन मे जा

रहा हूँ। आप मुझे कायर मत समझिए। मैं तपस्या के लिए प्रतिज्ञावद्ध होकर आया हूँ। या तो कार्य सिद्ध करूँगा या शरीर को विसर्जित कर दूंगा।"

नारदजी ध्रुव की सहिष्णुता, विरक्ति और तपश्चरण की दृढता देखकर दंग रह गये। उन्होंने ध्रुव को आशीर्वादसूचक वचन कहे—"जाओ तुम्हारी परीक्षा हुई, तुम उग्रतप के योग्य हो। मुझे भी तुम्हारी शक्ति का पता लगा।" ध्रुव ने अनेक कष्ट समभावपूर्वक सहते हुए उग्रतप किया और अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाकर परमात्म-पद का साक्षात्कार किया। अब उसे राजा की गोद की आवश्यकता न रही।

इस कथा से आप समझ गये होंगे कि उग्रतप के साथ कितनी सहिष्णुता और आत्मसमाधि की आवश्यकता है? सहिष्णुता उग्रतप की प्राण-शक्ति है। क्षान्ति के बिना उग्र तपस्या शोभास्पद नहीं होती।

इसीलिए महर्षि गौतम ने कहा—

'सोहा भवे उग्गतवस्स खंति।'

इस सम्बन्ध में अनेक पहलू शेष हैं, जिन पर मैं अगले प्रवचन में प्रकाश डालूंगा।



४८

उग्रतप की शोभा : क्षान्ति—२

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

कल मैंने उग्रतप के सम्बन्ध मे आपको बहुत-सी बाते बताई थी, अभी उस सम्बन्ध मे अनेक पहलू बाकी हैं, जिन पर प्रकाश डाले बिना आपको उसका रहस्य समझ मे न आ सकेगा, इसलिए इस प्रवचन मे मैं उसी विषय पर विशेष प्रकाश डालने का प्रयत्न करूँगा। महर्षि गौतम ने एक जीवनसूत्र दे दिया—

सोहा भवे उग्गतवस्स खंति।

"उग्रतप की शोभा क्षान्ति मे है।"

हमे इस पर सभी पहलुओ से विचार करना आवश्यक है।

उग्रतप : जीवन में क्यो आवश्यक और उपादेय ?

उग्रतप नाम सुनते ही आप चौक उठे होगे, जब सामान्य एकाशन, आयम्बिल, उपवास आदि तप भी बडा कठिन है, तब उग्रतप इतना कष्टकर है कि रात दिन कुछ न कुछ चरते रहने, मुँह हिलाते रहने वाले श्रेष्ठिपुत्रो और शासनकर्ताओ के लिए होना अत्यन्त ही कठिन लगता है। तब प्रश्न होता है कि उग्रतप जीवन मे इतना आवश्यक क्यो है ? क्या इसके बिना मानव-जीवन सार्थक और सुखी नही हो सकता ?

प्रश्न बडा ही महत्त्वपूर्ण है और इस युग मे जब कि मनुष्य दिनोदिन अपनी आवश्यकताएँ और भोग-साधन प्राप्त करने की इच्छाएँ, विषयभोगो की लालसाएँ अधिकाधिक बढाता जा रहा है, उग्रतप अत्यन्त आवश्यक है। उसके बिना निरकुश भोगो पर, भोगासक्तिजनित कर्मों पर और पूर्वोपार्जित कर्मों पर कोई स्वेच्छिक नियन्त्रण नही है।

आप कहेगे कि मनुष्य जब जेल मे जाता है, तब उसे बहुत ही कम साधन मिलते है, भूखा भी रखा जाता है, बहुत ही कम और नीरस भोजन दिया जाता है, दिन भर सख्त परिश्रम भी करना पडता है, इसके अतिरिक्त व्यापार-धन्धो के लिए घर के किसी महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए या कभी निर्वासित या प्रवासित होना पडे तब कई-कई रातो तक भूखे-प्यासे उनीदे तथा थोडे से साधनो पर निर्भर रहना पडता है। क्या ऐसी स्थिति मे उग्रतप नही हो जाता है ? परन्तु जैनशास्त्र या कोई भी शास्त्र इसे उग्रतप तो क्या, तप भी नही कहता। यह तो बलात् कष्ट-सहन है, बिना इच्छा के दूसरे के दबाव से दण्डित होकर या दूसरे से प्रेरित होकर जबरन कष्ट सहना पडता है, स्वेच्छा से नही। जैसे नरक मे भयकर से भयंकर कष्ट और यातनाएँ

भोगनी पड़ती हैं, अपराधियों को जेलों में भयंकर से भयंकर सजाएँ भोगनी पड़ती हैं, पर ये कष्ट, पीड़ाएँ या यातनाएँ तो बलात् सहनी पड़ती हैं, उन्हें स्वेच्छा से कोई नहीं सहता। इस प्रकार के अत्युग्र कष्ट सहने से भी सकाम निर्जरा (मोक्ष योग्य कर्मक्षय) नहीं होती। सकाम निर्जरा तो तब होती है, जब कोई भी किसी प्रकार का कष्ट न दे, रोगादि की पीड़ा न हो, तब भी अपने दुर्दान्त कर्मरिपुओं का क्षय करने के लिए स्वेच्छा से तप किया जाये और उसमें होने वाले भूख-प्यास, अशक्ति, या साधनाभाव को आत्मसमाधिस्थ होकर समभावपूर्वक सहन किया जाये। कर्मों से मुक्ति (मोक्ष) के लिए तप किया जाये, स्वर्गादि-सुखों या इहलौकिक सुखों की लालसा से नहीं।

अतः कर्मों का क्षय करने हेतु तथा अपनी आवश्यकताओं और उद्दाम इच्छाओं पर रोक लगाने हेतु उग्रतप आवश्यक प्रतीत होता है। वह कष्टकर तो तब होता है, जब कोई जबरदस्ती तप कराता हो, या क्रोधादि आवेश या द्वेषादि के वश किया जाता हो। जब वह स्वेच्छा से और वह भी किसी प्रकार के क्रोधादि आवेश में आकर नहीं, अपितु आत्मशुद्धि के लिए समझ-बूझ के साथ किया जाता है, तब ताप न होकर तप होता है।

यहाँ फिर प्रश्न उठता है कि स्वेच्छा से कर्मक्षय का प्रयोजन क्या सामान्य तप से नहीं सिद्ध हो सकता? क्या उग्रतप जीवन में होना अनिवार्य है? आप यह तो प्रतिदिन अनुभव करते हैं कि जब आपके शरीर के किसी अंग या हाथ पैर में मिट्टी लग जाती है तो आप सारे शरीर को साफ नहीं करते, अपितु थोड़े से पानी से उस अंग को या हाथ पैर को जहाँ मिट्टी लगी हुई है, साफ कर लेते हैं, किन्तु अगर मिट्टी या कीचड़ आपके सारे शरीर में लगा हुआ हो, तो जरा से पानी से आप उसे धोकर साफ नहीं करते, उसके लिए तो अधिक पानी लेकर, साबुन आदि लगाकर मल-मल कर नहाते हैं, तब जाकर सारे शरीर की सफाई (शुद्धि) होती है। इसी प्रकार कर्म-मल आपके सारे जीवन में लगे हों, काफी पुराना कर्मों का दल-दल चिपका हुआ हो, तो वह केवल मामूली तप और वह भी सिर्फ बाह्य तप से साफ नहीं हो सकता, उसके लिए बाह्य तप के साथ-साथ आभ्यन्तर तप और वह भी उग्रतप आवश्यक है, जिससे कर्ममल भलीभाँति साफ हो सके, आत्मशुद्धि हो सके।

यह कोई जरूरी नहीं है कि आप प्रतिदिन ही उग्रतप करें या सतत तप करते रहें, परन्तु बीच-बीच में जब आपकी श्रद्धा, शक्ति, भावना तथा पर्युषणादि पर्वों के समय तैयार हों, तभी आत्मसमाधिपूर्वक उग्रतपश्चरण करें।

उग्रतप करना इसलिए भी आवश्यक है कि जितने भी अधिक कर्मबन्ध हों, उतनी मात्रा में तप करने से ही वह कर्मों का जत्था टूट सकता है। कर्म तो हों बहुत अधिक संचित और आप करें एकाध उपवास, या कोई आभ्यन्तर तप तो उतने से ही वे कर्म नष्ट नहीं हो सकते। कूड़ा-कर्कट या मैल अधिक जमा हो तो उतनी ही मात्रा

मे, उसके अनुपात मे सफाई करनी पडती है। वर्षों की पुरानी बीमारी हो तो वैद्य की एक ही दिन की दवा लेने से वह ठीक नही हो जाती है, बीमारी को मिटाने के लिए दवा भी उसी अनुपात मे लम्बे समय तक लेनी पडती है।

दीर्घतपस्वी श्रमण भगवान महावीर केवलज्ञान प्राप्त होने से पहले तक चार ज्ञान के धारक थे, फिर भी उन्होने इतने लम्बे-लम्बे घोर उग्रतप क्यो किये थे ? उनकी आत्मा तो आपसे बहुत निर्मल थी। फिर भी उन्होने आत्मशुद्धि के लिए जो दीर्घकाल तक उग्रतप किये, उसके पीछे क्या कारण था ? यही कारण था कि उनके पूर्वबद्ध कर्मों का जत्था बहुत अधिक था और आयुष्य बहुत ही थोडा, ७२ साल का था। इसलिए थोडी-सी आयु मे अधिक बँधे हुए कर्मों का क्षय करने के लिए उन्होने उग्रतप किये थे। और कोई अन्य कारण नही था, उनके द्वारा उग्रतप किये जाने का। उन्होने कर्मों के रोग के अनुपात मे एकाध दिन या मामूली-सा तप करना पर्याप्त न समझा, इसलिए दीर्घकाल तक उग्रतपश्चरण किया।

इसी प्रकार कर्मों की बीमारी वर्षो पुरानी है, उसमे भी आपको तो इसी जन्म के किये हुए अपराधो या भूलो की स्मृति है, पूर्वजन्मो के भी कर्मदलिक प्रचुर मात्रा मे होगे, इसलिए उन कर्मदलिक रूप चिरकालिक रोग के निवारण के लिये चिरकालीन उग्रतप करना आवश्यक होगा। कुछ ही दिन या एकाध दिन उपवासादि दवा लेकर छोड देने से यह कर्मरोग जाने वाला नही।

तीसरी बात यह है कि कई बार मनुष्य के निकाचित कर्मबन्ध हुए होते है। निकाचित कर्म मामूली तपस्या से या एकाध दिन के तप से नष्ट नही होते। उन्हे उग्रतप से उदीरणा करके भोगने पर ही उनसे छुटकारा हो सकता है, अन्यथा नही। आराधनासार (७।२९) मे स्पष्ट कहा गया है—

> **निकाचितानि कर्माणि तावद्भस्म भवन्ति न।**
> **यावत् प्रवचने प्रोक्तस्तपोवह्निर्न दीप्यते ॥**

'निकाचित कर्म तब तक भस्म नही होते, जब तक प्रवचन (शास्त्र-सिद्धान्त) मे कही हुई तपरूपी अग्नि दीप्त नही हो जाती।' तात्पर्य यह है कि निकाचित रूप से बँधे हुए कर्मो को भस्म करने के लिए भी उग्रतप आवश्यक है। निकाचित कर्म-बन्ध का पता ज्ञानी पुरुषो के सिवाय सामान्य व्यक्ति को होता नही, इसलिए उसे सर्वज्ञो पर विश्वास रखकर उग्रतपश्चरण करना चाहिए।

चौथी बात यह है कि मनुष्य की आयु अधिक से अधिक सौ सवासौ वर्ष होती है, आजकल तो आयु का औसत दर घट गया है, और कर्मदलिक (कर्मो के जत्थे) होते है, बहुत अधिक मात्रा मे। इसलिये इस थोडे से समय मे अधिक कर्मों को क्षय करने के लिये उग्रतप के सिवाय कोई चारा नही। मामूली एकाध बार के तप से इतनी थोडी-सी जीवनावधि मे इतने अधिक बँधे हुए कर्मो का क्षय होना सम्भव नही है। इसलिए थोडी-सी आयु मे अधिकाधिक कर्मपुज को नष्ट करने हेतु उग्रतप-श्चरण की आवश्यकता है।

वह उग्रतपश्चरण कैसा हो, कैसा नहीं ? खरा उग्रतप कौन-सा है, खोटा कौन-सा ? इस विषय में मैं पूर्व प्रवचन में इसी जीवनसूत्र के सन्दर्भ में कह गया हूँ। यहाँ उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं समझता।

पाँचवीं बात उग्रतपश्चरण की उपयोगिता इसलिए भी है कि साधनाशील प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि उसका मरण—अन्तिम समय—सुधरे, अन्तिम समय में वह समाधिभावपूर्वक देह का त्याग करे, पण्डितमरणपूर्वक मृत्यु का स्वीकार करे। परन्तु अन्तिम समय में समाधिमरण के लिए समस्त कषायों, वासनाओं, इच्छाओं, अठारह पापस्थानकों, तथा चारों ही आहारों का त्याग करना आवश्यक होता है, वह पूर्वकालिक अभ्यास के बिना हो नहीं सकता। हो सकता है समाधिमरण के लिए किया हुआ संथारा (सल्लेखनापूर्वक आमरण अनशन) लम्बे समय तक चले। ऐसी स्थिति में यदि समाधिमरण के आराधक को पहले से उग्रतप करने का अभ्यास न होगा तो वह समाधिमरण के लिये किया जाने वाला संथारा नहीं कर सकेगा और इच्छा होते हुए भी समाधिमरण से वंचित हो जायेगा। जैसा कि भगवती आराधना में कहा गया है—

> पुव्वमकारिदजोग्गो समाधिकामो तहा मरणकाले।
> ण भवदि परिसहसहो विसयसुहपरम्मुहो जीवो ॥१९१॥
> बाहिरतवेण होदि हु सव्वा सुहसीलदा परिच्चत्ता।
> सल्लिहिदं च सरीरं ठविदो अप्पा य संवेगे ॥२३७॥

'जो व्यक्ति समाधिमरण का इच्छुक है, किन्तु उसने पूर्वकाल में उतना तपश्चरण का अनुष्ठान नहीं किया है, वह मरणकाल में परीषह सहन नहीं कर सकेगा फलतः उसका मन विषयसुखों से विमुख नहीं हो सकेगा। तप—उग्रतप—से (इन्द्रियों और मन की) समस्त सुखशीलता का त्याग हो जाता है। बाह्यतप करने से शरीर सल्लेखना के उपाय की प्राप्ति होती है और आत्मा संवेग (संसारभीरुता) गुण में स्थिर होता है।

इन सब कारणों से उग्रतप सम्यग्दृष्टि मानव के लिए अनिवार्य है।

उग्रतप के प्राप्त हुए अवसर को चूकिए मत

एक बात यह भी विचारणीय है कि आपको मानव-जीवन मिला है, पता नहीं, कितने जन्मों के बाद मिला है, और यह भी पता नहीं कि निकट भविष्य में पुनः मानव-जीवन अगले जन्म में मिलेगा या नहीं ? ज्ञानी पुरुष के सिवाय कोई भी निश्चित रूप से कह नहीं सकता कि अगले जन्म में मैं मनुष्य ही बनूँगा। ऐसी स्थिति में जब आसानी से आपको मानव-जन्म मिला है, पांचों इन्द्रियाँ मिली हैं, धर्म का बोध और धर्माचरण की शक्ति मिली है, सभी अंगोपांग यथायोग्य मिले हैं, और स्वस्थ एवं सशक्त तन मिला है, तब अगर इस जीवन में उग्रतप करके कर्मबन्धनों को नहीं काटा जाएगा, तो फिर ऐसा उत्तम अवसर कब मिलेगा ? अगर तप-त्याग के बदले

मनुष्य जीवन को इन्द्रियविषयन्भोगो और कषायो की उधेडबुन मे ही समाप्त कर दिया तो फिर आँखें मुंद जाने के बाद पता नही, ऐसा मौका मिलेगा या नही ? कौन ऐसा मूर्ख होगा जो प्राप्त रत्न को कौए उडाने मे फैंककर भविष्य रत्न प्राप्त हो जाने की दुराशा करेगा।

मनुष्यजन्मरूपी रत्न उग्रतप करने के लिए मिला है, उसे यो ही विषय-वासनाओ के कौए उडाने मे फैंककर भविष्य मे उग्रतपश्चरण कर लेने की दुराशा मे बैठा रहेगा ? आपको प्रतिदिन यह मनोरथ करना है कि मुझे सौभाग्य से उग्रतप करने का शुभ अवसर मिला है, इस अवसर को हाथ से न जाने दूं, इसका जितना भी लाभ लिया जा सके ले लूं। एक आचार्य ने कहा है—

> स्थाल्यां वैडूर्यमण्यां निपचति तिलखलं चान्दनैरिन्धनौघैः।
> सौवर्णैर्लांगूलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कतूलस्य हेतोः॥
> छित्त्वा कर्पूरखडान् वृत्तिमिहि कुरुते कोद्रवाणा समन्तात्।
> प्राप्येमां कर्मभूमिं न भजते तपो यो नरो मन्दभाग्यः॥

जो मूर्ख चन्दन की लकडियाँ जलाकर उनसे वैडूर्य मणि की तपेली मे तिल की खली पकाता है, आक के तूल के लिए सोने के बने हुए हलो से जमीन जोतता है तथा कोदो के चारो ओर कपूर के टुकडे करके उनकी बाड लगाता है, किन्तु वह कितना अभागा है कि इस कर्मभूमि को पाकर तप नही करता।

सचमुच ऐसा उत्तम अवसर पाकर उग्रतप न करना दुर्भाग्य ही समझना चाहिए। एक जन्म की हार अनन्त जन्म की हार है। अत जीवन की बाजी जीतने के लिये उग्रतप करना चाहिए।

उग्रतप करना इसलिये भी आवश्यक है कि सम्यग्दृष्टि या व्रती मानव शक्ति होते हुए भी यदि उग्रतप नही करता तो वह अपनी आत्मा को वैषयिक सुखो मे फँसा कर अपनी शक्ति को छिपाता है। जो मनुष्य अपनी शक्ति को छिपाता है, उसे शक्ति प्राप्त होनी दुर्लभ है। विषय-सुखासक्त होने से मानव को असातावेदनीय कर्म का तीव्र बन्ध होता है, जिसके फलस्वरूप वह अनेक भवो मे तीव्र दु ख भोगता है।[1]

तीव्रतप ही ससार के महादाह से दग्ध होने वाले भव्यो के लिए जलगृह के समान शान्तिदायक होता है। जैसे प्रचण्ड सूर्य की किरणो से सतप्त मनुष्य का शरीरदाह धारागृह से शान्त हो जाता है, वैसे ही तीव्रतप विषय-कषायो के प्रचण्ड-दाह को शान्त कर देता है।[2]

---

१ अप्पाय वंचिओ तेण होइ, विरियं च गूहिय भवति।
सुहसीलदाए जीवो बधदि हु असादवेदणीय॥
—भगवती आराधना १४५३

२ संसारमहाडाहेण डज्झमाणस्स होइ सीयघर।
सुत्तवो दाहेण जहा सीयघरं डज्झमाणस्स॥ —भगवती आराधना १४६२

इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थराजवार्तिक मे बताया है कि यह शरीर दुःख का कारण है, रोग, शोक, आधि, व्याधि, उपाधि आदि अनेक दुःख शरीर के साथ लगे हुए हैं, तथा यह अपवित्र है, इसने कितना ही विषयभोगो का सेवन किया जाए तृप्ति नही होती, किन्तु अशुचि एव अनित्य होने पर भी इससे व्रतो, नियमो का पालन करने से यथाशक्ति मार्गाविरोधी तप करने से यह गुणो के सचय मे आत्मा की सहायता करता है। इस विचार से विषय-विरक्त होकर आत्मकार्य के प्रति शरीर का नौकर की तरह उपयोग कर लेना उचित है।

इस दृष्टि से भी यथाशक्ति उग्रतप करना उचित है।

साधक छोटा हो या बडा, गृहस्थ हो या श्रमण, जीवन-यापन करते समय उससे अनेक बार अज्ञान, प्रमाद, भ्रान्ति आदि के कारण अनेक अपराध हो जाते हैं, शारीरिक भी, मानसिक भी। उन अपराधो तथा दोषो का परिमार्जन करने का एकमात्र उपाय प्रायश्चित्त है, जो कि जैन दृष्टि से आभ्यन्तर तप है। परन्तु उस प्रायश्चित्त को क्रियान्वित करने के लिए उग्र बाह्य तप करना आवश्यक होता है, उसके बिना कोरी प्रायश्चित्त करने की भावना से दोषो की शुद्धि नही होती।

अतः प्रायश्चित्त द्वारा आत्मा पर लगे हुए दोषो के निवारण के लिए भी उग्रतप करने का विधान शास्त्रो मे किया गया है। जैसे कि एक आचार्य ने कहा है—

> यत्किंचिदेनः कुर्वन्ति मनोवाक्कर्मभिर्नरा. ।
> तत्सर्वं निरस्यत्याशु तपसैव तपोधना. ॥

तपोधनी मानव मन, वचन और कर्म (काया) से जो भी पाप करते हैं, उन सबको वे तपस्या से ही नष्ट करते हैं।

उग्रतपश्चरण की शक्ति कैसे और कहाँ से ?

उग्रतप की उपयोगिता और आवश्यकता समझ लेने के बाद यह प्रश्न कदाचित् आपके दिमाग मे उठ सकता है कि हममे इतनी शक्ति और इतना समय कहाँ जो उग्रतप करें, यह तो साधु-महात्माओ का काम है। उनके पास समय भी है, निश्चिन्तता भी है, कमाने-खाने की चिन्ता नही है और शक्ति भी है, क्योंकि गृहस्थ की अपेक्षा उच्च साधना होने के कारण तथा अनेक परीषह (प्रतिकूलताएँ कष्ट) सहने के कारण उनका मनोबल ऊँचा होता है।

परन्तु दीर्घदृष्टि से सोचा जाए तो यह निरी भ्रान्ति ही सिद्ध होगी। गृहस्थ हो या साधु, दोनों में आत्मा है शक्ति की दृष्टि से [illegible] हैं। प्रत्येक प्राणी की आत्मा में अनन्त शक्ति है परन्तु किसी की शक्ति [illegible] आवृत है, किसी [illegible] है। [illegible] शक्ति [illegible] ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की साधना से [illegible] है, [illegible] है,

अन्यथा, साधु भी रत्नत्रय एव तप मे पुरुपार्थ न करके आत्महीनता का शिकार ब कर वैठ जाए कि मुझमे कहाँ तीर्थंकर जितनी शक्ति है, इसलिए मैं तो रत्नत्रय या तप मे इतना तीव्र पुरुपार्थ कर नही सकता, तो उसकी भी आत्म-शक्तियाँ इतनी उद्वुद्ध नही हो सकेंगी। अगर गृहस्थ भी अपनी आत्मशक्तियो को जाग्रत करने के लिए अहर्निश पुरुपार्थ करता है, रत्नत्रय एव तप मे तो वह साधु से भी आगे बढ सकता है, आत्मशक्ति की घुड-दौड मे और अपनी आत्मशक्तियो को अधिकाश रूप मे जाग्रत कर लेता है।

इमी दृष्टि से भगवान महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है---

सति एगेहि भिक्खूहि गारत्था सजममुत्तरा।
गारत्थेहि य सव्वेहि साहवो सजममुत्तरा॥

"कई भिक्षुओ से गृहस्थ सयम मे वढकर होते हैं, परन्तु सामान्यतया सभी गृहस्थो की अपेक्षा साधु सयम मे उत्कृष्ट होते है।"

जो लोग यह शिकायत करते है कि हम मे उग्रतप करने की शक्ति, समय और निश्चिन्तता नही है, उन लोगो से पूछा जाये कि तुम ताश खेलने वैठते हो या जूआ खेलने लगते हो, अथवा इधर-उधर का निन्दापुराण या राजनैतिक हलचल की कथा छेड देते हो, अथवा किसी से लडाई-झगडा करने लगते हो, किसी दुर्वल को मारने-पीटने लगते हो, अथवा निर्दोप पशु-पक्षियो का शिकार करने लगते हो, परस्त्री-लम्पटता या कामुकता मे फँस जाते हो, या सैर-सपाटे करने के लिए दूर दूर चले जाते हो, व्यापार-धन्धे मे मुनाफा मिलता हो तो आफिसर के यहाँ १० वार चक्कर लगा लेते हो, कही नाटक या खेल तमाशा हो रहा हो तो वहाँ विना बुलाये चले जाते हो और रातभर नीद हराम कर लेते हो, अथवा अपने निवास स्थान पर भूकम्प, वाढ, या महामारी जैसी कोई आफत आ गई हो तो उस समय तुरन्त वहाँ से भागकर रातभर जागकर भूखे-प्यासे रहकर भी सैकडो कोस दूर चले जाते हो, उस समय भी क्या तुम समय न मिलने, शक्ति न होने या निश्चिन्तता न होने का वहाना बनाते हो या उन निन्द्य कामो मे भी किसी से विना पूछे ही लग जाते हो? नही, नही, उस समय तो तुम वडे सयाने वन जाते हो और कहने लगते हो—"महाराज! यह तो लाचारी की परिस्थिति थी, इसलिए हमने अपनी शक्ति भी जुटाई, समय भी निकाला और निश्चिन्तता न होते हुए भी अपना काम वनाया। परन्तु निन्दा-चुगली करना, शिकार खेलना, जुआ, ताश, चौपड आदि खेलना, परस्त्री-लम्पटता, आदि कौन-सी लाचारी है, कौन-सी विवशता है, जिस कारण इन दुष्कृत्यो मे तुमको अपनी शक्ति प्रगट करनी पडी? जव इन दुष्कृत्यो, दुर्व्यसनो और निरर्थक कृत्यो मे तुम शक्ति प्रगट कर सकते हो, समय निकाल सकते हो और निश्चिन्तता न होते हुए भी अपना कार्य झटपट वना सकते हो, तव धर्मकार्य मे—उग्र तपश्चरण मे अपनी शक्ति लगाने मे क्यो कतराते हो, क्यो पीछे हटते हो, क्यो यह सव वहानेवाजी करते हो?

कई बार मनुष्य अपने में निहित शक्तियों को पहचान नहीं पाता, और हीन-भावना का शिकार होकर अपने आपको निर्बल और निःसत्त्व तथा मिट्टी का माधो मानने लगता है, निरुत्साह होकर गिर जाता है। जैसे कोई व्यक्ति अपने घर में गड़े खजाने को न जानकर सोचता रहता है कि मैं निर्धन हूँ, दरिद्र हूँ, सदैव निर्धन ही रहूँगा, वैसे ही कोई व्यक्ति हीनता के रोग से ग्रस्त होकर अपने में निहित शक्ति के खजाने को जानता नहीं। लोगों के सामने कहता रहता है—मैं क्या तप-जप, नियम-व्रत आदि कर सकता हूँ, मेरे में तो कोई शक्ति नहीं है। ऐसा कहना या सोचना जवानी में ही बूढ़े बन जाने के समान है। जवान आदमी हमेशा यह सोचता रहे कि मैं तो बूढ़ा हो गया, अशक्त बन गया, अब मुझसे कुछ भी न होगा, ऐसा व्यक्ति उग्रतप तो क्या करेगा, सामान्य जप-तप या नियम का भी पालन न कर सकेगा। मैंने स्वयं अनुभव किया है कि कई लोग जो नवकारसी या पोरसी का प्रत्याख्यान भी नहीं कर पाते थे, और अपने आपको दुर्बल, हीन तथा धर्मविहीन मानते थे, उन्होंने पर्युषण पर्व के मौकों पर अठाइयाँ तथा नौ-नौ उपवास तक कर लिए थे। यह शक्ति उनमें कहाँ से आ गई? क्या किसी से उन्होंने उधार ली थी या किसी ने उन्हें दे दी थी? नहीं, उनकी ही आत्मा में यह शक्ति निहित एवं सुषुप्त थी, जो प्रकट होने का अवसर एवं उत्साह आते ही वह प्रकट हो गई।

चोर, डाकू या हत्यारे में इतना साहस और बल कहाँ से आ जाता है, दूसरों को मारने पीटने, सताने और जान लेने या मारने, हत्या आदि करने में वे जैसे उन दुष्कर्मों का अभ्यास करके अपनी शक्ति बढ़ा लेते हैं, और लगातार शक्ति उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रकट करते जाते हैं, वैसे ही अध्यात्मप्रिय आत्मार्थी साधक भी चाहे तो उग्रतप करने हेतु अपनी शक्ति बढ़ाकर एक दिन पराकाष्ठा पर ले जा सकता है। अभ्यास से उग्रतप करने की शक्ति भी बढ़ाई जाती है।

एक बार [illegible] के अद्भुत करतबों को देखकर राजा-रानी में विवाद छिड़ गया। राजा कहने लगा—"इतना अद्भुत पराक्रम किसी दैवी शक्ति की सहायता के बिना कोई प्रकट नहीं कर सकता।" इस पर रानी ने नम्रतापूर्वक कहा—"प्राणनाथ! ऐसी बात नहीं है, अभ्यास से सब कुछ सम्भव है। मनुष्य अभ्यास करके [illegible] अपनी शक्ति बिना किसी [illegible] के प्रकट कर सकता है।"

[illegible] अपनी शक्ति से [illegible] लिया है, [illegible] है।

[illegible] थे। वे बचपन में बहुत ही कमजोर [illegible]

रोक लेते थे, दोनो मोटरे एक इच भी आगे नही बढ सकती थी। वे अपनी छाती पर ढाई मन का पत्थर रखवाकर हथौडे से तुडवाते थे, लेकिन उनके शरीर मे इतनी शक्ति थी कि उनका जरा भी बाल बाँका नही होता था। अपनी छाती पर वे तख्ता रखकर हाथी को भी चारो पैरो से खडा करवा लेते थे। यह अपूर्व शारीरिक शक्ति उनमे कहाँ से आई ? अभ्यास से ही तो। अगर प्रोफेसर राममूर्ति मे अपनी शक्ति बढाने का उत्साह, रुचि और साहस न होता, वे अभ्यास न करते तो क्या इतनी आश्चर्यजनक शक्ति उनमे बढ सकती थी ? कदापि नही।

श्री आचार्य सर्वे ने मानव की क्षमता का बहुत ही सुन्दर शब्दो मे वर्णन किया है—

> **है असीम क्षमता मनुष्य मे, जो चाहे वह ही बन जाए।**
> **पौरुष जागे पार्थ बने नर, मन का अधियारा मिट जाए॥**
> **भरी अथक सघर्ष-शक्ति है, सहिष्णुता-विश्वास कहाँ है।**
> **और कहो, सन्तुलित-समन्वित, जीवन का आवास कहाँ है ?**

मानव की असीम शक्ति का कितना सुन्दर निरूपण कवि ने कर दिया है।

हाँ तो, रानी की बात पर राजा गुस्से मे आकर आपे से बाहर हो गया। उसने रानी को अहकारिणी और बातूनी कहकर राजमहल से बाहर निकाल दिया और कहा—"अपनी बात सिद्ध करके बताओगी तभी राजमहल मे प्रवेश पा सकोगी।" रानी का आत्मविश्वास सुदृढ था। उसने एक गाँव मे जाकर गोपालक के यहाँ अपना डेरा डाला। गोपालक की गाय ब्याही, तब उसकी बछडी को वह अपनी पीठ पर उठाकर चलने और जीनो पर चढने का क्रमश. अभ्यास करने लगी। चार वर्षों तक उसका यही क्रम रहता था।

एक दिन वह बछडी गाय जितनी बडी हो गयी, फिर भी वह रानी अपनी पीठ पर उठाकर जीने की कई सीढियाँ चढ जाती थी। जब अभ्यास पक्का हो गया तो उस गोपालक के द्वारा राजपरिवार को खासकर राजा को उस गाँव मे होने वाले तमाशे मे पधारने का आमत्रण दिया गया। राजा राजपरिवार एव दरबारियो के साथ पहुँचे। रानी ने पुरुष का वेश बना रखा था। कोई उसे पहचान नहीं सका। उस गाय को अपनी पीठ पर उठाकर गाँव के महाजन की हवेली की ५० सीढियाँ चढी और वापस उतरी। सभी लोग उसकी शक्ति पर दाँतो तले उगली दबाकर धन्य-धन्य बोल उठे। राजा उसे इनाम देने लगे, तभी पुरुषवेषी रानी ने राजा से एकान्त मे मिलने की प्रार्थना की। राजा मिले तो उसने अपना परिचय देकर कहा—"अभ्यास से प्रत्येक असम्भव दिखायी देने वाला कार्य सम्भव हो सकता है, यह बात मैंने सिद्ध कर दी है।" राजा ने खुश होकर राजमहल मे सम्मान के साथ प्रवेश कराया।

उग्र से उग्र तप करने की शक्ति भी इसी तरह अभ्यास से आ जाती है, [illegible] प्रस्फुटित हो जाती है।

उग्रतप की शक्ति में शंकित मेघमुनि का समाधान

मुनि मेघकुमार भी एक दिन उग्रतप की, या यों कहिए तीव्र कष्ट सहन की अपनी शक्ति पर शंकित हो गया था। अपनी तप-संयम की शक्ति पर उनका विश्वास डगमगा गया था।

बात यों बनी कि जब मगध सम्राट श्रेणिक का लाड़-प्यार में पला पुसा सुकुमार और विलासिता में डूबा हुआ मेघकुमार संसार से विरक्त होकर जैन मुनि के रूप में दीक्षित हो गया तो पहली रात्रि नवदीक्षित मुनि का शयनासन क्रमशः सब मुनियों के अन्त में मकान के द्वार के पास लगाया गया। रात्रि में अँधेरा होने के कारण मुनि लोग लघुशंका के लिए या स्वाध्याय या चिन्तन करने बाहर जाते तो जाते-आते किसी के पैरों का स्पर्श हो जाता था। कई साधुओं के पदाघात के कारण उसकी नींद उचट गई। वे रात भर में बहुत ही थोड़ी नींद ले पाये।

मेघकुमार ने कभी ऐसा जीवन नहीं बिताया था, पर आज दीक्षा के बाद उसे ऐसा जीवन मिला, कोमल शय्या के बदले भूमि पर सिर्फ एक शयनासन बिछाने को मिला। राजकुमार था तो नौकर-चाकरों की कोई कमी न थी, पर आज अपना सारा काम हाथ से करना पड़ता था इतना ही नहीं, अन्य बड़े साधुओं की भी विनय की दृष्टि से सेवा-शुश्रूषा में लगा रहना पड़ा। पहले तो मेरे साथ इतना अधिक प्रेम से सब साधु-गण बोलते थे पर आज तो मैं देख रहा हूँ मुझे शास्त्र स्वाध्याय तथा आचार क्रियाओं में लगाकर [illegible] मुझसे अधिक बोलते भी नहीं, मुझे तो [illegible] दिया। और मैं पहले राजकुमार होने के नाते स्वतन्त्र रूप से कहीं भी घूम सकता था, मनोरंजन कर सकता था, पर यहाँ तो नियम [illegible] और कभी तो [illegible] जाने की भी [illegible] पूछताछ-जिज्ञासा [illegible]। [illegible] पिंजरे के पक्षी की तरह [illegible]। मेघकुमार का मन [illegible] हो गया, साधुओं के [illegible] [illegible] — 'अरे मुनि मेघ! [illegible]

[illegible]

आखिर उसके निर्बल मन ने अशक्ति को जिताया और प्रातः होते ही वह चल पडा— श्रमण भगवान महावीर के पास, सभी उपकरण लेकर मुनिदीक्षा के इस उग्रतप तथा घोर कष्ट सहने से छुटकारा पाने हेतु।

भगवान के निकट पहुँचते ही उन्होने उसके चेहरे और रगढग से ही जान लिया कि मेघकुमार सयम और तपोमय जीवन से ऊब गया है, अशक्ति का आवरण ओढकर वह इससे पलायन करना चाहता है। अत उन्होने मेघमुनि से कहा— "मेघ ! ऐसी क्या बात हो गई, जो तुम जरा से कष्ट से विचलित हो गये ?"

मेघकुमार ने विनयपूर्ण शब्दो मे कहा—"बस, भगवन् ! मुझे पता नही था कि इतनी कठोर उग्रतप और कष्ट-सहन से मेरी परीक्षा होगी। मुझसे इतना कष्ट नही सहा जाता, इतना उग्रतप करने मे मैं अपने को असमर्थ पाता हूँ।"

भगवान महावीर ने मेघमुनि को धर्मस्नेहपूर्वक आत्मा की अनन्त शक्ति का परिचय देते हुए तथा उसने पूर्वजन्म मे हाथी के रूप मे जिस शक्ति का परिचय दिया था, उसे बताते हुए कहा—"मेघ ! हाथी के भव मे तुमने एक खरगोश की दया के लिए २० पहर तक अपना एक पैर ऊपर का ऊपर रखा था, उस समय तुममे शक्ति कहाँ से आ गई थी ? उसी के फलस्वरूप तुम राजकुमार बने और कल मुनि बने, अब तो तुममे अधिक शक्ति प्रगट करने की क्षमता होनी चाहिए। घबराओ मत, अभ्यास से सारी शक्तियाँ प्रकट हो सकती है। शक्ति सहिष्णुता और धैर्य रखने से प्रगट होती है।"

भगवान महावीर द्वारा किये गये युक्तिपूर्ण समाधान से मेघमुनि का मन, तप और सयम मे स्थिर हो गया। उसने अपने आपको, सर्वतोभावेन समर्पण करके उग्रतप एव सयम-पालन मे अपनी शक्ति लगा दी। फिर कभी उसने उग्रतप की शक्ति न होने की शिकायत नही की।

साराश यह है कि आत्मा मे निहित अनन्तशक्ति को प्रकट करने के लिए धैर्य, साहस और सहिष्णुता और तितिक्षा के साथ अभ्यास करना अभीष्ट है। उग्र से उग्र तप करने की शक्ति अभ्यास से आ जाती है। शक्ति का स्रोत अन्दर है, वह बाहर से कही से प्राप्त होने वाली नही है। वह अन्दर से ही प्रकट होगी, होना चाहिए उस अन्तर्निहित शक्ति के स्रोत से उग्रतप आदि द्वारा शक्ति खीचने का बार-बार प्रयत्न। स्वय उग्रतप से अनेक शक्तियाँ, लब्धियाँ एव सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। उग्रतप से साधक का मनोबल, क्षमता, सहनशक्ति बढ जाती है।

उग्रतपस्वी मे इतनी शक्ति आ जाती है कि वह दुर्जेय विषय-कषायादि पर सहज ही विजय पा लेता है और इसी लोक मे क्षमा, शान्ति, कष्टसहिष्णुता आदि विशिष्ट गुणो को प्राप्त कर लेता है। बड़ी कठिनता से जीते जा सकने वाले क्रोधादि कषायो और पचेन्द्रिय-विषयरूपी उद्भट चोर उग्रतप रूपी सुभट के द्वारा बलपूर्वक प्रताडित होकर नष्ट हो जाते हैं।

उग्रतपःशक्ति का अचूक प्रभाव

उग्रतपस्वी की तप-शक्ति का प्रभाव अदृश्य प्रकृति पर भी पड़ता है। प्रकृति के [illegible] भी उसकी अदृश्य रूप से [illegible] करते हैं, उसके अनुकूल हो जाते हैं।

एक दिन उदयपुर के राजपथ पर एक अभिग्रहधारी उग्रतपस्वी साधु हाथ में झोली लिए जा रहे थे। प्रतिदिन वे इसी तरह झोली में पात्र डालकर नियत समय पर नगर में जाते थे और [illegible] न मिलने पर वापस अपने स्थान पर लौट आते थे। इस तरह निराहार रहते हुए उन्हें ४४ दिन हो गये थे। आज ४५वाँ दिन था। वह महान उग्रतपस्वी जीवन की बाजी लगाये कर्मों से युद्ध कर रहे थे। आज भी मुनि सदा की भाँति राजपथ से गुजरते हुए [illegible] पर आ गए थे। इसी समय महाराणा का एक हाथी [illegible] उठा और वह बन्धन तोड़कर महलों से बाहर निकल भागा। राज्य के सिपाही चिल्लाते हुए दौड़ रहे थे कि सावधान! मतवाला हाथी आ रहा है। हाथी चिंघाड़ता हुआ उसी मार्ग पर दौड़ता जा रहा था, जिस मार्ग पर तपस्वी मुनि जा रहे थे। देखते ही देखते दोनों आमने-सामने हो गए। आस-पास के लोग [illegible] से यह भयानक दृश्य देख रहे थे। उन्होंने हाथी के सामने मुनि को देख [illegible]—'अब इनका जीवन बचना कठिन है, हाथी अभी इन्हें पैरों तले कुचल देगा।' परन्तु हुआ कुछ और ही जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। वह मदोन्मत्त हाथी मुनि को सामने देख बिल्कुल धीमा और शान्त हो गया। [illegible] उसका नशा गायब हो गया था।

हाथी एक हलवाई की दुकान के आगे खड़ा हो गया। बेचारा हलवाई तो डर के मारे अन्दर घुस गया। मुनिराज भी तब तक हलवाई की दुकान के पास आ गये थे। हाथी ने अपनी सूँड से हलवाई की दुकान में से लड्डुओं से भरी टोकरी उठाई और मुनि [illegible] के सामने रख दी। मुनि [illegible] अभिग्रह पूरा होता देख झोली में से पात्र निकाला। हाथी ने [illegible] लड्डू उनके पात्र में डाल दिए। [illegible]

[illegible]

उग्रतप के साथ क्षान्ति से ही आत्मिक महाशक्ति की प्राप्ति

उग्रतप से महाशक्ति प्राप्त हो जाने के बावजूद भी अगर तपस्वी के जीवन मे क्षान्ति न होगी तो वह शक्ति विपरीत रूप मे परिणत हो जायगी, उससे महान् अनर्थ पैदा होगा, वह शक्ति आध्यात्मिक महाशक्ति रूप मे परिणत न होगी। आत्मिक महाशक्ति का मतलब है—आत्मा मे उच्च से उच्च महाशक्ति का प्रकट होना और उससे उच्च से उच्च घोर तप कर सकना, दृढतापूर्वक चारित्र पालन कर सकना, उपसर्गो एव परीषहो, सकटो और आफतो के आ पडने पर शुद्ध धर्ममार्ग से जरा भी विचलित न होना, मरणान्त कष्ट को भी समभावपूर्वक सह लेना। उग्रतप से इस प्रकार की आध्यात्मिक महाशक्ति तभी प्राप्त हो सकती है, जब उग्रतप के साथ क्षान्ति हो। अगर उग्रतप के साथ उग्रक्रोध होगा, बात-बात मे झुंझलाहट होगी, किसी के जरा से कुछ कहने पर वह झल्ला उठेगा, अपमान या निन्दा करने वाले के प्रति हिंसक प्रतिक्रिया पैदा होगी, शाप दे देगा या कोप कर बैठेगा, अथवा अहकार-ग्रस्त होकर दूसरो की उन्नति या प्रगति देखकर उनके प्रति मन मे द्वेष, आक्रोश, ईर्ष्या, घृणा एव नीचा दिखाने की वृत्ति पैदा होगी या किसी प्रकार के कष्ट, परीषह सकट, उपसर्ग आदि आने पर समभाव से उन्हे सहन नही करेगा, तप से प्राप्त सिद्धियो या लब्धियो को पचाने की क्षमता नही होगी, जगह-जगह उनका प्रदर्शन, आडम्बर एव प्रयोग करके प्रसिद्धि या सत्कार-पूजा पाने की लालसा होगी, निन्दा, गाली, अपमान, भर्त्सना, ताडना आदि समभावपूर्वक सहने की वृत्ति न होगी, फलाकाक्षा अथवा फलप्राप्ति की उतावली होगी, धीरतापूर्वक तटस्थभाव से अपना जीवन निराडम्बरपूर्ण ढग से बिताने की वृत्ति न होगी, या तपस्या से सिद्धि प्राप्त होने पर मारण, मोहन, उच्चाटन आदि प्रयोग करने की बलवती लालसा होगी और क्षमा और नम्रता न होगी तो वह उग्रतप आध्यात्मिक शक्ति बढाना तो दूर रहा, आत्मगुणो का सर्वनाश कर बैठेगा, आत्मा का बडा भारी अहित कर बैठेगा।

अत उग्रतप के साथ क्षान्ति का होना अत्यावश्यक है। क्षान्ति उग्रतप की लगाम है। क्षान्तिरूपी लगाम न होगी तो उग्रतप का घोडा उद्दण्ड होकर सवार (तपस्वी) को ही पतन के खड्डे मे गिरा देगा अथवा उत्पथ पर ले जाकर उसे ससार की भयकर अटवी मे भटका देगा।

उग्रतप के साथ अगर क्षान्ति नही होगी तो जिस पवित्र उद्देश्य से उग्रतप किया जाता है, वह उद्देश्य पूर्ण न होगा, जिस आध्यात्मिक लक्ष्य—मोक्ष-प्राप्ति या कर्मों से मुक्ति के लिए उग्रतप किया जाता है वह लक्ष्य प्राप्त नही होगा और वही कहावत चरितार्थ होगी—"**आये थे हरिभजन को, ओटन लगे कपास।**"

क्षान्ति : उग्रतप की शोभा

इसीलिए महर्षि गौतम ने सकेत किया है कि उग्रतप के साथ क्षान्ति हो तभी उसकी शोभा है। अन्यथा, उग्रतप के साथ असहिष्णुता, क्रोध, अहकार, ईर्ष्या, द्वेष,

[illegible] समाधिता, [illegible], [illegible] आक्रोश, मारण, मोहन-[illegible] आदि विविध [illegible] की उतावली, प्राप्त सिद्धियों या लब्धियों का दुरुपयोग आदि अनिष्ट जीवन में [illegible] जाय तो उग्रतप विकृत हो जायगा, उसकी [illegible] आदमी, [illegible] सब क्रिया-कलाप [illegible] हो जायगा, [illegible] जायगा। [illegible] तप विकृत, जो [illegible] हुआ [illegible] नहीं लगती।

[illegible] उग्रतप के साथ [illegible], क्षमा, नम्रता, निरभिमानता, [illegible], उसमें आत्मिक शक्ति [illegible]। [illegible] भौतिक उपलब्धियाँ प्राप्त हो जायें, पर वे [illegible] होंगी।

ने भी अपने गुरुदेव से प्रार्थना की—"गुरुदेव ! मुझे भी आमरण अनशन (संथारा) करने की आज्ञा दीजिए।"

गुरु ने स्नेहपूर्वक कहा—"वत्स ! अभी तुम इसके योग्य नही हो।"

शिष्य—"तो गुरुदेव ! मैं कब इसके योग्य हो जाऊँगा ?"

गुरु ने उत्तर दिया—"पहले बारह वर्ष तक तप करके साधना करो, अपनी आत्मा को वश में करो, तब तुम इसके योग्य बन जाओगे।"

'बहुत अच्छा, गुरुदेव !' कहकर उस साधु ने लम्बे-लम्बे उपवास करने शुरू कर दिये। इस प्रकार बारह वर्ष तक उग्रतप करने से उसका शरीर सूखकर कांटा हो गया। शरीर केवल हड्डियो का ढाँचा मात्र रह गया। उठते-बैठते समय हड्डियाँ कट-कट आवाज करने लगी। शिष्य ने उचित अवसर देखकर गुरुजी के पास आकर सविनय निवेदन किया—"गुरुदेव ! मैंने आपके निर्देशानुसार १२ वर्ष तक उग्रतप की साधना कर ली है। अब तो मै सथारा करने के योग्य हो गया हूँ, अत अब मुझे उसकी आज्ञा दीजिए।"

गुरु ने कहा—"तुमने १२ वर्ष उग्रतप तो किया, परन्तु अभी सलेखना सथारे के योग्य होने मे कसर है।"

"अब क्या कसर रह गई है, गुरुवर !" यो कहते हुए उस साधु ने चट से उँगली मोडकर तोड डाली।

गुरु ने उसे प्रेम से समझाते हुए कहा—"वत्स ! तूने उग्रतप से अपने शरीर को तो खूब सुखा डाला। वह तो सिर्फ अस्थिपजर मात्र रह गया है। पर अभी तक (शरीर मे बैठे हुए) राग-द्वेष, विषय-वासना, कषाय, आदि जो विकार कर्मशत्रुओ के जनक हैं, उन्हे तू नही सुखा पाया। और सलेखना सथारे मे उन्हे सर्वप्रथम सुखा डालना पडता है। इसीलिए मैंने कहा कि तू अभी सथारे के योग्य नही बना।"

तात्पर्य यह कि सथारे के उम्मीदवार उस साधु ने उग्रतप तो बहुत किया। किन्तु उसके साथ क्षान्ति जीवन मे न आई। क्रोध और रोष उसके जीवन मे था, ईर्ष्या और देखा-देखी विद्यमान थी, योग्यता न होते हुए भी सथारा करके फल-प्राप्ति की उतावली उसमे थी, वह अपनी तप शक्ति को पचा नही पाया था, इसी कारण उसके गुरु उसे अभी संथारे के अयोग्य समझते थे। उग्रतप की शोभा शरीर को केवल सुखा देने मे नही है, शरीरस्थ उपद्रवो, राग-द्वेषादि विकारो को तपाकर क्षान्ति से जीवन को सुसज्जित करने मे है।

अन्त मे वह शिष्य भी समझ गया कि उग्रतप की शोभा क्षान्ति मे है, अत वह पुन· विषय-कषायो को कृश करने की साधना मे जुट गया।

उग्रतप के साथ क्रोधादि हों तो

उग्रतप के साथ क्षान्ति के बदले क्रोध, अहकार, असहिष्णुता, असमाधि, अधीरता आदि का होना तप का अजीर्ण है। उग्रतप के साथ क्रोध होने से वर्षो का

ने भी अपने गुरुदेव से प्रार्थना की—"गुरुदेव ! मुझे भी आमरण अनशन (संथारा) करने की आज्ञा दीजिए।"

गुरु ने स्नेहपूर्वक कहा—"वत्स ! अभी तुम इसके योग्य नही हो।"

शिष्य—"तो गुरुदेव ! मैं कब इसके योग्य हो जाऊँगा ?"

गुरु ने उत्तर दिया—"पहले बारह वर्ष तक तप करके साधना करो, अपनी आत्मा को वश मे करो, तब तुम इसके योग्य बन जाओगे।"

'बहुत अच्छा, गुरुदेव !' कहकर उस साधु ने लम्बे-लम्बे उपवास करने शुरू कर दिये। इस प्रकार बारह वर्ष तक उग्रतप करने से उसका शरीर सूखकर कॉटा हो गया। शरीर केवल हड्डियो का ढाँचा मात्र रह गया। उठते-बैठते समय हड्डियाँ कट कट आवाज करने लगी। शिष्य ने उचित अवसर देखकर गुरुजी के पास आकर सविनय निवेदन किया—"गुरुदेव ! मैंने आपके निर्देशानुसार १२ वर्ष तक उग्रतप की साधना कर ली है। अब तो मैं सथारा करने के योग्य हो गया हूँ, अत अब मुझे उसकी आज्ञा दीजिए।"

गुरु ने कहा—"तुमने १२ वर्ष उग्रतप तो किया, परन्तु अभी सलेखना सथारे के योग्य होने मे कसर है।"

"अब क्या कसर रह गई है, गुरुवर !" यो कहते हुए उस साधु ने चट से उँगली मोडकर तोड डाली।

गुरु ने उसे प्रेम से समझाते हुए कहा—"वत्स ! तूने उग्रतप से अपने शरीर को तो खूब सुखा डाला। वह तो सिर्फ अस्थिपजर मात्र रह गया है। पर अभी तक (शरीर मे बैठे हुए) राग-द्वेष, विषय-वासना, कषाय, आदि जो विकार कर्मशत्रुओ के जनक हैं, उन्हे तू नही सुखा पाया। और सलेखना सथारे मे उन्हे सर्वप्रथम सुखा डालना पड़ता है। इसीलिए मैंने कहा कि तू अभी सथारे के योग्य नही बना।"

तात्पर्य यह कि सथारे के उम्मीदवार उस साधु ने उग्रतप तो बहुत किया। किन्तु उसके साथ क्षान्ति जीवन मे न आई। क्रोध और रोष उसके जीवन मे था, ईर्ष्या और देखा-देखी विद्यमान थी, योग्यता न होते हुए भी सथारा करके फल-प्राप्ति की उतावली उसमे थी, वह अपनी तप शक्ति को पचा नही पाया था, इसी कारण उसके गुरु उसे अभी संथारे के अयोग्य समझते थे। उग्रतप की शोभा शरीर को केवल सुखा देने मे नही है, शरीरस्थ उपद्रवो, राग-द्वेषादि विकारो को तपाकर क्षान्ति से जीवन को सुसज्जित करने मे है।

अन्त मे वह शिष्य भी समझ गया कि उग्रतप की शोभा क्षान्ति मे है, अत वह पुन: विषय-कषायो को कृश करने की साधना मे जुट गया।

उग्रतप के साथ क्रोधादि हो तो

उग्रतप के साथ क्षान्ति के बदले क्रोध, अहंकार, असहिष्णुता, असमाधि, अधीरता आदि का होना तप का अजीर्ण है। उग्रतप के साथ क्रोध होने मे वर्षों का

तुम्ही एकादशी का पारणा नही करते, मैं भी करता हूँ। तुम क्षत्रिय हो, मैं ब्राह्मण। जब तक मैं पारणा नही कर लेता, तब तक तुम्हे उसका अधिकार नही। अत अभी यही ठहरो।"

अम्बरीष नृप ने विनम्रभाव से वर्जना स्वीकारी और वही तट पर बैठकर प्रतीक्षा करने लगे। किन्तु यह क्या, काफी समय बीत गया, मगर दुर्वासा गये तो फिर मानो लौटना ही भूल गये। काफी समय बीत जाने पर उन्होने कुछ विद्वान ब्राह्मणो से निर्णय माँगा तो उन्होने कहा—"महाराज! आप बिना प्रतीक्षा किये पारणा करे। तप का महत्व क्रुद्ध होकर शाप देने तथा अहकार प्रदर्शित करने मे नही, जगत का कल्याण करने मे है। प्रतिवाद न करने से अवाछनीयता बढती है। आप धर्मज्ञ हैं। अनैतिक आचरण का विरोध भी धर्म का अग है। अत' आप नि संकोच होकर पारणा करिये।"

महाराज ने विद्वान विप्रो की बात मानकर पारणा प्रारम्भ कर दिया। यह देखते ही दुर्वासा का क्रोध भडक उठा। उन्होने अम्बरीष पर कृत्याघात किया। कृत्या अभी तक महाराज तक पहुँची ही थी कि महाराज के शरीर से धर्म, न्याय, सदाचार, चरित्र और विनय—ये पाँच देव निकले और कवच की तरह उनके चारो ओर विराजमान हो गये। कृत्या को आघात का अवसर न मिला तो वह प्रहारक दुर्वासा को ही विनष्ट करने को तुल गई। दुर्वासा हाहाकार कर उठे। यह देखकर अम्बरीष नृप की करुणा उमडी, उन्होने नेत्रो की शीतल अमृत धारा से कृत्या को शान्त किया।

दुर्वासा पराजित हुए खडे थे। उन्होने अनुभव कर लिया कि उग्रतप से अर्जित शक्ति की शोभा विनम्रता और क्षमा मे है, अहकार और क्रोध मे नही।

उग्रतप के साथ क्रोधादि क्यों लग जाते है ?

प्रश्न होता है कि इतना उग्रतप करने वाले के साथ क्रोध, अहकार, असहिष्णुता, अधीरता आदि दुर्गुण क्यो लग जाते हैं और क्यो उस पवित्र तप को दूषित कर देते हैं। कुछ लोगो ने तो मानो उग्रतप के साथ क्रोध और अहकार का ठेका ही ले रखा है। वे कहते हैं—उग्रतप करने वालो मे तामसिक वृत्ति आ जाती है, इसलिए क्रोध आना स्वाभाविक है। परन्तु यह निरी भ्रान्ति है। उग्रतप के साथ क्रोध और अहकार आदि का कोई गठबन्धन नही है, उलटे क्रोध करने से असख्य वर्षों की तपस्या मिट्टी मे मिल जाती है, तपस्या का वास्तविक सुफल समाप्त हो जाता है।

उग्रतप के साथ जब क्रोधादि दूषण आ जाते हैं, तो तप का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। तप का वास्तविक उद्देश्य सिद्धियाँ या लब्धियाँ प्राप्त करना नही है, किन्तु कषाय एव विषय-वासनाओ, राग-द्वेष-मोह आदि के कारण बँधे हुए शुभाशुभ कर्मों का क्षय करना है, उन्हे मिटाकर आत्मा को शुद्ध करना है, आत्मा का अपना असली स्वरूप प्रगट करना है, वीतरागता की प्राप्ति करना है। लेकिन उग्रतप के

सहनशीलता, धीरता, क्षमा, नम्रता आदि सद्गुण नष्ट हो जाते हैं, तब उग्रतप का जो उद्देश्य था, वह पूर्ण होना तो दूर रहा, उलटे रागद्वेष-कषाय आदि के कारण नाना प्रकार के अशुभ कर्मों का और बन्ध हो जाता है।

अर्थात्—उग्रतप से कर्म नष्ट होने के बजाय, और नये कर्म बँध जाते हैं, जिनका कटुफल भोगना पडता है। पुराने कर्म तो ज्यो के त्यो पडे रहे, तथा नये कर्मों के बन्ध का सचय होता रहे, उससे बढकर घाटे का सौदा क्या हो सकता है ? उग्रतप करने वाला जितना पुरुषार्थ तप करने मे करता है, उससे थोडा-सा और पुरुषार्थ तप के साथ क्रोधादि दूषणो के प्रविष्ट न होने की सावधानी मे करे तो वह उग्रतप खरे सोने की तरह चमकने लगता है। पर ऐसा करे कौन ? वही कर सकता है, जिसकी आत्मा मे खटका हो, बाकी बहुत से नामधारी उग्रतपस्वी तो क्रोध के पु ज और अभिमान के पुतले ही बने नजर आते हैं। क्यो ? इसके लिए आइए कारणो की छानबीन मे उतरे—

उग्रतप के साथ क्रोध और अहकार आदि का मूल कारण है—अहकार पर चोट। जब कोई उग्रतपस्वी को कुछ कह देता है, या उसकी गलती की ओर ध्यान खीचता है, तो वह अपनी गलती स्वीकार करने या सुधारने के बदले अहकार पर चोट पडने के कारण क्रोध से आग-बबूला हो जाता है। और जब क्रोध आता है तो साधारण नही, उग्र आता है, वह अपने दल-बल के साथ आता है। क्रोध के साथी हैं—द्वेष, घृणा, वैर-विरोध, कलह, ईर्ष्या, बात-बात मे झल्लाना, झु झलाना, मार-पीट, प्रहार, भर्त्सना, गाली, निन्दा-चुगली, अपशब्द, शाप, आक्रोश, डाट फटकार, नीचा दिखाने की वृत्ति आदि। ये सब असहिष्णु स्वभाव के लक्षण हैं। उग्रतपस्वी जब किसी की बात को सहन नही कर पाता, तब अपने आपे से बाहर हो जाता है, उसे भान ही नही रहता है कि मैं किससे, क्या और क्यो कह रहा हूँ ? इसका क्या परिणाम आएगा। वह इस प्रकार क्रोधादि आवेश मे क्षान्ति को विदा कर देता है और अशान्ति को उसके आसन पर बिठा देता है।

उग्रतप के साथ अहकार और तज्जनित क्रोधादि का एक कारण यह भी है कि उग्रतप से मनुष्य को कुछ भौतिक सिद्धियाँ या लब्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, कुछ विशिष्ट भौतिक शक्तियाँ भी। वह उन सिद्धियो आदि के मद मे स्वय को भूलकर जरा-सा किसी के द्वारा प्रतिकूल वचन कहते, प्रतिकूल व्यवहार करते या अपमान करते ही सर्प की तरह क्रुद्ध होकर शाप दे देता है, अथवा द्वेष, ईर्ष्या आदि के आवेश मे आकर उसका सर्वनाश करने पर उतारू हो जाता है। उग्रतपस्वी को ये सिद्धियाँ मिली तो थी, पुण्य के फलस्वरूप, पर वह उनका उपयोग पापकार्यों मे करके अपने उग्रतप को मिट्टी मे मिला देता है। सिद्धिप्राप्त उग्रतपा को शाप बरसाते या सर्वनाश करते समय जरा भी विचार नही आता, वह सिद्धियो के नशे मे चूर रहता है।

कई बार सिद्धिमदान्ध उग्रतपस्वी गाली, निन्दा, ताडना-तर्जना आदि करके अपनी असहनशीलता का परिचय देता है। वह भी अपने तप से भ्रष्ट हो जाता है।

कई बार उगतपस्वी आत्मा और शरीर का भेदविज्ञान न होने के कारण जरा-सी विपत्ति, परीषह, कष्ट या सकट आते ही क्षुब्ध हो जाता है, घबरा उठता है, अपने पथ से विचलित हो जाता है और असहिष्णु बनकर उनसे हार खा जाता है, फलत. देहासक्ति, प्राणमोह, अगोपागो का मोह, अपनी मानी हुई वस्तु के प्रति मूर्च्छा-ममता आदि विकार उसे घेर लेते हैं, जो उसकी तपस्या को दूषित कर देते हैं, वे किया-कराया सब चौपट कर देते है, तप के उद्देश्य को ही समाप्त कर देते हैं। उम उग्रतपस्वी का चित्त असमाधि मे पड जाता है। जिससे आत्मसमाधि के अभाव मे वह शरीर को तो अत्यन्त ताप-सताप देता रहता है, इन्द्रियो और मन को भी मारता रहता है, पर आत्मशान्ति उससे कोसो दूर भाग जाती है।

जिस उग्रतपस्वी के समक्ष तपस्या का ध्येय स्पष्ट न हो, जिसे तपस्या के महत्त्व और विधि का ज्ञान न हो, तपस्वी के दायित्वो और कर्त्तव्यो का बोध न हो वह सदा फलाकाक्षी होकर सासारिक सुखभोग के रूप मे विविध फलो की कामना करता रहता है, फल-प्राप्ति के बारे मे उतावला हो उठता है, उसकी तपस्या का ध्येय मोक्षप्राप्ति न होकर स्वर्गादि सुख या इहलौकिक सुख-साधनो की प्राप्ति रहता है। ऐसे अधीर उग्रतपस्वी के तप की शोभा समाप्त हो जाती है।

इसी प्रकार जिस उग्रतपस्वी मे सिद्धियो और लब्धियो को पचाने की क्षमता नही है, उनका वह दुरुपयोग करता है, उसका उग्रतप भी शोभास्पद नही होता।

जिस उग्रतपस्वी मे सर्दी-गर्मी, प्राकृतिक प्रकोप या मान-अपमान, यश-अपयश सहने की तितिक्षा शक्ति नही है, वह भी अपने उग्रतप को आत्मोन्नतिकारक नही बना पाता।

क्षमा में उग्रतप की शोभा सन्निहित है

जिस उग्रतपस्वी मे क्षमा की वृत्ति हो, जो अपना अपकार करने वाले के प्रति भी क्षमाशील रहता हो, जिसके जीवन मे अपने पर प्रहार करने, गाली-गलौज करने, अपशब्द कहने या व्यंग्य कसने वाले के प्रति मन मे किसी भी प्रकार का रोष, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, वैरभाव या हिंसक (मारण-उच्चाटन आदि) प्रतिकार का भाव न हो, वही अपने उग्रतप मे चार चाँद लगा देता है। उसका ही उग्रतप लोकश्रद्धेय बनता है, लोककल्याणकारी होता है। उसकी क्षमा के आगे सभी नतमस्तक हो जाते हैं, उसकी सहिष्णुता लोकवन्द्य बनती है। वह उग्रतपस्वी अपने जीवन मे किसी का अपकार करना नही चाहता, न करता है, मन-वचन काया से। ऐसे क्षमाशील उग्र-तपस्वी के हृदय के सम्बन्ध मे पाश्चात्य साहित्यकार इमर्सन (Emerson) कहता है—

His heart was as great as the world, but there was no room in it to hold the memory of a wrong.

'उस क्षमाशील का हृदय विश्व के जितना विशाल है, किन्तु उसमे किसी गलत बात को स्मृति मे धारण किये रखने को कोई अवकाश नही है।'

तात्पर्य यह है कि क्षमाशील उग्रतपस्वी किसी के दुर्गुण, अपराध, दोष या अपकार की ओर नही देखता, वह सदा प्रकाश का पहलू देखता है। इसीलिए उसके दिल दिमाग मे किसी के अन्धकारमय पहलू को कोई स्थान नही रहता। वह किसी के द्वारा गाली दिये जाने पर भी उसे वरदान के रूप मे मानता है, शान्त होकर उसके वास्तविक अर्थ पर विचार करता है। जैसे किसी ने कहा—'तेरा सत्यानाश हो' तो वह यही सोचता है कि तेरे सत्य का कभी नाश नही होगा। सत्य का अनाश ही तो सत्यानाश (सत्य + अनाश) है। यही तो मगलकारी आशीर्वाद है। गाली देने पर मैं अपने मन मे मलिनता लाऊँ तो मेरा ही नुकसान है, मेरी ही आत्मा पर अशुभ कर्म के आवरण चढेंगे, और प्रसन्न रहकर समभाव से सहूँगा तो लाभ है, मेरे अशुभ कर्मों का क्षय होगा। बदला लेने की या प्रतिहिंसा की शक्ति न होने से अनिच्छापूर्वक किसी के अपकारो को सह लेना सच्ची सहिष्णुता नही है। वास्तव मे वह सहिष्णुता नही, बल्कि निर्बलता या कायरता होगी। किन्तु प्रतिकार की शक्ति होते हुए भी किसी के अपकार को उसे दयापात्र, अशान्त या रुग्ण समझकर उस पर क्षमाभाव दर्शाना ही सच्ची सहिष्णुता है।

अयोध्यानरेश कीर्तिधर ने प्रव्रजित होने की जब मन्त्रियो के समक्ष इच्छा प्रगट की तो उन्होंने पुत्र होने तक रुक जाने की प्रार्थना की। उन्होंने बताया कि शासकविहीन राज्य पर शत्रु किसी भी समय आक्रमण करके प्रजा को पीडित करते रहेंगे, अराजकता छा जायेगी। राजा ने इस पर मनन करके उत्तराधिकारी होने तक गृहवास मे रहना स्वीकार किया। कुछ दिन बाद रानी सहदेवी गर्भवती हुई। रानी अपने पति के प्रव्रज्या लेने के दृढ सकल्प को जान चुकी थी, इसलिए पुत्र उत्पन्न होने पर भी बालक को छिपाये रखा। आखिर अन्तरग दासियो द्वारा राजा कीर्तिधर को अपने पुत्र होने का पता लग गया। धूमधाम के साथ पुत्रोत्सव करके राजकुमार का नाम सुकोशल रखा। इस उत्सव के साथ ही राजा ने सुकोशल को सिंहासन पर बिठा दिया। स्वय दीक्षा ग्रहण करने की तैयारी करने लगा।

इस घटना से सहदेवी दु ख से भर गई। उसे राजा के प्रति अत्यन्त प्रीति थी। उसने राजा की बहुत खुशामद की, बार-बार चरणो मे सिर रखकर प्रार्थना की। आंसू बहाते हुए कहा—"प्राणनाथ! आपके वियोग की कल्पना से ही मेरा हृदय फटा जा रहा है। आप गृहस्थ जीवन मे ही रहकर धर्माराधना कीजिए, मैं आपके धर्माराधन मे कभी बाधक न बनूंगी। आप ही मेरे जीवनधन हैं। मैं तो केवल आपके दर्शनो से ही तृप्त हो जाऊँगी।"

रानी की करुण प्रार्थना का राजा के दृढ सकल्पमय हृदय पर कोई प्रभाव न पडा। वह अपने निश्चय पर अटल रहे और एक दिन उन्होने सबको छोडकर मुनि-दीक्षा ले ली।

रानी अपनी आग्रहभरी प्रार्थना ठुकराये जाने से दु खित होकर मन ही मन पति के प्रति आक्रुष्ट हो उठी, उसकी मनोभूमि मे घृणा, द्वेष और वैर-भाव के अकुर फूट पडे, मुनि कीर्तिधर के प्रति। वह क्रोधातिरेक से मन मे झुलसती रहती। उनका नाम लेना भी उसे न सुहाता।

मुनि कीर्तिधर दीक्षा के बाद अपने आचार्य विजयसेन के साथ देश-देशान्तर मे विचरण करने लगे। वे कठोर अभिग्रह और कठिन परीषह मे भी अटल रहते, निरतिचार सयम पालन करते थे। उनकी उत्कृष्ट साधना से सन्तुष्ट होकर गुरु ने उन्हे एकल विहार की अनुमति दे दी।

अब मुनि कीर्तिधर मास-मास का उपवास करते, शुद्ध श्रमणाचार का पालन करते हुए, ग्राम-नगरो मे विचरण करते-करते अयोध्या मे आये। मासोपवास के पारणे हेतु वे नगरी मे पधारे। मुनि ईर्यासमितिपूर्वक निर्दोष आहार के लिए नगरी मे घूम रहे थे, तभी अचानक महल के गवाक्ष मे बैठी हुई रानी सहदेवी की दृष्टि उन पर पडी, वह तुरन्त उन्हे पहचान गई। उसका क्रोध भडक उठा। इसके मस्तिष्क मे कुशका और कुविचारो का अधड चलने लगा—'अब यदि उनके सम्पर्क से मेरे पुत्र ने भी दीक्षा ले ली तो मै सर्वथा अरक्षित और असहाय हो जाऊँगी।' रानी भान भूल गई। उसकी कुबुद्धि मे पुत्र-वियोग की शका ही मुनि का अपराध बन गई। निरपराध मुनि उसकी दृष्टि मे अपराध की खानि बन गये। उसने तुरन्त अपने अनुचरो द्वारा मुनि कीर्तिधर को नगर से बाहर निकलवा दिया।

मुनि तो क्षमामूर्ति थे, वे इस अन्याय को परीषह समझकर समभाव से सह गए, लेकिन राजा सुकोशल की धायमाता को यह सहन न हो सका, उसने रोते-रोते राजा सुकोशल को सारी दु खद घटना सुनाई। सुकोशल भी उन्ही क्षमावीर कीर्तिधर का पुत्र था। उसने माता पर जरा भी क्रोध न किया वरन् उसे ससार से विरक्ति हो गई। उसने मुनि के पास पहुँच कर दीक्षा की प्रार्थना की। मन्त्रियो को पता चला तो उन्होने उत्तराधिकारी होने तक रुक जाने की प्रार्थना की, मगर सुकोशल ने यह कहकर उनकी प्रार्थना ठुकरा दी कि 'रानी चित्रमाला गर्भवती है, उसके पुत्र को राजगद्दी पर बिठा दीजिएगा।' मन्त्री निरुत्तर हो गए। सुकोशल ने मुनि दीक्षा अगीकार कर ली। अब मुनि कीर्तिधर और मुनि सुकोशल दोनो उग्रतप करते हुए विचरण करने लगे। रानी सहदेवी को ज्यो ही पुत्र के दीक्षा लेने के समाचार मिले, वह क्रोध से बेभान उठी। क्रोधाविष्ट होकर वह महल की छत पर से कूद पडी। पति-पुत्र के प्रति बदले की दुर्भावना लिए घोर पीडापूर्वक उसने शरीर त्यागा और मरकर वही गिरिगुफा मे बाघिन बनी।

मुनि कीर्तिधर और मुनि सुकोशल ने एक गिरिगुफा मे चातुर्मास किया। वर्षावास की अवधि पूरी होने पर दोनो उग्रतपस्वी, क्षमाशील मुनि पारणा लेने हेतु नगर की ओर चले। कुछ ही कदम चले होगे कि सामने से बाघिन आती दिखाई दी।

मुनि अपनी गजगति से आगे बढ रहे थे। पीछे-पीछे चले आते मुनि सुकोशल (जो पुत्र थे) एकदम आगे हो गये, और बोले—"गुरुदेव! मैं क्षत्रिय-पुत्र हूँ, सकट के समय आगे रहना मेरा सहज धर्म है, अत आप पीछे रहें, मुझे आगे चलने दीजिए।" मुनि कीर्तिधर ने भी बहुत रोका, पर वीर-पुत्र सुकोशल मुनि स्वय आगे हो गए। बाघिन उनके निकट आकर खडी रही और टकटकी लगाकर देखती रही। पूर्वजन्म का वैर जागृत हो गया। उसकी आँखो मे खून उतर आया। गुस्से से आगबबूला हो गई। दोनो मुनि बाघिन की क्रूर चेष्टाओ से जान गये कि यह हमला करेगी, प्राणान्तक उपसर्ग आया जानकर क्षमाशील महासत्त्व मुनियो के रोम मे कम्पन भी न हुआ। आत्मार्थी मुनि आत्मसमाधिपूर्वक आत्मभावो मे रमण करने लगे।

बाघिन भयकर गर्जना के साथ सुकोशल पर झपट पडी। उसने फौलादी पजो से मुनि को धर दबोचा। उनका शरीर क्रूरतापूर्वक फाड डाला। रक्तपान करके अजीब सुखानुभव हुआ बाघिन को। क्षमाशील उग्रतपस्वी सुकोशल मुनि इस मरणातक कष्ट को समभावपूर्वक सहन करने के कारण समस्त कर्मों का क्षय करके मुक्ति मे जा विराजे।

इसके बाद बाघिन ने मुनि कीर्तिधर पर झपटकर अपने पैने नखो और दाँतो से उनके शरीर को भी चीर दिया। क्षमाशील, भेदविज्ञानी, उग्रतपी मुनि कीर्तिधर भी आत्मसमाधिपूर्वक उपसर्ग सहने के कारण मोक्ष मे पहुँच गए।

अब दोनो की लाश को बाघिन चीर-फाडकर खाने लगी। ज्योही वह सुकोशल मुनि का जबडा चबाने लगी, उसे उसका स्वाद कुछ परिचित-सा लगा। उसकी अनुभूति गहरी हुई। मन मे पूर्वजन्म की स्मृतियो का प्रवाह झलकने लगा—'अयोध्या के राजमहल मे एक नारी अपने शिशु को स्तनपान करा रही है। बालक चुकर-चुकर दूध पी रहा है। नन्हा-सा सुकुमार है उसका जबडा!' एकाएक बाघिन को पूर्वजन्म की स्मृति साकार हो आई—"अरे! वह नारी मैं ही तो हूँ। यही तो मेरा प्रियपुत्र है! मैं ही पूर्वजन्म मे अयोध्या की रानी थी। हाय! मैंने क्या कर डाला? जिस जबडे के माध्यम से मैंने अपना दूध पिलाकर शक्तिशाली बनाया, उसी को खा गई! जिन हाथो से पुत्र को प्यार से सहलाया, उन्ही से उसे चीर डाला। ये ही तो है मेरे पूर्व-जन्म के पति! मुझे जिन हाथो से पति की सेवा करनी चाहिए, उन्ही हाथो से उनको मार डाला! बडी पापिन हूँ। क्रोधाविष्ट होकर रानी से बाघिन बनी, और अब तक बदले की आग मे झुलस रही हूँ।"

बाघिन के मन मे पश्चात्ताप का झरना फूट पडा, जिसमे अपने दुष्कृत्यो को धोकर, अनेक पापकर्मों को हलका किया। उसी समय आमरण अनशन ग्रहण कर लिया और प्राणत्याग कर सद्गति मे पहुँची।

बन्धुओ! इस प्रकार उग्रतपस्वी, क्षमाशील तथा क्षान्ति के सभी अगो के पालक मुनिवरो ने उग्रतप की शोभा बढाई, जिसका जबर्दस्त प्रभाव बाघिन बनी हुई रानी पर भी पडा। उसका हृदय भी पश्चात्ताप से शुद्ध हुआ।

इसी प्रकार, १ क्षमा, २ सहिष्णुता, ३. सहनशीलता, ४ क्षमता, ५. तितिक्षा, ६ समाधि, और ७ धीरता—क्षान्ति के इन सातो अगो का प्रवेश उग्र-तपस्वी के जीवन मे होता है तो उसका जीवन आत्मविशुद्धि से चमक उठता है, प्रकाश स्तम्भ की तरह उसका क्षान्तिमय जीवन स्वय तो ज्ञानालोक से जगमगाता रहता ही है, दूर-दूर तक लोगो को उसके जीवन का प्रकाश मिलता रहता है। आप भी उग्रतप के साथ क्षान्ति सरोवर मे डुबकी लगाइए और अपनी आध्यात्मिक शक्ति बढाइए।

तप की शोभा बढ़ानी हो तो क्षान्ति अपनाइए।



४६

प्रशम की शोभा : समाधियोग—१

धर्मप्रेमी वन्धुओ !

आज मैं एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक जीवन के सम्बन्ध मे आपके समक्ष चर्चा करूँगा। आध्यात्मिक जीवन से आप चौंकिए नही, इस जीवन को केवल साधु-साध्वियो की वपौती मत मानिये, यह साधुवर्ग एव गृहस्थवर्ग, सभी वर्गों के लिए सुरक्षित है। जैसा कि एक मनीषी ने कहा है—

> ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थो यतिस्तथा।
> सर्वे तेऽप्य शमेनैव प्राप्नुवन्ति परा गतिम् ॥

(ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो, वानप्रस्थ हो या साधु हो, ये सभी शम से ही परमगति पाते हैं।)

जो भी इस जीवन को अपनाना चाहे, उसके लिए इस जीवन की साधना अपना राजमार्ग बनाये हुए है। वह जीवन है—प्रशान्त या प्रशमयुक्त जीवन।

महर्षि गौतम से जव किसी ने पूछा—प्रशमयुक्त जीवन की शोभा किसमे है ? तव उन्होने अपनी अनुभवी वाणी से उत्तर दिया—समाधियोग मे।

गौतमकुलक का यह चालीसवाँ जीवनसूत्र इस प्रकार है—

'समाहिजोगो पसमस्स सोहा'

प्रशम की शोभा है—समाधियोग।

प्रशम की उपयोगिता और महत्ता

म मानव-जीवन का अमृत है। क्रोधादि कषायो के दावानल से जलते हुए
प्रथ प्रशम की अमृतधारा शान्त कर देती है। मानव-जाति के पारस्परिक
मानव समूह को दु ख-दैन्य, सहयोगाभाव, कषाय-कालुष्य, अहकारविष, रोष,
वैपम्य, मनोमा। न्य, रोध को प्रशम ही मिटा सकता है।
द्वेष, दुर्भाव और व र-वि
आपको अनुभव हो कि भीष्म ग्रीष्म-ऋतु मे जब दिन मे सूर्य आग उगलता
है, तो धरती तवे की तर प जाती है, मनुष्यो के कपडे, शरीर और अगोपाग
गर्म हो जाते हैं, पसीने से तर तर हो जाते हैं, ऐसे दिनो मे राते बडी सुहावनी
और सुखद लगती हैं। मनुष्य तारा से रा आकाश देखता है तो उसके चित्त मे

आह्लाद उत्पन्न होता है, मन मे स्फूर्ति आ जाती है। इसी तरह प्रशम भी विषय-कषायो से जनित त्रिविध ताप से तपे हुए मनुष्य की आत्मा के लिए तारो भरी रात के समान शीतल एव शान्तिदायक है, स्फूर्तिदायक है, आह्लादोत्पादक है।

पाश्चात्य विचारक कोल्टन (Colton) के शब्दो मे कहूँ तो—

"Peace is the evening star of the soul, as virtue is its sun, and the two are never far apart.

—शान्ति (प्रशम) आत्मा का सान्ध्यकालीन तारा है, जबकि सद्गुण इसका सूर्य है, और यह दोनो कभी एक दूसरे-से पृथक नही होते।

जैसे सूर्य के चारो ओर ग्रहमण्डल, तारे और नक्षत्र घूमते रहते हैं, सूर्य इन सबका केन्द्र होता है, वैसे ही प्रशम एक ऐसा महत्त्वपूर्ण सान्ध्यकालीन नक्षत्र है, जो सद्गुणसूर्य के चारो ओर घूमता है। तात्पर्य यह है, कि प्रशम सभी सद्गुणो मे उत्तम और उपयोगी गुण है। इसके बिना मानव-जीवन का व्यवहार एक दिन भी नही चल सकता।

तत्त्वामृत मे स्पष्ट कहा है—

शमो हि न भवेद्येषां ते नरः पशुसन्निभाः।
समृद्धा अपि सच्छास्त्रे कामार्थरतिसंगिनः॥

—जिन मनुष्यो के जीवन मे शम नही है, वे सुशास्त्रों के ज्ञान से समृद्ध होने पर भी स्वार्थ (अर्थ) और काम मे प्रीति और आसक्ति रखने वाले पशुओ के सदृश हैं।

तात्पर्य यह है कि मानव-जीवन की समस्त प्रवृत्तियो का केन्द्र विन्दु प्रशम है। प्रशम (शान्ति) को लक्ष्य मे रखकर मानव समस्त मूल-प्रवृत्तियाँ करता है, फिर भले ही वे प्रवृत्तियाँ उसकी निकृष्ट वृत्ति के कारण आगे चलकर विपरीत दिशा मे चली जाती हो। लोग दूध को गर्म करते हैं, जमाते है, बिलौना करते है। यह सब किसलिए करते हैं? मक्खन के लिए। वैसे ही जीवन का सारा प्रयत्न, सारी दौड-धूप प्रशम के लिए है। जहाँ प्रशम नही है, वहाँ शान्ति नही होती और जहाँ शान्ति नहीं, वहाँ सुख कैसे प्राप्त हो सकता है?

गीता मे कहा है—

'अशान्तस्य कुतः सुखम्'

—जो अशान्त है, उसे सुख कहाँ से हो सकता है?

एक आचार्य का अभिमत है—

शमार्थं सर्वशास्त्राणि विहितानि मनी[illegible]
स एव सर्वशास्त्रज्ञः, यस्य शान्त [illegible] मनः॥

—मनीषियो ने जितने भी शास्त्र रचे हैं, [illegible] हैं। जिसका मन सदा प्रशान्त रहता है, वही [illegible] व सब प्रशम की उपलब्धि के लिए [illegible] (मेरी दृष्टि मे) सर्वशास्त्रज्ञ है।

श्रमणसस्कृति अथवा श्रमणत्व मे पद पद पर प्रशम को महत्त्व दिया गया है। आप कोई महत्त्वपूर्ण भगीरथ कार्य करने जा रहे हैं, परन्तु उस कार्य मे सहयोगियो के साथ आपकी ठन गई, घरवालो के साथ आपका मनमुटाव एव मनोभेद, मतभेद तथा मनोमालिन्य हो जाता है तो वहाँ सारा ही काम गुडगोबर हो जाता है। उस कार्य मे बरकत नही होती। प्रशम के होने पर ही सब कार्य ठीक होते हैं। मनोभेद, मतभेद या मनमुटाव होने पर जितनी जल्दी आपस मे क्षमा-याचना करके उसे शान्त कर लिया जाता है, उतनी ही जल्दी सभी कार्य सुधर जाते हैं।

किसी के घर मे तीन प्राणी हैं, और रोटी सिर्फ दो हैं। ऐसे समय मे तीनो व्यक्ति आपस मे तू-तू मैं-मैं करने लगें और एक दूसरे से छीना-झपटी करे तो अशान्त होकर सभी दु खी हो जायेंगे। अत वहाँ सबको प्रशम धारण करने की आवश्यकता होती है। प्रशम के कारण सभी के हिस्से मे थोडी-थोडी रोटी आ जायगी, भले ही भरपेट न मिले, पर शरीर का आधार तो हो ही जाएगा। इसी प्रकार किसी महत्त्वपूर्ण कार्य को ४ आदमियो ने मिलकर किया, परन्तु उनमे से कोई एक अपने अह को महत्त्व देकर स्वय अकेला ही उस कार्य का श्रेय लेने लगे तो सभी अपने-अपने अह को महत्त्व देने लगेंगे और अन्त मे अशान्त होकर परस्पर सिर फुटौव्वल ही मचाएंगे।

जैसे कि महाराणा प्रताप और शक्तिसिंह मे स्वय अपने श्रेय को पाने के लिए विवाद खडा हो गया था और उस विवाद ने इतना अधिक तूल पकड लिया कि दोनो एक-दूसरे को मारने के लिए अपनी-अपनी तलवार खींचकर प्रहार करने पर उतारू हो गये थे। अगर वहाँ पुरोहित ने अपना बलिदान देकर उन दोनो के अह का नशा न उतारा होता और शान्ति (प्रशम) के लिए ऐसा स्वय प्राणोत्सर्ग का प्रयास न किया होता तो कितना बडा अनर्थ हो जाता।

निष्कर्ष यह है कि अहकार को मिटाने के लिए प्रशम के प्रयत्न की अत्यन्त आवश्यकता होती है।

घर मे किसी की मृत्यु हो गई, एक प्रिय पात्र चल बसा। उसके जाने से हानि भी हुई, धक्का भी लगा और शोक के कारण रुलाई भी आई। पर यदि लगातार रोते ही रहा जाय तो परिणाम एक ही सम्भव है कि रहे-सहे स्वास्थ्य का नाश और उस गडबडी मे साधारण कार्यक्रमो के नष्ट होने से दुगुने सकट का प्रादुर्भाव! दिल की धडकन बढना, ब्लडप्रैसर, अनिद्रा, मूर्च्छा, उन्माद, अपच, वमन, सिरदर्द, आँखो की रोशनी घटना आदि अनेको रोग उठ खडे होते हैं।

दूसरे लोग उस शोक-सन्तप्त परिवार को समझाने-बुझाने, थोथी सहानुभूति बताने, कोरा आश्वासन देने मे लगे रहते हैं, जिससे साधारण व्यवस्था भी बिगड जाती है तो दूसरी ओर से भी बिना देख-भाल के अनेक काम बिगड जाते हैं। खेती या व्यापार बिना देख-भाल के चौपट हो जाते हैं। बच्चो के स्कूल न जाने से अध्ययन नही हो पाता है। दुधारु पशुओ को समय पर न दुहे जाने या उन्हे चारा पानी ठीक

प्रकार से न मिलने से वे दूध देना बन्द कर देते हैं। दुश्मनो को हँसी उडाने का मौका मिलता है। मृत्यु के कारण उसके बदले मे नया उत्तरदायित्व निभाने के लिए जो आवश्यक परिवर्तन करने पड़ते हैं, वे नही हो पाते।

फलत अज्ञान के कारण यह मृत्युशोक नई विपदाएँ और अशान्तियाँ उत्पन्न कर देता है। ऐसे समय मे विवेक-बुद्धि और दूरदर्शिता के साथ यह सोच लिया जाता कि घटित घटना वापिस लौट नही सकती, गया व्यक्ति आ नही सकता, अन्त मे शोक को समाप्त करके साधारण क्रम अपनाना ही होगा, तो बिना अधिक समय गँवाये और अधिक क्षति उठाये ही कार्य हो जाता। परन्तु होता यह सब प्रशम की प्रक्रिया को अपनाने पर ही। अज्ञानवश आवश्यक रूप मे उत्पन्न की जाने वाली अशान्ति और विपत्ति से बचने का सर्वोत्तम उपाय है—ज्ञानपूर्वक प्रशम प्रक्रिया अपनाना।

इसी प्रकार प्रत्येक विपत्तिजनक, हानिकारक एव अशान्ति-उत्पादक कार्य को पहले से ही सुधारने के लिए विवेकपूर्वक प्रशम को अपनाना आवश्यक है।

प्रशम की आवश्यकता गृहस्थो से भी बढकर साधुओ को है। कल्पसूत्र मे बताया गया है कि कदाचित् दो साधुओ मे परस्पर किसी बात पर उग्र विवाद, कलह (अधिकरण) या मनमुटाव हो गया तो हथेली की भीगी रेखाएँ न सूखें, इतने से समय मे ही यानी शीघ्र से शीघ्र आपस मे क्षमायाचना करके उस कलह को उपशान्त कर देना चाहिए और फिर उस प्रशान्त हुए कलह को फिर कुरेदकर उखाडना या भडकाना नही चाहिए।

मान लो, एक साधु जो दीक्षा मे बडा है, कलह शान्त करने के लिए क्षमा-याचना करना चाहता है, मगर दूसरा (छोटा साधु) क्षमायाचना करना तो दूर रहा, आँख भी उठाकर नहीं देखता, न ही उसे आदर देता है, ऐसी स्थिति मे क्या किया जाय? शास्त्रकार कहते हैं कि ऐसी स्थिति मे, जो साधु कलह शान्त करना चाहता है, वह चाहे दीक्षा मे ज्येष्ठ ही हो, उसे चलाकर उस साधु से क्षमायाचना कर लेनी चाहिए, वह आदर दे या न दे, उसकी बात सुने या न सुने। क्योकि **'उवसमसारं खु सामण्ण'** श्रमणत्व का सार उपशम-प्रशम है।

श्रमणधर्म या श्रमणसस्कृति प्रशम और शम को लेकर ही ससार मे प्रस्तुत हुई है। सारे ससार मे प्रशम का झण्डा लेकर चलने वाली श्रमणसस्कृति के साधु-श्रावक प्रशम को छोडकर अप्रशम को महत्त्व दें, यह तो दिया तले अँधेरा वाली कहावत चरितार्थ करना है।

इससे आप अनुमान लगा सकते हैं कि प्रशम की कितनी उपयोगिता है, मानव-जीवन मे?

मेवाड के एक गाँव मे एक सेठ और ढेढ (हरिजन) का मधुर सम्बन्ध था। एक बार किसी कारणवश उनका सम्बन्ध टूट गया। परस्पर वैमनस्य इतना बढ गया कि आपस मे लेन-देन एव बोलचाल भी बन्द हो गई। सेठ ढेढ को देखता तो जल

उठता, मुंह फिरा लेता और ढेढ सेठ को देखकर। दस वर्ष वीत गये लेकिन उनका मनमुटाव समाप्त न हुआ। सयोगवश गाँव मे एक बार एक सत का पदार्पण हुआ। सर्वप्रथम ढेढ की नजर मे वे आये। वह पक्का श्रद्धालु था। सोचा—'अगर मैं गाँव मे किसी को सूचित न करूँगा तो लोग सन्तो के सम्मुख स्वागत के लिए कैसे जायेंगे ? किन्तु उस सेठ को······ मैं देखना-सुनना भी नही चाहता, कैसे सूचना दूंगा ? कुछ क्षण तक मन मे अन्तर्द्वन्द्व चला। सेठ को सूचना दिये विना कार्य होना कठिन सा लगता है किन्तु····।' सहसा उसके हृदय मे प्रशम का प्रकाश हुआ जिससे अन्त - करण का सारा अधकार समाप्त हो गया। सोचा—'सेठ से साथ मेरा सघर्ष सासारिक झझटो को लेकर है, धर्म को लेकर नही। हम दोनो का धर्म एक है, गुरु एक हैं, देव एक हैं। धार्मिक कर्तव्य के नाते मुझे सेठ को अवश्य सूचना देनी चाहिए।' विवेक, उदारता और प्रशम का महाप्रकाश लिए वह दौडा-दौडा सेठ के मकान पर पहुँचा और उच्च स्वर से आवाज लगाई वाहर से ही। सेठ ढेढ को अपना नाम पुकारते देख आश्चर्यचकित हुआ। पूछा—"क्यो भाई ! क्या कहते हो ?"

ढेढ वोला—"गाँव मे सन्त आ रहे हैं।"

सेठ—"किधर से ?"

ढेढ—"उधर से।" इतना कहकर वह सन्त की अगवानी के लिए उनके सम्मुख जा पहुँचा।

इधर सेठ भी कई लोगो को इकट्ठे करके सन्तो के सम्मुख पहुँच गया। सन्तो का धर्मस्थान मे प्रवेश हुआ, व्याख्यान हुआ। सेठ के मन मे प्रशम का दीप जलने से आज उथल-पुथल मची हुई थी। प्रशमभाव ने आज उसकी हृदयतन्त्री को झकझोर डाला था। अत सेठ ने सोचा—यह ढेढ कितना उदार है कि वैमनस्य होते हुए भी सूचना देने मेरे घर पर आया।

व्याख्यान समाप्त होते ही, सेठ गद्‌गद स्वर मे अपनी आत्मनिन्दा करते हुए ...रिषद् मे खड़े होकर वोला—"श्रद्धेय मुनिवर और भाइयो ! मैं आज अपने दिल की ...गपके समक्ष रख रहा हूँ। देखिये वह जो ढेढ वैठा है, उसके साथ वर्षो से मेरा
त ... ला आ रहा था। मैं समझता हूँ, आज वह मुनिवरो के शुभागमन के
नस्य ... प्त हो रहा है। मैं स्पष्ट शब्दो मे कहूँगा कि यह ढेढ़ उदारचेता
मित्त से स... र मै सेठ होते हुए भी ढेढ हूँ। मैं सकीर्णहृदय हूँ। अगर मुझे
ने से सेठ है, अ... ता होता मै इसे हर्गिज कहने न जाता। ऐसी उदारता करके
तो के आगमन का ... ने के तारो को झकृत कर दिया है। वास्तव मे गुण, लक्षण
ने मेरी कुण्ठित हृदयतन्त्री ... ढेढ हूँ। मैं अपने अकरणीय कृत्य से लज्जित एव
र विवेक से यही सेठ है, मैं ... क्षमायाचना करता हूँ, वह मेरी क्षमा स्वीकारे
मस्तक हैं। मैं हाथ जोड़कर इस... ।"
र मुझे अपनी ओर से क्षमा प्रदान कर ... मने सेठ को क्षमा प्रदान कर मैत्रीपूर्ण
ढेढ़ ने भी तुरन्त खड़े होकर सबके स...

वातावरण मे सेठ से क्षमायाचना की। दर्शको पर इसका अशातीत प्रभाव पडा, उनके मुँह से भी दोनो के लिए बरबस धन्य-धन्य शब्द निकल पडे।

यह है प्रशम का चमत्कार, जिसने विनम्रता, उदारता और क्षमा की त्रिपुटी के माध्यम से महाजन और हरिजन दोनो का हृदय परिवर्तन कर दिया। यदि प्रशम का अवलम्बन न लिया जाता तो वर्षों ही क्या, जिन्दगीभर तक दोनो का आपसी वैमनस्य चलता रहता।

प्रशमयुक्त जीवन क्या करता है ?

जिसके अन्त करण मे प्रशम विराजमान हो गया, वहाँ प्रसन्नता, क्षमा, शान्ति और आत्म-गौरव के अनुरूप आत्मरमणता आदि गुण-धर्म व्यक्तरूप मे आ ही जाते है। वह इन भावो के अनुरूप व्यवहार भी करता है और दूसरो को भी अपने व्यवहार से प्रभावित एव लाभान्वित करता है। वह प्रशान्तात्मा अग्नि को भी नी मे परिवर्तित कर देता है। बाह्य जगत की हलचल या प्रचण्ड आग उसके अन्तर्मन मे प्रविष्ट नही हो सकती। ऐसा प्रशान्तात्मा आग मे बैठकर भी आग से अछूता रहता है। उसके आसपास बाह्यजगत मे भी विपरीत परिस्थिति अधिक समय तक रह नहीं सकती। या तो वह विपरीत स्थिति से परे हो जाता है, या वह स्थिति ही बदल जाती है। प्रशान्तात्मा के प्रभाव से शूली का सिंहासन, पुष्पमाला का सर्प और अग्निकुण्ड का पद्मसरोवर बन जाता है। इसके विपरीत जिसके हृदय मे प्रशम नहीं है, प्रसन्नता और धैर्य नही है, उसके लिए सुखशय्या भी कण्टकशय्या बन जाती है। वह जल को भी अनल बना देता है। अशान्त जीवन नन्दनवन को भी मरुस्थल बना देता है। यश की चाह प्रशमरहित जीव को सतप्त और अतृप्त बना देती है। उसके लिए शान्ति के हेतु भी अशान्ति के हेतु बन जाते है। जिस व्यक्ति का हृदय प्रशमधन से सम्पन्न है, अन्तरग वैभव से गौरवशाली है, उसके इस आत्मवैभव को छीनने की किसी भी दुर्गुण मे ताकत नही है। उसके लिए सदैव सर्वत्र आनन्द मगल है।

यूनानी दार्शनिक सुकरात अपनी पूर्ववय मे वडा ही क्रोधी और अ... न्त था।
अपनी इच्छा के विपरीत कुछ भी होता देखता तो वह आग-बबूला ... उठता था।
इच्छाओ से लिप्त अभिमानी व्यक्ति का पारा क्षण-क्षण मे क्रोधादि अ... वेश से चढ जा...
है। सुकरात को अपनी यह स्थिति खटकी। उसने प्रशम का मा... हात्म्य समझकर उस
विशिष्ट साधना की, जिसके फलस्वरूप अपने आप पर उ... ने आधिपत्य जमा लिया
सुकरात के प्रशम की परीक्षा के लिए सर्वप्रथम उसकी ... कर्कशा पत्नी ही निमित्त बनी
वह क्रोधी स्वभाव की थी। एक दिन सुकरात घ... के बाहर बैठा अपने एक मित्र
वार्तालाप कर रहा था। उसकी पत्नी किसी ... कारणवश नाराज होकर भली
गालियाँ दे रही थी। सुकरात ने उसकी ... बात पर कुछ भी ध्यान न दिया,
उसकी स्त्री के क्रोध मे तीव्रता आ ग... । उसने झूठन का कुण्डा उठाकर सुकरात
मस्तक पर उडेल दिया। किन्तु ... सुकरात इस प्रकार शान्त बैठा रहा मानो कुछ हु

ही नही। उसके समीप बैठा हुआ व्यक्ति आश्चर्य के उसकी ओर ताकता रह गया। तब सुकरात ने इस प्रसग पर कहा—"बादल गरजते हैं और बरसते नही है तो शान्ति नही होती। गर्जन के बाद वृष्टि होती ही है, इसमे आश्चर्य की कोई बात नही।"

यह है, प्रशमयुक्त मन.स्थिति का ज्वलन्त उदाहरण !

जैसे माता अपने बालक की सब प्रकार से रक्षा करती है, धायमाता उसे दूध पिलाकर तथा खिलाकर उसे स्वस्थ एव सशक्त रखती है, वैसे ही प्रशम भी माता की तरह आत्मा का रक्षक और धायमाता की तरह स्वस्थ एव सशक्त रखने वाला है। पाश्चात्य साहित्यकार शेक्सपियर ने यही बात कही है—

"Peace dear nurse of arts, plenties and joyful birth"

'शान्ति (प्रशम) कलाओ की, प्रचुरताओ की और आनन्ददायक जन्म की प्रिय नर्स (धाय माता) है।'

वास्तव मे, मानवजन्म को आनन्ददायक बनाने वाला, जीने की विभिन्न कलाओ मे सफलता दिलाने वाला और मनुष्य के हृदय को प्रचुरताओ से—गुणो की बहुलताओ से आनन्दमय बनाने वाला प्रशम ही है। प्रशम के बिना मानव-जन्म हँसी-खुशी से व्यतीत करना कठिन है, मनुष्य को विभिन्न कलाओ मे सफलता पाना आसान नही होता और प्रचुर साधनो के होते हुए भी प्राचुर्य का आनन्द प्राप्त करना दुष्कर होता है। इस पर से जाना जा सकता है कि 'प्रशम' की मानव-जीवन में कितनी महत्ता और उपयोगिता है।

इसीलिए एक विचारक ने शम की महत्ता बताते हुए कहा है—

शम एव पर तीर्थं, शम एव पर तप।
शम एव पर ज्ञान, शमो योगः परस्तथा ॥

'शम ही परम तीर्थ है, शम ही उत्कृष्ट तप है, शम ही पवित्र ज्ञान है, शम ही उत्तम योग है।'

प्रशम क्या है, क्या नही ?

प्रश्न यह होता है कि जीवन के लिए आवश्यक और महत्त्वपूर्ण तत्त्व प्रशम क्या है ? प्रशम किसे कहे और किसे नही ? क्योकि प्रशम या शम के अनेक लक्षण विभिन्न धर्मग्रन्थो मे पाये जाते हैं, और उन लक्षणो मे कही-कही कोई तारतम्यता, एकरूपता या क्रमबद्धता नही पाई जाती, इसलिए साधारण बुद्धि का मानव चक्कर मे पड जाता है कि प्रशम का वास्तव मे क्या स्वरूप है ?

शम का प्रथम लक्षण—स्वभाव-रमण

प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति मे शम का लक्षण उसे धर्म का प्रधान अग बताते हुए इस प्रकार किया गया है—

स्वात्मभावना[1] से उत्पन्न सुखामृतरूपी शीतलजल से जो काम, क्रोध आदि रूप अग्नि से जनित ससार-दु.खरूप दाह को उपशान्त करता है, वह शम है। वही धर्म है।

संसार मे मनुष्य क्रोध, काम, लोभ, मोह, तृष्णा, मत्सर आदि विकारो से दु:ख पाता है। इन विकारो के कारण मनुष्य खिन्न, अशान्त तथा दु ख-दैन्य से युक्त रहता है। इष्टवियोग और अनिष्ट के सयोग के समय साधारण मानव-मन क्षुब्ध या आतकित हो जाता है। अपने अह को चोट पहुँचने के कारण मनुष्य अशान्त हो जाता है, दूसरो की तरक्की देखकर कुढता है, असन्तुष्ट होकर अशान्त हो जाता है। किसी कार्य का फल तुरन्त या मनचाहा न मिलने पर साधारण मनुष्य का मन अशान्त हो जाता है, असहायता की अनुभूति मे सघर्ष, सदेह, भय, ईर्ष्या, क्रोध, निराशा और क्रूरता आदि ये सब असतुलन पैदा करते हैं। असतुलित मन मे अशान्ति पैदा होती है। इसलिए प्रशम का लक्षण वताया गया है कि जब मनुष्य आत्मभाव मे रमण करता है, तब उसे ये जितने भी विकार हैं, वे सब परभाव प्रतीत होते है, स्वभाव तो आत्मा या उसके निजी ज्ञानादि गुण हैं। अपने आत्मभाव मे रमण करने से उसकी ये सब अशान्ति उत्पन्न करने वाली विकार-वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं। मन मे भी ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि के विचार या विकल्प लाता ही नही। वह अपने स्वाभाविक स्वरूप पर ध्यान देता है, उसी का विचार करता है, बाहर से काम, क्रोधादि के हमले होने पर उनका उस पर फिर असर नही होता। जैसे वाटरप्रूफ या फायरप्रूफ कपडे पर पानी या आग का कोई प्रभाव नही पडता, वैसे ही स्वभाव मे रमण करने वाले शम-साधक पर आत्मा से बाहर के किसी भी परभाव का प्रभाव नही पडता।

शम—ज्ञान का परिपाक

इसीलिए उपाध्याय यशोविजयजी ज्ञानसार-अष्टक मे शम का स्पष्ट लक्षण बताते है—

विकल्पविषयोत्तीर्णः स्वभावावलम्बनं सदा।
ज्ञानस्य परिपाको य. स शमः परिकीर्तितः॥

'जो व्यक्ति रागद्वेषादि विकल्पो और पचेन्द्रिय-विषयो को पार करके सदा स्वभाव का अवलम्बन लिये रहता है, उसकी स्वरूप-रमणता का ज्ञान जब परिपक्व हो जाता है, उसका स्वभाव-ज्ञान पक्का हो जाता है, उसे वह पच जाता है, वही स्थिति शम कही गई है।'

यह लक्षण पहले के लक्षण से कुछ विशद है। प्रशम-जीवन मे काम, क्रोधादि विकृति या विषयलालसा की वृत्ति प्रथम तो उठती ही नही, क्योकि वह सतत स्व-स्वरूप

---

[1] स एव धर्मः स्वात्मभावनोत्थसुखामृतशीतलजलेन कामक्रोधादिरूपाग्निजनितस्य ससारदुःखदाहस्योपशमकत्वात् शमः। —प्रवचनसार ता० वृत्ति

मे रमण करता है, कदाचित् व्युत्थानावस्था मे वह उठ भी जाए, व्यवहार के समय कदाचित उत्पन्न भी हो जाय तो वह शीघ्र ही उपशान्त हो जाती है, ऐसी अवस्था 'शम' या प्रशम है। इसी बात का एक आचार्य ने समर्थन किया है—

पयइए कम्माण नाऊणं विवागमसुहंति ।
अवरद्धे वि न कुप्पइ, उवसमओ सव्वकाले वि ॥

जब व्यक्ति आत्मनिरीक्षण करता है तो उसे यह प्रतीत हो जाता है कि कषाय-परिणति आत्मा का स्वभाव (प्रकृति) नही है तथा पूर्वकृत कषायादिजनित अशुभकर्मों का ही यह फल है कि मुझे शान्ति का वातावरण नही मिला है, और पूर्वकृत अशुभकर्मों के फलस्वरूप मेरे प्रति लोग क्रोध-रोष, द्वेषादि के रूप मे अपराध करते हैं। अत इस पदार्थपाठ से वह सदा सतत अपराधी के प्रति कुपित नही होता, कामादि विकारो को जरा भी स्थान नही देता, सदा सतत उपशान्त रहता है। इसी कारण एक आचार्य ने शम का लक्षण किया है—

क्रोधकषायकण्डूविषयतृष्णोपशमः शम इत्याहुः ।

क्रोधकषायरूप खुजली और विषयतृष्णा की उपशान्ति ही शम कहलाती है।

यद्यपि कषायो का सर्वथा उपशम तो ग्यारहवें गुणस्थान मे जाकर होता है, परन्तु प्रशम तो चतुर्थ गुणस्थान से ही प्रारम्भ हो जाता है। इसलिए प्रशम की परिभाषा इस प्रकार की गई—

"शमः प्रशमः अनन्तानुबन्धिना कषायाणामनुदयात् ।"

कषाय की जो अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और सज्वलन, ये चार कोटियाँ बताई गई हैं, उनमे से अत्यन्त निकृष्ट अनन्तानुबन्धी कोटि के कषायो का अनुदय होना—उपशान्त हो जाना प्रशम कहलाता है। मतलब यह है कि जैसे मैट्रिक से लेकर एम ए तक का विद्याध्ययन करने वाला विद्यार्थी ही कहलाता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर उपशान्तमोहनी यगुणस्थान (चौथे से ग्यारहवें तक) वाले सभी जीव प्रशमयुक्त कहलाते हैं। उनमे विभिन्न कक्षाओ या भूमिकाओ का अन्तर है। ध्येय तो सबका एक ही है।

शम—शुद्ध आत्मनिष्ठा

श्रीमद्भागवत (११।१९।३६) मे शम का लक्षण यो किया गया है—

'शमो मन्निष्ठताबुद्धि ।'

'परमात्मा (शुद्ध आत्मा) मे निष्ठारूप बुद्धि होना शम है।'

शम का लक्षण पहले जो स्वात्मभावना मे रमण करना बतलाया था, उसमे और इस लक्षण मे तत्त्वत कोई अन्तर नही है।

एक वैदिक आचार्य ने शम का लक्षण बताया है—

'सदैव वासनात्याग. शमोऽयमिति स्मृतः'

'सदैव वासनाओ का त्याग ही शम कहा गया है। वृत्तियो को शान्त रखना भी शम है।'

इस प्रकार सभी लक्षणो का साराश है—"आत्मभाव मे निष्ठापूर्वक रमण करते हुए विषय-कषायादि वृत्तियो का उपशान्त रहना शम है।"

यह एक माना हुआ तथ्य है कि जब साधक आत्म-भावो मे रमण करता है, उन्ही मे तल्लीन हो जाता है तब विषय-कषायादि का प्रादुर्भाव नही होता, बाहर से विषय-कषायो का निमित्त मिलने पर भी उसके मन मे जागृत नही होता। जैसे प्रकाश होते ही कितना ही घना अन्धकार हो, भाग जाता है, वैसे ही आत्मस्वरूप का प्रकाश परिपक्व हो जाने पर विषय-कषायादि रूप अन्धकार भाग जाता है, टिक नही पाता।

श्मशान मे जो शान्ति होती है, उसे प्रशम नही कहा जाता। श्मशान की शान्ति का कोई अर्थ नही है। मृतक की शान्ति को भी प्रशम कदापि नही कहा जा सकता और न ही उस शान्ति का कोई उपयोग है। प्रशम समाज मे, मनुष्य के हृदय मे तथा मन-मस्तिष्क मे हो, तभी उसका मूल्य है। वह निर्भर है—लोगो के पारस्परिक सम्बन्ध और पारस्परिक व्यवहार पर। अत ऐसे समय मे ही जो प्रशम होता है, वही प्रशम मानव-जाति के लिए उपयोगी और मूल्यवान है।

ससार मे अधिकाश लोग शान्ति चाहते है, वे सदा से शान्ति के पक्ष मे है, अशान्ति नही चाहते। अशान्ति पैदा करने वाले थोडे-से लोग होते हैं, जो प्राय सत्ताधीश होते है, उनकी भावनाएँ विस्तारवादी होती हे। वे दुनिया मे मार काट मचाकर शान्ति स्थापित करना चाहते है। अमेरिका, रूस आदि कुछ महाशक्तियो के हाथ मे हाईड्रोजन वम, अणुवम या नाइट्रोजन वम है। इन वमो की शक्ति का स्वामित्व भी कुछेक लोगो के हाथ मे है, जिन्हे नि शस्त्रीकरण या युद्धरहित शान्ति की वात नही सुहाती। वियतनाम मे युद्ध के प्रयोग को भी शान्ति के लिए किया वताया गया है। शक्ति सन्तुलन के विना शान्ति नही हो सकती, ऐसा उन महाशक्तियो का दृढ विश्वास हो गया है। किन्तु युद्ध के द्वारा, अणुवम आदि फैंककर की जाने वाली शन्ति तो अशान्ति का वीज है। वह कदापि प्रशम नही हो सकता। प्रशम के लिए मानसिक, वाचिक, कायिक शान्ति अपेक्षित है, जो मन-वचन-काया के सन्तुलन से हो सकती है।

जो प्रशम के साधक होते हे, वे मानसिक-वाचिक-कायिक शान्ति स्वय के जीवन मे चाहते है और विश्व-राष्ट्रो के जीवन मे भी। वे अणु अस्त्रो तथा युद्धो द्वारा होने वाली कृत्रिम एव क्षणिक शान्ति का विरोध करते हैं।

मास्को मे जिस दिन रूस, अमेरिका और ब्रिटेन ने एटमी विस्फोट समाप्त करने की सन्धि पर हस्ताक्षर किये थे, उस दिन सारे ससार ने सन्तोष और शान्ति की सांस ली थी। यह समझौता एक महान् प्रशम साधक शान्ति के पुजारी के भगीरथ प्रयत्नो से सम्पन्न हुआ। उस शान्ति के पुजारी का नाम था डॉ लाइनस

पार्उलिग । उन्हे दो बार विश्व-शान्ति के प्रयास के लिए नोवल पु
या । उन्होने दोनो पुरस्कारो का प्रयोग अपने व्यक्तिगत लाभ के ि स्कार दिया गया
शान्ति के प्रयत्नो के लिए किया । ाए नही करके विश्व-

प्रशान्त महासागर के तट पर 'लास एजिल्स'
देना' नामक स्थान पर इनकी अपनी प्रयोगशाल शहर के निकटवर्ती 'पासा-
वैज्ञानिक अन्वेपण करके अनेक नई जानकारि है, जिसमे उन्होने अणुविद्या पर
महान् वैज्ञानिक ने सर्वप्रथम प० जवाहर यो दी हैं । वालको के-से सरल इस
करने की अपील का समर्थन किया ाल नेहरू की आणविक विस्फोट समाप्त
मानव-कल्याण, चिकित्सा, उद्यो या । इन्होने वताया कि आणविक शक्ति को
उसका सदुपयोग विश्व-शान्ति , उत्पादन और रसायन-निर्माण के कार्यों मे लगाकर
नही । एटमी धमाको से त के लिए किया जाना चाहिए, अशान्ति फैलाने के लिए
निर्वल होगे, कई जो जहरीली गैस पैदा होती है, इससे सारे ससार के वच्चे
दृश्य उपस्थित ाग और नई वीमारियाँ फैलेगी, अकाल और अनावृष्टि के भीपण
अकेले ही होगे । उन्होने विश्व-शान्ति के इस भगीरथ प्रयत्न के दौरान कई वार
राष्ट्र वाशिंगटन मे ह्वाइट हाउस के सामने राष्ट्रपति के घर पर धरना दिया ।
ति ने इस अकेले विद्वान और विश्व शान्तिप्रयासक को यथायोग्य उपाय करने
ो आश्वासन भी दिया ।

अणु-आयुधो के प्रसार को रोकने के लिए भी डा पार्उलिग ने उन सव शक्तियो को जुटाया, सारे ससार का दौरा किया, ११ हजार प्रतिष्ठित वैज्ञानिको, साहित्यिको और शिक्षाशास्त्रियो के हस्ताक्षरो की एक सयुक्त अपील की । उन्हे इस महान् शान्ति-कार्य मे पर्याप्त सफलता भी मिली । डा पार्उलिग और उनकी धर्म-पत्नी ने अपनी निजी सुख-सुविधाएँ छोडकर सादा रहन-सहन स्वीकार किया और सारा जीवन विश्व-शान्ति के प्रयासो मे खपा दिया ।

उनके इस प्रयत्न को हम प्रशम-साधना का अग मान सकते हैं। यद्यपि प्रशम-साधना आन्तरिक वस्तु है, तथापि ऐसे विश्व-शान्तिप्रयासको के आन्तरिक जीवन मे निहित प्रशम ने ही उन्हे विश्व-शान्ति के प्रयास के लिए प्रेरित किया ।

'शम' के लिए अवस्था की मर्यादा नही

कई लोगो का यह कहना है कि अभी जवानी या प्रौढावस्था मे प्रशम का विचार करने की क्या आवश्यकता है ? जव वुढापा आएगा, इन्द्रियाँ क्षीण हो आएँगी, शक्तियाँ कुण्ठित हो जाएँगी, तव अपने आप ही क्रोध, काम आदि मिट जाएँगे और जीवन प्रशान्त हो जाएगा । परन्तु उसे कोई भी प्रशम नही कहेगा, उस शक्ति-क्षीण व्यक्ति को कौन प्रशान्त रहने को तैयार होगा ? क्योकि प्रशम रत्नत्रय की साधना से प्राप्त होता है, अनायास ही नही । एक नीतिकार ने वृद्धावस्था मे प्रशान्त हुए व्यक्ति पर कटाक्ष करते हुए कहा है—

१८

पूर्वे वयसि यः शान्तः, स शान्त इति मे मतिः ।
धातुषु क्षीयमाणेषु, शमः कस्य न जायते ?

'वृद्धावस्था से पूर्व वय मे जो शान्त होता है, वही मेरे मत मे शान्त (प्रशम-युक्त) है, धातुएँ क्षीण ह ने जाने पर किसके जीवन मे प्रशम नही आ जाता ?'

यद्यपि यह कथन अ वस्था को लेकर किया गया है, किन्तु वृद्धावस्था आने पर भी, धातु क्षीण हो जाने के बावजूद भी जिनकी प्रकृति उग्र रही है, जिनकी वृत्तियाँ क्लिष्ट रही है, उनके जीव न मे प्रशम नही आ पाता। बाहर से इन्द्रियाँ भले ही शान्त दिखाई देती हो, अशक्त ह ने के कारण भले ही वे चुपचाप पडे रहते हो, परन्तु अन्दर क्रोध, चिडचिडाहट, क्षोभ, रोष, द्वेष की आग भडक रही हो तो उन्हे प्रशान्त नही कह सकते, न उनकी इन्द्रियो अ र वाणी की शान्ति को प्रशम कह सकते हैं। अगर इन्द्रियो के निश्चेष्ट हो जाने और वाणी से मौन हो जाने को ही प्रशम कहा जाएगा, तो अशक्त, अपग या मूक और पाग ल मनुष्यो के चुपचाप पड़े रहने या आत्मस्वरूप मे रमणता से एव आत्मज्ञान से रहित मि थ्यादृष्टिसम्पन्न व्यक्ति की भी अगनि स्पदता तथा वाणी की निश्चलता को भी प्रशम कहना होगा किन्तु वहाँ प्रशम का अभिनय हो सकता है, आन्तरिक प्रशम नही। द्रव्य प्रशम का क ोई मूल्य नही है जब तक अन्तर् से प्रशम स्पृष्ट न हो। अन्यथा, सुषुप्त चेतनाशील एकेन्द्रि य जीवो की निश्चेष्टतायुक्त शान्ति को भी प्रशम कहना पडेगा, जिसे कोई भी धर्मशास्त्र तथा समझदार मनुष्य कहने को तैयार नही है।

प्रशम—शरीर से या मन से ?

इसी प्रकार किसी क्रोधी व्यक्ति का घर मे लडाई-झगडा हो जाने पर या गुमसुम होकर चुपचाप बैठ जाना प्रशम नही है। अन्तर् से क्रोधादि कषायो या विषय-लालसा की समझ-बूझकर उपशान्ति न हो जाए, तब तक बाहर से, किसी के दवाव से, सरकारी दण्ड से, या किसी के मारने-पीटने से या आवेश मे आकर मौन होकर इन्द्रियो को निश्चेष्ट करके बैठ जाने से प्रशम नही आ जाता, क्योकि ऐसे व्यक्ति के अन्तर् मे रोष, द्वेष, ईर्ष्या, वैर-विरोधवश प्रतिक्रिया चलती रहती है, मन ही मन वह घुटता और दुश्चिन्तन करता रहता है, जिसे हम आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान कहते हैं। ऐसे व्यक्ति के शान्ति के अभिनय को हम प्रशम नही कहते। परन्तु आज के कृत्रिमता के युग मे जैसे कल्चर मोती, नकली सोना-चाँदी, नकली केसर, कस्तूरी आदि चल पड़े हैं, वैसे नकली प्रशम भी चल पडा है, जिसमे ध्यान, मौन और अंगोपांगो की नि स्पन्दता आदि सभी प्रक्रियाएँ प्रशम (शान्ति) की अपनाई जाती है, परन्तु उन नकली प्रशम-साधको के अन्तर् मे काम, क्रोध, मोह, द्वेष, लोभ आदि अशान्ति-उत्पादक वासना की आग जलती रहती है।

कई लोग नकली प्रशम का प्रदर्शन करने के लिए साधु का स्वाग भी धारण कर लेते हैं। साधु वेष मे ही वे प्रशम का दिखावा करके दुनिया को चक्मे मे डाल

देते हैं। मुझे एक साधु का पता है, वह बहुत क्रोधी था, बात-बात मे उसे क्रोध आ जाता और क्रोध मे भान भूलकर पात्र फोड देता, इधर-उधर भागने लगता, लडने-झगड़ने और वाक्कलह करने लगता था। उसके गुरु एव गुरुभ्राता सभी उसके कारण परेशान थे। गुरु ने एक दिन उस क्रोधी साधु से कहा—"वत्स! तू बहुत क्रोध करता है, साधु को इस प्रकार का क्रोध करना शोभा नही देता। फिर तू तपस्या भी करता है, उसके साथ इतना उग्र क्रोध शोभा नही देता।"

उसने कहा—"गुरुजी! मैं क्या करूँ? जब क्रोध आता है तो मेरे वस की बात नही रहती। आप ही कोई उपाय बताइए, जिससे मुझे क्रोध न आए।"

उसके गुरु शान्त प्रकृति के विद्वान् साधु थे, उन्होंने सोचा—'इसे शास्त्रीय ज्ञान या आत्मज्ञान तो कुछ है नही, और न ही इसमे इसकी रुचि है, स्थूल बुद्धि का है, इसलिए बाह्यरूप से भी इसका क्रोध शान्त हो जाय ऐसा स्थूल उपाय बताना ही फिलहाल उचित होगा।'

अत उन्होंने उसे स्नेहपूर्वक कहा—"देख! मेरा कहना मानेगा? आज से एक वर्ष तक मौन रख। कोई खास बात हो तो लिखकर या इशारे से बता सकता है। इससे तेरा क्रोध मन ही मन रहेगा, उग्ररूप धारण न कर सकेगा।" उसने गुरुजी से एक वर्ष तक का मौन ले लिया। एक वर्ष पूरा होने के बाद फिर मौन एक या दो वर्ष तक का ले लिया। यो वह साधु जिन्दा रहा वहाँ तक उसने मौन ही रखा। उसने उग्र तपस्याएँ की, मौन रहा और मौन मे ही उसका निधन हुआ। आन्तरिक क्रोध तो उसका गया नही, परन्तु बाहर से तीव्र क्रोध और उस दौरान जो आवेशपूर्ण चेष्टाएँ होती थी, वे बन्द हो गईं।

परन्तु मैं आपसे पूछता हूँ, इस तपस्वी और क्रोधी साधु के द्वारा मौन लिये जाने पर बाहर से तो क्रोध का शमन हो गया, किन्तु अन्तर मे क्रोध के कारण घुटन होता रहा, क्या उसे आप प्रशम कहेगे? मैं किसी पर आक्षेप की दृष्टि से यह नही कह रहा हूँ, परन्तु वस्तुस्थिति की दृष्टि से प्रशम के वास्तविक रूप का विश्लेषण कर रहा हूँ।

अगच्छेदन—प्रशम का मार्ग नहीं

अब आइए, एक दूसरे पहलू से प्रशम पर विचार कर लें। कई व्यक्ति अपराधी अगो को मार-पीटकर या तोड-फोडकर शान्त करते हैं। उनका विचार है कि जिस अग ने गलती की उसे मारो-पीटो, सजा दो, उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दो, फिर वह अपने आप शान्त होकर बैठ जायेगा। हाथ ने कोई अपराध किया तो हाथ को काट डालो या पीटकर सीधा कर दो, आँखो ने गलती की तो आँखें फोड डालो, पैरो ने कोई भूल की तो उन्हें काट डालो या मार-पीटकर दण्डित कर दो। जीभ ने गलती की तो होठ सी लो, या जीभ खींच लो। कान ने गलत शब्द सुने तो उसे काट डालो या बहरा कर दो। ये सब अतिहठ के प्रयोग हैं। अगोपागो को दण्ड

देने से वे बाहर से तो उस काम को नही करते हुए दिखाई देंगे, परन्तु उन इन्द्रियो या अगो का सचालक मन है, उसे तो उन्होने दण्ड नही दिया ? उसने काम, क्रोध, लोभ, मोह, विषयलोलुपना, राग-द्वेष आदि का विचार या मनन किया ही क्यो ? वह गलत विचार न करता तो इन्द्रियाँ या अग उसके द्वारा गलत कार्यों के करने के लिए प्रेरित न होते। अपराध है मन का और दण्ड देते है—इन्द्रियो तथा अंगो को। अत जब तक मन को ठीक न करोगे, मन से विषयो और कषायो आदि से विरत या विरक्त न होगे, तब तक इन्द्रियो और अगो को निश्चेष्ट कर देने से प्रशम का नाटक होता रहेगा, असली प्रशम जीवन मे नही आ पायेगा। असली प्रशम तो मन से ही समझ-बूझकर विषय-वासनाओ एव कषायो का त्याग एव शमन करने से ही आयेगा। अत अगो या इन्द्रियो को निश्चेष्ट या नि स्पन्द कर देने या कार्यावरोध कर देने से उनका बाह्यरूप से शान्त होना प्रशम नही कहला सकता। प्रशम तो वही कहलायेगा, जहाँ मन से प्रशम की साधना की जायगी।

प्राचीनकाल मे भारत के कई साधक इस भ्रान्ति के शिकार हो गये थे। महाभारत मे शख और लिखित दो भाइयो का वर्णन आता है।

एक दिन लिखित शख ऋषि के आश्रम मे गया और वहाँ मनोहर फल देखकर क्षुधा पूर्ति के लिए उन्हे तोडकर खाने लगा। शख के शिष्यो ने देखा तो उन्होने लिखित को उस चोरी के अपराध का प्रायश्चित्त लेने को कहा। राजा के पास लिखित दण्ड लेने को गया तो उसने दण्ड के वदले माफी देने को कहा। परन्तु लिखित ने आग्रह किया कि मुझे पूरा दण्ड दो, मेरे हाथ काट डालो, जिन्होंने यह अपराध किया है। इस पर उसने राजा से हाथ कटवा डाले।

बिल्वमगल ने एक रूपवती युवती पर कुदृष्टि की। उसके कारण स्वय तपाई हुई लोहशलाकाएं आँखो मे भोककर आँखे फोड डाली और सूरदास (अधे) बन गये। इस प्रकार आँखो की गलती का दण्ड उन्हे दे दिया।

महात्मा गाधी के आश्रम मे एक प्रोफेसर थे, उन्होने जीभ को असयम के अपराध से रोकने के लिए अपने ओठ लोहे के तारो से सी लिये थे।

एक साधु ने कामविकार के कारण जननेन्द्रिय उत्तेजित हो जाने से उसे ही काटकर फैंक दिया था।

क्या इस प्रकार अग-भग करने से उन-उन विषयो के बाह्य निरोध हो जाने मात्र को प्रशम कहा जा सकता है ? कदापि नही। अगर इसे ही प्रशम कहा जाए तो सततिनिरोध के लिए वीर्यवाहिनी नस को कटवा लेने को भी काम-प्रशम कहना पडेगा। पर यह प्रशम का वास्तविक उपाय नही है, और न ही इस तरीके मे अग भग से होने वाले बाह्य विकार-रोध को प्रशम कहा जा सकता है। प्रशम का सम्बन्ध अन्तरग से है, बाह्य अगोपागो के रोकने या चेष्टाओ के विरोध से नही।

एक व्यक्ति साधक कहलाता है, घण्टो मौन रखता है, ध्यान भी करता है
कुछ नियम भी लेता है, परन्तु दूसरो के दोष देखता है, मन ही मन दूसरो से क्
है, द्वेषवश दूसरो के विषय मे बुरा चिन्तन करता है तो वाहर से शान्त और ढना
दिखाई देने पर भी उसे प्रशमयुक्त नही कहा जा सकता। उसका व निश्चेष्ट
आदि प्रशम का नाटक मात्र है। २ ध्यान मौन

नशे की म स्ती : कितनी सस्ती

कुछ लोग शान्ति के लिए भाग, गाजा, अफीम स्ती : कितनी सस्ती
वस्तुओ का सेवन करते हैं और उनके नशे मे चूर ., चरस, मद्य आदि मादक
ज्यादा हलन-चलन नही करते। कई लोग माद होकर एक जगह पडे रहते हैं,
लिए अनिवार्य समझते हैं। क्या मादक व क वस्तुओ का सेवन प्रभु को पाने के
शान्ति को आप प्रशम कह सकते हैं ? तुओ से अगो मे दिखाई देने वाली चेष्टा
तो यह शान्ति वडी ही सस्ती औ अगर इस नशीली मस्ती को ही शान्ति कहेगे
चेष्टा करेगा, किन्तु यह शान्ति सुलभ हो जायेगी। हर कोई ऐसी शान्ति पाने की
मूच्छित हो जाती है। क न नही है। क्योकि मादकता से व्यक्ति की संवेदना-शक्ति
हो जाती है, वैसी ही ारोफार्म सुंघा देने पर जैसे रोगी की सवेदना शक्ति मूर्च्छित
मे सुपुप्त चेतना स्थिति नशीली चीजो के सेवन से होती है। इस प्रकार शान्ति
प्रशम कहना की स्थिति है, चैतन्य के पुरुपार्थ की शान्ति नही, इसलिए इसे भी
दुनिया अनुचित है। अगर नशेबाजो की इस स्थिति को प्रशम कहा जायेगा तो
ग मे जितने भी नशेवाज हैं, वे सव प्रशमभाव वाले कहलाने लगेंगे, परन्तु यह
ात सिद्धान्तसम्मत नही है।

हिप्पी लोग चरस, गांजे का दम लगाते हैं, रम की वोतल पीकर नशे मे चूर हो जाते हैं। क्या उनकी इस प्रक्रिया को भी प्रशम-साधना कहा जायगा ? कदापि नही।

निष्कर्ष यह है कि जव तक अन्तर् से विषय-वासनाओ एव कषायो का शमन नहीं किया जाएगा, तव तक ये वाह्य स्थूल प्रयास केवल वालचापल्य हैं। इनके अपनाने से प्रशम जीवन मे नही आ पाएगा, प्रशमरस तभी आएगा, जव अन्तर् से कषाय-विषयो के रस का उच्छेद होगा।

प्रशम कहाँ और किसमे ?

कई लोग भ्रमवश यह मानते है, कि सुख शान्ति पदार्थों मे है। अमुक-अमुक इष्ट पदार्थों के मिल जाने पर मनुष्य की तृप्ति हो जाएगी, तभी शान्ति हो जाएगी और शान्ति ही प्रशम का मूल कारण है। परन्तु यह निरा भ्रम है। पदार्थों मे प्रशम का निवास नही है। उन्हे प्रशम का आधार कहना अज्ञानता है। क्या धन-सम्पत्ति, स्वास्थ्य, सौन्दर्य, सुखकारी साधन आदि प्राप्त हो जाने से सुख-शान्ति आ जायेगी। ये चीजें होने पर भी क्रोधी या अभिमानी स्वभाव न वदला, दुर्व्यसनो मे पड गया, या

घटना हो गई तो सुख-शान्ति धरी रह जायगी, उसके बदले अशान्ति की घुड-
कोई ... शुरू हो जायगी। और फिर इन चीजो के होने, न होने पर ही शान्ति-
दौड मन ... ोती। एक आदमी इन चीजो के अभाव मे भी शान्ति से रहता है,
अशान्ति नही ... की प्रचुरता होने पर भी दूसरो के पास अधिक प्रचुरता देखकर
दूसरा इन वस्तुओं ... सरो को देने मे लोभवृत्तिवश कतराता है, भाइयो के साथ
ईर्ष्या से जलता है, ... ठानता है, ये और इस प्रकार की अशान्ति से ग्रस्त
वेईमानी करके मुकदमेबाज
रहता है।

इसी प्रकार सुन्दर भवन मि... ने, न मिलने पर सुख-शान्ति और दु ख-अशान्ति
का दौर चलता है, वह भी स्थायी नही है ... ता। ममता के कारण भवन होने पर भी
जरा-सा बिगडने, नष्ट होने या विक जाने पर ... अशान्ति का अनुभव करता है, जबकि
दूसरा व्यक्ति भवन न होने पर भी छोटी-सी झोपड ... मे मस्ती और शान्ति से जीवन-
यापन करता है।

इसलिए सुख-शान्ति और उससे होने वाले प्रशम क... मूल आधार पदार्थ और
साधन नही, आत्मा है। प्रशम का निर्झर अपने अन्दर से फूटता ... है। न किसी अभीष्ट,
प्रिय, मनोज्ञ व्यक्ति—सुन्दर स्त्री, वच्चे या अन्य प्राणी मे—प्रशम ... ा निवास है।
अपनी सुन्दर स्त्री को देखकर उसका पति हृदय से उसे प्यार करत... ा है, उसका
जरा-सा वियोग या विरह उसके लिए असह्य हो उठता है, लेकिन मान लीजि... ए उस
स्त्री का स्वभाव क्रोधी हो गया है, वात-वात मे वह झगडा कर वैठती है, अ... नी
प्रिय वस्तु पाने के लिए जिद करती है, तो क्या अब भी उसके पति का उसके प्रति
सुख-शान्ति या आकर्षणजनित आनन्द वना रहेगा। उस पत्नी का रूप-रग सभी
पूर्ववत् वना रहने पर भी अब उसे देखकर पति अवश्य ही नफरत करेगा, आकर्षण
नही रहेगा, उसके प्रति आकर्षणजनित सुख-शान्ति या आनन्द का भाव नही रहेगा।

इसलिए प्रशम को किसी वस्तु या व्यक्ति की प्राप्ति मे खोजना मूर्खता है।
वह वहाँ मिलता नही क्योकि उसका निवास वहाँ है ही नही, वह तो आत्मा मे है।

इसी प्रकार कई लोग कहते हैं कि सासारिक भोग-विलासो और विषय-वासनाओ
की तृप्ति हो जाय तो वस हमे सुख-शान्ति मिल जायगी। पर यह भी निरा भ्रम है।
भोग-विलासो या विषय-वासनाओ की तृप्ति उनके अधिकाधिक उपभोग से कदापि नही
हो सकती, वह और अधिक भडकती है। प्रशम के बदले ये तो अशान्ति और दुःख
की ओर ले जाते है। विषय-भोगो से क्षणिक तृप्ति भले ही हो जाय, परन्तु उनके
सयोग और वियोग दोनो मे दु ख और अशान्ति है। भोग-विलासो या विषय-वासनाओ
की तृप्ति मे प्रशम को खोजना न केवल अपने समय को वर्बाद करना है, बल्कि
अपनी शक्तियो को भी नष्ट करना है।

अत वास्तव मे प्रशम का सम्बन्ध विषयो एवं पदार्थों से ऊपर उठकर आत्म-
सन्तोष से है, आध्यात्मिक जीवन अपनाने से है। स्वेच्छा से विषयो से विरक्त होने से

है, स्वेच्छा से त्याग करने से है। इसी प्रकार कई लोग यह सोचते हैं कि अपना मनचाहा हो जाए इतने से ही सुख-शान्ति प्राप्त हो जाएगी, पर क्या मनमाना करने से संघर्ष, क्लेश, द्वेष, ईर्ष्या और दुर्भावना नही बढेगी ? और मनमानी करने से मन विकृत होगा, विकृत-मन अशान्ति के पथ पर ले जाता ही है। इसलिए प्रशम न तो पदार्थों पर आधारित है, न व्यक्तियो पर और न मनचाहा या मनमाना हो जाने मे है, वह आन्तरिक शुभ-भावनाओ मे है, आत्मा मे है।

भक्त तुकाराम के जीवन की एक घटना है—जब उनकी धर्मपत्नी चल बसी, उन पर काफी कर्जदारी हो गई, अर्थ-सकट भी आ पडा और कुछ लोग उनको शत्रु भी मानने लगे, विरोधी हो गये। फिर भी प्रशमरसनिमग्न भक्त तुकाराम अपनी आत्म-शान्ति से जरा भी विचलित, विक्षुब्ध न हुए, बल्कि उन्होंने भगवान का आभार माना कि ससार की मोहमाया से हटाकर वे अपनी भक्ति मे लगाकर मुझे प्रशम राज्य मे ले जाना चाहते हैं। सहज ही यह जजाल मिट गया, यह बहुत अच्छा हुआ।

सुख-साधनो के अभाव मे भी उनमे प्रशमभाव टिका रहा, इसका कारण यह है कि उनका प्रशमभाव आन्तरिक था, बाह्य नही।

(जो भीतर से प्रशान्त, स्वच्छ और सन्तुष्ट है, वह बाहर से अशान्त, अस्वच्छ और असन्तुष्ट नही हो सकता। जो जिसके मन मे होगा, वही उसके कार्यों, शब्दो और व्यवहारो से प्रकट होगा। भीतरी प्रवृत्तियाँ ही सदा नाना रूप धारण करके व्यक्ति के व्यवहारो से सुस्पष्ट होती रहती हैं।)

प्रशम जैसे बाह्य पदार्थों और व्यक्तियो मे नहीं मिलता, वैसे ही वह बाह्य स्थानो मे भी प्राप्त नही होता। कई लोग प्रशम (शान्ति) के लिए जगलो, पहाड़ो, गुफाओ, तीर्थों और मन्दिरो तथा धर्मस्थानो मे जाते हैं, पर अन्तर् मे प्रशम हो तो वहाँ प्रशम मिल सकता है, अन्तर् मे ही अशान्ति हो तो किसी स्थान-विशेष मे जाने से प्रशम कैसे मिल सकता है ? अन्तर् मे प्रशम जागृत करने के लिए कई लोग शान्तिपाठ करते हैं। वैदिक शान्तिपाठ इस प्रकार है—

'ॐ द्यौ शान्तिरन्तरिक्षं शान्ति', पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधय. शान्ति-र्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवा. शान्तिर्ब्रह्म शान्ति. सर्वशान्ति. शान्तिरेव शान्ति. सा मा शान्तिरेधि।'

साराश यह है कि ब्रह्माण्ड मे सर्वत्र शान्ति की भावना प्रकट की गई है, साथ ही अपने अन्दर भी शान्तिवृद्धि की कामना की गई है।

इसी प्रकार जैनधर्म के आचार्यों ने भी बृहच्छान्तिपाठ और लघु शान्ति-पाठ बनाया है, उसमे भी धर्मसघ से लेकर राज्य, राष्ट्र, पौरजन, राज्याधिप, जनपद, गोष्ठिक, ब्रह्मलोक आदि के लिए शान्ति की कामना की गई है।

[illegible] मे कहा गया है—

'विशुद्धपरिणामेन शान्तिर्भवति सर्वतः'

—विशुद्ध परिणामो (भावो) के सर्वत्र शान्ति होती है।

परन्तु एक बात निश्चित है कि जब तक शान्ति के लिए अपने भीतर से पुरुषार्थ न हो, और राग-द्वेष, काम-क्रोधादि तथा विषयासक्ति आदि मन से निकल नही जाएँगे, तब तक केवल शान्ति-मत्र का उच्चारण करना उफनते दूध को थोडी देर के लिए शान्त करने के लिए छीटे देने के समान होगा।

प्रशम आन्तरिक वस्तु है, शरीर को निश्चेष्ट बनाने, वाणी को रोक देने या ध्यान धरकर बैठ जाने मात्र से वह नही आ जाता। प्रशम एक दिव्य मन·स्थिति है, उसका सम्बन्ध मन मे निहित विवेक-भावना से है। यही कारण है कि अन्यायी, द्रोही, कामी, क्रोधी, आवेशग्रस्त एवं अविवेकी लोग, चाहे कितना ही शान्तिपाठ कर लें, वे प्रशम को तब तक प्राप्त नही कर सकते, जब तक प्रशम के लिए आन्तरिक पुरुषार्थ न कर लें।

ऐसा प्रशम, जो कि आत्मनिष्ठ है, वह किसी देवता द्वारा, किसी अवतार तीर्थंकर या पैगम्बर द्वारा ही प्राप्त नही होता, और न ही भाग्य के द्वारा प्राप्त होता है, वह अपने आध्यात्मिक पुरुषार्थ के द्वारा ही प्राप्त होता है। कोई भी भगवान् किसी को प्रशमनिष्ठ नही बना सकता, किसी के जीवन मे कोई भी ऊपर से प्रशम नही उडेल सकता, वह तो अपने अन्तर् के पुरुषार्थ से निष्पन्न होता है। पाश्चात्य दार्शनिक रस्किन (Ruskin) के शब्दो मे प्रशम-प्राप्ति का सन्देश सुनिए—

'No peace was ever won from fate by subterfuge or agreement; no peace is ever in store for any of us, but that which we shall win by victory over shame or sin, victory over the sin that oppresses, as well as over that which corrupts."

"कोई भी प्रशम (शान्ति) करार या प्रतिनिधित्व के द्वारा भाग्य से कदापि नही जीता जाता, और न कोई प्रशम हममे से किसी के लिए कही किसी भण्डार मे जमा कर रखा है, किन्तु प्रशम वह है, जिसे हम लज्जाजनक कार्यों या पापो पर विजय पाकर अधिकृत करेंगे। वह पाप जो कि हमे दबाता है, उस पर और जो हमे भ्रष्ट करता है, उस पर हम विजय पाकर ही प्रशम प्राप्त कर सकेंगे।"

बन्धुओ ! प्रशम क्या है, क्या नही है? तथा प्रशम कहाँ और किसमे है? इस सम्बन्ध मे विविध पहलुओ से आपके समक्ष विचार रखे है, ताकि आप प्रशम के वास्तविक स्वरूप को हृदयगम कर सकें। प्रशम के स्वरूप को समझ लेने के पश्चात उसकी शोभा किसमे है? इसे समझना आसान होगा। महर्षि गौतम ने समाधियोग को प्रशम की शोभा क्यो बताया? उसके पीछे क्या रहस्य है? प्रशम को प्राप्त करने मे क्या-क्या बाधाएँ है? प्रशमयुक्त व्यक्ति के क्या-क्या लक्षण है? इन सब बातो पर अगले प्रवचन मे हम गहराई से विचार करेंगे। आशा है, आप प्रशम का स्वरूप समझकर उसके प्रशस्त पथ पर चलने का पुरुषार्थ करेंगे।

□ □

५०

प्रशम की शोभा : समाधियोग—२

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

कल मैंने प्रशम की उपयोगिता, महत्ता, उसके स्वरूप और उसकी प्राप्ति के स्थलो के सम्बन्ध मे विविध पहलुओ से प्रकाश डाला था, आज भी मैं इसी जीवन-सूत्र के सम्बन्ध मे जो अवशिष्ट महत्त्वपूर्ण विचार व बातें हैं, उन पर अपने विचार प्रस्तुत करूँगा।

प्रशम-प्राप्ति का त्रयात्मक पथ

प्रशम का मानव-जीवन मे जब महत्त्वपूर्ण स्थान है तो उसकी प्राप्ति के लिए प्रत्येक मानव लालायित हो उठता है, परन्तु जैसा कि मैंने कल कहा था कि आन्तरिक पुरुषार्थ के बिना प्रशम प्राप्त होना दुष्कर है, वैसे ही प्रशम-प्राप्ति के कौन-कौन से स्रोत हैं, उन्हे जाने बिना, साथ ही उन पर श्रद्धा और आचरण किये बिना प्रशम के सर्वांगीण दर्शन कठिन हैं।

किसी भी कार्य मे प्रवृत्ति करने के लिए व्यक्ति को त्रयात्मक पथ अपनाना पड़ता है। जैसे किसी व्यक्ति को अध्यापक बनना है तो पहले उसे लक्ष्यबिन्दु निर्धारित करना आवश्यक है, इसी के अन्तर्गत उसे लक्ष्यबिन्दु पर दृढ श्रद्धा एव रुचि करना आवश्यक है। यानी 'मेरे लिए अध्यापक बनना ही हितकर है, अन्य कुछ नही,' इस प्रकार का लक्ष्यबिन्दु निश्चित करने के साथ ही उस पर दृढ श्रद्धा व रुचि रखना अनिवार्य है। तत्पश्चात् शिक्षा-मनोविज्ञान, शिक्षाशास्त्र, शिक्षा के लिए निर्धारित विषयो का ज्ञान तथा उसके बाद जिन विद्यार्थियो को पढाना है, शिक्षा देनी है, उनके प्रति क्रिया या शिक्षा का प्रयोग करना है, उन्हे प्रतिदिन अभ्यास भी कराना है।

जो व्यक्ति अध्यापक बनने के लक्ष्यबिन्दु पर रुचि या श्रद्धा तो रखता हो, लेकिन उसे तत्सम्बन्धी ज्ञान न हो तो मन मसोसकर ही रह जाएगा, कुछ भी कर न सकेगा। मान लो, एक अध्यापक को अपने पाठ्यविषय का ज्ञान भी हो, लेकिन अपने लक्ष्यबिन्दु के प्रति रुचि व श्रद्धा न हो, तो भी वह ज्ञान कृतकार्य नही हो सकेगा। अपने लक्ष्यबिन्दु के प्रति श्रद्धा रुचि भी हो पाठ्यविषय का ज्ञान भी हो, लेकिन पढाये नही, विद्यालय मे जाए ही नही, घर बैठे-बैठे ही ननमूने बांधा करे तो क्या वह अध्यापक अपने कार्य मे सफल हो सकेगा ? कदापि नही।

इसी प्रकार क्या डाक्टरी, क्या वकालत, क्या व्यापार, क्या कृषि आदि तमाम प्रवृत्तियाँ त्रयात्मक हैं। इसी प्रकार प्रशमपथ पर चलकर उसे पाने की प्रवृत्ति भी त्रयात्मक है। प्रशम को ही लक्ष्यबिन्दु मानकर अन्तर् से इसके प्रति श्रद्धा व रुचि होनी सर्वप्रथम आवश्यक है। तत्पश्चात प्रशम-प्राप्ति सम्बन्धी ज्ञान, जो विभिन्न पहलुओ से हो, और उसके बाद प्रशम का आचरण, तत्सम्बन्धी क्रिया होनी चाहिए।

सर्वप्रथम प्रशम-प्राप्ति का लक्ष्यबिन्दु रखने वाले की श्रद्धा व निष्ठा पक्की होनी चाहिए। प्रशम-प्राप्ति के प्रति उसकी अनन्य भक्ति एव अनन्य रुचि होनी चाहिए। एक व्यक्ति चाहता तो है प्रशम-प्राप्ति, किन्तु उसकी अन्तर् से रुचि है—प्रशमबाधक बातो मे। क्लेश, कलह, युद्ध, मार-काट, शक्ति-सन्तुलन आदि प्रशम-बाधक अशान्तिवर्द्धक उपायो मे भी उसकी रुचि व श्रद्धा है, और वह ज्यादा गहरी है तो समझ लेना चाहिए कि अभी उसकी श्रद्धा प्रशम-प्राप्ति के विषय मे कच्ची है झूठी है, सच्ची नही है, दिखाऊ है।

इसलिए प्रशम-प्राप्ति के अभिलाषी व्यक्ति को अपने निर्धारित लक्ष्यबिन्दु के प्रति अपनी श्रद्धा, रुचि, भक्ति, निष्ठा, लगन, जिज्ञासा एव तीव्रता की परीक्षा एवं जाँच-पडताल कर लेनी चाहिए। कही ऐसा न हो कि लक्ष्यबिन्दु तो हो धन कमाने, सत्ता प्राप्त करने या अधिकाधिक सासारिक विषयो के उपभोग का और सीखने, सुनने या जानने लगे प्रशम-प्राप्ति सम्बन्धी बातें! यदि ऐसा होगा तो सब कुछ सुना-सुनाया जाना-माना हुआ बेकार हो जाएगा। इसलिए अगर लक्ष्यबिन्दु गलत बना लिया है तो सर्वप्रथम दिल कडा करके अपना लक्ष्यबिन्दु बदलना होगा—प्रशम-प्राप्ति का ही बनाना होगा। जाना चाहे बम्बई और बैठ जाए दिल्ली की गाडी मे, या दिल्ली जाने का टिकट ले तो वह यात्री बम्बई कैसे पहुँच सकेगा? इसलिए प्रशम-प्राप्ति के साधक को भी अपनी श्रद्धा, रुचि एव लगन उसी लक्ष्यबिन्दु की बनानी होगी।

प्रशम-प्राप्ति का लक्ष्यबिन्दु स्थिर किये बिना अगर यो ही चलता जाएगा अधाधुंध तो प्रशम-प्राप्ति के बदले प्रशम-बाधक लुभावने मायाजाल मे फँस जाएगा। लक्ष्यविहीन यात्री इधर-उधर वनो या बीहडो मे भटक जाता है वैसे ही लक्ष्यविहीन साधक भी अपने प्राप्तव्य से भटक जाएगा। अत. प्रशम-प्राप्ति के साधक को पद-पद पर, उसी लक्ष्यविन्दु को स्मरण करते हुए अपने लक्ष्यबिन्दु को हृदयगम करते हुए, उसे एक क्षण भी विस्मृत न करते हुए उसके प्रति अनन्य श्रद्धा के साथ चलना होगा। साँस-साँस मे प्रशम-प्राप्ति की ध्वनि, या बस, वही चाहिए की आवाज उठनी चाहिए। इसके अतिरिक्त अगर कोई तीन लोक की सम्पत्ति, सत्ता या तीन लोक के सुन्दर पदार्थ भी देने लगे या कोई भी प्रलोभन देने लगे तो उसे तुरन्त ठुकरा देने की दृढता उसमे होनी चाहिए।

किसी भी कार्य मे सफलता-असफलता का निर्णय करने की या किसी कार्य-क्रम की सत्यता-असत्यता को जाँचने की शक्ति लक्ष्यबिन्दु से ही मिलती है। इसी

प्रकार प्रशम-प्राप्ति के कार्य की या कार्यक्रम की सफलता और सत्यता का पता भी लक्ष्यबिन्दु से चल जाएगा। भले ही प्रशम-प्राप्ति का साधक अभी दो ही कदम चला हो, लेकिन प्रशम-प्राप्ति के लक्ष्यबिन्दु को अटल निष्ठा के साथ धारण करके और प्रशम-प्राप्ति में बाधक तत्त्वों को दृढ़ता से छोड़कर चला है तो वह शीघ्र ही प्रशम के निकट पहुँच सकेगा। सच्चे लक्ष्यबिन्दु की पहचान यह है कि जो अंतरंग से रुचि एवं श्रद्धापूर्वक उसी दिशा में चलने के लिए व्यक्ति को प्रेरित करे, अन्य दिशा में चलने से रोके।

एक दृष्टान्त द्वारा मैं अपने विषय को स्पष्ट कर देता हूँ—

एक सेठ थे। वे अपने आपको भगवान का बड़ा भक्त मानते थे। धर्मस्थान में जाकर घण्टों भगवान की स्तुति करते, अपने पाप-दोषों के लिए समुच्चय रूप से दीन बनकर प्रार्थना भी करते और कई घण्टे माला लेकर जप भी करते थे। उनकी पुकार यही थी—"भगवन् ! किसी भी प्रकार से मुझे आप मिल जाएँ।"

एक दिन उनकी प्रभु-भक्ति की परीक्षा का मौका आया। एक देव आकर बोला—"आपकी भक्ति से भगवान अत्यन्त प्रसन्न हुए हैं, और मुझे आपकी इच्छापूर्ति के लिए भेजा है।" सुनते ही सेठजी की प्रसन्नता का पार न रहा, क्योंकि उनकी प्रार्थना के अनुसार आज उन्हें परमात्मा की प्राप्ति होने वाली थी, वीतराग प्रभु उन्हें आज मिलने वाले थे। लेकिन देव ने कहा—"आपकी मनोवांछित प्राप्ति के पूर्व आपके जो दस पुत्र हैं, उनमें से प्रतिदिन एक पुत्र मरता जाएगा, तथा आपके जो दस कारखाने हैं, उनमें से प्रतिदिन एक कारखाना फेल होता जाएगा। इस प्रकार दस दिन में आपके दसों पुत्र मर जाएँगे और आपके दसों कारखाने फेल हो जाएँगे, और तब ग्यारहवें दिन मैं आपको प्रभु से मिलाने ले जाऊँगा।"

यह बात सुनते ही सेठ के होश गुम हो गये। उनकी आँखों में अँधेरा छा गया। पुत्रों की मृत्यु तो कदाचित् सह ली जाती, परन्तु कारखानों का फेल होना, बिलकुल कंगाल होकर रहना, यह तो असह्य होगा। यह तो बिलकुल गले नहीं उतरता। सेठ ने प्रभु के इस सन्देशवाहक देव से कहा—"भैया ! आपने मेरे लिए बड़ा कष्ट किया है, लेकिन एक कष्ट और करें, उसके लिए क्षमा चाहता हूँ, वह यह कि प्रभु से जाकर मेरी ओर से नमस्कार करके प्रार्थना करना कि भगवत्प्राप्ति किसी और पालिसी से हो, जिसमें इतना कठोर त्याग न करना पड़े तो मुझे वह प्रदान करने की कृपा करें मगर इस पालिसी से तो प्रभु-प्राप्ति मेरे लिए असह्य और दुस्साध्य होगी।"

क्या वीतरागता या वीतराग प्रभु की प्राप्ति सेठजी को इतना उत्कृष्ट त्याग या कष्टसहन किये बिना ही हो जाती ? यह कदापि सम्भव न था, परन्तु सेठ तो सस्ती वीतराग प्रभु-प्राप्ति चाहते थे, जिसमें हींग लगे न फिटकरी, रंग चोखा हो जाए। क्या आज भी ऐसी ही सस्ती प्रशम-प्राप्ति चाहते हैं जिसमें साथ धन, परि-

वार एव सासारिक विपय-भोगो की प्राप्ति होती रहे और प्रशम-रस का स्वाद भी चखते रहे ? यानी विप को भी पीते रहे और अमृत का आस्वादन भी करते रहे।

यह कदापि सम्भव नही होगा। ऐसा लक्ष्यबिन्दु झूठा है। प्रशम-प्राप्ति के सच्चे लक्ष्यबिन्दु के साथ उसके साधक कारणो के सिवाय और कोई बात नही होती। सारी लौकिक बाधाएँ आ पडने पर भी उस लक्ष्यबिन्दु से एक इच भी इधर-उधर आपका मन-वचन-काय न होने पाये, तभी समझना कि वह सच्चा है।

किसी भी विपय की सच्ची श्रद्धा एव निष्ठा तभी होती है, जब उस विषय की सत्यता का अनुभव हो जाये। पोथियो से या धर्मग्रन्थो से भले ही आप उस विपय मे बहुत-सी जानकारी प्राप्त कर लें, परन्तु वह जानकारी अनुभव की या अनुभवियो की कसौटी पर कसी न जाये, तब तक कच्ची है, सन्देहास्पद है, अनिश्चयात्मक है, कभी मिथ्या भी हो सकती है। अत लक्ष्यविन्दु के प्रति अनन्य श्रद्धा के वाद उसका अनुभवात्मक या परीक्षणात्मक सम्यग्ज्ञान होना अपेक्षित है। प्रशम-प्राप्ति का अनुभवात्मक सम्यग्ज्ञान—परिपक्व ज्ञान होगा, तभी गाडी आगे चलेगी, वरना प्रशम-प्राप्ति के मार्गों या उपायो का सम्यग्ज्ञान न होने से आप वाचालो और ठगो के चगुल मे फँस जाएँगे और प्रशम-प्राप्ति के बदले अशान्ति के चक्कर मे फंसकर जीवन का पतन कर लेगे।

तात्पर्य यह है कि प्रशम-प्राप्ति के लक्ष्यविन्दु के प्रति सच्ची श्रद्धा हो, सम्यग्ज्ञान हो, परन्तु आगे चलने की हिम्मत न हो, आचरण के लिए पुरुपार्थ न करे तो वह श्रद्धा एव ज्ञान दोनो वन्ध्य हो जायेगे। इसलिए प्रशम-प्राप्ति मे बाधक कारणो से दूर रहते हुए साधक उपायो पर चलना चाहिए, तभी लक्ष्य-प्राप्ति हो सकेगी। प्रशम-प्राप्ति के त्रयात्मक मार्ग पर विश्वास और अनुभव के साथ गति-प्रगति करने से ही साधक लक्ष्य तक पहुँच सकेगा।

प्रशम-प्राप्ति मे बाधक तत्त्व

अव प्रश्न यह होता है कि प्रशम-प्राप्ति मे क्या क्या बाधाएँ हैं ? कौन-कौन से तत्त्व प्रशम को नष्ट कर देते है ? प्रशम-साधक को किन-किन तत्त्वो से वचकर सावधान रहना चाहिए ? आइए, इन प्रश्नो पर गम्भीरता से विचार कर लें।

प्रशम के लक्षणो मे काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहकार, मत्सर आदि अशान्ति-वर्द्धक दु खाग्नि वताये गये हैं, जव तक ये रहेगे, इतना ही नही, इनके मूल वने रहेंगे, तव तक प्रशम जीवन मे आ नही सकेगा। इसलिए सर्वप्रथम प्रशम-वाधक इन तत्त्वो से साधक को वचना आवश्यक है।

मनुष्य के मन मे उत्पन्न होने वाली असहिष्णुता, अहकारजनित असहनशीलता भी प्रशम-प्राप्ति मे वाधक होती है। ससार मे जनसख्या दिनो-दिन वढती जा रही है, उसके साथ-साथ नये विचार, नई भावनाएँ, नई इच्छाएँ, नये अरमान,

नई-नई सभ्यताएँ आदि भी बढते जा रहे हैं। विभिन्न प्रकार के रहन-सहन, वेष-भूषा, भाषा, प्रान्त, वर्ग, धर्म-सम्प्रदाय, आहार-विहार, सस्कार आदि विकसित होकर ससार मे फैल गये है। साधारण मनुष्य का मन इन विभिन्नताओ देखकर परेशान एव क्षुब्ध हो उठता है। तर्क से एक विचार को दूसरा विचार काट देता है। ऐसी स्थिति मे मानव के दिमाग मे घुसा हुआ अह का भूत नाचने लगता है। वह अपने विचार, भावना, सस्कार आदि पर 'मेरापन' चिपका लेता है। इस कारण अपने विचार सस्कार आदि से विपरीत जब किसी दूसरे विचार, सस्कार आदि को सुनता है तो असहिष्णु होकर उनका विरोध, खण्डन, निन्दा एव उपेक्षा करने लगता है। इस प्रकार एक के प्रति राग, मोह, आसक्ति और मेरापन तथा दूसरे के प्रति द्वेष, घृणा, अरुचि और परायापन मनुष्य के मन मे जागता है, वही असहिष्णुता अशान्ति का कारण यानी प्रशम का बाधक कारण बन जाता है।

जब इस प्रकार की असहिष्णुता मानवमन मे पैदा होती है तो वह अपने और अपनो से या अपने माने हुए से भिन्न के प्रति द्वेष, दुर्भाव और रोष से प्रेरित उसे अपदस्थ करने का प्रयास करता है। इसी मे से ईर्ष्या, द्रोह, छल-कपट, स्वार्थ और सघर्ष आदि जन्म लेते हैं। इन्ही कारणो से अनपढ-पढेलिखे, धनवान-निर्धन, मालिक-मजदूर, स्त्री-पुरुष और बच्चे-बूढे सभी परेशान और अशान्त होते रहते हैं।

दृष्टिकोण की यह सकीर्णता या क्षुद्रता भयानक कारागार है, जिसमे बन्दी बना हुआ मनुष्य अनेकान्तदृष्टि की उपेक्षा के कारण एकाकीपन और सूनेपन से घिरकर तडपता-कलपता रहता है। इस प्रकार के सकीर्ण दृष्टिकोण वाला अपनी मान्यता, विचारधारा या दृष्टि के विरुद्ध कुछ भी सुनना पसन्द नही करता, इसलिए वह दूसरी मान्यता, विचारधारा आदि की कटु आलोचना एव निन्दा करने पर उतारू हो जाता है। इस प्रकार वह अपनी मान्यता, विचारधारा या दृष्टि से भिन्न मान्यता, विचारधारा आदि को कतई सहन नहीं कर पाता, किसी दूसरी सभ्यता और सस्कृति को फूटी आँखो से फलते-फूलते नही देख पाता। पूर्वाग्रह के कारण वह यही मानता है कि जो उससे सम्बन्धित है, वही सत्य, शिव और सुन्दर है अन्य सब कुछ असत्य, अमगल एव अशुभ है। भला विविधताओ और विभिन्नताओ से भरे इस ससार मे ऐसे सकुचित और तुच्छ दृष्टिकोण वाला व्यक्ति कैसे प्रशमयुक्त—शान्त और सुखी रह सकता है? जब तक दृष्टिकोण मे व्यापकता, उदारता, सहिष्णुता और दूसरो को समझने की गम्भीर दृष्टि नही आयेगी, तब तक प्रशम उससे कोसो दूर रहेगा।

प्रशम का एक बाधक कारण है—वस्तुओ और विषयो का ससार मे बाहुल्य हो जाने के कारण मनुष्य की आवश्यकताओ और इच्छाओ मे वृद्धि। ससार मे जीने के साधन कम हैं और जनसख्या मे अपरिमित वृद्धि होती जा रही है। इस कारण साधारण मानव स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष, मोह, लोभ, क्रोध, काम आदि दूषणो से घिर

गये हैं। मनुष्यो मे स्वार्थभावना पराकाष्ठा पर पहुँच गई है। एक के पास साधन अधिक हैं, दूसरा साधनो के अभाव मे जी रहा है। इस प्रकार एक व्यक्ति स्वार्थी, निष्ठुर, नीरस और आस्थाहीन बन गया है जबकि दूसरा अभावो से, सहयोग के अभाव मे, पीडित, पददलित, उत्साहहीन, नीरस एव सत्त्वहीन बन गया है। इस प्रकार की विषमता मे मानवमन प्रशान्त नही रह पाता। वह प्रशान्त रह सकता है—समता और सन्तुलन मे, इच्छाओ और आवश्यकताओ की सीमा करके अनासक्तभावपूर्वक चलने से, अभावपीडितो के लिए त्याग एव ममत्व-विसर्जन करके।

ससार मे जहाँ इच्छाएँ, कामनाएँ एव आवश्यकताएँ वढती जाती हैं, वहाँ दु.ख, शोक, सघर्ष और अशान्ति का होना अवश्यम्भावी है। क्योकि जहाँ कामनाएं होगी, वहाँ अतृप्ति और अभाव खटकेगा, फलत मन मे अशान्ति होगी। मन अशान्त रहने पर तरह-तरह की बाधाओ एव व्यामोहो का जन्म होगा, चिन्ताएँ वढेंगी, फलत अशान्ति का विष-चक्र चलता रहेगा। प्रशम का किनारा नही मिलेगा।

पश्चिम के मानसशास्त्रियो का कथन है कि मनुष्य की कुछ इच्छाएँ, तमन्नाएँ कामनाएँ या अभिलाषाएँ होती हैं, उनकी पूर्ति के लिए वह लालायित रहता है। अगर उन आवश्यकताओ, लालसाओ या अभावो की पूर्ति होती रहे तो उसके मन के दु खी और अशान्त होने का कोई कारण ही न रहे। परन्तु भारतीय तत्त्ववेत्ताओ ने इस विचारधारा को ठीक नही माना। उनका कहना है—इच्छाओ और लालसाओ की कोई सीमा नही है। एक इच्छा पूरी होते ही दस नयी इच्छाएँ जन्म लेती हैं। इसका मतलब है—इच्छाओ या लालसाओ की पूर्ति करने मे जो जिस हद तक सफल होगा, वह उस सीमा तक सन्तुष्ट एव शान्तियुक्त रहेगा, जितनी सीमा तक असफल होगा, वह उस सीमा तक दु खी एव अशान्त रहेगा। उसे सुखी और सन्तुष्ट करने का कोई उपाय पाश्चात्य तत्त्वविदो के पास नही है।

फिर इस सिद्धान्त के अनुसार चलने से तो जो अधिक साधनसम्पन्न, शक्तिशाली और चतुर है, वह अपनी इच्छाओ को येन-केन-प्रकारेण पूरी करके सन्तुष्ट और शान्तिमय रहेगा और जो अभाव-पीडित है, जिनके पास शक्ति, साधन एव चातुर्य की कमी है, वे दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति मे पडे-पडे रोते-कलपते रहेगे। इसी दृष्टिकोण ने किसी हद तक संसार मे स्वार्थ, सघर्ष, शोषण और साम्राज्यवाद को जन्म दिया है, वढावा दिया है। संसार मे फैले अन्याय, अत्याचार एव स्वार्थ के लिए यही दूषित दृष्टिकोण त्तउरदायी है।

अत भारतीय दार्शनिक कहते हैं कि मन की इच्छाओ और लालसाओ की पूर्ति करते रहने या मनमानी करने से सच्ची सुख-शान्ति उपलब्ध नही हो सकती, वह तो कामनाओ और लालसाओ मे कमी करने से हो सकती है। लालसाओ की पूर्ति ज्यो-ज्यो की जाती है, त्यो-त्यो तृष्णा वढती जाती है, जिसका परिणाम असन्तोष एव अशान्ति के सिवाय और कुछ नही होता। यह चचल मन अनन्त-असीम इच्छाओ

का कर्त्ता है, ऐसी दशा मे उसे सतुष्ट कैसे किया जा सकेगा ? अत ऐसी निरकुश इच्छाएँ, अभिलापाएँ, आवश्यकताएँ या लालसाएं प्रशम मे वाधक कारण है। प्रशम-साधक को इनसे छुटकारा पाना अत्यावश्यक है।

सिकन्दर ने अपनी इच्छाओ एव लालसाओ की पूर्ति के लिए जिन्दगी भर भरसक प्रयत्न किया फिर भी क्या उसकी वे मव इच्छाएँ और लालसाएँ पूर्ण हो गईं ? उनकी पूर्ति के वाद भी उसके मन मे घोर अशान्ति मरते दम तक वनी रही, वह शान्ति नही पा सका।

शान्त और सुखी रहने का एक ही उपाय है कि अपनी वर्तमान स्थिति मे सामजस्य रखते हुए सन्तुष्ट रहा जाए, उपलब्ध साधनो का सदुपयोग किया जाए और अभिलापाओ, इच्छाओ तथा मन कल्पित आवश्यकताओ के इशारे पर न नाचा जाए।

प्रतिकूल-अप्रिय परिस्थितियाँ भी बाधक

प्रशम मे वाधक कारण प्रतिकूल अप्रिय परिस्थितियाँ भी होती हैं। ऐसा कभी किसी के लिए सम्भव ही नही होता कि जीवन मे सदैव अनुकूल परिस्थितियाँ ही रहे, अप्रिय परिस्थितियाँ आयें ही नही। कई वार दुर्जन लोगो की ओर से सीधे और सरल व्यक्तियो को सताया जाता है, आतकित किया जाता है, डराया जाता है। ऐसी स्थिति मे मनुष्य का प्रशम मे टिक पाना दुष्कर होता है। कई वार परिस्थितियाँ मनुष्य को स्थान परिवर्तन के लिए विवश कर देती हैं। नौकरी-पेशा वालो का तवादला होता रहता है। व्यापार, शिक्षा या अन्य कारणो से पति-पत्नी को अलग अलग रहना पडता है। कई वार आर्थिक क्षति का सामना करना पडता है। दैवी प्रकोप से अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, भूकम्प, वाढ, अग्निकाण्ड, चोरी, डकैती, भावो की तेजी-मन्दी, विश्वासघात, ठगी, प्रतिस्पर्धा, कमाऊ व्यक्ति की मृत्यु आदि कितनी ही आकस्मिक दु खद परिस्थितियाँ मनुष्य के सामने आती हैं, जिनमे भारी हानि उठानी पडती है। सुनहरे सपने परिस्थितियो के थपेडे खाकर चूर-चूर हो जाते हैं। परीक्षा मे अनुत्तीर्ण हो गया, नौकरी से वर्खास्त हो गया, अथवा वेकार वैठे रहना पडा, नौकरी न मिली या स्वय अथवा परिवार के किसी सदस्य को कोई ऐसी पाजी वीमारी लग गई, जिसके इलाज मे हजारो रुपये स्वाहा हो गये। ये सव अप्रिय परिस्थितियाँ प्रशम की कसौटी करती हैं।

प्रशम-साधक व्यक्ति इन प्रतिकूल परिस्थितियो से घवराता नही। वह धैर्य और दूरदर्शिता से काम लेता है, जिसका निवारण हो सकता है, निवारण करता है, जिसका निवारण नही हो सकता, जिसके सहे विना कोई चारा नही है, प्रशम-साधक व्यक्ति रोते विलखते नही सहेगा, हँसते-हँसते सहेगा। ठण्डे मस्तिष्क से विचार करके मनुष्य समागत विपत्ति को टाल सकता है तो टालने का प्रयत्न करता है। असफलता के समय दिल छोटा करने और निराश होने की क्या वात है ? सदैव सफल होना

चाहिए, यह कोई जरूरी नही। प्रयत्नशील व्यक्ति दो-तिहाई असफलता और एक-तिहाई सफलता का अनुमान लगाकर काम करते हैं, उसी मे सन्तोप करते हैं, उतना ही पर्याप्त समझते है। नौकरी न मिली, तरक्की न हुई, नियुक्ति अमुक जगह पर न हुई तो इसमे हतोत्साह होने की क्या बात है? उन्नति के लिए प्रयत्न करना चाहिए, पर जो भी परिणाम आए, उसे सन्तोप और धैर्यपूर्वक मुस्कराते हुए शिरोधार्य करना चाहिए।

आर्थिक घाटा लग जाने पर हैरान होने से कोई समस्या नही सुलझती। यदि व्यक्ति के पास क्षमता, प्रतिभा, साहस, पुरुषार्थ और कौशल मौजूद है तो, एक न एक दिन आवश्यक साधन फिर जुट सकते है। न भी जुटे तो कम खर्च मे भी सुन्दर ढग से जीवनयापन कर सकता है। स्वेच्छा से अपनी इच्छाओ एव आवश्यकताओ पर सयम करना धर्माचरण का अग बन जाएगा। खर्चों मे कटौती करके जो स्वैच्छिक गरीबी धारण की जाती है, वह अखरती नही। समय के अनुरूप अपने स्तर को घटा लेने का साहस जिसमे मौजूद है, जिसे हल्की माने जाने वाली मजदूरी मे अपना गौरव नष्ट होना नही दीखता, उसके लिए किसी भी स्थिति मे परेशानी का कोई कारण नही। अपने आपको परिस्थितियो के अनुरूप ढाल लेने का जिसमे सिफ्त है, उसके लिए निर्धनता और अभाव मे भी प्रसन्न रहने का कारण मौजूद है। जिसकी नसो मे पुरुषार्थ का माद्दा है, वह नीतिपूर्ण आजीविका का कोई न कोई रास्ता खोज ही लेता है।

भविष्य की दुश्चिन्ता : प्रशम बाधक

भविष्य की आशकाओ और दुष्परिस्थितियो की सम्भावनाओ से प्रशमप्रिय व्यक्ति को चिन्तित और आतकित होने की जरूरत नही। परिस्थितियाँ सदा एक-सी नही रहती, वे भी समय आने पर बदलती है, इसलिए निराश और पस्तहिम्मत होकर बैठना भी अच्छा नही। साहसी, निर्भीक और आशावादी होकर ही प्रशमप्रिय व्यक्ति जीता है, प्रसन्नता और हँसी-खुशी के साथ।

प्रतिकूल परिस्थितियो मे क्रुद्ध, रुष्ट, असन्तुष्ट और क्षुब्ध रहने से व्यक्ति के मस्तिष्क मे नई-नई विकृतियाँ पैदा होगी और वे बढती चली जाएँगी। जहाँ असन्तोष, विक्षोभ एव तनाव रहेगा, वहाँ सारा मानसिक ढाँचा ही लडखडाने लगेगा। ऐसा व्यक्ति अपने ही दुर्गुणो से अपने आपको जलाता-गलाता रहता है, और अनेक शारीरिक, मानसिक आधि-व्याधियो से ग्रस्त होकर घोर अशान्ति का जीवन जीता है।

प्रशमप्रिय लोग उदात्त और सन्तुलित दृष्टिकोण के होते है। वे जानते हैं कि मानव-जीवन सुविधाओ असुविधाओ और अनुकूलताओ-प्रतिकूलताओ के ताने-बाने से बुना हुआ है। ससार मे एक भी ऐसा व्यक्ति नही हुआ जिसे केवल सुविधाएँ या अनुकूलताएँ ही मिली हो, कठिनाइयो का सामना न करना पड़ा हो। जो व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थितियों से टकराता हुआ है, उसे जितनी अनुकूलताएँ मिली है,

उन पर विचार करने लगे, अपनी तुलना पिछडे, अभावग्रस्त, निर्धन एव साधनहीन लोगो से करने लगे तो उसे लगेगा कि हम उन करोडो लोगो से अच्छे हैं, हमारे पास जो है, उसके लिए भी लाखो-करोडो लोग तरसते हैं। इस तथ्य को जो समझ लेगा, वह अपने आपको सौभाग्यशाली समझकर सन्तोष का वडा आधार प्राप्त कर लेगा। इस प्रकार वह प्रतिकूल परिस्थितियो मे भी सन्तुष्ट और शान्त रह सकेगा।

असन्तोष भी प्रशम मे मुख्य वाधक कारण है। मानव-जीवन मे व्यक्त-अव्यक्त बहुत-से ऐसे कारण होते हैं जो असन्तोष पैदा कर देते हैं।

असन्तोष उत्पन्न होने के कुछ कारण ये हैं—

(१) मनुष्य की द्विविधामय स्थिति,

(२) यथार्थ से आँखें मूंदकर कल्पना-लोक मे विचरण करना,

(३) जीवन जीने का अस्वाभाविक मार्ग अपनाना,

(४) तृष्णा, लालसा और वासना मे रमना,

(५) अपने आपके प्रति अनजान रहना,

(६) मन को असतुलित रखना,

(७) निरुद्देश्य जीवन जीना।

जब मनुष्य का आन्तरिक मन कुछ और चाहता है और वाह्य मन कुछ और सोचता है, आन्तरिक और वाह्य मन मे एकरूपता नही होती, तब वह दुविधा की स्थिति मे पडा रहता है, इस कारण उसके जीवन मे अशान्ति और असन्तोष पैदा होता है। वह प्रशम मे वाधक होता है। अत प्रशम-प्राप्ति के लिए अन्तर्वाह्यमन मे सामजस्य और एकरूपत्व प्राप्त करना आवश्यक है।

कई वार मनुष्य अपनी यथार्थ स्थिति को भूलकर, वास्तविकता मे आँखें मूंदकर किसी के कहे-सुने या कल्पित स्वरूप मे अपने आपको समझने-देखने की भूल कर वैठता है, इससे जीवन भर असन्तोष एव अशान्ति का शिकार वनना पडता है।

महत्त्वाकांक्षा : प्रशम मे वाधक

अपनी सीमा से अधिक महत्त्वाकाक्षाएँ रखने वाले लोगो को भी अशान्ति का सामना करना पडता है। महत्त्वाकाक्षाओ के साथ अपनी स्थिति, योग्यता, परिस्थिति, क्षमता आदि का ताल-मेल विठाकर चलने वालो को अशान्ति का सामना नही करना पडता। परन्तु जो महत्त्वाकाक्षाओ के पीछे दीवाना होकर अधाधुन्ध चलता है, उनके पल्ले असन्तोष और अशान्ति ही पडती है।

अपनी रुचि, प्रकृति, परिस्थिति, क्षमता, भूमिका आदि को जाने-समझे विना ही किसी वडे आदमी के कहने पर एकदम उनके जैसा वनने की या उनकी नकल करने की कोशिश न करें, उनके उपदेशो पर विचार करें, यथाशक्ति जीवन मे उतारें,

लेकिन वास्तविकता को भुलाकर अन्धानुकरण करने लगेंगे तो अशान्ति एव असन्तोष का सामना करना पडेगा।

सघर्ष; युद्ध और क्षोभ प्रशम प्राप्ति मे सबसे बडे बाधक शत्रु हैं। इनसे अशान्ति का जन्म होता है। अशान्ति मानव की सृजन-शक्ति को नष्ट कर डालती है। क्षुब्धचित्त मनुष्य का अशान्त मन किसी भी काम मे नही लगता है, हठपूर्वक लगाता भी है तो उखड जाता है। सघर्ष और युद्ध तो अशान्ति के जनक हैं ही।

यो तो प्रशम मे बाधक अशान्ति-उत्पादक अनेक कारण-कलाप है परन्तु मूल-कारण चार है—अज्ञान, अहंता, असहयोग एव अभाव।

अज्ञान तो अशान्ति का जीता-जागता रूप है। जिस प्रकार अँधेरे मे भटकता हुआ मानव बेचैन रहा करता है, उसी प्रकार अज्ञान दशा मे भी वह अशान्त, बेचैन और पद-पद पर भ्रान्त-सा रहता है। किसी भी काम को वह सफलतापूर्वक नही कर पाता। अज्ञानी व्यक्ति जीवन की सुव्यवस्था से शून्य रहकर अपने लिए अशान्ति के बीज बोता रहता है।

विवेकमूढ मनुष्य को सत्यासत्य, हिताहित या कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नही होता, फलत उसके व्यवहार मे असत्य एव मिथ्याप्रदर्शन का समावेश हो जाता है। आडम्बर-प्रदर्शन, कृत्रिमता, रूढिवाद, मूढवाद एव अन्धविश्वास आदि अज्ञान के ही अभिशाप है, जिनमे फँसकर मनुष्य अशान्ति को न्यौता देता है। कर्जदारी, पतन, धर्म-मर्यादा के विपरीत प्रवृत्ति, मिथ्यात्व आदि भी अज्ञानजनित है। जीवन के लक्ष्य से अनभिज्ञ अज्ञानी सुपथ से भटककर कटकाकीर्ण परिस्थितियो मे उलझ जाता है, जिससे उसे हानि, क्षति और असफलता का सामना करना पडता है। अनिश्चय के कारण अज्ञानी व्यक्ति भय, सन्देह, अविश्वास एव आशंका से पद-पद पर आक्रान्त एव अशान्त रहता है। अज्ञान के कारण आत्मविश्वासहीन मानव परावलम्बी और पराधीन बना रहता है। परभाग्योपजीविता या परावलम्बिता की स्थिति मे कौन शान्त रह सकता है? दुर्वृत्तियो और दुराचार को जन्म देकर अज्ञानी मनुष्य अपनी शान्ति तो नष्ट करता ही है, समाज की शान्ति भी भग कर देता है।

अहता भी प्रशम मे बाधक कारण है। मनुष्य के पास जर, जन, जमीन सब कुछ है, जीवनयापन के पर्याप्त साधन हैं, रोटी, कपडा, घर, जमीन सबकी सुविधा है, हर वस्तु आवश्यकताभर है, बल्कि कई वस्तुएँ अधिक भी है, फिर भी अहकार की दुर्बलता के कारण मनुष्य अशान्त रहता है। अह का दोष मनुष्य को ईर्ष्यालु भी बना देता है, दूसरे की उन्नति उसे फूटी आँखो नही सुहाती। अपनी मनोऽनुकूलता मे जरा-सा विघ्न पडते ही अहप्रधान व्यक्ति उत्तेजित, क्रुद्ध और क्षुब्ध हो उठता है, जिससे उसका चित्त अशान्ति से भर जाता है। अहकार की नीच प्रकृति के कारण ईर्ष्या, द्वेष, कलह, सघर्ष एव स्वार्थ का जन्म होता है, मेरेपन की दुर्बुद्धि जोर पकडती है, इस प्रकार की दुर्गुणाक्रान्त स्थिति मे अहकारी प्रशम के निकट कैसे हो

सकता है ? किसी की उन्नति देखने पर या किसी की प्रगति रोकने मे असफल होने पर अहकारी व्यक्ति मे डाह एव आत्मग्लानि होगी, तव शान्ति का रहना असम्भव है। किसी के पथ मे अवरोध वनने से वदनामी एव निन्दा का लक्ष्य वनना पडेगा, जिससे शान्ति भग होगी ही। अत अहकारी व्यक्ति अपने स्वभाव दोष के कारण कभी शान्ति नहीं पा सकता।

अभाव की स्थिति प्रशम मे बाधक कैसे हो जाती है ? इस विषय मे मैं पहले बता चुका हूं।

असहयोगी भावना : अशान्ति का निमित्त

प्रशम-बाधक चौथा मूलभूत कारण है असहयोग। जब मनुष्य दूसरो से सहयोग पाना चाहता है तो उसे दूसरो को भी सहयोग देना चाहिए। किन्तु स्वार्थी मनुष्य दूसरो को सहयोग नही देता, न जरूरतमन्द की मदद करता है, दया और सहानुभूति का वास उसके हृदय मे नही होता। इस प्रकार अतिस्वार्थी मनुष्य भी अशान्ति को जान-बूझकर बुलाता है। उसे जब दूसरो से सहायता, सहानुभूति एव सहयोग की अपेक्षा होती है तो सहसा कोई व्यक्ति करने को तैयार नही होता। फलत वह मन ही मन खीजता, कुढ़ता और बेचैन रहता है। अत समाज के साथ असहयोग भी प्रशम मे बाधक कारण है।

वास्तव मे देखा जाय तो मनुष्य का अज्ञान एव अहजनित अपना स्वभाव-दोष ही प्रशम मे बाधक कारण बन जाता है। मानव-मानव के बीच सघर्ष, लडाई और युद्ध का कारण गरीबी, अभाव आदि नही, वरन् 'तेरे-मेरे' का प्रश्न है। अपना लाभ, अपनी समृद्धि, अपनी और अपनो की सार-सँभाल अज्ञ एव अहग्रस्त मानव को प्रिय लगती है, दूसरे के प्रति वह भाव नही, उसकी हानि, अपमान, मृत्यु तक मे भी कोई दिलचस्पी नही, उलटा, दूसरे से अपना जितना लाभ हो सके, उतना उठा लेने को वह प्रयत्नशील रहता है। मानव-जाति मे फैली हुई 'तेरे-मेरेपन' की बीमारी ही समस्त सघर्षों, लडाइयो, युद्धो और रक्तपात की जड है।

इस वैषम्य के कारण ही अशान्ति की आग पैदा होती है, जो व्यक्ति से लेकर समाज और राष्ट्र तक को भस्म कर देती है। अत अशान्ति का कारण मनुष्य का स्वभावजनित दोष है, वह आन्तरिक है, बाह्य कारण तो उसी आन्तरिक कारण मे से पैदा होते हैं। आसक्ति, लोभ, मोह, दूसरो से अधिक अपेक्षा रखना, आदि जो अशान्ति के कारण हैं, वे सब इसी एक आन्तरिक कारण से सम्बन्धित हैं। प्रशम मे बाधक इन कारणो को मनुष्य समझदारी से, धैर्य, शान्ति, गम्भीरता और विवेक से दूर कर सकता है।

ऐसी कोई दुष्कर बात नहीं है, जो न की जा सके। अगर मनुष्य 'जीओ और जीने दो' का मन्त्र लेकर सारी मानव-जाति के साथ व्यवहार करना सीख ले तो प्रशम मे बाधक कारणो को अविलम्ब दूर किया जा सकता है।

प्रशम-प्राप्ति में साधक उपाय

प्रशम-प्राप्ति के लिए पहले बताये हुए इन बाधक तत्त्वो से तो दूर रहने की जरूरत है ही, साथ ही इच्छाओ, लालसाओ, कामनाओ और महत्त्वाकाक्षाओ पर भी विवेकपूर्ण सयम करना अपेक्षित है। मनुष्य जितने थोड़े साधनो से सन्तुष्ट रहना सीखेगा, उतना ही वह प्रशम के निकट होगा। प्रशम-प्राप्ति के लिए पचेन्द्रिय-विषयो का रस—आस्वाद लेने की वृत्ति का त्याग करना अनिवार्य है। विषय अपने आप मे अच्छे-बुरे नही, उन पर राग-द्वेष, मोह-घृणा, आसक्ति-नफरत आदि करना बुरा है। ये ही अशान्ति के जन्मदाता हैं, इन्हे दूर करने के लिए इन्द्रियो को मारना, पीटना या निश्चेष्ट करना नही है, किन्तु मन को विषयो से असपृक्त रखना है। मन को ज्यो ही विषयो के साथ जोडते हैं त्यो ही वह अच्छे-बुरे मनोज्ञ-अमनोज्ञ की कल्पना करने लगता है, और मनुष्य को बेचैन बना देता है। अत. मन का लगाव विषयो से न होने दे।

दूसरा कार्य प्रशम-साधक को यह करना है कि वह राग-द्वेष और कषायो के परिणाम जानकर तथा उनसे हानि-लाभ का विचार करके उनसे दूर रहने का अभ्यास करे, कषायो को अपने मे प्रादुर्भूत न होने दें। आप कहेगे, यह कैसे हो सकता है?

ज्ञानसार अष्टक मे दो उपाय बताये हैं

प्रथम उपाय है—विकल्पो को मन मे कतई न आने दे। विकल्प नही उठेंगे तो किसी भी देश, काल, परिस्थिति, व्यक्ति आदि का सम्पर्क अच्छे-बुरे, तेरे-मेरे, राग-द्वेष, आसक्ति-घृणा, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वो को उत्पन्न नही करेगा। फलत इनके कारण होने वाली अशान्ति से मनुष्य बच सकेगा और प्रशम की साधना कर सकेगा।

दूसरा उपाय है—स्वात्मभाव मे ही रमण करना। जब मनुष्य निजात्मभाव स्व-स्वरूप मे, आत्म-गुणो मे रमण करेगा, उन्ही मे तल्लीन हो जाएगा, तो दूसरी ओर के राग-द्वेष कषाय आदि के तथा विषयतृष्णा के विचार या विकल्प उठेंगे ही नही, इससे स्वत ही अशान्ति का बीज समाप्त हो जायेगा।

निष्कर्ष यह है कि इन्द्रिय-विषयो का रस-विच्छेद एव कषायवृत्ति-विच्छेद का अभ्यास करना आवश्यक है, जो कि प्रशम का साधक है। इसके अतिरिक्त मानसिक, वाचिक एव कायिक तीनो प्रकार के प्रशम के लिए यह आवश्यक है कि तीनो पर सयम रखा जाय, तीनो के प्रयोग के समय सावधानी बरती जाये और सहिष्णुता भी रखी जाये। सहिष्णुता के लिए मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य इन चार भावनाओ का विकास किया जाये। मानव-मानव मे विभिन्नताओ को लेकर जो विषमता पैदा होती है और उससे अपने-पराये की तथा तज्जनित राग-द्वेष आदि की वृत्ति पैदा होती है जो दूसरो के हित, लाभ एव कल्याण के चिन्तन की ओर प्रेरित नही होने देती, मैत्रीभावना उस विषमता और तज्जनित दोषो को रोकती है। गुणी के

गुणों या प्रगति को देखकर जो ईर्ष्या, मत्सर, वैर-विरोध की दुर्भावना पैदा होती है, उसे प्रमोद भावना रोकती है, दूसरो को दु खी, पीडित एव विपन्न देखकर भी जो स्वार्थी के मानस मे सहानुभूति, दया, मानवता एवं सहयोग की भावना नही उमडती, करुणा भावना इस प्रकार की दुर्वृत्ति को रोकती है और विरोधी, विपरीत, विचारधारा वाले एव दुष्ट-दुर्जन आदि के प्रति सहसा जो द्वेष, वैर, विरोध, सघर्ष कलह आदि की दुर्वृत्ति पैदा होती है, उसे माध्यस्थ्य भावना रोकती है। इस प्रकार मानसिक प्रशम जीवन मे आयेगा।

(वाचिक प्रशम के लिए मौन का अवलम्बन लेना या वाणी पर सयम रखना आवश्यक है। एक अरबी कहावत है—

'मौन के वृक्ष पर शान्ति का फल लगता है।'

वास्तव मे, मौन करने से बहुत-से झगडो-झझटो से मनुष्य छुटकारा पा लेता है, अथवा वाणी पर सयम रखकर उतना ही बोले, जितना आवश्यक है।

कायिक प्रशम के लिए शरीर से जो भी प्रवृत्ति की जाये, या चेष्टाएँ की जाएं, उनसे किसी प्राणी का अहित, नुकसान या अकल्याण न हो, ऐसे ही कार्य किये जाएँ, जिनसे किसी का बुरा न हो, दूसरे का शोषण, दलन या जबरन दमन न हो। अन्यथा जिन कायिक प्रवृत्तियो से दूसरो का अहित, शोषण, जबरन दमन या दलन होगा, वहाँ विपरीत प्रतिक्रियावश अशान्ति पदा होती ही है।)

वैसे देखा जाए तो प्रशम (शान्ति) का मूल त्याग मे है। गीता मे भी बताया गया है—

'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'

"त्याग करने के तुरन्त पश्चात् ही शान्ति (प्रशमता) प्राप्त होती है।"

परन्तु प्रश्न होता है—त्याग किसका किया जाए? समस्त सासारिक विषय-सुखो का, कामनाओ का, धनादि भौतिक पदार्थों के प्रति आसक्ति या मोह का त्याग ही मुख्यतया करणीय है।

एक कुरर पक्षी मास का टुकडा लेकर उडा तो कौए, चील आदि उसका पीछा करने लगे। परेशान होकर उसने वह टुकडा डाल दिया और शान्ति से एक पेड की डाली पर जा बैठा।

दत्तात्रेयजी यह दृश्य देख रहे थे। उन्होंने कुरर को अपना गुरु माना। कुरर की क्रिया से उन्होंने यह प्रेरणा ली कि मास-त्याग की तरह सासारिक सुखो के प्रति आसक्ति या धनादि के प्रति मोह का त्याग नहीं किया जाएगा, तब तक शान्ति (प्रशमता) प्राप्त नहीं हो सकेगी, अशान्ति बनी रहेगी।

पाश्चात्य विचारक 'युग' ने ठीक ही कहा है—

"शान्ति (प्रशमता) ठीक वहीं से शुरू होती है, जहाँ से महत्त्वाकाक्षा का अन्त होता है।"

सासारिक पदार्थों या भौतिक सुखो से विमुख हुए बिना कोई भी व्यक्ति प्रशम प्राप्त नही कर सकता। जो व्यक्ति एक ओर से प्रशम प्राप्त करना चाहता है, और दूसरी ओर से भौतिक पदार्थों या सुख-सुविधाओ की वासना मे लिपटा रहे, वह प्रशम प्राप्त करने के बदले अप्रशम-पथ पर ही अपनी रफ्तार बढाता है।

एक व्यक्ति ने एक त्याग-वैराग्यसम्पन्न महात्मा से शान्ति (प्रशम) का मार्ग पूछा। महात्मा ने अपना मुँह फेर लिया। आगन्तुक उधर जा खडा हुआ, तब महात्मा ने फिर मुँह फेर लिया। इस बात पर आगन्तुक समझ गया कि महात्मा के ऐसा करने का तात्पर्य है—भौतिक सुखो से मन को विमुख करने पर ही शान्ति मिल सकती है।

भगवद्गीता मे प्रशम (शान्ति) की प्राप्ति का यही उपाय बताया है—

विहायकामान् यः सर्वान्, पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।

"जो पुरुप समस्त काम-भोगो (कामनाओ, वासनाओ) का त्याग करके नि स्पृह, निर्ममत्व एव निरहकार होकर विचरण करता है, वह शान्ति प्राप्त करता है।"

इसके अतिरिक्त प्रशम-साधक को यह ध्यान रखना आवश्यक है कि असन्तुलित मन मे अशान्ति उत्पन्न होती है, प्रशम नष्ट हो जाता है और मन मे असन्तुलन पैदा करने वाले हैं—अनुकूलता का वियोग, प्रतिकूलता का सयोग, असहायता की अनुभूति, सघर्ष, सन्देह, भय, द्वेष, ईर्ष्या, क्रूरता, क्रोध और निराशा आदि। इनसे प्रशम-साधक को बचना चाहिए।

वास्तव मे अशान्ति के हेतुभूत सस्कारो का विलयन किये बिना कोई भी प्रशम-साधक प्रशम (शान्ति) का स्पर्श नही कर सकता। परिस्थिति कभी अनुकूल होती है, कभी प्रतिकूल। अनुकूलता मे जिसे तीव्र हर्ष होगा, प्रतिकूलता मे उसे तीव्र शोक हुए बिना नही रहता। परन्तु अपने आत्मभाव मे रमण करने वाला प्रशम पुरुषार्थी साधक परिस्थिति से आहत नही होता। यथार्थ वस्तुस्थिति को जानकर प्रशम-साधक परिस्थिति से प्रभावित नही होता।

एक बात और—प्रशम साधक को उन बातो को स्मृति मे से निकाल देनी चाहिए, जो अप्रिय हो, किसी ने उसके साथ अप्रिय, अनुचित या अरुचिकर बात की हो, या कष्ट और दुःख देने वाली की हो। क्योकि उन बातो को याद करते ही मन मे अत्यधिक क्षोभ उत्पन्न हो जाता है।

जो व्यक्ति अपने दिमाग मे अप्रिय और निरर्थक बातें भुला नही देता, वह कभी शान्तिपूर्ण जीवनयापन नही कर सकता।

किसी ने अज्ञानतावश कोई भूल हो गई हो, प्रमादवश आवेश मे आकर कोई अपराध कर दिया हो, आप उसे जानते है या आपको विश्वस्त व्यक्ति समझकर

उसने बतला दिया, पर आपको उसे भूल जाना चाहिए। अगर आप गढे मुर्दों को बार-बार उखाडते रहेंगे तो आपका मन गन्दा होगा, उसमे विक्षोभ, द्वेष, घृणा आदि के कीटाणु घुसकर आपको अशान्त कर देंगे। यदि कभी किसी ने आपके साथ कोई अनुचित व्यवहार किया हो तो आप उसे स्मरण क्यो रखें ? ऐसी बातो को विस्मृत करके उसके साथ घृणा के बदले प्रेम करने लगेंगे, हानि पहुँचाने के स्थान पर सहृदयता देने लगेंगे तो वह व्यक्ति आपके प्रति स्वत उदार हो जाएगा। इन सब साधक उपायो से प्रशम बद्धमूल होगा।

प्रशमयुक्त व्यक्ति के लक्षण

प्रशम जिसके अन्त करण मे सुदृढ हो जाता है, वह साधक प्रशम को भग करने के बाह्य निमित्त मिलने पर भी, तथा वैसे अप्रशम के वातावरण मे रहने पर भी प्रशम से विचलित नहीं होता। वह विषम से विषम परिस्थिति मे भी क्रुद्ध नही होता, कामग्रस्त नही होता, अपने प्रशम-पथ पर अविचल रहता है।

तिरुवल्लुवर दक्षिण भारत के एक महान् प्रशम-साधक सन्त थे। वे जुलाहा थे। साडियाँ बनाकर बेचा करते थे। एक दिन युवको की एक टोली उधर से निकली। तिरुवल्लुवर को देखते ही युवको ने कहा—"यह जुलाहा सधा हुआ शान्ति-प्रिय सन्त है, इसे क्रोध नही आता।" टोली मे स्वभाव से उद्दण्ड एक धनिकपुत्र युवक था। उसने कहा—"मैं देखता हूँ, इसे क्रोध कैसे नही आता।" टोली तिरुवल्लुवर के सामने आ खडी हुई। उद्दण्ड ने एक साडी उठाई और पूछा—"इसका क्या मूल्य है ?"

तिरुवल्लुवर ने कहा—"दो रुपये।" युवक ने साडी को फाडकर दो टुकडे कर दिये और एक टुकडा हाथ मे लेकर पूछा—"इसका क्या मूल्य है ?"

तिरुवल्लुवर ने उसी शान्तभाव से कहा—"एक रुपया।"

युवक इस तरह टुकडे करता ही गया और पूछता गया—"इसका क्या मूल्य है ?" यो उसने साडी का एक-एक तार अलग कर डाला, लेकिन इस छिछोरपन पर भी तिरुवल्लुवर के चेहरे पर न कोई अशान्ति थी और न कोई व्यग्रता ही थी। युवक अपने आपको पराजित-सा अनुभव करने लगा। उसने दो रुपये निकाले और यह कहते हुए तिरुवल्लुवर के सामने रख दिये कि "आपका मैंने बहुत नुकसान कर दिया, लीजिये, ये दो रुपये।"

तिरुवल्लुवर ने कहा—"बेटा ! ये दो रुपये अपने पास रखो। तुम्हारा पिता कहेगा—घर मे माल तो लाया नहीं, दो रुपये कहाँ खोये ?"

युवक का हृदय गद्गद हो गया। वह सन्त के चरणो मे गिरकर अपने अपराध के लिए क्षमायाचना करने लगा।

प्रशमयुक्त व्यक्ति के जीवन का यह अनूठा उदाहरण है।

प्रशमनिष्ठ साधक गृहस्थ भी हो सकता है, साधु भी। उसकी सबसे पहली पहचान यह है कि इष्टवियोग या अनिष्टसयोग मे क्षुब्ध नही होगा, धैर्य से वास्तविकता पर विचार करेगा और शान्ति से कोई न कोई समाधान ढूँढेगा। वह अपने मन का भी समाधान कर लेगा और दसरो के मन का भी।

एक महिला अत्यन्त शान्त स्वभावी, चतुर एव धर्मिष्ठ थी। वह धर्मतत्त्व को भली-भाँति जानती थी, इसलिए दुःख के मौके पर भी शान्ति रख सकती थी। उसका पति बडे उग्र, क्रोधी, मोहग्रस्त, हठी और उतावले स्वभाव का था। वह जरा-जरा सी बात पर मन मे क्षुब्ध हो जाता था। हृदय मे जला करता था। यह महिला उसे सुधारने का बहुत प्रयत्न करती थी, लेकिन वर्षों का पडा हुआ स्वभाव बदलना दुष्कर था।

एक दिन महिला का पति कही बाहर गया हुआ था। उसका इकलौता पुत्र अचानक बीमार पडा और हठात् चल बसा। महिला ने बहुत उपचार किये उसे बचाने के, मगर वह बच न सका। महिला ने अपने धर्मतत्त्वज्ञान के बल से किसी तरह शोक को दबाया, शान्तिपूर्वक सहन किया। किन्तु उसने सोचा—पतिदेव शाम को आएँगे और पुत्र को न देखकर बहुत विलाप करेंगे, अत्यन्त शोकग्रस्त हो जाएँगे। अतः पति को किसी युक्ति से शोकमुक्त करना चाहिए। उसे एक युक्ति सूझी, लडके के शव पर कपडा ढक दिया, मानो वह निद्रा मे सोया हो। शाम को जब उसका पति घर पर आया तो उसने कहा—"आज तो पडौसिन के साथ मेरा बहुत भारी झगडा हो गया।"

पति—"किस बात पर ?"

पत्नी—"पडौसिन से मैंने एक कीमती गहना उधार लिया था, आज वह उसे वापस लेने आई थी। मैंने कहा कि—मैं अभी नही दे सकती।"

इस पर पडौसिन बोली—"मैं तो अभी ही लूँगी, गहना लिये बिना न जाऊँगी इस बात पर भारी झगडा हो गया।"

पति ने कहा—पगली हो गई हो क्या ? जिसका गहना लाई हो, उसे वापस लौटा देना चाहिए। इसके लिए झगडा करना तुम्हारी मूर्खता है।"

पत्नी—"गहना वापस दे देना चाहिए, यह बात सही है, लेकिन गहना बहुत सुन्दर है, वापस देने की इच्छा नही होती, फिर आपसे पूछे बिना मैं कैसे दे सकती थी।"

पति ने कहा—"वाह ! इसमे मुझे क्या पूछना था ? तुम्हे या मुझे कोई चीज बहुत पसन्द हो, लेकिन पराई चीज क्या जबर्दस्ती रखी जा सकती है ? ऐसी समझदार और गुणवती पत्नी होकर भी तुम इतना भी नही समझती। भारी गलती की है तुमने। व्यर्थ कलह किया। किसी की चीज जबर्दस्ती रखने का हमारा अधिकार ही नही है।"

तब महिला ने कहा—"जिसकी चीज हो, उसे वापस सौंप देनी चाहिए, इसमे तुम्हे तो किसी प्रकार का मन मे रंज नही होगा न ? अपनी बात पर पक्के रहोगे न ! फिर मन मे किसी प्रकार का दुःख तो नहीं करोगे ?

पति ने कहा—"इसमे रंज-गम की क्या बात है ? आज तुम कुछ विचित्र-सी बातें कहती हो, एक छोटा-सा बच्चा भी समझ जाए, उसे तुम समझ नही पा रही हो।"

इस पर महिला ने कहा—"देखना, अपने वचन पर दृढ रहना। प्रभु ने हमे धरोहर सौंपी थी, वह आज वापस ले ली है। वह एक कीमती गहने के समान ही बहुमूल्य था।" यों कहते हुए उसने लडके के शव पर से कपडा हटाकर अपने पति को बताया। पति को यह अनहोना दृश्य देखकर रंज तो हुआ, परन्तु उसकी धर्मपत्नी ने पहले से ही उसे वचनबद्ध कर लिया था, इसलिए अपने मन को समझाकर शान्त किया।

इसी प्रकार किसी भी इष्ट वस्तु का वियोग या अनिष्ट वस्तु का सयोग होने पर प्रशमनिष्ठ व्यक्ति शोक-सन्ताप नही करता, वह मन को शान्ति से समझाकर समाधिस्थ कर लेता है।

कई लोग जरा-सी प्रतिकूल परिस्थिति या प्रतिकूल व्यक्ति के पाते ही, अमनोज्ञ शब्दो को सुनकर एकदम खीज उठते हैं और उससे लडने-झगड़ने को तैयार हो जाते हैं, परन्तु प्रशमनिष्ठ साधक प्रतिकूल परिस्थिति मे भी शान्त रहता है, वह दूसरे का दोप न देखकर अपनी आत्मा का ही अपराध देखता है।

भक्त तुकाराम का कीर्तन सुनने तो एक व्यक्ति प्रतिदिन आता था, पर उनसे बहुत द्वेष रखता था, उन्हे नीचा दिखाने की फिराक मे रहता था। एक दिन तुकाराम की भैंस उसके बाग के कुछ पौधे चर आई। इस पर वह लगा उन्हे गालियाँ सुनाने। गालियो से जब भक्त तुकाराम उत्तेजित न हुए तो उसे और भी गुस्सा आया। अत काँटेदार छडी लेकर उन्हे पीटने लगा। तुकाराम के शरीर से रक्त बहने लगा, फिर भी न उन्हे न क्रोध आया, न उन्होने कोई प्रतिरोध ही किया।

सन्ध्या समय वह व्यक्ति नित्य की भाँति कीर्तन मे नही आया तो प्रशमनिष्ठ तुकाराम स्वय उसके घर गये और स्नेहपूर्वक भैंस की गलती की क्षमा माँगते हुए उसे कीर्तन मे ले आये। उसने आते ही प्रशमनिष्ठ तुकाराम के चरणो मे गिरकर क्षमा माँगी। तब से वह उनका परम भक्त बन गया।

प्रशमनिष्ठ व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थिति मे भी शान्त रहता है। उसके चेहरे पर हर हाल मे मस्ती रहती है, वह गरीबी मे भी सन्तुष्ट रहता है, किसी से उसे किसी बात की शिकायत नही रहती, न वह किसी की उन्नति देखकर ईर्ष्या से जलता है। उसके चित्त मे प्रसन्नता रहती है। वह प्रत्येक व्यक्ति, यहाँ तक कि विरोधी के साथ भी शान्तिपूर्ण व्यवहार करता है। वह अपने न्यायोचित, नैतिक

पुरुषार्थ के बाद जो कुछ मिल जाता है, उसी मे सन्तुष्ट रहता है। किसी भी सत्कार्य मे उसका उत्साह सदा एक-सा बना रहता है, वह फलाकाक्षा के लिए उतावला नही होता, बल्कि फलासक्ति से वह दूर रहता है। वह प्रत्येक सत्कार्य अनासक्तिपूर्वक करता है, क्योकि वह जानता है कि आसक्ति, ममत्व, मूर्च्छा या लालसा ही अशान्ति के हेतु हैं, ये प्रशम मे विघ्नकारक है।

ससार मे बहुत-से साधन-सम्पन्न लोग, जो आधुनिकतम सुख-सामग्री से सजे भवन मे रहते हैं, चमचमाती मोटरगाडियो मे चलते है, सुधास्वादु व्यजनो से पूर्ण थाली उनके सम्मुख परोसी रहती है, फिर भी वे अपने अन्दर शान्ति का अनुभव नही करते। वे अपने अन्दर एक अभाव, एक रिक्तता, कसक और उद्विग्नता महसूस करते हैं। रहने को वे इन्द्र की तरह रहते हैं, खाने को बहुमूल्य पदार्थों का भोग लगाते हैं, पहनने को रेशम और स्वर्ण पहनते है, लेकिन अन्दर से एक निरीह दुखिया की तरह, सजे हुए निर्जीव शरीर की तरह अनुभव करते है, जबकि प्रशमनिष्ठ व्यक्ति अल्पतम साधनो, सीधे-सादे भोजन और रहन-सहन मे सन्तुष्टि का अनुभव करते हैं, वे कभी क्षुब्ध या उद्विग्न नही होते। परन्तु व्यक्ति मे जब परोपकार के, दान-पुण्य के अनेक कार्य करने पर भी प्रसिद्धि या प्रतिष्ठा की लालसा रहती है, तब वह हर समय इसी ताक मे रहता है कि कोई व्यक्ति मेरे से आगे बाजी न मार जाय, किसी दूसरे की अधिक प्रशसा या प्रसिद्धि न हो जाय। इस कारण वह ईर्ष्यालु भी बन जाता है, अहकार तो उसके मानस मे छाया ही रहता है। इस प्रकार के दुर्गुण उसे सदैव अशान्त बनाये रखते है, वह प्रशम प्राप्त नही कर पाता।

एक उदाहरण द्वारा मैं दोनो तरह के चित्र स्पष्ट कर देता हूँ—

महावृप देश के अधिपति जनश्रुति राजा बडे ही दानी, त्यागी, सत्यवादी, प्रजावत्सल, धीर-वीर थे। उनका यह नित्य नियम था कि कई सौ दुधारु पशु, प्रचुर अन्न, वस्त्र, स्वर्णमुद्राएँ आदि दान करके ही वे भोजन ग्रहण करते थे। दानशीलता मे उस युग मे उनकी जोड का कोई राजा नही था।

यह सब कुछ था, पर राजा के चित्त मे प्रशमभाव नही था, बडे से बडा दान देकर भी उन्हे आत्मसन्तुष्टि एव शान्ति नही मिल पाती थी। वे यही सोचते रहते—'मै असख्य नर-नारियो को प्रतिदिन अतुल दान दिया करता हूँ, मेरे समान कोई अन्य दयालु, उदार तथा दानशील शासक नही।' और यही भावना उस समय चिन्ता का कारण बन जाती, जब उन्हे यह भावना होने लगती कि कही कोई अन्य व्यक्ति मुझसे अधिक दानशील या दयालु तो नही है? उनका अह यहाँ तक ही सीमित न रहता, वह ईर्ष्या का रूप धारण कर लेता था। इससे वे बेचैन रहते थे, सदा मानसिक शान्ति से वचित रहते।

एक दिन जनश्रुतिनृप अपनी प्रजा की वास्तविक स्थिति का परिचय पाने हेतु राज्य मे वेश बदलकर भ्रमण कर रहे थे, तभी उनके पास से दो व्यक्ति यो बात करते हुए निकले।

एक कह रहा था—"राजा जनश्रुति के राज्य मे हम कितने सुखी हैं ! किसी प्रकार की चिन्ता या अभाव हमे नही। योग्य शासक के रूप मे तीनो लोको मे उनकी ख्याति फैल रही है। उनकी दानशीलता का कोई पार नही है।"

तभी दूसरा व्यक्ति बोला—"हाँ भाई ! बात तो तुम्हारी ठीक है, पर सहस्रो व्यक्तियो को सुख समृद्धि देने वाला यह नररत्न स्वय आत्मिक शान्ति से वचित है, जो ससार की सबसे बडी उपलब्धि है। उससे तो वह अकिंचन गाडी वाला रैक्व कही श्रेष्ठ है, जिसने लौकिक एव लोकोत्तर शान्ति भी प्राप्त कर ली है। उसका पुण्य जनश्रुति से कही अधिक है।"

जनश्रुति ने जब यह सुना तो उसका अह उसी क्षण बर्फ की भाँति गलने लगा, विवेक झकझोरने लगा, हृदय मे अपने प्रति हीन-भावना समा गई और आत्मा तडप उठी उस अकिंचन गाडी वाले रैक्व से मिलने के लिए।

राजा मे अहभाव तथा आत्म-प्रशसा की दुर्बलता होते हुए भी ज्ञानपिपासा प्रबल थी। भृत्यो को आदेश दिया—"उस रैक्व गाडी वाले महात्मा का पता लगाकर आओ।" रैक्व की तलाश की गई। भृत्यो ने उसे ढूंढ लिया। राजा को सूचित कर दिया। वह ६०० दुधारु गायें, सैकडो अश्वो सहित रथ, असख्य स्वर्णमुद्राएँ तथा प्रचुर मात्रा मे अन्य बहुमूल्य सामग्री लेकर रैक्व के निवास स्थान पर पहुँचे। राजा ने जब रैक्व को प्रणाम किया तो उन्होने शुभाशीर्वादपूर्ण मगल वचन कहे। पर राजा ने जब यह कहा कि यह तुच्छ भेंट आपके लिए लाया हूँ, इसे स्वीकार करके कृतार्थ करें, तब रैक्व ने मन्दहास्य के साथ कहा—"राजन् ! आप आध्यात्मिक ज्ञान-पिपासा शान्त करने हेतु यहाँ आये हैं, तब इन सब वस्तुओ की क्या आवश्यकता थी ? मैं क्या करूँगा इन्हे लेकर ? मेरी कुटिया तो बहुत छोटी है। ये सब चीजें तो महलो मे ही शोभा देती हैं। आपका आना भर पर्याप्त होता। जब इन वस्तुओ की सार-हीनता का बोध हो जाय तब चले आना। जो कुछ भी मेरे पास है, वह सब आप जैसे जिज्ञासुओ के लिए है।"

जनश्रुति हतप्रभ होकर लौट आये। आज आँखो मे नीद नही थी। रैक्व ने वे सब वस्तुएँ स्वीकार न की, इससे उनके प्रति राजा की श्रद्धा गाढ हो चुकी थी। चौथे पहर मे थोडी-सी नीद आई। बन्दीजन जब प्रात जागरणगान करने आये तब राजा भौतिक जगत् मे दूर आत्मभवन मे रम रहे थे। उनके हृदय मे महात्मा रैक्व से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा थी, इसलिए बिना कुछ खाये-पिये ही वे महात्मा रैक्व के पास पहुँचे। आज साथ मे न दल-बल था, न भेंट-चढावा। आज थी मुखमुद्रा पर गम्भीरता, हृदय मे ज्ञानपिपासा और नयनो मे दर्शन-लालसा। रैक्व तो राजा को देखते ही प्रसन्न हो उठे। सादर बिठाकर कहा—"राजन् ! आज आपने आत्मिक शान्ति का राजमार्ग पा लिया है।"

राजा कुछ क्षण मौन रहकर बोले—"अभी कहाँ पाया है, भगवन् ! आपके

अनुग्रह के बिना कैसे प्राप्त होगा ? अभी तक का जीवन निरर्थक गया। अब आपकी कृपा हो जाय तो इस तप्त मानस पर शीतलता के कुछ छींटे पड़े।"

रैक्व—"निरर्थक तो नही गया है, राजन्! पर अभी तक आपने जो भी दान, पुण्य, प्रजा की सेवा या कार्य किये, वे सब प्रशसा की भावना से किये और आपको उन परोपकार के कार्यों से यश, प्रशसा एव आदर मिला भी है।"

जनश्रुतिनृप की जिज्ञासा अब तीव्र हो उठी, कि मामूली-सा गाडी वाला महात्मा रैक्व, इतना बड़ा ज्ञानी एव दार्शनिक है। अत प्रश्न किया—"इतना सब कुछ करके भी आत्मा को शान्ति अभी तक नही मिली। मुझे आत्म-शान्ति, तृप्ति और सन्तुष्टि चाहिए, उसके लिए मैं राज्य-भोग, सुख-सुविधाएँ आदि सब कुछ छोडने को तैयार हूँ।"

मन्द मन्द मुस्कराते हुए रैक्व ने कहा—"अधीर न हो, नृपवर! आपको राज्य या सुख के साधन आदि कुछ भी छोडने की आवश्यकता नही, आवश्यकता है, इन सबके प्रति जो आसक्ति का भाव है, उसे छोडने की। राज्य करिये—पर अपने आपको सेवक समझकर, सुख-साधनो का उपभोग करिये, पर यह सोचते हुए कि ये मेरे शरीर की सुरक्षा के लिए हैं, जिस पर सम्पूर्ण देश की सुरक्षा का भार है, दान भी खूब करिये—यह सोचकर कि ये सब वस्तुएँ आपको मिली हैं, दीन-दुखी, पीडित एव असहाय व्यक्तियो तक पहुँचाने के लिए, जो उनके सच्चे अधिकारी हैं। अपने आपको कर्ता न मानकर केवल माध्यम मान लें। आत्म-शान्ति और कही नही, आत्मा मे ही छिपी होती है, राजन्! उसे जागृतभर करने की देर है। बस, जो इस तथ्य को जान-देख लेता है, वही द्रष्टा है। आत्मा अनन्त शक्तियो का असीम भण्डार है।"

जनश्रुति इस ज्ञानामृत का चातक की तरह पान कर गये। फिर प्रणाम करके अपने निवास स्थान को लौटे। आज उन्हे ऐसा लग रहा था कि मानो सिर पर रखा हुआ बोझ हट गया है। तत्त्वज्ञानी रैक्व का एक-एक शब्द स्मृतिपटल पर शिलालेख की भाँति उत्कीर्ण हो गया था। अन्धकार मे भटकते राजा को एक साधनहीन महान् तत्त्वज्ञ रैक्व से प्रकाश मिल गया था। जनश्रुति के जीवन मे उस दिन से जो परिवर्तन आया उसे लोगो ने खुली आँखो से देखा। अब वे अहर्निश अभेद्य शान्ति एव प्रशम-रस का पान करने लगे।

वास्तव मे आत्मशान्तिनिष्ठ प्रशम-साधक का जीवन जनश्रुति की तरह आत्मतृप्त हो जाता है, वह दान, पुण्य, परोपकार आदि के जो भी कार्य करता है, फलनिरपेक्ष होकर कर्तव्य-भावना से करता है।

उच्चकोटि का प्रशमनिष्ठ साधक

इससे भी आगे बढकर, प्रशमनिष्ठ साधक आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना को लेकर चलता है। जैसा कि उच्च कोटि के प्रशमनिष्ठ का लक्षण **ज्ञानसार अष्टक** मे बताया गया है—

अनिच्छन् कर्मवैषम्य ब्रह्मांशेन सम जगत् ।
आत्माऽभेदेन य पश्येदसौ मोक्षगमी शमी ॥२॥

अर्थात्—प्रशमनिष्ठ साधक जगत के जीवो की कर्मवैषम्य के कारण जो विषमता या भिन्नता है, उसे नही चाहता, इसी कारण वह चैतन्य की दृष्टि से विश्व की समस्त आत्माओ को अभेदभाव से देखता है। इसलिए वह प्रशमनिष्ठ साधक मोक्षगामी होता है।

अरुरुक्षुर्मुनिर्योगं श्रयन् वाह्यक्रियामपि ।
योगारूढः शमादेव, शुद्धयत्यन्तर्गतक्रियः ॥३॥

योगारोहण करने का इच्छुक मुनि वाह्य-क्रिया करता हुआ तथा अन्तर्गत क्रिया करता हुआ योगारूढ मुनि प्रशम (विषय-कषाय का शमन) से ही शुद्ध (पवित्रात्मा) हो जाता है।

ज्ञानध्यानतपःशीलसम्यक्त्वसहितोऽप्यहो ।
त नाप्नोति गुण साधुर्यमाप्नोति शमान्वितः ॥५॥

अहो, ज्ञान, ध्यान, तप, शील, सम्यग्दर्शन से युक्त साधु भी उस गुण को नही प्राप्त कर पाता, जिसे एक प्रशमयुक्त व्यक्ति प्रशम से प्राप्त कर लेता है।

शमसूक्तसुधासिक्तं येषा नक्तंदिन मनः ।
कदाऽपि ते न दह्यन्ते रागोरगविषोर्मिभिः ॥७॥

जिनका मन शमसूक्तरूपी अमृत से रात-दिन सीचा रहता है, वे कदापि राग द्वेष रूपी सर्प के विष की ऊर्मियो से नही जलते।

वास्तव में प्रशमनिष्ठ साधक की शक्ति इतनी अधिक वढ जाती है कि उसे प्रशम के समक्ष सारे ससार का राज्य भी तुच्छ प्रतीत होता है। उसके सामने चाहे जितने प्रलोभन हो, भय हो, आकर्षण हो, वह अपने प्रशम-पथ से कदापि च्युत नही होगा।

प्रशमनिष्ठ की परीक्षा : समाधियोग से

प्रशमनिष्ठ व्यक्ति की परीक्षा तो कई वार होती है। प्रशमनिष्ठ की उत्तीर्णता का मापदण्ड समाधियोग है। अगर प्रशमनिष्ठ व्यक्ति समाधियोग मे टिका रहता है, समाधियोग से विचलित नही होता, तो समझना चाहिए कि वह अपनी परीक्षा मे उत्तीर्ण है।

प्रशम-साधक व्यक्ति का मन जव शुद्धोपयोग या शुभोपयोग मे एकाग्र एवं एकरूप हो जाता है, तव समझना चाहिए कि वह समाधियोग मे स्थित हो गया है। समाधियोग का अर्थ स्याद्वादमजरी मे वहुत ही उचित किया गया है—

स्वरूपे चित्तनिरोधलक्षण समाधि,
वहिरन्तर्जल्पत्यागलक्षणः योगः ।

"स्व-स्वरूप मे चित्त का निरोध करना समाधि है, और वाह्य तथा आभ्यन्तर जल्प (वचनोच्चारण) के त्याग-स्वरूप योग है।"

समाधियोग मे स्थित प्रशम-साधक वाहर से वाणी का प्रयोग वन्द कर देता है, वैसे ही अन्दर से चिन्तन वन्द कर देता है, और एकमात्र स्व-स्वरूप मे, शुद्धोपयोग मे या उत्तम परिणामो मे चित्त को स्थिर कर देता है, उस अवस्था मे ध्येय और ध्याता दोनो का एकीकरणरूप समरसीभाव (तादाम्य) हो जाता है। आत्मा के सम्बन्ध मे धर्मध्यान और शुक्लध्यान द्वारा वीतरागभाव से वह चिन्तन करता है।

प्रशम-साधक जब अपनी परीक्षा मे उत्तीर्ण हो जाता है तभी उसका प्रशम शोभायमान होता है। महर्षि गौतम ने इसी उद्देश्य से इस जीवनसूत्र मे बताया है कि प्रशम की शोभा, उसकी चमक-दमक समाधियोग मे है। जव समाधियोग प्रशम-साधक के जीवन मे आ जाता है तो उसका प्रशम सोलह कलाओ से खिल उठता है।

समाधियोग आ जाने पर प्रशम-साधक अपने प्रशम मे इतना अचल-अटल हो जाता है, कि चाहे मरणान्तक उपसर्ग (कष्ट) आ जाए, जीवन की बाजी लगानी पडे, ऐसा विकट सकट आ जाए, तव भी वह अपने प्रशम से नही डिगता। एक प्राचीन उदाहरण लीजिए।

सुव्रत ने ज्योही यौवनवय मे पदार्पण किया, उसके जीवन ने नया मोड लिया। एक त्याग-वैराग्यसम्पन्न प्रशममूर्ति मुनिवर का उपदेश सुना और उसे अशान्ति के सागर मे डूबे हुए ससार से विरक्ति हो गई। उसने मन ही मन निश्चय कर लिया कि वह अपने माता-पिता से अनुमति प्राप्त करके प्रशमरस-सिन्धु मे अवगाहन कराने वाली भागवती दीक्षा अगीकार करेगा।

वह सुदर्शनपुर निवासी सुभाग गृहपति का पुत्र था। उसकी माता का नाम सुजसा था। दोनो निष्ठावान श्रावकव्रतधारी थे। इसलिए बचपन से ही सुव्रत को माता-पिता से धार्मिक सस्कार मिले थे। अव साधु बन जाने के बाद थोडे ही वर्षो मे उसकी प्रशम-साधना चमक उठी। वह गीतार्थ तो हो ही गया था। समतावान् भी इतना हो गया कि वह प्रत्येक प्रवृत्ति समत्व की दिशा मे ही करता था। उसके गुरुदेव ने उसके धैर्य, गाम्भीर्य, समत्व एव प्रशम की उत्कट साधना देखकर उसे एकल विहार प्रतिमा अगीकार करने की अनुमति दे दी। उसकी समाधियोगयुक्त प्रशमनिष्ठा देखकर देवताओ की परिपद मे सौधर्मेन्द्र ने उसकी भूरि-भूरि प्रशसा की कि "सुव्रत मुनि को कोई भी समाधियोग से विचलित नही कर सकता।"

यह सुनकर दो देवो ने इस वात पर विश्वास नही किया। उन्होने सुव्रत मुनि की परीक्षा लेने की ठानी। उन्होने पहले तो अनुकूल उपसर्ग किये।

एक देव विप्र वेप मे उनके पास आकर बोला—"धन्य है सुव्रत अनगार आपको! अपने कौमार्यवय मे ब्रह्मचर्यपूर्वक दीक्षा अगीकार की, विवाह न किया।"

दूसरा देव कहने लगा—"अरे ! इसकी तुम प्रशसा करते हो, यह प्रशसनीय नही है। इसने तो सन्तान-परम्परा बन्द करके कुल का उच्छेद कर दिया। अत. मेरी दृष्टि मे अधन्य है यह !"

यह सुनकर भी मुनि अपनी मन समाधि से जरा भी विचलित न हुए, समाधि योग मे स्थिर रहे।

फिर देवता ने सुव्रत मुनि के माता-पिता को विषयासक्त होकर कामक्रीडा करते हुए दिखाया, फिर भी मुनि समाधियोग मे अटल रहे। फिर देवता उनके माता-पिता को मारने-पीटने लगे, माता-पिता करुण स्वर से रुदन करने लगे, तब भी मुनि सुव्रत समाधि मे अटल रहे। तत्पश्चात् उन देवो ने वैक्रियशक्ति से एक देवागना उनके सामने प्रस्तुत की, जो हावभाव करती और अग मटकाती हुई उनको काम-विकार की दृष्टि से देखने लगी, दीर्घनिश्वास फेंककर मुनि का आलिंगन करने लगी, इतने पर भी मुनि का एक रोम भी काम-विकारवश न हुआ, वे अपने समाधियोग मे अविचल रहे। यो समाधि मे अचल-अटल रहने से मुनि सुव्रत को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। उनकी अविचलता देखकर दोनो देव प्रसन्न होकर उनकी स्तुति और नमस्कार करके चले गये। सुव्रत मुनि क्रमश मोक्ष मे जा पहुँचे।

समाधियोग का महत्त्व और उसके अर्थ

यह है समाधियोग द्वारा प्रशमनिष्ठा की परीक्षा और उसमे सुव्रत मुनि की उत्तीर्णता का चमत्कार ! वास्तव मे समाधियोग मे स्थिरता से ही प्रशमनिष्ठा की परीक्षा होती है और साधक का प्रशम खरे सोने के समान चमक उठता है। इससे एक बात यह भी फलित होती है कि प्रशम जब उत्कृष्ट दशा मे पहुँच जाता है, तब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये रत्नत्रय पूर्ण निर्मल हो जाते हैं। वह वीतरागता के निकट जा पहुँचता है। इसीलिए एक आचार्य ने समाधि का अर्थ किया है—

सम्यग् मोक्षमार्गावस्थानं समाधि· ।

—मोक्षमार्ग मे सम्यक् प्रकार से टिके रहना समाधि है।

वस्तुत देखा जाये तो सकल्प-विकल्पो पर विजय पाये बिना स्वस्थता नही होती और स्वस्थता के बिना प्रशम (शान्ति) नही आ सकता। इसलिए चित्त के स्वास्थ्य को, अनाकुलता को, उपसर्गो की विभीषिका के दौरान अव्याकुलता को कुछ आचार्यो ने समाधि कहा है।

सस्कृत काव्य मे भी समाधि का विवेचन इस प्रकार मिलता है—

"जहाँ जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य होकर समस्त द्वन्द्वो (विकल्पो) का क्षय हो जाता है, पानी और नमक की भाति जहाँ आत्मा और शुद्ध मन की एकरूपता हो जाती है दोनो मे समरूपता हो जाती है, वही समाधि कहलाती है।"

इस प्रकार जब मन, वचन और काया तीनो की प्रवृत्तियाँ आत्मा मे अन्तर्लीन हो जाती है, तभी समाधियोग कहलाता है।

बन्धुओ ! समाधियोग का इतना जबर्दस्त प्रभाव है कि इसके कारण प्रशम-साधक के मन में उठने वाले सभी प्रश्न स्वयमेव समाहित हो जाते हैं, आत्मा निर्द्वन्द्व, निर्विकल्प एवं निर्विकार हो जाती है। परन्तु समाधियोग की यह उत्कृष्ट दशा है। सम्यग्दर्शन के गुणस्थान से प्रारम्भ होकर यह प्रशमनिष्ठा ग्यारहवें गुणस्थान में जाकर परिपक्व होती है।

आप भी प्रशम-साधना प्रारम्भ कीजिये और समाधियोग के द्वारा अपना आत्मविकास उत्तरोत्तर बढ़ाइये और इस पद को प्रतिपल स्मरण कीजिए—

'समाहिजोगो पसमस्स सोहा'

समाधियोग ही प्रशम की शोभा है, यही उत्तुंग प्रशम मन्दिर का स्वर्ण कलश है।



५१

चारित्र की शोभा : ज्ञान और सुध्यान—१

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपको ऐसे जीवन से परिचित कराना चाहता हूँ, जो आत्मा को मोक्षगति मे ले जाने वाला है, परमात्म-स्वरूप को प्राप्त कराने वाला है, वह जीवन है— ज्ञान ध्यान से सुशोभित चारित्रमय जीवन।

महर्षि गौतम चारित्रमय जीवन को तभी उत्कृष्ट, उपादेय और यशस्वी मानते है, जब उसके साथ सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ध्यान हो। वरना कोरा चारित्रमय जीवन उतना अच्छा और कर्मों से मुक्त कराने वाला नही हो सकता। क्यो और कैसे? इसका रहस्य मैं आपके समक्ष खोलने का प्रयत्न करूँगा। महर्षि गौतम ने गौतम-कुलक मे इकतालीसवां जीवनसूत्र सक्षेप मे इस प्रकार बता दिया है—

'नाण सुझाणं चरणस्स सोहा।'

'चारित्र की शोभा ज्ञान और सुध्यान है।'

चारित्र और उसका महत्त्व

चारित्र मानव-जीवन के निर्माण एव मोक्ष-प्राप्ति के लिए बहुत ही आवश्यक है। इसके बिना कोरा ज्ञान वन्ध्य है, वह कुछ भी नही कर सकता। इसीलिए इसे मोक्षमार्ग का प्रधान अग माना गया है।

शुद्ध और व्यापक धर्म के अगों—अहिंसा आदि के स्वरूप का अच्छी तरह ज्ञान होने और उन पर विश्वास कर लेने मात्र से ही काम नही चलता। समाज और जगत् की दृष्टि मे कोई भी व्यक्ति तब तक धार्मिक, धर्मात्मा और विश्वासपात्र नही रह सकता, जब तक उसके जीवन मे धर्म के तत्त्वों का सम्यक् प्रकार से आचरण—सम्यक्चारित्र का पालन न हो। स्पष्ट शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि सम्यक्-चारित्र शुद्ध धर्म (अहिंसादि) को समाज और जगत् के समक्ष व्यक्तरूप मे प्रकट करने, धर्माचरण के प्रति लोकश्रद्धा जमाने और धर्मपालन मे आने वाली कठिनाइयो और समस्याओ को हल करते हुए व्यवहार मे सुदृढतापूर्वक धर्म को आचरित करके बताने हेतु अनिवार्य है।

सम्यक्चारित्र के बिना धर्म की शक्ति की प्रतीति जनता को नही होती। उसके बिना धर्म जनजीवन मे और स्वजीवन मे उतरता नही। इसलिए सम्यक्-

चारित्र को अपनाये बिना धर्म पगु है। इसीलिए एक जैनाचार्य ने कहा है—'चारित्त खु धम्मो' धर्म वास्तव मे चारित्र ही है।

यद्यपि शास्त्र मे श्रुतधर्म और चारित्रधर्म, ये दो भेद वताकर श्रुतधर्म को भी धर्म का प्रकार माना है। परन्तु श्रुतधर्म मे शास्त्रो द्वारा या श्रुतज्ञान द्वारा धर्म का ज्ञान प्राप्त करना और उस पर श्रद्धा करना होता है। अत वह सब मानसिक है, अव्यक्त है, धर्म का व्यक्त रूप नही। व्यक्त रूप तो चारित्र ही है।

मै आपसे पूछता हूँ कि कोई व्यक्ति शास्त्रो का वहुत ही स्वाध्याय करता हो, जिन-वचनो और वीतरागप्ररूपित तत्त्वो पर श्रद्धा रखता हो, लेकिन उनके वताये हुए धर्म को आचरण मे न लाता हो, यहाँ तक कि धर्म के विपरीत आचरण करता हो, दुर्व्यसनो मे लिपटा हो तो उसका ज्ञान और दर्शन किस काम का? उसका श्रुत-धर्म भी आचरण मे लाये बिना—चारित्र-पालन के विना—निष्फल है। आखिर धर्म को जीवन मे उतारे विना सम्यक्चारित्र के माध्यम से उसका पालन किये बिना व्यक्ति धर्मपालन का सुफल भी कैसे प्राप्त कर सकता है?

अग्नि को जान लेने पर कि यह रोटी सेक देती है, ठण्ड मिटा देती है, इस प्रकार का विश्वास कर लेने मात्र से वह अपना फल नही दे देती है। अर्थात्—वह आग रोटी नही सेक देती और न ही ठण्ड मिटा देती है। अग्नि का सक्रिय उपयोग करने वाला व्यक्ति ही अग्नि से इस प्रकार का फल प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार धर्म का या साधना का सुफल भी साधक तभी प्राप्त कर सकता है, जब उस धर्म का आचरण करे, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे धर्म का पालन करे। धर्म का सम्यक् प्रकार से आचरण करना ही सम्यक्चारित्र है।

सम्यक्चारित्र को स्वीकार करने पर ही धर्मसाधना का श्रीगणेश होता है। शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाय तो सम्यक्दृष्टि का गुणस्थान चौथा है, जबकि सम्यक्-दर्शन के साथ स्थूल देशचारित्र का ग्रहण करने पर देशविरति नामक पचम गुणस्थान प्राप्त होता है। भले ही वह पचम गुणस्थानवर्ती गृहस्थ साधक चारित्राचारित्री हो, किन्तु यह तो नि सन्देह कहा जा सकता है कि सम्यग्दृष्टि के गुणस्थान से सम्यक्-चारित्री का गुणस्थान ऊँचा है। अत साधना—आत्मविकास की साधना की दृष्टि से चारित्र का अपनाना आवश्यक है। सम्यक्चारित्र को अपनाये बिना कोई भी साधक उच्च गुणस्थान पर आरूढ नही हो सकता। जितने भी वीतराग या केवलज्ञानी हुए हैं, वे सम्यक्चारित्र को अपनाने पर ही हुए हैं। मरुदेवी माता या भरत चक्रवर्ती आदि, जिन्होने व्यवहारचारित्र के बाह्य अगो का भले ही स्वीकार न किया हो, स्वरूपरमणरूप निश्चयचारित्र तो इनमे अनिवार्य रूप से आ ही गया था। इसलिए वीतरागता या कर्मक्षय के लिए सम्यक्चारित्र स्वीकार करना जरूरी है।

एक यात्री है, उसे मार्ग की जानकारी है और यह विश्वास भी है कि यही मार्ग अहमदनगर को जाता है, किन्तु क्या इतने मात्र से वह यात्री अहमदनगर पहुँच

सकता है ? कदापि नहीं । जब तक वह यात्री अहमदनगर जाने के लिए कदम नहीं उठाएगा, गति नहीं करेगा या गतिशील रेल-मोटर में बैठेगा नहीं, तब तक वह अहमदनगर नहीं पहुँच सकेगा । ठीक इसी प्रकार मोक्ष का यात्री मोक्षमार्ग की जानकारी प्राप्त कर ले, मोक्षमार्ग के प्रति श्रद्धा भी कर ले, लेकिन मोक्षपुर पहुँचने के लिए सम्यक्चारित्र—धर्माचरण या धर्मक्रिया में गति न करे—आचरण न करे, तब तक वह मोक्षपुर कैसे पहुँच सकेगा ? यही बात एक आचार्य ने कही है—

क्रियाविरहित हन्त ! ज्ञानमात्रमनर्थकम् ।
गतिं विना पथज्ञोऽपि नाप्नोति पुरमीप्सितम् ॥

—हा ! क्रिया (चारित्र) से रहित कोरा ज्ञान निरर्थक है । मार्ग का जानकार होने पर भी जब तक वह पैरों से गमन नहीं करता, तब तक अभीष्ट नगर को नहीं पहुँच सकता ।

चारित्र ज्ञानरूपी भोजन के लिए विटामिन (पोषकतत्त्व) है । ज्ञानरूपी भोजन में चारित्ररूपी विटामिन न हो तो वह ज्ञान न तो शरीर को पुष्ट करेगा और न ही पचेगा । बल्कि ज्ञान के अहंकार के रूप में ज्ञान का अजीर्ण हो जाएगा । किसी व्यक्ति को षट्द्रव्यों, नौ तत्त्वों या आत्मा का गहन ज्ञान है, वह भगवती सूत्र और प्रज्ञापना सूत्र के गूढ़ रहस्यों को खोल सकता है, समयसार का पुर्जा-पुर्जा खोलकर उसकी व्याख्या कर सकता है, लेकिन उसने जीवन में अहिंसा, सत्य आदि व्रतों का स्वीकार नहीं किया है, वह असत्य बोलता है, व्यापार-धन्धे में बेईमानी करता है, ब्याज और गिरवी के धन्धे में मानवों का शोषण करता है, तो उसका वह ज्ञान विटामिनरहित भोजन जैसा या औंधे घड़े पर गिरे हुए पानी जैसा है, वह उसे क्या लाभ पहुँचा सकता है ? ज्ञान का लाभ तो उसे तभी मिल सकता है, जब वह सम्यक्चारित्र को अपनाकर सत्य-अहिंसादि धर्म का पालन करे । विशेषावश्यक भाष्य में कहा है—

सुबहु पि अहीयं किं काही चरणविप्पहीणस्स ।

सम्यक्चारित्र से विहीन व्यक्ति को अनेक शास्त्रों का किया हुआ अध्ययन क्या लाभ पहुँचा सकता है ? उसकी आत्मा की वह सुरक्षा नहीं कर सकता और न ही निश्चय कर सकता है । बल्कि आचरणहीन कोरा शास्त्रों का ज्ञान गधे की पीठ पर लदे हुए चन्दन के गट्ठर के समान केवल भारवहन मात्र है । वह शास्त्र-ज्ञान केवल उसके मस्तिष्क में बोझ रूप है ।

इसलिए सम्यक्चारित्र की महत्ता से कथमपि इन्कार नहीं किया जा सकता । चारित्र सम्यक् तभी होता है, जब उसके साथ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हों, तथापि सम्यक्चारित्र को अपनाये बिना मोक्षसाधक के लिए कोई चारा नहीं है ।

चारित्र क्या है ?

इसी प्रसग मे चारित्र का अर्थ भी समझ लेना जरूरी है। चारित्र के अन्तरग और बहिरग के भेद से दो रूप हैं—निश्चयचारित्र और व्यवहारचारित्र। साधक के जीवन मे दोनो का होना आवश्यक है। निश्चयचारित्र का लक्षण है—

'स्वरूपे चरण चारित्रं, स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव वस्तुस्वभावाद्धर्मः।'

'स्वरूप मे—यानी अपने मे, ज्ञानादि स्वभाव मे निरन्तर चरण—रमण करना चारित्र है। इसका अर्थ है—स्वसमय मे प्रवृत्ति करना। यही वस्तु (आत्मा) का स्वभाव होने से धर्म है।

व्यवहारचारित्र का लक्षण रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे इस प्रकार किया गया है—

हिंसानृतचौर्येभ्यो, मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥

'हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह, इन पाँच महापापो की प्रणालियो से विरत होना चारित्र है।

एक आचार्य ने व्यवहारचारित्र का लक्षण इस प्रकार किया है—

"असुहादो विणिवित्ति, सुहे पवित्ति य जाण चारित्तं।"

'अशुभ से निवृत्ति और शुभ मे प्रवृत्ति को चारित्र समझो।' अथवा

'चरति याति तेनो हितप्राप्तिम् अहितनिवारणं चेति चारित्रम्।'

'जिससे साधक हित को प्राप्त करता है और अहित का निवारण करता है, उसे भी चारित्र कहते है।

एक परिभाषा के अनुसार चारित्र उसे भी कहते है—जो आठ कर्मों को चरता है, भक्षण कर जाता है। या कर्मों का चय (सचय) जिससे रिक्त (खाली) हो जाता है, उसे भी चारित्र कहते है।

जो भी हो, चारित्र के इन लक्षणो पर विचार करने से एक बात तो अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि धन, सत्ता, स्वास्थ्य आदि सबकी अपेक्षा चारित्र का उच्च स्थान है। भारतीय जनजीवन मे धन और सत्ता की परवाह न करके चारित्र की रक्षा की जाती थी। राजा-महाराजा या बडे से बडे सम्राट, धनकुबेर या चक्रवर्ती भी चारित्रवान् के चरणो मे मस्तक झुकाते और उनसे जीवन की प्रेरणा लेते थे।

सेठ सुदर्शन ने भय और प्रलोभनो मे न फँसकर अपने चारित्र को सुरक्षित रखा था, क्योकि वे चारित्र को जीवन का अमूल्य धन समझते थे। धन चला जाय, स्वास्थ्य चला जाय अथवा और कोई साधन चला जाय तो कालान्तर मे फिर भी आ सकता है, लेकिन चारित्र नष्ट हो जाय तो फिर पाना कठिन है।

नमि राजर्षि दीक्षा लेने की और उच्च चारित्र अंगीकार करने की तैयारी कर रहे थे, उसी दौरान इन्द्र ब्राह्मण का रूप बनाकर उनकी परीक्षा लेने हेतु आता है। वह उन्हें राजसत्ता, धन तथा सुख-सामग्री आदि के अनेक प्रलोभन देता है, लेकिन नमिराजर्षि अपने उच्च चारित्र ग्रहण करने के संकल्प पर दृढ रहे, इन्द्र को उन्होंने अकाट्य युक्तियो और तर्कों द्वारा अपनी बात समझाकर निरुत्तर कर दिया।

वास्तव मे भारतीय संस्कृति मे चारित्र के कारण ही व्यक्ति पूजनीय, वन्दनीय माना जाता था। जहाँ चारित्र नही होता, वहाँ बडे से बडे सत्ताधारी या शास्त्रज्ञानी को भारतीयो ने पूज्य नही माना। कोरा ज्ञान या कोरा दर्शन तार नही सकता, चारित्र ही तार सकता है। सम्यक्चारित्र ही मानव-जीवन की अमूल्य सम्पत्ति है, जिसे पाकर वह जन्म-जन्मान्तर के कर्मावरणो को नष्ट करके आत्मा को शुद्ध, बुद्ध, निरजन बना सकता है। आइए, अब हम विचार करें कि ऐसे महत्वपूर्ण चारित्र की शोभा किसमे है?

चारित्र की शोभा : कब, क्यो और किसमे ?

आप मारवाडी सद्गृहस्थ हैं। मैं आपसे एक प्रश्न पूछ लूं—यदि कोई व्यक्ति सिर पर तो पगडी बाँध ले, किन्तु धोती और कमीज न पहने तो क्या, उसके सिर पर बाँधी हुई कोरी पगडी शोभा देगी? आप कहेगे नही। क्योकि आप जानते हैं कि जिसके शरीर पर धोती और कमीज न हो और केवल पगडी बाँध लेगा तो सभ्य समाज मे वह हँसी का पात्र समझा जायेगा, लोग उसे मूर्ख और पागल समझेंगे। ठीक इसी प्रकार चारित्र के नाम पर कुछ धर्मक्रियाएँ तो अपना ले, जो पगडी के समान हैं, किन्तु उसके साथ ज्ञानरूपी धोती या अधोवस्त्र न हो, और न ही ध्यानरूपी कमीज हो तो क्या उसकी कोरी चारित्ररूपी पगडी शोभा देगी? क्या वह हास्यास्पद नहीं माना जाएगा?

परन्तु आज धार्मिक जगत मे यह धाधली बहुत चल रही है। लोग क्रियाकाण्डो को तो बहुत महत्त्व देने लगे है, परन्तु उनके साथ ज्ञान और सुध्यान की जरूरत नही समझते। वे यह नहीं समझते कि अमुक धर्मक्रिया क्यो की जाती है? वह चारित्र की रक्षा के लिए आवश्यक है या नही? अथवा रूढि के तौर पर ही उसका पालन किया जाता है? चारित्र का आचरण किस प्रकार करना चाहिए? इस प्रकार के ज्ञान और उस ज्ञान को पुष्ट करने और आचरण मे प्रेरित करने के लिए सुध्यान की वे कोई जरूरत नही समझते। फल यह होता है कि वे चारित्र के नाम पर बिना समझे-बूझे क्रियाओ की अंधी दौड लगाते रहते है, पर अपने लक्ष्य को नही प्राप्त कर पाते। चारित्र का जो वास्तविक फल—आत्मशुद्धि या कर्मक्षय है, उससे वे वंचित रह जाते हैं। यहाँ तक क्रियाकाण्ड करने पर भी वे जब कुछ भी प्राप्त नही कर पाते और साधना के नाम पर कुछ भौतिक उपलब्धियाँ प्राप्त कर लेते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि [illegible] के सागर मे गये अवश्य लेकिन वहाँ से भी मोक्ष पाने के बजाय ऊपर ही उठा लाए।

स्वामी रामतीर्थ के जीवन की एक घटना है। लाहौर छोड़ने के पश्चात वे एक दिन मस्ती की दशा मे हृषीकेश से आगे गगा के किनारे घूम रहे थे। उस समय एक योगी उन्हे मिला। स्वामीजी ने उससे पूछा—"बाबा ! आप कितने वर्ष से सन्यासी हैं ?"

योगी ने कहा—"कोई चालीस वर्ष हो गये।"

स्वामी रामतीर्थ ने पूछा—"इतने वर्षों मे आपने क्या कुछ प्राप्त किया ?"

योगी ने बड़े गर्व से कहा—"इस गगा को देखते हो ? मैं चाहूँ तो इसके पानी पर उसी प्रकार चलकर दूसरे पार जा सकता हूँ, जिस प्रकार कोई शुष्क भूमि पर चलता है।"

स्वामी राम ने कहा—"उस पार से वापस भी आ सकते है, आप ?"

योगी बोला—"हाँ, वापस भी आ सकता हूँ।"

स्वामी राम—"इसके अतिरिक्त कुछ और ?"

योगी ने कहा—"यह सिद्धि भी कोई कम है ?"

स्वामी राम ने मुस्कराते हुए कहा—"यह तो बहुत छोटी-सी बात है, बाबा ! चालीस वर्ष आपने इसके पाने मे खो दिये। नदी पर नौका भी चलती है। दो आने इधर से उस पार जाने के और दो आने उस पार से इस पार आने के लगते हैं। चालीस वर्ष मे आपने वह प्राप्त किया, जो किसी को चार आने खर्च करके प्राप्त हो सकता है। आप अमृत सिन्धु समान चारित्र (धर्माचरण) मे गये अवश्य, लेकिन मुक्ताफल लाने के बदले लाये ककर ही बटोर कर।"

ज्ञान और सुध्यान के अभाव में चारित्र की दशा

ज्ञान और सुध्यान के बिना चारित्र के नाम पर भौतिक उपलब्धियो की आकाक्षा से कुछ कामनामूलक क्रियाएँ करने वालो की यह बोलती हुई कहानी है। अगर उस योगी मे अपने संन्यासी जीवन के धर्माचरण (चारित्र) के साथ सम्यग्ज्ञान और सुध्यान होता तो वह भौतिक सिद्धियो के चक्कर मे न पडकर मोक्षाभिमुखी साधना करता। किन्तु अज्ञान और कुध्यान चारित्र की निर्मल (कामनारहित) साधना से हटाकर भौतिक चमत्कारो के लिए किये गये क्रियाकाण्डो की ओर ही प्रेरित करते हैं। सम्यग्ज्ञान और सुध्यान का अभाव चारित्र को सुशोभित करने के बदले दूषित कर देता है।

जिन साधको के जीवन मे ज्ञान और सुध्यान नही होता, वे प्राय दूसरो का अन्धानुकरण करके बिना सोचे-समझे अमुक वेश, अमुक क्रियाओ, तथा अमुक व्यवहारो को ही शुद्ध चारित्र मानकर चलते है, वे तब तक अपने इस पूर्वाग्रह को नही छोडते, जब तक वे किसी उलझन मे नही पडते और कोई सम्यग्ज्ञान-ध्यानपूर्वक सच्चारित्र का पालक अनुभवी साधक उन्हे सच्चा मार्ग बताकर उनकी उलझन को सुलझा नही देता। मुझे एक रोचक उदाहरण याद आ रहा है—

मद्रास के एक धनाढ्य पति-पत्नी तीर्थयात्रा करने के लिए पंढरपुर पहुँचे। वे वहाँ एक धर्मशाला में ठहरे। उनके पास के कमरे में ही एक महाराष्ट्रीयन परिवार ठहरा हुआ था। एक दिन एकादशी के पारणे के अवसर पर मराठी परिवार ने भोजन में पूरणपोली बनायी। मद्रासी परिवार को भी उन्होंने भोजन के लिए आमन्त्रित किया। उन्हें महाराष्ट्र की पूरणपोली बहुत अच्छी लगी। अत मद्रासी बहन ने महाराष्ट्रीयन बाई से पूरणपोली बनाना सीख लिया। पंढरपुर से अन्य कई तीर्थस्थानों में भ्रमण करते हुए वे मद्रास पहुँचे।

कुछ दिनों बाद मद्रासी सेठ की पत्नी ने एक दिन अपने पति से कहा—

'स्वामिन्! कल लगभग अपने सौ इष्टमित्रों को भोजन के लिए आमन्त्रित कर लीजिए। मैं उन सबको महाराष्ट्रीयन पूरणपोली बनाकर खिलाऊँगी।"

पति ने कहा—"तुम पहले पूरणपोली बनाने की दो-चार बार प्रेक्टिस कर लो, ताकि मेहमानों के आने पर कोई गड़बड़ न हो।"

पत्नी बोली—"इसमें गड़बड़ क्या होगी? पूरणपोली बनाना तो मैं सीख ही आई हूँ।"

पति महोदय ने पत्नी की बात पर विश्वास करके दूसरे दिन लगभग १०० मित्रों को भोजन का आमन्त्रण दे दिया। पत्नी ने पूरण तैयार किया आटा भी गूँथ कर उसका पिंड बना लिया। पूरणपोली तो गर्म-गर्म परोसी जाती है। अत मेहमानों के लिए थालियाँ और बाजोट लगा दिये गये। परन्तु पूरणपोली बनाने के प्रारम्भ में ही मद्रासी बाई विचार में पड़ गई—'आटे में पूरण डालूँ या पूरण में आटा?' काफी देर तक वह इसी पसोपेश में पड़ी रही। फिर उसे याद आया कि 'पूरणपोली बनाते समय महाराष्ट्रीयन बाई तो सफेद साड़ी पहने हुई थी, मैं तो लाल साड़ी पहने हूँ।' अत झट से उसने सफेद साड़ी पहन ली, फिर भी पूरणपोली नहीं बनी, तब उसे याद आया कि 'अरे! उस बाई ने तो गहने नहीं पहने हुए थे, मैं तो गहने पहने हूँ।' इस पर उसने सब गहने उतार डाले। मगर पूरणपोली अब भी नहीं बनी। कुछ देर बाद उसे स्मरण हो आया कि 'उस बाई के सिर पर तो केश नहीं थे, मेरे सिर पर तो घने केश हैं।' उसे यह पता नहीं था कि महाराष्ट्र की महिलाएँ विधवा होने के बाद सिर मुंडवा लेती हैं। इस प्रथा से अनभिज्ञ मद्रासी बाई ने पति को बुलाकर कहा—'मेरे केश कटवा दीजिए, ताकि पूरणपोली बन जाय।'

पति महोदय चिन्ता में पड़ गये कि अब क्या किया जाय? केश कटाने का पूरणपोली बनाने से क्या ताल्लुक है? केश कटवाने पर भी वह न बनी तो क्या होगा? सहसा उन्हें याद आया कि पड़ौस में ही एक मराठी बाई रहती है, उसे क्यों न बुला लिया जाय। महाराष्ट्रीयन बहन आई और उसने पूछा—'क्या बात है?'"

मद्रासी बहन ने कहा—"इतना सब कर लेने पर भी पूरणपोली नही बन रही है, इसलिए तुम्हे याद किया गया है।" उसने मुस्कराते हुए कहा—"वाह! तुम भी खूब हो। पूरणपोली बनाने के लिए न तो अमुक पोशाक पहनने की जरूरत है, और न ही गहने व कपडे उतारने की। इसके लिए तो सर्वप्रथम बनाने की विधि के ज्ञान की, फिर अमुक साधनो को जुटाकर उन्हे क्रियान्वित करने की जरूरत है। लाओ, मैं इन सब मेहमानो के लिए पूरणपोली बना देती हूँ।" उसने मद्रासी दम्पति के देखते ही देखते झटपट पूरणपोली बना दी। अब तो मद्रासी दम्पति को समझ मे आ गया कि पूरणपोली बनाने के लिए अज्ञान और गलत समझ के कारण कितने उलटे-सुलटे उपाय अजमा लिये गये थे।)

बन्धुओ! इससे आप समझ गये होगे कि चारित्र को सुशोभित एव उज्ज्वल करने के लिए न तो अमुक वेशभूषा की जरूरत है, और न ही अटपटे क्रियाकाण्डो की, अपितु सुज्ञान और सुध्यान की आवश्यकता है, जिससे साधक यह जान सके कि यह क्रिया क्यो और किस लिए है? मुक्ति-प्राप्ति मे यह क्रिया कहाँ तक सहायक है? चारित्र के कौन-कौन से अग हैं? उन्हे जीवन मे कैसे उतारा जा सकता है? चारित्र के साथ दोष (अतिचार) कैसे प्रविष्ट हो जाते हैं, उनके निवारणोपाय कौन-कौन-से हैं? साथ ही चारित्र के साथ सतत् यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि चारित्र-पालन मे कही कोई गलती तो नही हो रही है? शक्ति होते हुए भी चारित्र के अमुक अग का पालन करने मे मैं देरी या टालमटूल क्यो कर रहा हूँ? इस लापरवाही से मैं ध्येय से कितना दूर जा पड़ूंगा? ध्येय-प्राप्ति के लिए इसी एक ही मे सारा चिन्तन और सारी शक्ति लगाकर प्राणप्रण से क्यो नही जुट जाता? निष्कर्ष यह है कि चारित्र तभी चमकता है, तभी ध्येय की ओर द्रुतगति के प्रयाण करता है, जब उसके साथ ज्ञान का प्रकाश हो, और सुध्यान की सतत प्रेरणा और सावधानी हो।

साधनामय जीवन के लिए ज्ञान-ध्यान और चारित्र आवश्यक

बडे-बड़े यन्त्रो को ठीक ढग से चलाने और उत्पादन बढाने के लिए इजीनियर को उसके चलाने का तथा उसके साधनो का ज्ञान तथा सावधानी एव चलाने की अन्त.प्रेरणा नितान्त आवश्यक होती है। अन्यथा, कोई अनाडी व्यक्ति, जिसे उसके कल-पुर्जों का कोई ज्ञान नही है, तथा उसके कलपुर्जों को भलीभाँति स्मूदली (smoothly) चलने के लिए किन-किन चीजो को देना चाहिए? इसकी जानकारी नही है, अगर वह मशीन को अधाधुन्ध चलाता ही जायगा, कौन-सा पुर्जा बिगड गया है? कौन-सा पुर्जा नया डालना है? इत्यादि सावधानी या ध्यान नही रखेगा। तो ऐसी स्थिति मे मशीन के चलाने का क्या नतीजा आएगा? वह शीघ्र ही टूट जायगी, बिगड जायगी, और चलती-चलती ठप्प हो जायगी।

यही हाल साधनामय जिन्दगी मे चारित्ररूप मशीन का है, उसमे अधाधुन्ध क्रियाएँ की जाएँगी, उसकी क्रिया की विधि या उपयोगिता का बिलकुल ज्ञान

नहीं होगा, न उससे जीवन बन रहा है या बिगड़ रहा है? आत्मा का विकास या हित हो रहा है या नहीं? इसका ध्यान नहीं रखा जायगा तो साधनामय जिन्दगी की चारित्ररूपी मशीन भी ठप्प हो जाएगी, अभीष्ट फल न दे सकेगी। इसलिए साधनामय जिन्दगी में चारित्ररूपी मशीन को बिगड़ने या ठप्प होने से बचाने के लिए ज्ञान और सुध्यान का होना अत्यावश्यक है।

साधना-सुन्दरी की चारित्ररूपी मांग सुहागसिंदूर से तभी सुशोभित हो सकती है, जब ज्ञानरूपी सुहाग के कंगन हों और ध्यानरूपी सुहागबिंदी हो।

जीवन का स्वस्थ और सुन्दर ढंग से निर्माण के लिए केवल शरीर ही काफी नहीं होता। ठीक है, मनुष्य शरीर से विविध क्रियाएँ करता है, परन्तु उसमें शरीर का संचालन ठीक ढंग से करने का ज्ञान न हो, तथा उसके बनने-बिगड़ने का ध्यान न हो तो स्वस्थ जीवन का निर्माण नहीं हो सकता। इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन-निर्माण के लिए भी शरीर के साथ बुद्धि और हृदय की जरूरत है। शरीर चारित्र है, बुद्धि ज्ञान है और हृदय ध्यान है। शरीर द्वारा साध्य चारित्र है, बुद्धि द्वारा साध्य ज्ञान है और हृदय द्वारा साध्य ध्यान है। शरीर के द्वारा होने वाली क्रियाओं के साथ सुबुद्धि-साध्य सम्यग्ज्ञान न हो, तथा शुद्ध हृदय-साध्य सम्यग्ध्यान न हो तो शरीर-साध्य चारित्र सुचारित्र नहीं रहता, वह साधक को मोक्षपथ की ओर ले जाने के बजाय अज्ञान और लापरवाही के कारण उत्पथ की ओर ले जाता है और सांसारिक सिद्धियों की भूलभुलैया में या अन्धविश्वास के गर्त में डाल देता है। अतः आध्यात्मिक जीवन तभी मोक्ष प्रासाद पर आरूढ़ होता है, जब ज्ञान एवं सुध्यान को साथ लेकर चारित्र गति प्रगति करता है।

ज्ञान और सुध्यान के बिना साधक चारित्र से भ्रष्ट हो जाता है

स्थानांगसूत्र में तीन प्रकार के धर्म बताये गये हैं, जो परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध हैं—

तिविहे भगवया धम्मे पण्णत्ते तं जहा—सुअहिज्जिए, सुज्झाइए, सुतवस्सिए।
जया सुअहिज्जियं भवइ, तया सुज्झाइयं भवइ।
जया सुज्झाइयं भवइ, तया सुतवस्सियं भवइ।
से सुअहिज्जिए, सुज्झाइए, सुतवस्सिए सुयक्खाए णं भगवया धम्मे पण्णत्ते।

भगवान ने तीन प्रकार का धर्म प्ररूपित किया है, जैसे कि—सु-अधीत (सम्यग्ज्ञान) सुध्यात एवं सुतपस्थित (सम्यक् आचरित)।

जब धर्म भलीभांति अधीत (ज्ञात) कर लिया जाता है, तब वह सुध्यात ([illegible] से उसका ध्यान) कर लिया जाता है।

जब वह सम्यक् ध्यात हो जाता है तब वह सुतपस्थित (भलीभांति आचरित) होता है।

इस प्रकार सु-अधीत, सुध्यात और सुतपस्थित धर्म की भगवान ने प्ररूपणा की है, और स्वाख्यात धर्म है।

निष्कर्ष है कि चारित्रधर्म पूर्ण तभी होता है, जब अध्ययन द्वारा उसका सम्यग् ज्ञान होता है, फिर उसका ध्यान (चिन्तन, मनन, अनुप्रेक्षण) होता है। बिना ज्ञान और ध्यान के चारित्रधर्म सुदृढ, पूर्ण, सफल, बद्धमूल सस्कारबद्ध एव कृतकार्य नही होता।

कामविजेता मुनि स्थूलभद्र कोशा वेश्या के यहाँ शृगारपूर्ण कामोत्तेजक वातावरण मे रहकर भी अपने चारित्र (ब्रह्मचर्य) मे दृढ रह सके, जरा भी न चूके, उसका क्या कारण था ? यही था कि उनके चारित्र के साथ सम्यग्ज्ञान (ब्रह्मचर्य-अब्रह्मचर्य के वस्तुतत्त्व का ज्ञान) एव सम्यग्ध्यान (उस पर चिन्तन, मनन, अनुप्रेक्षण एव उत्साहपूर्वक अभ्यास के लिए प्रेरणा) था। यदि सुज्ञान और सुध्यान न होते तो चारित्र लिये हुए स्थूलभद्र मुनि कभी के फिसल गये होते। उनकी स्खलना को रोकने मे न उसका वेष काम आता और न ही क्रियाकाण्ड ? इसका स्पष्ट प्रमाण है—मुनि स्थूलभद्र के गुरुभ्राता मुनि (जो कि ईर्ष्यावश कोशा वेश्या के यहाँ चातुर्मास बिताने आये थे) का चारित्र से स्खलित होना। वे भी स्थूलभद्र मुनि की तरह चारित्र अगीकार किये हुए थे, वेशभूषा भी साधु की थी और साधु के क्रियाकाण्ड भी वे करते थे। किन्तु उनके चारित्र के साथ सम्यग्ज्ञान और परिपक्व ध्यान नही थे। परिपक्व ज्ञान और सुध्यान के अभाव मे वे चारित्र को पचा नही सके थे। उन्हे अपने चारित्र का—अपने ब्रह्मचर्य-साधना का गर्व था किन्तु कोशा वेश्या के यहाँ आते ही जब उसके यहाँ शृगार एव भोग-विलासपूर्ण कामोत्तेजक वातावरण देखा तो अपने चारित्र से एकदम विचलित हो गये, ब्रह्मचर्य-साधना से फिसल गये और रूपराशि कोशा से प्रणय-याचना करने लगे। कोशा अब वेश्या नही थी, वह कामविजेता स्थूलभद्र मुनि के सदुपदेश से तथा उनके त्याग-वैराग्यपूर्ण आचरण से प्रभावित होकर श्राविका बन गई थी। अतः उसने चारित्र-स्खलित मुनि को चारित्र मे स्थिर करने हेतु कहा—"मेरे लिए नेपाल से रत्नकम्बल ले आएँ, तभी मैं आपकी अनुचरी बन सकती हूँ।" मुनि अपने साधु-वेष का तथा साधुमर्यादाओ का परित्याग करके नेपाल गए। वहाँ के राजा से याचना करके रत्नकम्बल लाये। परन्तु रास्ते मे ही लुटेरो ने लूट ली वह कम्बल। अब क्या करें ? पुन. वे नेपाल जाकर बाँस की नली मे डालकर रत्नकम्बल लाये, और आते ही कोशा को भेंट दे दी।

कोशा ने उक्त मुनि के सामने ही कीचड से भरे पैर उस रत्नकम्बल से पोछकर डाल दी।

मुनि ने कहा—"कोशा ! यह क्या किया ? अत्यन्त मुसीबतें सहकर तो मैं रत्नकम्बल लाया, और तूने इससे कीचड़ पोछकर फेंक दी।"

कोशा ने बोध का उचित अवसर जानकर कहा—"आप भी अत्यन्त कष्ट सहकर वर्षों से उपार्जित चारित्ररूपी बहुमूल्य वस्त्र को विषय-वासना के कीचड मे फेंकने जा रहे हैं। कुछ तो आपने फेंक दिया, रहा-सहा भी प्रणय-बन्धन मे बँधकर फेंकने जा रहे हैं। आप सोचिए तो सही कि आप मेरे यहाँ किस उद्देश्य से चातुर्मास बिताने आये थे ? वह उद्देश्य एव साधुमर्यादाएँ सब आपने ताक मे रख दी।"

चारित्रभ्रष्ट मुनि कोशा की मर्मस्पर्शी वाणी सुनकर एकदम उद्बुद्ध हो गये। उन्हें अपने अयुक्त आचरण तथा चारित्रभ्रष्टता से ग्लानि और पश्चात्ताप होने लगा। कोशा से क्षमा मांगकर तथा अपनी भूल स्वीकार करके वे सीधे चल पड़े अपने गुरुदेव के पास प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होने। स्थूलभद्र मुनि से भी ईर्ष्या के लिए क्षमा मांगी।

एक चारित्रवान् मुनि थोड़ा-सा निमित्त मिलते ही सहसा चारित्र से भ्रष्ट क्यों हो गया? क्यों हो जाता है? उसका कारण है—चारित्र के साथ परिपक्व सद्ज्ञान और सद्ध्यान नहीं थे। अगर उनके चारित्र के साथ ज्ञान और सुध्यान ओत-प्रोत होते तो वे कदापि अपने चारित्र से विचलित न होते, चाहे उनके सामने स्वर्ग की अप्सरा ही क्यों न खड़ी हो जाती।

चारित्र का पौधा बढ़ता है, ज्ञानजल एवं सुध्यानरूपी खाद से

कोई भी पौधा तब बढ़ता है या फलता-फूलता है, जब उसे पानी और खाद उचित मात्रा में मिलें। यदि ऐसी जमीन में बीज बोया जाए, जिसमें उर्वरा शक्ति न हो और खाद का अंश न मिला हो तो अच्छा बीज होते हुए भी वह उगेगा नहीं, इसी प्रकार जमीन में खाद आवश्यक मात्रा में डाला जाने पर भी उगे हुए पौधे को पानी न मिले तो भी वह संवर्धित नहीं हो सकेगा, मुरझाकर सूख जाएगा। इसी प्रकार चारित्र का पौधा ज्ञानरूपी पानी और सुध्यानरूपी खाद पाकर बढ़ता है। यदि दोनों में से एक की भी कमी रह जाये तो चारित्ररूपी पौधा अन्तरात्मा में संस्कारबद्ध, बद्धमूल और विकसित नहीं हो सकेगा। चारित्ररूपी पौधे को बद्धमूल और विकसित होने के लिए सम्यग्ज्ञानरूपी जल से बार-बार सींचना पड़ेगा, और सुध्यानरूपी खाद देना होगा, उसे शीघ्र संवर्धित एव विकसित होने के लिए। जो ऐसा न करके केवल चारित्ररूपी पौधे को बढ़ाना चाहता है, उसका वह पौधा अन्तरात्मा के संस्कारों में बद्धमूल नहीं होता फलतः बाह्य निमित्त (भौतिक प्रलोभन, या अहंता ममता के [illegible]) मिलते ही उसके चारित्र का वह पौधा शीघ्र ही कुम्हलाकर सूख जाता है, [illegible] वह पौधा [illegible] हो जाता है।

[illegible] जल और सुध्यानरूपी खाद के साथ चारित्ररूपी पौधा कैसे [illegible] होकर [illegible] एवं बद्धमूल हो जाता है? इसके लिए एक ऐतिहासिक [illegible]—

[illegible] सुव्रत [illegible] श्री हीरविजयसूरि [illegible] [illegible] को [illegible] श्री विजयसेनसूरि [illegible] [illegible] [illegible]

सिद्धिचन्द्र अभी बालकमुनि थे। उनका जैसा आकर्षक रूप था, वैसी ही उनकी तेजस्वी प्रखर बुद्धि थी। उनको अपने गुरुदेव के बार-बार बादशाह के पास जाने का कुतूहल होता था। बालसुलभ जिज्ञासा से वह कई बार अपने गुरुदेव से पूछा करते थे कि बादशाह कैसे हैं? वह कैसे-कैसे प्रश्न पूछते है? आप क्या उत्तर देते हैं? आदि। गुरुदेव से बादशाह के साथ हुई धर्मचर्चा सुन-सुनकर बालकमुनि सिद्धिचन्द्र की भी उनके साथ जाने की इच्छा होती थी। परन्तु उपाध्यायश्री सोचते थे कि अभी इसकी कच्ची उम्र है, इसके चारित्र का पौधा अभी बहुत ही छोटा और कोमल है, वह ज्ञान और ध्यान से परिपक्व न हो जाय, तब तक इसे राजदरबार मे न ले जाना उचित है। वे इस खतरे से भली-भाँति परिचित थे कि राजदरबार की मोहिनी का जादू इसके अपरिपक्व मस्तिष्क मे लग गया तो चारित्र (योग) साधना अधूरी रह जाएगी, भोगो मे मन विह्वल हो जाएगा।

एक-दो वर्ष तक शास्त्रो एव सिद्धान्तो का, तथा जैनदर्शन का गम्भीर अध्ययन कर लेने, साथ ही धर्मध्यान की साधना मे प्रगति कर लेने के बाद एक दिन उपाध्यायश्री भानुचन्द्रजी अपने बालक शिष्य श्री सिद्धिचन्द्रजी को अपने साथ अकबर के राजमहल मे ले गये। सम्राट अकबर तो चकित था, सौन्दर्य के अवतार इस बालकमुनि को त्यागमार्ग के उपासक तथा वैराग्यपथ के यात्री के रूप मे देखकर! सम्राट बालकमुनि को टकटकी लगाकर देखता रहा, सोचने लगा—'वाह! कैसा गजब का रूप है। ऐसा रूप का अवतार तो राजदरबार मे ही शोभा दे सकता है।' बादशाह ने अवसर देखकर सिद्धिचन्द्रजी से बात की तो काया की तरह उनकी तेजस्वी बुद्धि से प्रादुर्भूत वाणी से भी सौन्दर्य और माधुर्य का झरना बहने लगा। अकबर उनसे अत्यन्त प्रभावित, आकर्षित एव मुग्ध हो उठा। गुरु-शिष्य जब राजमहल से विदा होने लगे तो सम्राट अकबर ने भानुचन्द्रजी से कहा—"महाराजश्री! अपने बालक-शिष्य को खूब पढाना, यह महान विद्वान् बनेगा और अपना एव गुरु का नाम रोशन करेगा। इन्हे जो भी अध्ययन कराना हो, उसका प्रबन्ध शाही दरबार से हो जाएगा। और आप मेरी बात मानें तो मेरे राजकुमार उस्तादो से पढते हैं, उनके साथ ही आपके शिष्य पढ लें।"

गुरु ने बादशाह की बात मान ली। मुनि सिद्धिचन्द्रजी को मनचाहा अवसर मिल गया अपनी ज्ञान-पिपासा शान्त करने का। राजकुमार सलीम आदि के साथ उन्होने फारसी भाषा का प्रचुर ज्ञान अर्जित कर लिया। राजकुमार सलीम आदि का परिचय भी प्रगाढ हो गया। यद्यपि मुनि सिद्धिचन्द्रजी का सिद्धान्तो एव तत्त्वो का ज्ञान अब परिपक्व हो गया था, धर्म-ध्यान की साधना के दौरान वे अपनी प्रखर बुद्धि से उन पर चिन्तन, मनन और अनुप्रेक्षण भी करते थे, फिर भी उनकी अवस्था युवा थी, शारीरिक सौन्दर्य भी आकर्षक था, इसलिए गुरुदेव को चिन्ता थी कि त्याग-मार्ग का पथिक शिष्य कही राजसम्पर्क से भोगमार्ग का राही न बन जाय। परन्तु

सोना जैसा चमकीला था, वैसा ही आबदार निकला। राजपरिवार का परिचय सिद्धिचन्द्रमुनि के चारित्ररूपी पौधे को कुछ भी क्षति न पहुँचा सका। इस अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण होने के कारण गुरु भानुचन्द्रजी हृदय से सन्तुष्ट थे।

सम्राट् अकबर के देहान्त के बाद सलीम 'जहाँगीर' नाम धारण करके सम्राट बना। उसके साथ सिद्धिचन्द्र का अकबर की अपेक्षा भी गाढ़ सम्पर्क था। ज्यों-ज्यों यौवन निखरता गया, त्यों-त्यों सौन्दर्य और पाण्डित्य भी विकसित होता गया। वेश वैरागी का, काया कामदेव की, वय यौवन की एवं आचरण साधु का था। जहाँगीर और नूरजहाँ दोनों इस युवक साधु को देखकर प्रसन्न होते और आश्चर्य में डूब जाते थे। पहचान वर्षों पुरानी होने पर भी विलासभोगी सम्राट उनके दिल को पहचान न सका। सौन्दर्यरसिक सम्राट का दिल किसी भी तरह न मानता था कि इस उम्र में भी कोई त्यागी, वैरागी और चारित्रपालक हो सकता है। उसकी आँखों में चारों ओर भोगरागरंग का ही प्रतिबिम्ब नजर आता था। परन्तु इस बालयोगी को न तो अपने सौन्दर्य का गर्व था, न सौन्दर्यरूपित देह का मोह था। वह देहासक्ति से दूर उठकर आत्मा को ज्ञानादि गुणों से विभूषित कर रहा था।

एक ओर था सौन्दर्योपासक सम्राट तो दूसरी ओर था चारित्रोपासक योगी। दोनों की दो राहें थीं, दोनों के स्थान भी पृथक्-पृथक् थे, एक का स्थान सिंहासन पर था, तो दूसरे का था सर्वाधार भूमि पर। पर दोनों की बाल-मैत्री थी। मगर आखिर तो सम्राट् भोगपरायण था, अतः अपनी दृष्टि से ही योगीराज का मूल्यांकन करता था। वह कभी-कभी अपनी बेगम नूरजहाँ से कहता—'देखो, इस योगी के रंग, न जाने इसे क्या सूझा? इतनी मनोहर सुकुमार काया को कष्ट की भट्टी में झोंक रहा है! ऐसी उम्र में और ऐसी सुन्दर काया से संयम, मुझे तो असम्भव लगता है। किसी भी उपाय से इस [illegible] को राह पे मोड़ना चाहिए। मेरा मन इसे देखकर बेचैन हो उठता है।'"

दिन पर दिन बीतते जा रहे थे। सम्राट् योगी को जिस दिन नहीं देखता, उस दिन उदास हो उठता था। परन्तु यह योगी जब धर्मोपदेश सुनाकर विदा होता, [illegible] सम्राट के हृदय में [illegible] विचार उठा करते, उसके मन को [illegible] कर देते थे।

सम्राट् जहाँगीर [illegible] और [illegible] भी था। [illegible] सिद्धिचन्द्र [illegible] सम्राट के [illegible] से ही [illegible] गया।

[illegible] दिन [illegible] सम्राट ने [illegible]। [illegible] सम्राट् और बेगम दोनों [illegible] हुए [illegible] चाहिए। [illegible]—

"आज तो आपने कमाल ही कर दिया। पर जाने की इतनी उतावल क्यो है ? बात का ऐसा रग तो कभी-कभी जमता है। कुछ देर और रुक जाइए।"

युवामुनि ने कहा—"बादशाह ! जिस समय जो कार्य करना है, उसे उसी समय कर लेना चाहिए। हमे अपने धर्मकार्य का हिसाब अपने मन के मालिक को देना होता है। प्रमाद करेंगे तो फर्ज चूक जाएंगे। उसमे भी हमारा मार्ग सयमी साधुजीवन का है। उसके लिए तो सदा जागृत रहना चाहिए, अन्यथा इसमे दोष प्रविष्ट होते देर नही लगती। आपसे फिर मिलेंगे ही, तो बात करेंगे। आज तो समय हो गया है।"

बादशाह खुश होकर रुकने की प्रार्थना करे और उसे इस प्रकार का रूखा उत्तर देकर ठुकरा दे, यह उसके लिए नया ही अनुभव था। मुनि के उत्तर से बादशाह को आघात-सा महसूस हुआ, मगर उमे आज अपनी बात कहे बिना चैन नही पड रही थी। और आक्रोशवश बात करने मे आनन्द नही होता। अत जरा चुप रहकर बादशाह ने मुनि से कहा—"आज आप से कुछ बात करने की इच्छा थी आपको कुछ देर भले होती हो, रुक जाएँ तो अच्छा रहेगा।"

मुनि बादशाह के दिल को नही समझे, फिर भी रुक गये। बादशाह ने बहुत सकोच के साथ पूछा—"भला आपकी उम्र कितनी होगी ?"

मुनि बोले—"पच्चीस वर्ष की।" उन्हे बादशाह के प्रश्न का रहस्य समझ मे न आया।

बादशाह—"इस जवानी मे ऐसे कठोर त्याग और सयम (चारित्र) को स्वीकार करने की आपको क्यो जरूरत पडी ? ये सब तो बुढापे मे शोभा देते है। यह समय तो भोग-विलास और मौज-शौक का है ! कुदरत ने आपको ऐसे सौन्दर्य और यौवन की देन दी है। इसका आनन्द लूट लें। जवानी जाने के बाद फिर लौट कर नही आएगी।"

मुनि को बादशाह की अजीबोगरीब बाते सुनकर आश्चर्य हुआ। उन्होने कहा—"शाहंशाह ! यह तो अपनी-अपनी रुचि की बात है। किसी को भोग अच्छा लगता है, किसी को योग। अतत सब कुछ मन की इच्छा पर निर्भर है। अच्छा मन मनुष्य को अच्छा बनाता है, खराब मन खराब ! हमने अपने उत्तम जीवन निर्माण के लिए यह चारित्र का पथ अपनाया है, फिर इसमे छोटी उम्र क्या और बडी उम्र क्या ? जब से जागे, तभी से सवेरा है।"

बादशाह ने मुनि की सारी बातो को काटते हुए सक्षेप मे कहा—"हमे तो आपकी ये बातें वाहियात लगती है। जवानी को यो कुचल देने और काया को कुम्हला देने का क्या अर्थ है ? समय पर ही सब काम अच्छे होते हैं। भोगो की उम्र मे आपका कष्टकर योग स्वीकार करना अकाल मे आम पकाने की मुराद-सा लगता है। अत यह मत्र छोड-छाडकर आप कुछ दिन जिन्दगी की मौज लूट लें। हमारी

इच्छा है कि आप अपना योग छोड़कर सदा के लिए हमारे साथ रहें। हम आपको वचन देते हैं कि बहिश्त की परी-सी सुन्दर स्त्री और मनचाही दौलत हम आपको देंगे। आपको किसी तरह की तकलीफ नहीं होने देंगे। जिंदगी की मौज लूटने में अभी कोई देर नहीं हुई है।"

युवक मुनि विचारने लगे—बादशाह को आज न मालूम आज क्या सूझी है। ऐसी बहकी-बहकी बातें कर रहे हैं। मुनि ने मुस्कराते हुए कहा—"इस चारित्र-साधना में तकलीफ की तो कोई बात ही नहीं है। इस साधना में हमें तकलीफ महसूस होती तो इस योग को छोड़कर संसार के सुख-भोग में पड़ने से हमें कौन रोकता था? किसी ने जबरदस्ती हमें इस योग को लेने के लिए बाध्य नहीं किया। फिर क्या कष्ट है हमें? हमें तो इसमें आनन्द ही आनन्द है। फिर इस योग का त्याग करके दोनों ओर से भ्रष्ट होने की क्या जरूरत?"

मित्रो! बादशाह को जो कठिन लगता था, वह इस युवक मुनि को सरल और सहज लगता था। क्योंकि ज्ञान और सुध्यान के संयोग से चारित्र उनके रोम-रोम में रम गया था। परन्तु पकड़ी हुई बात को छोड़ने की आदत जहाँगीर में थी नहीं, इसलिए आदेश की भाषा में रौब से उसने कहा—"आपकी बात हमारी समझ में नहीं आती। आपको हमारी बात माननी ही पड़ेगी।'

सिद्धिचन्द्र मुनि अपनी बात पर दृढ़ थे। चारित्र के बद्धमूल संस्कारों को छोड़ना उनके लिए कतई सम्भव न था। अतः उन्होंने इतना ही कहा—'आपकी बात मानी जा सकने योग्य नहीं है। अगर आपको इस समय कोई योगी बनने को कहे तो क्या आप बन सकेंगे? यही बात मेरे लिए है कि मैं भोगी नहीं बन सकता।"

बादशाह के अहं को गहरी चोट पहुँची। सोचा—मेरी बात का ऐसा करारा जवाब! फिर भी वह गम खाकर रह गया। कहा—'अच्छा-अच्छा! आप हमारी बात पर ठंडे दिल से विचार करना। इसका फैसला हम कल करेंगे।"

"आज तो आपने कमाल ही कर दिया। पर जाने की इतनी उतावल क्यो है ? बात का ऐसा रग तो कभी-कभी जमता है। कुछ देर और रुक जाइए।"

युवामुनि ने कहा—"बादशाह ! जिस समय जो कार्य करना है, उसे उसी समय कर लेना चाहिए। हमे अपने धर्मकार्य का हिसाब अपने मन के मालिक को देना होता है। प्रमाद करेंगे तो फर्ज चूक जाएंगे। उसमे भी हमारा मार्ग सयमी साधुजीवन का है। उसके लिए तो सदा जागृत रहना चाहिए, अन्यथा इसमे दोष प्रविष्ट होते देर नही लगती। आपसे फिर मिलेंगे ही, तो बात करेंगे। आज तो समय हो गया है।"

बादशाह खुश होकर रुकने की प्रार्थना करे और उसे इस प्रकार का रूखा उत्तर देकर ठुकरा दे, यह उसके लिए नया ही अनुभव था। मुनि के उत्तर से बादशाह को आघात-सा महसूस हुआ, मगर उसे आज अपनी बात कहे बिना चैन नही पड रही थी। और आक्रोशवश बात करने मे आनन्द नही होता। अत जरा चुप रहकर बादशाह ने मुनि से कहा—"आज आप से कुछ बात करने की इच्छा थी आपको कुछ देर भले होती हो, रुक जाएँ तो अच्छा रहेगा।"

मुनि बादशाह के दिल को नही समझे, फिर भी रुक गये। बादशाह ने बहुत सकोच के साथ पूछा—"भला आपकी उम्र कितनी होगी ?"

मुनि बोले—"पच्चीस वर्ष की।" उन्हे बादशाह के प्रश्न का रहस्य समझ मे न आया।

बादशाह—"इस जवानी मे ऐसे कठोर त्याग और सयम (चारित्र) को स्वीकार करने की आपको क्यो जरूरत पडी ? ये सब तो बुढापे मे शोभा देते हैं। यह समय तो भोग-विलास और मौज-शौक का है ! कुदरत ने आपको ऐसे सौन्दर्य और यौवन की देन दी है। इसका आनन्द लूट लें। जवानी जाने के बाद फिर लौट कर नही आएगी।"

मुनि को बादशाह की अजीबोगरीब बाते सुनकर आश्चर्य हुआ। उन्होने कहा—"शाहशाह ! यह तो अपनी-अपनी रुचि की बात है। किसी को भोग अच्छा लगता है, किसी को योग। अतत. सब कुछ मन की इच्छा पर निर्भर है। अच्छा मन मनुष्य को अच्छा बनाता है, खराब मन खराब ! हमने अपने उत्तम जीवन निर्माण के लिए यह चारित्र का पथ अपनाया है, फिर इसमे छोटी उम्र क्या और बडी उम्र क्या ? जब से जागे, तभी से सवेरा है।"

बादशाह ने मुनि की सारी बातो को काटते हुए सक्षेप मे कहा—"हमे तो आपकी ये बातें वाहियात लगती है। जवानी को यो कुचल देने और काया को कुम्हला देने का क्या अर्थ है ? समय पर ही सब काम अच्छे होते हैं। भोगो की उम्र मे आपका कष्टकर योग स्वीकार करना अकाल मे आम पकाने की मुराद-सा लगता है। अत यह सब छोड-छाडकर आप कुछ दिन जिन्दगी की मौज लूट लें। हमारी

इच्छा है कि आप अपना योग छोडकर सदा के लिए हमारे साथ रहे। हम आपको वचन देते हैं कि बहिश्त की परी-सी सुन्दर स्त्री और मनचाही दौलत हम आपको देंगे। आपको किसी तरह की तकलीफ नही होने देंगे। जिंदगी की मौज लूटने मे अभी कोई देर नही हुई है।"

युवक मुनि विचारने लगे—बादशाह को आज न मालूम आज क्या सूझी है। ऐसी बहकी-बहकी बातें कर रहे हैं। मुनि ने मुस्कराते हुए कहा—"इस चारित्र-साधना मे तकलीफ की तो कोई बात ही नही है। इस साधना मे हमे तकलीफ महसूस होती तो इस योग को छोडकर ससार के सुख-भोग मे पडने से हमे कौन रोकता था ? किसी ने जबरदस्ती हमे इस योग को लेने के लिए बाध्य नही किया। फिर क्या कष्ट है हमे ? हमे तो इसमे आनन्द ही आनन्द है। फिर इस योग का त्याग करके दोनो ओर से भ्रष्ट होने की क्या जरूरत ?"

मित्रो ! बादशाह को जो कठिन लगता था, वह इस युवक मुनि को सरल और सहज लगता था। क्योकि ज्ञान और सुध्यान के सयोग से चारित्र उनके रोम-रोम मे रम गया था। परन्तु पकडी हुई बात को छोडने की आदत जहाँगीर मे थी नही, इसलिए आदेश की भाषा मे रौब से उसने कहा—"आपकी बात हमारी समझ मे नही आती। आपको हमारी बात माननी ही पडेगी।"

सिद्धिचन्द्र मुनि अपनी बात पर दृढ थे। चारित्र के बद्धमूल सस्कारो को छोडना उनके लिए कतई सम्भव न था। अत उन्होने उतना ही कहा—"आपकी बात मानी जा सकने योग्य नही है। अगर आपको इस समय कोई योगी बनने को कहे तो क्या आप बन सकेंगे ? वही बात मेरे लिए है कि मैं भोगी नही बन सकता।"

बादशाह के अह को गहरी चोट पहुँची। सोचा—मेरी बात का ऐसा करारा जबाव ? फिर भी वह गम खाकर रह गया। कहा—"अच्छा-अच्छा ! आप हमारी बात पर ठण्डे दिल से विचार करना। इसका फैसला हम कल करेंगे।"

मुनि विदा हुए, मानो उनका मन कह रहा था—कल की बात कल ! न जाने कल तक कितने परिवर्तन हो जाएँगे। योगी अपनी दृष्टि से सोच रहे थे, भोगी सम्राट् अपनी दृष्टि से। दोनो ही अपने मन की बात कल सच्ची सिद्ध करने के लिए अपने को तैयार कर रहे थे। दूसरे दिन जब मुनि मिले, तब बादशाह ने पूछा—"कहिए योगिराज ! कल वाली मेरी बात पर आपने क्या सोचा ?" बादशाह के सत्ता के नशे को चूर करते हुए मुनि ने कहा—"मेरा तो एक ही जबाव है, वही जो मैंने कल दिया था। अच्छा होगा, आप अपनी बात वापिस ले लें।"

बादशाह उत्तेजित होकर बोला—"आप एक बादशाह की बात मानने से इन्कार करते हैं।"

मुनि ने शान्ति से कहा—"इसमे आपकी बात से इन्कार का सवाल नही, सवाल तो अपने मन की बात के स्वीकार का है।"

बादशाह ने असहिष्णु होकर कहा—"आप अपनी बात रहने दें। आपको हमारी बात माननी ही पड़ेगी। हम राजा है। राजा प्रजा के हित की बात कहता है, वह प्रजा के हर-एक व्यक्ति को माननी ही पड़ती है।"

नूरजहाँ ने देखा कि बात हठ पर चढ गई है। अत. उसने मुनि को नम्रता से समझाते हुए कहा—"योगिराज ! इस समय आप बादशाह सलामत की बात मान ले। भोग की उम्र मे योग मे जिंदगी को वर्बाद न करें। समय पक जाने दें। फिर आपको योग के मार्ग पर जाने से कोई नही रोक सकेगा।"

मुनि बोले—"इस जिंदगी का क्या भरोसा ? क्या आप खुद नही जानती कि बल्ख के राजा ने जवानी मे ही सयम मार्ग अगीकार किया, फकीरी धारण कर ली थी। उम्र छोटी हो या बड़ी, इसका कोई महत्त्व नही। महत्त्व की बात है—मन की तैयारी। और ऐसी तैयारी तो छोटी उम्र मे ही अच्छी हो सकती है। इसी उम्र मे तैयारी करने से भोग-विलास मे समय व शक्ति वर्बाद होने से रुक सकती है। आप अपनी बात छोड दे, मुझे अपने चारित्रपालन के मार्ग पर जाने दें। आपसे तो मुझे अपनी योग-साधना मे मदद मिलनी चाहिए थी, जिसके बजाय आप मुझे रोक रहे हैं।"

बादशाह और बेगम दोनो समझ गये कि यह अपने विचारो मे पक्के है। फिर भी बादशाह अपना हठ छोडने को तैयार न था। उसने गुस्से मे आकर कहा—"हमारे हुक्म का अनादर करने का नतीजा तो आप जानते है न ?" युवक-मुनि ने दृढता से उत्तर दिया—"मैं तो इतना ही जानता हूँ कि अपनी आत्मा की आज्ञा का उल्लघन करने मे जो नुकसान है, उसकी अपेक्षा आपके हुक्म को न मानने मे कम नुकसान है।"

मुनि खडे हैं। इन्हें न मृत्यु का भय है, न जीने का मोह है। योग आज सफल होता दिखता है इन्हें। वे अपने इष्टदेव के रटन मे तल्लीन हैं। अन्तर् से नाद गूंज रहा है—

"चत्तारि सरण पवज्जामि...... ।"

पहाड-सा हाथी चिंघाड रहा था। राजाज्ञा होने की देर थी, पलभर मे योगी की मनोहर काया को चूर-चूर कर देता। योगी को चट्टान की तरह अडिग देख बादशाह ने सोचा—मेरी धमकी का अस्त्र व्यर्थ गया। मन मे इन्सानियत जागी, जिसने मित्रसम योगी की हत्या से उसे उबार लिया। सम्राट् ने उच्च स्वर से कहा—"हाथी को वापस ले जाओ। और सुन लो, योगिराज ! हमारे राज्य से आपको देश-निकाला दिया जाता है, साथ ही आपके गुरु के सिवाय आपके धर्म के सभी साधु-मुमुक्षुओ को भी देशनिकाला दिया जाता है।"

मुनि सिद्धिचन्द्र जो चारित्र-साधना की परीक्षा मे उत्तीर्ण होने का सन्तोष अनुभव कर रहे थे, बोले—"मजूर है।" और उन्होने बादशाह जहाँगीर का राज्य छोडकर मालपुर चौमासा किया। गृहत्यागी के लिए तो सारा ससार ही घर है। फिर चिन्ता किस बात की, सिर्फ एक ही खटक थी, जीवननिर्माता गुरु के वियोग की। गुरु भानुचन्द्रजी भी उत्तम साधक थे, निर्दोष शिष्य को स्वजनसम सम्राट् द्वारा दण्ड दिये जाने से वियोग का असह्य दु ख तो उन्हे भी था, पर वे सयम के ढक्कन से उसे ढके हुए थे। जहाँगीर को नियमित धर्मोपदेश सुनाते रहे। बादशाह को अपनी गलती पर पश्चात्ताप हुआ। एक दिन उन्होने स्वत स्फुरणा से मुनि सिद्धिचन्द्रजी को स-सम्मान अपने राज्य मे पत्र देकर बुला लाने के लिए सेवक भेजे। गुरु-शिष्य पुन मिले। राजा और योगी भी पुन एक दूसरे के धर्म-मित्र बन गये।)

बन्धुओ ! सिद्धिचन्द्र मुनि का चारित्ररूपी पौधा अगर ज्ञानरूपी जल से न सीचा जाता और ध्यानरूपी खाद से सर्वधित एव पुष्ट न किया जाता तो वह उनके सस्कारो में बद्धमूल एव सुदृढ न होता, और वे बादशाह के द्वारा ली गई चारित्र की अग्निपरीक्षा मे कभी न टिक सकते थे, वे शीघ्र ही चारित्र से भ्रष्ट हो जाते, वर्षों से पालित-पोषित चारित्र को छोडकर भोगमार्ग को अपना लेते।

यह उनके ज्ञान और सुध्यान का ही प्रभाव था कि आग मे डाले जाने पर भी उनका चारित्र भस्म न हुआ, बल्कि कुन्दन की तरह चमक उठा।+

मोक्षफल पाने के लिए चारित्र के साथ ज्ञान और सुध्यान का सहयोग आवश्यक

मोक्षफल प्राप्त करने के लिए चारित्र के साथ ज्ञान और सुध्यान दोनो आवश्यक है। शास्त्र मे अन्धे और पंगु का एक उदाहरण आता है—राजा ने बगीचे की रखवाली के एक अन्धे और एक पगु को रख दिया था। और उन्हे कह दिया था,

जब तुम्हारी इच्छा हो, तब पके फल तोड़कर खा लेना। राजा ने सोचा कि अन्धा देख नही सकेगा और पगु पेड पर चढ नही सकेगा, इसलिए दोनो ही फल न खा सकेंगे। जब बगीचे मे फल पकने लगे, तो उनकी इच्छा हुई—फल खाने की। पर खायें कैसे? पंगु फल को देखता तो था, पर तोडे कैसे? अन्धा फल तक पहुँच तो सकता था, पर फल कहाँ है, यह पता कैसे लगे? दोनो ही पशोपेश मे थे, तभी एक प्रखरबुद्धि-वाला चिन्तनशील व्यक्ति आया। उन दोनो ने उसके सामने अपनी समस्या रखी। उसने लगडे से कहा—"तू चढ जा अन्धे के कंधो पर और अन्धा तेरे कहे अनुसार पके फल तक चल लेगा, बस तभी तू फल तोड लेना।"

इस चिन्तनशील व्यक्ति के द्वारा बताई गई युक्ति से दोनो ने काम लिया। मधुर फल तोड़े और खाये।

यह एक रूपक है। ज्ञानविहीन चारित्र अन्धा है, वह चल तो सकता है, पर मोक्ष-फल कैसे और कहाँ मिलेंगे, यह पता नही। चारित्र-विहीन ज्ञान पगु है, वह मोक्षफल को जान देख सकता है, पर तोड कर प्राप्त नही कर सकता। ध्यान विहीन ज्ञान और चारित्र दोनो मोक्षफल पाने की युक्ति का चिन्तन नही कर पाते, न उत्साहित होते। अत ध्यान जब ज्ञान और चारित्र को उपाय सुझाता है, उत्साहित और प्रेरित करता है, तभी ये दोनो कृतकार्य हो पाते हैं और मोक्षफल को पाने मे सक्षम हो सकते हैं।

त्रिविध तापनाश के लिए तीनों आवश्यक

आप सब त्रिविधताप (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक) से छुटकारा पाकर सुख-शान्ति एव समाधि चाहते हैं। समाधि के लिए केवल चारित्र (क्रिया) से काम नही चलता, उसके साथ ज्ञान और सुध्यान दोनो का होना अनिवार्य है।

निष्कर्ष यह है कि सम्यक्चारित्र के साथ सम्यग्ज्ञान और सुध्यानरूपी त्रिवेणी मे स्नान कर लेने पर मनुष्य को शान्ति, पुष्टि और सन्तुष्टि हो सकती है।

भवरोग निवारणार्थ चारित्र के साथ ज्ञान एवं सुध्यान आवश्यक

मनुष्य बीमार होता है, तब वह अपनी मर्जी से कोई भी दवा ले ले तो उसका क्या परिणाम आता है? वह रोगी खतरे मे पड जायेगा, कभी-कभी तो एक रोग की दवा दूसरे रोग के निवारणार्थ ले लेने से रोगी मृत्यु के मुख मे पहुँच जाता है। इस लिए रोग का निवारण करने से पहले रोगी अगर स्वयं नही जानता तो चिकित्सक से पहले शरीर की जाँच करवाकर रोग का निदान कराया जाता है, तत्पश्चात् रोगी को दवा देने के साथ पथ्य, परहेज आदि सावधानी रखने तथा इस दवा से रोग बढता है या घटता है, इसका ध्यान रखने की हिदायत तथा दवा नियमित लेने से रोग शीघ्र ही मिट जायेगा, इस प्रकार की उत्साहप्रद प्रेरणा दी जाती है। तभी उसका दवा

लेना और इलाज कराना सार्थक होता है और इतनी बातो का ध्यान देने से उसका रोग भी मिट जाता है। यही हाल भवभ्रमणरूप रोग का है।

ससार परिभ्रमण का रोगी बिना समझे-बूझे प्रत्येक क्रिया को चारित्र समझ कर करता जाये तो रोग का अन्त नही आयेगा। इसलिए वह स्वय या गुरु आदि के उपदेश से स्वय निदान करता है कि मेरे भवभ्रमण का रोग किन-किन कारणो से है ? यह रोग क्यो है ? कैसे उपायो के करने से मिटेगा ? कौन-सी क्रियाएँ या व्रत, नियम, तप आदि इस रोग को मिटाने मे आवश्यक है। इस प्रकार का ज्ञान हो जाने पर वह भवरोग निवारण की दवा लेने के साथ इस बात की सावधानी रखता है कि मुझे किन अतिचारो, दोषो, प्रमाद आदि से राग-द्वेष, कषाय, पापस्थान, विषय-वासना, आसक्ति आदि से बचना आवश्यक है। किनसे सावधान रहना चाहिए, तथा किस पथ्य का पालन करना चाहिए ? इस प्रकार भव रोग एव चिकित्सा के विषय के ज्ञान, पथ्य, हित आदि के ध्यान के साथ जब भवरोगी चारित्र का उत्साहपूर्वक पालन करता है, या धर्मक्रिया करता है तो वह भवभ्रमण रोग को अवश्य ही मिटायेगा।

आत्मा को प्रकाशमान करने के लिए

जैसे दीपक को प्रकाशित करने के लिए सिर्फ अग्नि से उसे प्रज्वलित करने से काम नही चलता, उसके साथ दीपक मे तेल और बत्ती भी आवश्यक होती है वैसे ही आत्मा को शुद्ध रूप मे प्रकाशित करने के लिए सिर्फ चारित्र-दीप जलाने से काम नही चलता, उसके साथ ज्ञानरूपी तेल और ध्यानरूपी बत्ती की जरूरत है। तभी उस चारित्र से आत्मा सोलह कलाओ से प्रकाशित हो उठेगी। इसीलिए महर्षि गौतम ने कहा—

'नाणं सुझाणं चरणस्स सोहा।'

ज्ञान और सुध्यान चारित्र के साथ क्या-क्या काम करते हैं ? इनका क्या महत्त्व है ? इनके क्या-क्या लक्षण हैं ? आदि सब बातो पर मैं अगले प्रवचन मे प्रकाश डालूंगा।



५२
चारित्र की शोभा : ज्ञान और सुध्यान—२

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

कल मैंने आपके समक्ष इकतालीसवें जीवनसूत्र पर प्रकाश डाला था और वताया था—चारित्र क्या है, उसका महत्त्व क्या है, ज्ञान और सुध्यान से उसकी शोभा क्यो है ? यह युगल न हो तो चारित्र क्यो अशोभनीय वन जाता है ? आदि। आज भी मैं इसी जीवनसूत्र के अवशिष्ट पहलुओ पर विश्लेषण करूंगा, ताकि चारित्रमय जीवन को आप सागोपाग समझ सकें। वैसे तो यह विषय काफी गहन है, इसके विषय मे पूर्णरूप से विवेचन करने के लिए कई दिन चाहिए, परन्तु समय की सीमा मे रहकर ही मैं इस जीवनसूत्र के सभी पहलुओ की झांकी आपको करा देना चाहता हूँ।

चारित्ररूपी नौका के नाविक में ज्ञान और सुध्यान न हो तो .

पिछले प्रवचन मे मैं यह स्पष्ट कर चुका हूँ कि चारित्र की शोभा के लिए उसके साथ ज्ञान और सुध्यान दोनो क्यो आवश्यक हैं ? ज्ञान और सुध्यान के अभाव मे अकेला चारित्र सुन्दर गति नही कर सकता, मोक्षमार्ग की ओर द्रुतगति से नही चल सकता। भवसागर को पार करने के लिए चारित्ररूपी नौका के साथ नौका चलाने का ज्ञान एव उत्साही एव बाहोश नाविक भी चाहिए। इसके बिना अकेली चारित्र नौका तैराने के बजाय भवसागर मे डुबाने वाली बन जाती है। एक व्यावहारिक दृष्टान्त द्वारा इसे समझने का प्रयत्न करें—

एक भोले-भाले मनुष्य ने कई वार गुरुजनो के मुख से सुन रखा था कि नौका तैराती है, समुद्र पार करा देती है। उसे आज जलमार्ग से उस पार एक महानगर मे व्यापारार्थ जाना था। अत वह समुद्रतट पर आया। वहाँ एक विशाल नौका पडी थी। अत नौका पडी देखकर वह उसमे बैठने लगा। आसपास खडे समझदार लोगो ने कहा—"क्या आप नौका चलाना जानते हैं ? आपमे नौका चलाते समय आने वाले खतरो से सावधान रहने और उनको निवारण करने की शक्ति, एव पुरुषार्थ का उत्साह है या नही ?"

उसने कहा—"मुझे क्या आवश्यकता है, दूसरी चीजो की ? नौका पडी है, जीवन भर तो सुनते आये हैं, नौका से समुद्र पार किया जा सकता है, नौका तैराने वाली है।" उसने किसी की न मानी और अकेले ही उसमे बैठकर नौका को खोल

दिया। नौका चली। समुद्र मे तूफान आया, पानी का बहाव तेज हो गया। नौका डगमगाने लगी। पर वह तो बिल्कुल अनभिज्ञ और असावधान नाविक था। कुछ दूर जाकर नौका उलट गई और अकुशल यात्री जल मे डूब गया।

क्या आप बता सकते हैं, जो नौका तैराने वाली थी, वह डुबाने वाली कैसे बन गई ? दो कारण मुख्य थे—एक तो नाविक को नौका चलाने का ज्ञान बिलकुल न था, दूसरा, खतरो से सावधान रहने एव उनका निवारण करने की शक्ति, एव उत्साह तथा चिन्तनयुक्त पुरुषार्थ करने की तमन्ना न थी।

यही बात भवसागर को पार करने वाली चारित्ररूपी नौका के सम्बन्ध मे समझ लीजिए। आपने सुन रखा है, चारित्ररूपी नौका भवसागर से पार उतार देती है। वह तैराने वाली है। परन्तु यदि आप कुशल नाविक नही हैं, आप मे नौका चलाने का ज्ञान नही है, और न ही खतरो से सावधान रहकर उनका निवारण करने की क्षमता है, न ही उत्साहपूर्वक चिन्तनयुक्त पुरुषार्थ करने की तमन्ना है तो वह चारित्र-नौका चलेगी अवश्य, किन्तु भवसागर मे डुबाने वाली होगी। ज्ञान और सुध्यान के अभाव मे उस नौका से आप ससार सागर से पार नही उतर सकते। यदि चारित्ररूपी नौका को ससार-समुद्र मे डूबने से बचाना है तो उसके साथ सम्यग्-ज्ञान और सुध्यान का होना आवश्यक है।

ससार मे जितने भी महापुरुष हुए हैं, उन्होंने सदाचरण से पूर्व ज्ञान और सुध्यान को प्राप्त किया था। सदाचरण के साथ ज्ञान और सुध्यान न होता तो वे कदापि अपने मिशन मे सफल न होते। केवल कुछ धार्मिक क्रियाओ के या रूढिगत आचरणो के होने से ही वे अपनी आत्मिक उत्क्रान्ति नही कर पाये, अपितु ज्ञान और सुध्यानपूर्वक विशुद्ध धर्माचरण से ही उनकी आत्मिक प्रगति हुई।

इस्लाम धर्म के सस्थापक हजरत मुहम्मद साहब को इस्लाम धर्म के अनुसार विशुद्ध धर्माचरण करने से पहले दो तरह से ज्ञान मिला था—(१) इल्मेसफीना और (२) इल्मेसीना। अर्थात्—एक तो 'किताबी ज्ञान' और दूसरा 'हार्दिक ज्ञान'। पहला ज्ञान उन्होने कुरानेशरीफ के रूप मे पाया, जबकि दूसरा ज्ञान—ध्यान के रूप मे। ज्ञान को सक्रिय आचरण मे लाने के लिए आत्मिक शक्ति तथा गुणो के चिन्तन-मननरूप मे हार्दिक ज्ञान प्राप्त हुआ। इस प्रकार ज्ञान के साथ सुध्यान (हार्दिक ज्ञान) होने से उनका शुद्ध धर्माचरण जीवन में सक्रिय हुआ, दूसरो को भी उनके धर्माचरण से लाभ हुआ।

मतलब यह है कि साधारण बुद्धि के ज्ञान से आगे की ओर जाने के लिए परमार्थ ज्ञान की आवश्यकता होती है, जो किताबो से या ग्रन्थो से नही मिलता, उसके लिए सुध्यान की आवश्यकता होती है। उसी से श्रेष्ठ तत्त्व की उपलब्धि होगी, हृदय स्वत आलोकित हो उठेगा, आत्मा अपने 'स्व' के प्रकाश से प्रकाशित हो उठेगी, तब जो चारित्ररूप मे धर्माचरण होगा, वह भौतिक जगत् से ऊपर उठकर सहज

भाव से स्वत. प्रेरित होगा। इसलिए सच्चारित्र मे प्रगति के लिए सद्ज्ञान एव परमार्थ ज्ञानरूप सुध्यान का होना आवश्यक है।

ज्ञान के साथ सुध्यान न हो तो ...

कोई कह सकता है—माना कि चारित्र के साथ ज्ञान का होना आवश्यक है, परन्तु सुध्यान की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर मैं आपको एक व्यावहारिक दृष्टान्त देकर समझाता हूँ—

काशी मे बारह वर्ष तक एक गुरुकुल मे पढकर एक विद्वान शास्त्रज्ञ एवं सदाचारी पण्डित अपने गाँव की ओर रवाना हुआ। एक घोड़े पर अपनी पढी हुई सारी पुस्तके लादकर वह चल पडा। काफी लम्बा रास्ता पार करना था। अपने गाँव से थोडी ही दूरी पर एक छोटे से गाँव मे कुँए के पास धर्मशाला मे विश्राम के लिए ठहरा। इस तिलकधारी नव पठित पण्डित को देख ग्रामीण लोग बडी सख्या मे इकट्ठे हो गये। पूछा—"कहाँ से आये हो ? क्या पढे हो ? शास्त्रार्थ भी कर सकते हो या नही ?"

आगन्तुक पण्डित ने कहा—"मैं काशी मे १२ वर्ष पढकर आया हूँ। शास्त्रज्ञ हूँ, शास्त्रार्थ भी कर सकता हूँ।"

ग्रामीण लोग अपने गाँव वाले पण्डित को बुला लाये। जड प्रकृति का ग्राम्य पण्डित जब सामने आया तो नवागन्तुक पण्डित ने उसे कुछ पूछने के लिए कहा। ग्राम्य पण्डित ने मध्यस्थ निर्णायक के लिए कहा तो ग्रामीण लोगो ने हाँ भर ली। शर्त यह हुई कि जो जीतेगा, वह हारने वाले की सब अच्छी चीजें ले लेगा।

सर्वप्रथम ग्रामीण पण्डित ने मूँछो पर ताव देकर प्रश्न किया—"तुम्बक तुम्बक तुम्बा है जी, तुम्बक तुम्बक तुम्बा है, कहिए इसका क्या तात्पर्य है ?"

बेचारा नवपठित पण्डित पढा तो बहुत था, लेकिन गुना नही था, चिन्तन-मनन करके व्यावहारिक अभ्यास नही किया था। तात्पर्य यह है कि ज्ञान तो था, पर ध्यान नही था इसलिए ग्रामीण पण्डित के प्रश्न को न समझ सका। चुप हो गया। जब काफी देर तक चुप रहा, तो ग्रामीण लोगो ने उसकी हार और अपने गाँव के पण्डित की जीत का फैसला कर दिया। पुस्तको सहित उसका घोडा छीन लिया और अपमानित करके गाँव से निकाल दिया। जब वह अपने गाँव पहुँचा तो ग्रामवासी तथा पारिवारिक जन उसे ससम्मान अपने घर लाये, पर वह बिलकुल हताश एव उदास था। पिता के पूछने पर उसने सारी आप-बीती कह सुनाई।

उसके पिता ने कहा—"तू ज्ञान तो प्राप्त कर आया, सदाचारी भी बना, परन्तु ध्यान नही सीखा। देख, मैं जाता हूँ तेरी सब पुस्तकें और घोडा वगैरह वापस ले आऊँगा।"

नवपठित पण्डित का पिता बैल की पीठ पर कडे आदि भरकर तिलक छापे लगाकर मोटी पगडी और सफेद धोती पहने उसी गाँव मे पहुँचा। शास्त्रार्थ मध्यस्थ

एव शर्त तय हो जाने पर उस गाँव के पण्डित ने वही प्रश्न प्रस्तुत किया—तुम्बक तुम्वक तुम्वा है जी।

आगन्तुक पण्डित ने उसके मुँह पर दो चाँटे जमाकर कहा—"मूर्ख कितने पाठ खा गया ? आया है पण्डित बनकर शास्त्रार्थ करने !" ग्रामीण जनो ने आगन्तुक को जोरदार पण्डित समझकर पूछा—"महाराज ! कौन-से पाठ भूल गये हमारे पण्डितजी ?"

आगन्तुक पण्डित ने कहा—"सुनिये, पहले 'तुम्वक तुम्बक तुम्वा' कहाँ से होगा ? पहले 'खेतस-खेतस खेता है जी, खेतस-खेतस खेता है', होगा। फिर 'मेहस-मेहस मेहा है जी, मेहस-मेहस मेहा है', होगा। तव 'वाहत-वाहत वाहा है जी, वाहत-वाहत वाहा है', होगा। इसके वाद 'उगत-उगत उगा है जी उगत-उगत उगा है' होगा। फिर होगा—'नालस-नालस नाला है जी, नालस-नालस नाला है'। इसके वाद होगा—'तुम्वक-तुम्बक तुम्वा है जी, तुम्बक-तुम्वक तुम्वा है।" यो कहते हुए ग्रामीण पण्डित के मुँह पर दो चाँटे जड दिये। सभी ग्रामीणो ने नवागन्तुक पण्डित की जय बुला दी। कहने लगे—"अरे! खेत, मेह, बुवाई आदि के विना तुम्वा कहाँ से हो जाएगा ? सचमुच हमारा पण्डित ये पाठ खा गया।"

ग्रामीण पण्डित के यहाँ से घोडी, सारी पुस्तकें और कीमती सामान लेकर नवागन्तुक पण्डित झटपट वहाँ से चल दिया। गाँव पहुँचकर सारी शास्त्रार्थ-लीला अपने विद्वान एव सदाचारी पुत्र को सुनाई। वह मुस्कराकर कहने लगा—"वास्तव मे मेरे ज्ञान के साथ ध्यान नही था, इसलिए मैंने शास्त्रार्थ मे मुँह की खाई।"

तात्पर्य यह है कि साधक के जीवन मे चारित्र के साथ ज्ञान तो हो, पर सुध्यान न हो तो उसके चारित्र मे स्फूर्ति और जान नही आती, उसका चारित्र तेजस्वी, प्रभावशाली एव आकर्षक नही वनता, उसके चारित्र मे ज्ञान के साथ सुध्यान के न होने से सावधानी, जागृति और अप्रमत्तता नही रहती, फलत चारित्र मे कई दोष एव अशुद्धियाँ प्रविष्ट हो जाती हैं।

ज्ञान के साथ सुध्यान के होने पर ही साधक मे आत्मजागृति आ सकती है। चारित्र के किस अग का कब और कैसे पालन करना है ? चारित्र के उस अग का पालन करने मे कौन-कौन से खतरे उपस्थित हो सकते हैं ? चारित्र के किस अग का पालन करने मे अभी मुझे जोर लगाना चाहिए ? क्या अमुक प्रथा, क्रिया, परम्परा वास्तव मे चारित्र-पालन के लिए सहायक है, चारित्र की सुरक्षक है, चारित्र को उज्ज्वल वनाने वाली है या सुशोभित करने वाली है, या केवल रूढ़िगत है, विकास घातक है या हानिकारक है ? इत्यादि विशिष्ट वातो का ज्ञान पोथियो या शास्त्रो से नही हो सकता, यह तो सम्यक् ध्यान से ही हो सकता है। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्ष-पाहुड (गा० २३-१००) मे कहा है कि—

'ध्यानाभ्यास के बिना बहुत-से शास्त्रों का पठन (तज्जनित ज्ञान) और नानाविध आचारो का पालन व्यर्थ है।"

ज्ञान से तो सिर्फ पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का बोध हो जाता है। सासारिक कार्यों के प्रति सुपुप्ति या विरक्ति का अभ्याम सुध्यान से ही हो सकता है, और तब जो धर्माचरण (चारित्र) होगा, वह रूढिगत, प्रदर्शन या कोरा व्यावहारिक नही होगा, वह होगा—ठोस, सहज एव आत्म-स्फुरणागत। इसलिए ज्ञान के साथ सुध्यान आत्मजागृति का अग है।

एक ऐतिहासिक उदाहरण द्वारा मैं अपनी बात स्पष्ट कर दूं—

सुप्रसिद्ध योगी आनन्दघनजी के पास रसकुप्पी की शीशी लिये हुए एक सन्यासी आया और बोला—"इस रस की एक बूंद हजारो-लाखो मन लोहे को सोना बना सकती है। मैं इसे आपको भेंट देने के लिये लाया हूँ। लीजिये इसे।"

आनन्दघनजी ने पूछा—"पहले यह तो बताइये कि इसमे आत्मा है? आत्मा के विकास के लिए यह कितनी उपयोगी है? क्या इसके रस से आत्मा मे निहित निज गुण, जिन पर आवरण आये हुए हैं, प्रगट हो जाएँगे?"

सन्यासी ने कहा—"अजी! आत्मा-वात्मा की क्या बात करते हैं आप। इस रसकुप्पिका मे वह सिद्धरस है, जिससे सभी मनोकामनाएँ सिद्ध कर सकेंगे आप।"

आनन्दघनजी निःस्पृह अपरिग्रही साधु थे, उनके लिए मिट्टी और सोना बराबर थे। उनका "**समलोष्ठाश्म काचन.**" का ज्ञान आज सुध्यान के चक्र पर चढा। वे चिन्तन मे डूब गये, क्या मतलब है अकिंचन चारित्रवान साधु को इस रस, से सोना बनाने से और जिस परिग्रह को छोड दिया है, उस परिग्रह मे फंसने से? उन्होने नि स्पृह सत के लहजे मे ही कहा—"जिसमे आत्मा नही, आत्मविकास के लिए जो उपयोगी नही, जिसमे आत्मा पर आवृत कर्मजाल को हटाकर आत्मा के निज गुण प्रकट करने की शक्ति नही, बल्कि जिसके सम्पर्क से आत्मा परिग्रहासक्त बनकर कर्मजाल को और गाढ बना सकती है, वह चीज मेरे काम की नही।"

सन्यासी ने कहा—"मेरे गुरु बहुत बडे पहुँचे हुए सिद्धपुरुष हैं। उनके जैसा और कोई योगी वर्तमान मे नही है। मैंने उनकी सेवा करके आपके प्रति धर्मस्नेहवश आपके लिए ही यह दुर्लभ वस्तु प्राप्त की है। आप इसे लौटाइए मत। आप अपने काम मे न लेना, किसी दुःखी भक्त का उद्धार इससे कर देना।"

नि स्पृह आनन्दघनजी ने सोचा—इसे आत्मशक्ति का अभी ज्ञान नही है, और ज्ञान है भी तो सिर्फ तोतारटन है, उसका अभ्यासपूर्वक ध्यान नही है। इसलिए उत्कृष्ट धर्माचरण के लिए सन्यासी का वेष लेने पर भी इसके चारित्र मे दृढता, उज्ज्वलता एव स्थिरता नही है। इसी कारण यह इस भौतिक शक्ति को बहुत महत्वपूर्ण मान रहा है। इसे जरा आत्मशक्ति का चमत्कार बताना चाहिए। यह सोचकर उन्होने रसकुप्पी अपने हाथ मे ली और पास ही पड़े एक पत्थर पर पटक दी। कुप्पी

फूट गई। सारा रस बह गया। यह देखकर उस सन्यासी की आँखें क्रोध से लाल हो गयी। वह कहने लगा—"अलभ्य स्वर्ण-निर्माणकारक रस का यह दुरुपयोग !"

योगी आनन्दघनजी ने मुस्कराते हुए शान्ति से कहा—"मित्र सन्यासी प्रवर ! यह जड रस ढुल गया, इसके लिए तुम अपना क्रोध प्रकट कर रहे हो, लेकिन अपना आत्मरस कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे ढुल रहा है ? इसका भी कोई विचार है, आपको ? आत्मरस के आगे इस जडरस की कीमत कानी कौडी की भी नही है।"

सन्यासी ने कहा—"क्या आपके पास स्वर्ण-सर्जक सिद्धरस प्राप्त करने की शक्ति है ?"

योगी आनन्दघनजी—"आत्मा मे अनन्त शक्ति है, सन्यासीवर ! आपको सिद्धरस चाहिए क्या ?"

सन्यासी के कहने से पहले ही योगी आनन्दघनजी ने पास ही पडी हुई एक पत्थर की चट्टान पर पेशाव किया। देखते-देखते ही वह सारी चट्टान सोने की बन गई। अव तो सन्यासी का क्रोध हवा हो गया। वह देख चुका आत्मशक्ति का प्रत्यक्ष चमत्कार ! इतनी महान् शक्ति ! और इतनी सरलता, विनम्रता और शक्ति का न अभिमान, न प्रदर्शन ! सन्यासी प्रभावित होकर आनन्दघनजी के चरणो मे गिर पडा। कहने लगा—"धन्य है, आपकी आत्मजागृति को ! आपने अपने सद्भाव को सुध्यान के साँचे मे ढाल कर पचाया है। इसी से आपका चारित्रवल उज्ज्वल है।"

यह है—ज्ञान के साथ सुध्यान होने पर चारित्र की उज्ज्वलता मे वृद्धि का ज्वलन्त उदाहरण ! अगर योगीश्वर आनन्दघनजी के आत्मज्ञान के साथ सुध्यान न होता तो आत्मजागृति न रहती, और वे रसकुप्पी लेकर स्वर्णसिद्धि के मायाजाल मे फँस जाते, उनका चारित्र भी दूषित होता और उसका ज्ञान भी केवल तोतारटन ही रहता।

सुध्यान-बल हो, तभी ज्ञान और चारित्र दोनों सक्रिय

प्राचीन काल के साधु और गृहस्थ दोनो रात्रि के नीरव एव प्रशान्त वातावरण मे धर्मजागरण के माध्यम से धर्मध्यान एव कभी कभी शुक्लध्यान किया करते थे। उसमे निरन्तर शुभ अथवा शुद्ध आत्मचिन्तन के माध्यम से अपने सैद्धान्तिक ज्ञान को वे सक्रिय बनाने का प्रयत्न करते थे, अपनी अनावृत आत्मशक्तियो को ध्यानवल से जागृत और अनावृत करने और तदनुसार चारित्र मे पराक्रम करने के लिए आत्मा को प्रोत्साहित और प्रेरित किया करते थे, कई दृढ सकल्प, शुभ अध्यवसाय इन्ही क्षणो मे होते थे। अगर वे इस प्रकार का सुध्यान न करते तो उनका ज्ञान केवल मस्तिष्क के कोष मे बन्द रहता, उनका चारित्र केवल कुछ पारम्परिक क्रियाकाण्डो मे सीमित और प्रदर्शन की वस्तु रह जाता। उनकी आत्मा मे ध्यान के विना कोरे ज्ञान से स्वरूपरमणरूप चारित्र का आचरण करने की शक्ति नही आती और न ही उनकी आत्मा मे अनिर्वचनीय आनन्द और शान्ति की अनुभूति होती।

दुर्बल साधक का मन जरा-सी शारीरिक पीडा, मानसिक चिन्ता अथवा इष्ट-वियोग या अनिष्ट सयोग मे आकुल-व्याकुल हो जाता है, उस साधक मे भी यह सैद्धान्तिक ज्ञान तो होता ही है कि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। कष्ट और पीडा आत्मा मे नही होती, शरीर मे होती है। शरीर नश्वर है, भौतिक है, आत्मा अविनाशी है, ज्ञानादि गुणो का पुज या अनन्त शक्तिमान है। भौतिक शक्ति उसके आगे कुछ भी नही है। परन्तु यह ज्ञान तब तक कृतकार्य नही हो पाता, जब तक कि उसके साथ सुध्यान न हो। सुध्यान होने पर आत्मा और शरीर का भेदज्ञान कृतकार्य हो जाता है और चारित्र भी विशुद्ध एव कर्मक्षय का कारण बनता है।

एक प्रसिद्ध चारित्रात्मा सन्त के द्वारा अनुभूत सुध्यान के चमत्कार की घटना उनके शब्दो मे ही सुनिये—

बात नसीराबाद छावनी की है। वहाँ एक दिन शरीर ज्वरग्रस्त होने से निद्रा पलायन कर रही थी। सहसा सीने के एक सिरे मे गहरी पीडा उठी। मुनि लोग निद्राधीन थे। मैंने उस वेदना को भुला देने हेतु चिन्तन (धर्मध्यान) चालू किया—पीडा शरीर को हो रही है। मैं तो शरीर से अलग हूँ। शुद्ध, बुद्ध, नि.शोक और नीरोग। मेरे को रोग कहाँ? मै तो हड्डी-पसली से परे चेतन रूप आत्मा हूँ। मेरा रोग, शोक और पीडा से कोई सम्बन्ध नही। मैं आनन्दमय हूँ।

क्षणभर मे ही देखता हूँ कि मेरे तन की पीडा न मालूम कहाँ विलीन हो गई। मैंने अपने आपको पूर्ण प्रसन्न, स्वस्थ और पीडारहित पाया।

यह थी ध्यान की अद्भुत महिमा जिसके बल पर ज्ञान (भेद-विज्ञान) भी सक्रिय और कृतार्थ हुआ तथा चारित्र भी। पीडा मे आर्त्तध्यान होने के बदले धर्म-ध्यान हुआ।

सुध्यान के बिना आत्मदर्शन नहीं होते

ज्ञान से वस्तुस्वरूप का बोध अवश्य होता है, लेकिन अकेला ज्ञान चारित्र के साथ हो तो वह तत्त्वबोध प्रयोग के बिना आत्मदर्शन नही करा सकता और प्रयोग होता है—सुध्यान के द्वारा। 'णाणसार' मे कहा है—

पाहाणम्मि सुवण्णं कट्ठे अग्गी विणा पओगेहिं।
ण जहा दीसंति इमो, झाणेण विणा तहा अप्पा॥

"जैसे पाषाण मे सोना और काष्ठ मे अग्नि बिना प्रयोग नही दीखती, वैसे ही ध्यान के बिना आत्मा के दर्शन नही हो पाते।"

वास्तव मे, ज्ञान से तो आत्मा का स्वरूप मालूम होता है, लेकिन ध्यान से उसका वास्तविक दर्शन होता है, क्योकि ध्यान मे साधक आत्मा का प्रत्येक पहलू से चिन्तन-मनन, विश्लेषण करता है। इस प्रकार के एकाग्रचित्तपूर्वक विश्लेषण से साधक को आत्मा के स्वरूप के अलावा उसका शरीरादि के साथ सम्बन्ध,

कर्म क्यो और कैसे लगते हैं ? कर्मो का आत्मा से सयोग कैसे टूट सकता है ? कर्मवन्ध को तोडने के क्या-क्या उपाय हैं ? आत्मा नित्य है या अनित्य ? आत्मा मे कौन-कौन-सी शक्तियाँ हैं, उसके निज गुण कौन-कौन से हैं ? उन पर आये हुए आवरण कैसे दूर हो सकते हैं ? इत्यादि सब बातो का प्रत्यक्षवत् दर्शन सुध्यान मे हो जाता है। अगर सिर्फ ज्ञान पर ही आश्रित रहा जाए, सुध्यान न किया जाए तो आत्मदर्शन न होने के कारण साधक स्वरूप-आचरणरूप चारित्र मे अन्त तक टिक नही सकेगा, मन मे आर्त्त-रौद्रध्यान के विकल्प आएँगे, ज्ञान—सिर्फ सैद्धान्तिक ज्ञान उसे न रोक सकेगा। उन्हे रोके विना कर्मबन्ध न रुकेगा और कर्मवन्ध के रोके या क्षय किये विना मुक्ति नही हो सकती। इसलिए सुध्यान ही परम्परा से मुख्य कारण है—मुक्ति का। इसीलिए अमितगति श्रावकाचार मे स्पष्ट कहा है—

> तपासि रौद्राण्यनिश विधत्ताम्,
> शास्त्राण्यधीतामखिलानि नित्यम्।
> धत्ता चरित्राणि निरस्ततन्द्रो,
> न सिद्ध्यति ध्यानमृते तथापि॥

'निश-दिन घोर तपश्चरण भले करो, प्रतिदिन सम्पूर्ण शास्त्रो का चाहे अध्ययन करो, प्रमादरहित होकर भले ही चारित्र धारण करो, तथापि ध्यान (आत्मध्यान) के विना सिद्धि-मुक्ति नही हो सकती।'

तत्त्वसार मे भी स्पष्ट कहा है—"ध्यान के विना जो कार्मक्षय करना चाहता है, वह उस मनुष्य के सदृश है, जो पगु होने पर भी मेरुशिखर पर चढना चाहता है।"

जिज्ञासु राजकुमार नीरव्रत को महर्षि एलूप ने आशीर्वाद प्रदान किये—"वत्स ! आश्रम मे रहकर तप करो, एक दिन तुम्हें अवश्य ही ब्रह्मदर्शन (आत्मदर्शन) होगा।" फिर उसकी पीठ पर हाथ फेरा और सामान्य विद्यार्थियो की तरह ब्रह्म-दर्शनार्थी नीरव्रत राजकुमार को छात्रावास के एक सामान्य कक्ष मे रहने का प्रवन्ध कर दिया।

राजकुमार नीरव्रत जीवन मे पहली वार ऐसे कमरे मे ठहरा, जिसमे उसकी दास-दासियाँ भी नही रहती थी, सारा सामान उसने अपने हाथो से उठाया, एकदम सादा भोजन भी उसी दिन मिला था, जिसे ग्रहण करना पडा। आश्रम व्यवस्था के अपमान की बात न रही होती तो वह परोसे हुए भोजन की थाली दूर फैंक देता। सायकाल होने मे अभी विलम्व था, प्रथम दिन ही नीरव्रत के मस्तिष्क मे तूफान मच गया। इतना शुष्क जीवन कभी देखा नही था, इसलिए उससे अरुचि होना स्वाभाविक था।

शयन से पूर्व नीरव्रत ने एक अन्य स्नातक ने पूछा—"तात ! आप कहाँ से

आये है ? आपके पिता क्या करते है ? आश्रम मे निवास करते हुए आपको कितने दिन हो गये ? क्या आपने सिद्धि प्राप्त कर ली ? ब्रह्मसाक्षात्कार कर लिया ?"

प्रश्न करने की इस शैली पर स्नातक को हँसी आ गई। उसने कहा—"मित्र ! शेष प्रश्नो का उत्तर बाद मे मिलेगा। अभी आप इतना ही समझ लें कि मैं उपकौशल का राजकुमार हूँ। मेरा यह समापन वर्ष है, जबकि आप यहाँ प्रवेश ले रहे है।" यो कहकर तरुण स्नातक अपने तेजस्वी ललाट को ऊपर उठाकर ऋषि एलूप के निवास स्थान की ओर चला गया।

नीरव्रत किंकर्त्तव्यविमूढ ! राजकुमार से दीखते हुए सभी स्नातक इतने सरल, इतनी सादी वेशभूषा मे, मौन और अनुशासनबद्ध ! क्या इनकी सुखाकाक्षाएँ नष्ट हो गई है ? ये प्रश्न कुछ देर तक मन मे घुलते रहे, फिर तो निद्रा देवी की गोद मे विश्राम किया।

प्रात काल सूर्योदय से दो घडी पूर्व सब स्नातक जाग पडे। नीरव्रत की भी नीद टूटी। प्रार्थना हुई। शौच-स्नानादि से निवृत्त होकर वह सन्ध्या-वन्दनादि नित्य-कृत्य मे सलग्न हुआ।

आश्रम जीवन का आज पहला दिन था। ध्यान एकदम तो नही जमा, परन्तु चिन्तन से एक बात सामने आई—"जब देह नष्ट हो जाती है, तब भी क्या राजा-रक, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध का भेद रह जाता है ? नही। फिर मेरे राजकुमारत्व को क्या अमर रहना है ? नही-नही। जीवन के दृश्यभाग नश्वर हैं, क्षणिक हैं, असन्तोष-प्रद हैं। पूर्णता प्राप्त करने हेतु मनुष्य को ऐसी क्षुद्र और भेदभाव की मान्यताएँ दिल-दिमाग से हटा देनी चाहिए। शरीर मे जो अव्यक्त आत्मा है, उसे पाने के लिए अहभाव छोडना ही पडेगा।"

इस प्रकार के सुध्यान के रूप मे चिन्तन करते ही राजकुमार नीरव्रत का कल वाला बोझ हलका हो गया। वह स्फूर्तिमान एव प्रसन्न होकर उठा और कर्त्तव्याचरण मे प्रवृत्त हुआ।

किन्तु यह अहकार भी कितना बलवान है कि मनुष्य को बार-बार नये-नये रूप मे आकर नचाता है। उसके शिकजे से यदि कोई बचा सकता है तो निरन्तर ध्यान के रूप मे उन्नत चिन्तन, भावनाओ और प्रबल निष्ठाओ का प्रवाह ही। जब-जब अहकार उसका पीछा करता, वह उसी प्रकार का उन्नत चिन्तन करता। फिर भी वह अहकार नीरव्रत के मस्तिष्क मे चढ बैठता, वह सह-स्नातको से झगड बैठता, शिक्षको से दुराग्रह कर बैठता। उस समय उसे लगता कि उसके पक्ष मे ही न्याय है। परन्तु जब वह ध्यान के रूप मे चिन्तन की तराजू उठाता और विराट् आत्माओ की तुलना मे अपनी छोटी-सी इकाई को तोलना तो उसका अहंकार, झूठी मान-मर्यादा, मोह, दम्भ दुराग्रह, कुतर्क आदि सब कुछ तिरोहित हो जाता। नीरव्रत

अपने शुद्ध चेतन, अद्वैत—शुद्ध आत्मा का अनुभव और दर्शन करने लगता। सुध्यान के प्रशिक्षण का यह क्रम उसके अन्तर् को परिष्कृत और विकसित करता जा रहा था, उसका दृष्टिकोण और चारित्र भी उदार, विकसित और सक्रिय रूप मे परिवर्तित होता जाता था। फिर भी अभी वह साधक ही था, अपरिपक्व स्थिति का!

आश्रम के नियमानुसार भिक्षाटन करना प्रत्येक स्नातक के लिए अनिवार्य था। इससे नीरव्रत का वर्षों का प्रसुप्त अहभाव पुन जाग उठा। राजकुमार होकर वह कैसे भिक्षा माँगे। परन्तु फिर उसी अन्तर्ध्यान से उसके मन का समाधान हुआ—'भिक्षाटन से समत्व आए बिना उसे आत्मदर्शन नही होगे।' अत भिक्षापात्र उठाया। एक ग्राम मे प्रविष्ट हुआ भिक्षुक नीरव्रत। किसी के द्वार पर जाकर भिक्षा माँगते उसे लज्जा अनुभव हो रही थी। ग्राम-प्रमुख की कन्या विद्या ने उसके इस सकोच को जानकर एक मुट्ठी भर धान्य लिया और नीरव्रत के आगे भूमि पर गिरा दिया। नीरव्रत ने कहा—"भद्रे! इस तरह अन्न को फेंकना ही था तो लेकर यहाँ आई ही क्यो?"

विद्या ने हँसकर उत्तर दिया—"तात! मैं ही क्यो, सारा ससार ऐसा ही करता है? आपने भी जिस उद्देश्य से यह जीवन अगीकार किया, उस उद्देश्य को पूरा करने मे कितना सकोच या भारीपन लगता है? क्या यह धान्य को बाहर गिराने जैसा अपराध नही है।"

नीरव्रत की आँखें खुल गईं। उसमे दृढ निश्चय आ गया, जिसमे उसके सकोच, लज्जा और अहकार सब घुल गए। वह प्रसन्नतापूर्वक भिक्षा लेकर आश्रम मे पहुँचा। उसका बोझ अब हल्का हो चुका था, चारित्रमय जीवन अब उसके लिए जटिल, श्रमपूर्ण एव असतोषयुक्त नही रहा। नीरव्रत ज्यो ही सन्ध्या करने बैठा सुध्यान मे शून्य की तरह वह ऐसे खो गया, मानो उसका बाह्य जगत् से कोई सम्बन्ध भी न रहा हो। उसकी समग्र चेतना अहभाव की सकीर्ण परिधि से ऊपर उठकर अनन्तता की अनुभूति कर रही थी। वह अपने आपको निर्मल, स्वच्छ, शान्त और सन्तुष्ट अनुभव कर रहा था। अब ब्रह्मज्ञान के लिए किया हुआ उसका अध्ययन ध्यान के रूप मे परिपक्व होकर समत्व के रूप मे चरितार्थ हो जाता था।

आपने देखा—ध्यान के बिना नीरव्रत का शास्त्रीय ज्ञान आचरण मे न आ सका। उस ज्ञान पर अहकार, मद, मोह, मत्सर आदि का पर्दा पड जाता। किन्तु सुध्यान ही उस पर्दे को तोडता और विराट् शुद्ध आत्मा के दर्शन कराकर तदनुसार आचरण के लिए प्रेरित और उत्साहित करता।

सुध्यान : ज्ञान को आत्मा मे स्थिर रखने वाला

मनुष्य का मन बडा चचल और हठीला होता है। शास्त्रीय ज्ञान कर लेने पर भी मन उसमे नही लगता, फलत वह ज्ञान आत्मा से दूर हो जाता है, आचरण मे नहीं आता। मन प्रतिपल विषय-कषायो की ओर आकर्षित होता रहता है, परन्तु

जब मन को सुध्यान के द्वारा अन्तर्मुखी बना दिया जाता है ता ज्ञान से परिष्कृत वही मन विषय-कषायो से विमुख होकर अध्यात्म की ओर मुड जाता है। साधक का ज्ञान भी आत्मा मे स्थिर हो जाता है। इस प्रकार सुध्यान की निरन्तर साधना से समस्त ग्रन्थियो का भेदन करके शरीर और आत्मा का सक्रिय भेदविज्ञान कर साधक शुद्ध आत्मस्वरूप मे विचरण करने लगता है, उसका देहाध्यास बिलकुल छूट जाता है। अन्त मे, वह अजर-अमर, शाश्वत, अनन्त मोक्ष-सुख की स्थिति प्राप्त कर लेता है।

सासारिक सुखभोगो के प्रति तीव्र आसक्ति और शरीर के मोह से गजसुकुमार एकदम विरक्त हो गये। प्रभु अरिष्टनेमि का वैराग्योत्पादक उपदेश सुनकर उन्हे शरीर और आत्मा का भेदज्ञान हृदयगम हो गया। उन्होने मन ही मन निश्चय कर लिया—प्रभु अरिष्टनेमि से मुनिदीक्षा ग्रहण करके मुझे इस भेदविज्ञान को जीवन मे चरितार्थ करना चाहिए। आचरण (चारित्र) के रूप मे क्रियान्वित कर दिखाना चाहिए।

बस मुनि गजसुकुमार ने दीक्षा के पहले ही दिन प्रभु से जिज्ञासापूर्वक सविनय पूछा—"भगवन् ! ऐसी कोई साधना बताइये। जिससे शीघ्र ही मेरा श्रेय हो, मै शुद्ध आत्मा की परिपूर्णता तक पहुँच सकूँ।"

भगवान अरिष्टनेमि ने मुनि गजकुमार की योग्यता, क्षमता, पूर्वजन्मो की साधना के सस्कार, एव शरीरात्म-भेदविज्ञान की दृढनिष्ठा देखकर उन्हे प्रोत्साहित करते हुए कहा—"वत्स ! ऐसा उपाय है—बारहवी भिक्षुप्रतिमा की निष्ठा एव श्रद्धापूर्वक साधना करना। एक ही रात्रि की साधना है यह ! इसमे रात्रि को श्मशानभूमि मे जाकर एकाग्रचित्त से खडे होकर कायोत्सर्ग (शुक्लध्यान) करना है। जो भी देव-मनुष्य-तिर्यंचकृत उपसर्ग आएँ, उन्हे समभावपूर्वक सहना है। यदि तुमने इस सुध्यान को निष्ठा और समत्व के साथ कर लिया तो तुम्हारा बेडा पार हो जायगा।"

गजसुकुमार मुनि ने अत्यन्त श्रद्धा और भावना के साथ विनयपूर्वक प्रभु से से बारहवी भिक्षुप्रतिमा की साधना अगीकार की और उनसे आज्ञा लेकर वे महाकाल श्मशान मे पहुँच गये। वहाँ भूमि का प्रमार्जन-प्रतिलेखन करके वे एकाग्रचित्त से एक पुद्गल पर अपनी दृष्टि टिकाकर कायोत्सर्ग (सुध्यान) मे खडे हो गये। उनके मन मे एकमात्र शुद्ध, परिपूर्ण और अनन्त शक्तिमान, ज्ञानादि गुणो के पुज आत्मा का ही चिन्तन चल रहा था।

कुछ ही देर मे उनके इस सुध्यान की कठोर परीक्षा की घडी आ पहुँची। परीक्षा की घडी अत्यन्त सावधानी और अप्रमाद की घडी होती है। परीक्षार्थी जरा भी असावधान हुआ, विचलित हुआ कि परीक्षा मे असफल। पर ध्यानस्थ मुनि गजसुकुमार अपने आप मे पूर्ण सावधान और विराट् आत्मा की गोद मे चले गये थे।

सोमिल ब्राह्मण, जिसकी कन्या के साथ गजसुकुमार के पाणिग्रहण की बात श्रीकृष्णजी ने पक्की कर दी थी। आज उसी श्मशान भूमि मे यज्ञ के निमित्त समिधा, पत्र, पुष्प आदि लेने आया हुआ था। सन्ध्या का समय था। सोमिल विप्र ने ज्यो ही ध्यानस्थ गजसुकुमार मुनि को देखा—वह विस्मित और क्रुद्ध होकर उनके प्रति कटु वाणी से आग बरसाने लगा—"दुष्ट, अधम, नीच, कायर! मेरी कन्या को यो निराधार छोडकर तूने मुण्डित होकर साधु बनाने का ढोग रचा है। देख, मैं भी तुझे मजा चखाता हूँ।" इस प्रकार बकझक करता हुआ सोमिल एक खप्पर लेकर जलती हुई चिता मे से धधकते अगारे उसमे भर लाया और आव देखा न ताव, मुनि गजसुकुमार के कोमल मुण्डित मस्तक के चारो ओर गीली मिट्टी की पाल बांधकर उस पर धधकते अगारे उडेल दिये।"

आग की असह्य वेदना थी, राजकुमार का कोमल शरीर था, पहला ही दिन था—ऐसी कठोर साधना का, और भयकर पीडा का। फिर भी मुनि गजसुकुमार अपनी आत्मा मे मेरु की भाँति अडोल और स्थिर रहे। उनके मन मे सोमिल के प्रति जरा भी रोष, द्वेष या दुर्भाव नही आया और न ही अपने शरीर के प्रति मोह, आसक्ति या रक्षा का भाव आया। धैर्य, गाम्भीर्य, क्षमा और सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति बनकर वे अविचल भाव से खडे रहे, आत्मा के परम उज्ज्वल शुक्लध्यान मे वे सलग्न रहे। बाह्य जगत् से बिलकुल विमुख होकर एकदम अन्तर्मुखी बन गये थे। कुछ ही देर मे उनका भौतिक शरीर नष्ट हो गया, जिसे एक दिन होना ही था और उनकी आत्मा केवलज्ञान प्राप्त करके परमधाम—मोक्ष मे जा पहुँची।

यह था—शरीरात्म-भेदज्ञान की सुध्यान के द्वारा स्वरूपाचरण मे सतत परिणति! वस्तुत उनका ज्ञान सुध्यान के माध्यम से आत्मा मे स्थिर हो गया था। देहाध्यास बिलकुल छूट चुका था। इसलिए उनकी आत्मा सुध्यान साधना द्वारा निश्चयचारित्र की पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी, जिससे वे स्वयसिद्ध, बुद्ध, मुक्त और कृतकृत्य हो गए।

वास्तव मे, चारित्र को पराकाष्ठा पर पहुँचाने के लिए ज्ञान के साथ सुध्यान अत्यन्त आवश्यक है। ज्ञान को व्यापक, उदार और सक्रिय बनाने वाला सुध्यान ही ही है। यदि सुध्यान न हो तो अकेला ज्ञान पस्तहिम्मत हो जाता है, वह आगे बढने का साहस नही कर सकता। यदि मुनि गजसुकुमार सुध्यान मे एकाग्र न होते तो उनका कोरा आत्मज्ञान समत्व, शान्ति, क्षमा और मैत्री के आचरण के आग्नेय पथ पर टिका नही रहता, वे उखड जाते और चारित्र से भ्रष्ट हो जाते, आत्मज्ञान तो कभी का विदा हो चुकता।

ज्ञान और सुध्यान मे खास अन्तर नहीं

इसलिए हम दावे के साथ कह सकते हैं कि ज्ञान और सुध्यान दोनो बन्धुओ की जोडी साथ-साथ रहे तो चारित्र को उन्नति के शिखर पर पहुँचा सकते हैं। वैसे

देखा जाय तो सुध्यान और ज्ञान मे कथचित् अभेद भी है। महापुराण का यह श्लोक इस बात का साक्षी है—

यद्यपि ज्ञानपर्यायो ध्यानाख्यो ध्येयगोचरः।
तथाऽप्येकाग्रसंदष्टो धत्ते बोधादि वाऽन्यताम् ॥

यद्यपि ध्यान, ज्ञान की ही पर्याय है, और यह भी ज्ञेय की तरह ध्येय को विषय करने वाला होता है, तथापि सहवर्ती होने के कारण वह ध्यान ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यरूप व्यवहार को भी धारण कर लेता है।

ध्यान और ज्ञान मे मुख्यतया यही अन्तर है कि ज्ञान व्यग्र होता है, ध्यान नही, ध्यान तो एकाग्र कहलाता ही है। वस्तुत. किसी एक विषय मे ज्ञान का निरन्तर रूप से रहना ध्यान है और वह क्रमरूप होता है।

ज्ञान की धारा अनेक विषयवाहिनी होती है, उसे एक विषयवाहिनी बना देना ही तो ध्यान है। ज्ञान सम्यक् हो तो ध्यान एक शुभ विषयवाही बनता है और ज्ञान असम्यक् (मिथ्या) हो तो वह अशुभ विषयवाही ही बनता है। ज्ञान और ध्यान दोनो मे यही अन्तर है। इसलिए ये दोनो अन्योन्याश्रित या एक-दूसरे से परस्पर मिले हुए रहते हैं।

चारित्र का परममित्र सुध्यान : महत्व और लाभ

सभी धर्मों ने ध्यान का महत्त्व एकस्वर से स्वीकार किया है। आत्मा की शक्तियो को एकाग्र करने तथा एकाग्र आत्मशक्तियो के यथायोग्य दायित्व, कर्तव्य या आचरण पर विश्लेषण करने के लिए ध्यान से बढकर कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु विश्व मे नही है। मन, वचन, काया की, आत्मा और इन्द्रियो की बिखरी या भटकी हुई अथवा उत्पथ पर लगी हुई शक्तियो को एकजुट या एकाग्र करने की इससे बढकर कोई साधना नही है।

पाश्चात्य विचारक सी सिम्मन्स (C. Simmons) के शब्द मे देखिए—

"Meditation is the nurse of thought and thought is the food for meditation."

'ध्यान शुभचिन्तन की धायमाँ है, और शुभचिन्तन ही ध्यान की खुराक है।'
वास्तव मे शुभचिन्तन से चित्तशुद्धि होती है और आत्मा विशुद्ध बन जाती है।

ध्यान चित्तशुद्धि की वह प्रक्रिया है, जिससे चित्त मे स्थित वासना, कामना, सशय, अन्तर्द्वन्द्व, तनाव, क्षोभ, उद्विग्नता, चिन्ता, अशान्ति, अप्रसन्नता आदि विकार दूर होते हैं और चित्त शान्त, निर्द्वन्द्व, स्वस्थ एव प्रसन्न होता है। चित्त की पवित्रता से उच्च विचार आते हैं, उनसे सकीर्णताएँ टूटती हैं, उदारता आती है। इस प्रकार ध्यान से जीवन मगलमय बन जाता है। अत ध्यान चारित्र का मित्र है। यह चारित्र को सत्पथ पर सुदृढ और शुद्ध रखने तथा जीवन के सच्चे माने मे आनन्द-पूर्वक जीने की साधना है।

जैसा कि पाश्चात्य विद्वान 'इजाक टेलर' कहता है—

"A man of meditation is happy, not for an hour or a day, but quite round the circle of all his years."

ध्यान करने वाला साधक सुखी रहता है, केवल एक घण्टे या एक दिन के लिए नही, अपितु अपनी जिंदगी के तमाम वर्षों के चक्र मे सुखसम्पन्न रहता है।

ध्यान से मन मे उत्साह बढता है, चित्त मे साहस का सचार होता है, उत्साह और साहस से सोचा हुआ शुभकार्य पूर्ण होता है, चारित्र का सच्चे माने मे पालन होता है। जीवन की सभी साधनाओ का केन्द्रबिन्दु ध्यान ही है। चाहे किसी भी प्रणाली का साधक क्यो न हो उसे ध्यान-वल से उस कार्य मे अपनी समग्र मन शक्ति केन्द्रित करनी पडती है। एक पाश्चात्य विचारक फेल्दम (Feltham) ने ध्यान को प्रभु के निकट पहुँचने का उपाय वताया है—

"Meditation is the soul's perspective glass, whereby, in her long removes, the discerneth god, as if he were nearer at hand."

'ध्यान आत्मा को देखने का एक दर्पण है जिसके माध्यम से दीर्घकालिक अभ्यास के वाद वह (आत्मा) परमात्मा को यथार्थ रूप मे देखने लगती है, मानो वह अत्यन्त निकटवर्ती हो।'

वास्तव मे ध्यान-साधना मे साधक ज्यो-ज्यो अग्रसर होता जाता है, त्यो-त्यो उसका मनोवल वढता जाता है। काम, क्रोध, मद, मोह, मत्सर आदि हटते जाते हैं, राग-द्वेप घटते जाते हैं, पारिवारिक जीवन के मोह सम्वन्ध—मोह-वन्धन करीव-करीव छूटते जाते हैं। ध्यान वल से साधक नि स्पृह और नि स्वार्थी वन जाता है। उसकी राग, मोह, लोभ और आसक्ति आदि की वृत्तियाँ काफूर हो जाती हैं। वहाँ उसे आत्मा की आवाज पुकार-पुकार कर कहती है—दृढ वनो, आत्मवल वढाओ, विकल्पो की वृद्धि न करो, इन्द्रिय-विपयो और मनोविकारो के गुलाम न वनो। इस ध्वनि से उसके अन्तर् मे एक आलोक का उद्भव होता है, जिसमे वह कल्मपात्मक अनिष्ट वृत्ति-प्रवृत्तियों का अवलोकन करके उन्हे हटाने मे सक्षम हो जाता है। इसी लिए पश्चिमी विद्वान जेरेमी टेलर (Jeremy Taylor) कहता है—

"Meditation is the tongue of soul and the language of our spirit . . . "

'ध्यान आत्मा की जवान है और हमारी अन्तरात्मा (चेतना) की भाषा है।'

ध्यानावस्था मे साधक का जीवन अहकार और उन्माद से शून्य हो जाता है, वह अपने आपको असली रूप मे देख सकता है। कभी कभी तो साधक ध्यान मे इतना एकाग्र हो जाता है कि उसे अपने तन का कोई खयाल नही होता, शारीरिक-मानसिक पीडाओ का उस पर कोई प्रभाव नही होता। न भूख-प्यास सताती है, न नीद। न उसे रात का भय रहता है, और न दिन का त्रास। हिंस्र जन्तुओ से भी ध्यानावस्था मे साधक को कोई भय नही रहता। ध्यान से अन्तर्लीन होकर साधक क्रमशः विराट सत्ता—विशुद्ध

आत्मा मे लवलीन हो जाता है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए ध्यान ही एक मात्र अकसीर उपाय है। द्रव्यसग्रह (४७) मे सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र ने इसी बात का समर्थन किया है—

> **दुविहं पि मोक्खहेउं झाणं पाउणदि जं मुणी णियमा ।**
> **तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥**

मुक्ति का उपाय रत्नत्रय है, और यह रत्नत्रय (मोक्ष हेतु) दो प्रकार का है—निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा से। दोनो प्रकार का यह रत्नत्रय सुध्यान से ही उपलभ्य है। अत समग्र प्रयत्नपूर्वक दत्तचित्त होकर मुनि को निरन्तर ध्यान का सम्यक् अभ्यास करना चाहिए।

आचार्य रामसेन भी तत्त्वानुशासन मे मुमुक्षु को सुध्यान की ही प्रेरणा करते है कि "हे योगिन्! यदि तू ससार-बन्धन से छूटना चाहता है तो सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय को ग्रहण करके बन्ध के कारण मिथ्यादर्शनादि के त्यागपूर्वक सतत् सद्ध्यान का अभ्यास कर। ध्यान के अभ्यास की प्रकर्षता से मोह का नाश करने वाला चरमशरीरी साधक (योगी) उसी पर्याय मे मुक्ति प्राप्त करता है, और जो चरमशरीरी नही हैं, वे उत्तम देवादि पर्याय को प्राप्त करके क्रमश मुक्ति पाते है।"[1]

नि सन्देह ध्यान ऐसा ही उत्तम पदार्थ है, जो इहलोक और परलोक के लिए भी उत्तम पाथेय है, उपयोगी है, सुख, यश और स्वास्थ्य का प्रदाता है, अनेक सिद्धियाँ, लब्धियाँ, उपलब्धियाँ और भौतिक-आध्यात्मिक शक्तियाँ ध्यान से प्राप्त होती है। यद्यपि सुध्यान-साधक इहलौकिक भौतिक सिद्धियो के चक्कर मे नही पडता, तथापि ये उपलब्धियाँ उसे अनायास ही प्राप्त हो जाती है, भले ही वह अपने लिए इनका प्रयोग न करे।

अत' यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि ध्यान के द्वारा साधक मोक्ष को अवश्य प्राप्त कर लेता है, जहाँ अनन्त-सुख-शान्ति है, अनन्त-ज्ञान, दर्शन और वीर्य है।

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र मे स्पष्ट बताया है—

> **मोक्षः कर्मक्षयादेव, स चात्मज्ञानतो भवेत् ।**
> **ध्यानसाध्य मत तच्च, तद् ध्यान हितमात्मनः ॥**

'कर्मों के क्षय से ही मोक्ष होता है, कर्मक्षय आत्मज्ञान से होता है और आत्मज्ञान ध्यान से प्राप्त होता है। अत ध्यान आत्मा के लिए हितकारी माना गया है।'

ध्याता जब ध्यान के द्वारा अपने से भिन्न अन्य पदार्थ का अवलम्बन लेकर उसे अपनी श्रद्धा का विषय बनाता है तब वह व्यवहारमोक्षमार्गी होता है, और जब वह केवल अपनी आत्मा का अवलम्बन लेकर उसे अपनी श्रद्धा का विषय बनाता

---

१ तत्त्वानुशासन २२३-२२४।

है, तव वह निश्चयमोक्षमार्गी होता है। अर्थात् ध्यान के द्वारा दोनो प्रकार के मोक्ष-मार्ग सधते हैं।

जैसा कि पचास्तिकाय मे कहा गया है—

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी॥

"जिसे मोह और राग-द्वेष नही है, तथा मन-वचन-कायरूप योगो के प्रति उपेक्षा है, उसके जीवन मे शुभाशुभ को जलाने वाली ध्यानमय अग्नि प्रगट होती है।"

ध्यान चारित्र का विशिष्ट सहायक और चारित्र को सुशोभित करने वाला है, इसकी प्रतीति ध्यान के हेतुओ पर विचार करने से हो जाती है। तत्त्वानुशासन (७५/२१८) मे ध्यान के ८ हेतु वताये हैं—

(१) **सगत्याग**—वाह्य आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग एव कुसग परित्याग करना।
(२) **कषायनिग्रह**—क्रोधादि एव हास्यादि का परित्याग करना।
(३) **इन्द्रियो पर विजय**—पाँचो इन्द्रियो पर सम्यक् सयमन करना।
(४) **व्रतो की धारणा**—अहिंसादि व्रतो का सम्यक् पालन करना।
(५) **गुरु-उपदेश चिन्तन**—सद्‌गुरु के उपदेश का चिन्तन जो ध्यानादि के स्वरूप आदि का सम्यक् वोध दे सके।
(६) **श्रद्धान**—प्राप्त उपदेशो पर श्रद्धा रखना।
(७) **अभ्यास**—ज्ञान एव श्रद्धा के अनुरूप सतत अभ्यास करना।
(८) **स्थिर मन**—मन को चचलता रहित वनाना।

वृहद द्रव्यसग्रह मे भी ध्यान के ५ हेतु वताये गये हैं—

(१) वैराग्य,
(२) तत्त्वज्ञान,
(३) असगता,
(४) स्थिरचित्तता या समचित्तता,
(५) परीषह जय।

इन सव ध्यानहेतुओ पर विचार करने से यह स्पष्टत कहा जा सकता है कि सुध्यान चारित्र का मुख्य सहायक, प्रेरक और शुद्धिवर्द्धक है। वास्तव मे, सुध्यान आध्यात्मिक ऊर्जा का मुख्य स्रोत है। वह व्यावहारिक जीवन को स्वस्थ, सतुलित और ईमानदार वनाता है, सामाजिक जीवन को मर्यादित, प्रगतिशील और मैत्रीपूर्ण वनाता है, और आध्यात्मिक जीवन को सयमी, वीतरागता से ओतप्रोत, तथा शुद्ध-वुद्ध।

प्राच्य ही नही, पाश्चात्य मनीषी भी ध्यान को श्रद्धापूर्वक अपनाने लगे हैं, इसके भौतिक, आध्यात्मिक सभी लाभो से परिचितहोकर वे आकृष्ट हुए हैं, भौतिक

यन्त्रणाओ से मुक्ति और शान्ति पाने के लिए वे ध्यान को ही उत्तम साधन मानते है। इन्द्रियो के विषयभोगो की अति से हुई थकान, मानसिक तनाव और रोजमर्रा के जीवन् की आपाधापी से वचने का सर्वोत्कृष्ट उपाय वे ध्यान को मानते है।

चीन मे एक ध्यान सम्प्रदाय प्रचलित हुआ, जिसकी कई शाखाएँ बाद मे विकसित हुई। ध्यान के सम्बन्ध मे उन्होने बहुत से अन्वेषण किये। वहाँ से ध्यान का यह तत्त्व जापान मे गया। 'येन साइको' नामक एक पुस्तक मे ध्यान का वर्णन करते हुए उसे राष्ट्रसुरक्षा और वीरता-प्राप्ति से जोड दिया है। मनोवल, अन्तर्निरीक्षण, अनुशासन एव दायित्व-बोध के लिए वहाँ ध्यानाभ्यास आवश्यक माना जाता है, खासतौर से जापानी सिपाहियो मे इसका व्यापक प्रचार है। जापान की स्वावलम्विता और औद्योगिक प्रगति का श्रेय ध्यानाभ्यास को दिया जाता है। जो भी हो, आज सुध्यान विविधरूपो मे देश-विदेश मे प्रचलित है। जनता इसकी महत्ता को समझने लगी है।

ध्यान का स्वरूप : विविध लक्षणों में

ध्यान-विज्ञाताओ ने ध्यान की अनेक परिभाषाएँ की है। वैसे मूल स्वर सबका एक ही है कि किसी विषय मे चित्त को एकाग्र करना ध्यान[1] है। इसी मूल भित्ति पर ध्यान की परिभाषाओ मे सर्वत्र परिष्कार किया गया है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने ध्यान की परिभाषा की है—

"उत्तम सहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् ।"

"उत्तम सहनन वाले का एकाग्र चिन्तन एव मन-वचन-काया की प्रवृत्तिरूप योगो का निरोध करना ध्यान है।"

इसी का स्पष्टार्थ सर्वार्थसिद्धि मे किया है—

"चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानम् ।"

"चित्त के विक्षेप का त्याग करना ध्यान है।"

योगदर्शनकार ने भी इसी परिभाषा का अवलम्बन लिया है।[2]

किसी विषय के प्रति एकतानता—तल्लीनता ध्यान है।

निष्कर्ष यह है कि शान्त एवं एकाग्र स्थिर चित्त होकर आत्मलीनता या एकपदार्थलीनता होना ही ध्यान है।

---

१ 'चित्तस्सेगग्गया हवइ झाण'—चित्त की एकाग्रता ध्यान है।

—आवश्यकनिर्युक्ति १४५६

२ तत्प्रत्येकतानता ध्यानम् ।

—योगदर्शन

अनगार धर्मामृत मे बताया है—इष्टानिष्ट बुद्धि के मूल मोहादि का उच्छेद हो जाने से चित्त स्थिर हो जाता है। उस चित्त की स्थिरता से रत्नत्रय रूप ध्यान होता है। उससे समस्त कर्मक्षयरूप मोक्ष होता है, उससे होता है—अनन्त सुख।[1]

ध्यान की पुरानी परिभाषा भी इसी अर्थ को व्यक्त करती है—

"ज्ञानान्तराऽस्पर्शवती ज्ञानसततिः ध्यानम्।"

चैतन्य का वह प्रवाह ध्यान है, जो ज्ञानान्तर का स्पर्श न करे। जिसमे निरतर स्वद्रव्य का स्पर्श और परद्रव्य का अस्पर्श होता है, उसे ज्ञानसतति कहते हैं।

शुद्ध आत्मा का चिन्तन लेकर उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना आत्मज्ञान है।[2] यह पहले क्षण का ज्ञान है। वही क्रमभग किये विना दूसरे तीसरे क्षण मे होता रहे तो वह ज्ञान-सतति है। दीपशिखा की भांति चिन्तन प्रवाह का वैसा का वैसा ही होना एकाग्रता है। इसीलिए तत्त्वानुशासन मे निश्चयनय की दृष्टि से ध्यान का स्वरूप बताया गया है—

स्वात्मान स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत् स्वस्मिन् स्वतो यतः।
षट्कारकमयस्तस्माद् ध्यानमात्मैव निश्चयात्॥

"चूंकि आत्मा अपनी आत्मा को, अपनी आत्मा मे, अपनी आत्मा के द्वारा, अपनी आत्मा के लिए, अपने-अपने आत्महेतु मे ध्याता है। इस प्रकार षट्कारकरूप परिणत आत्मा ही निश्चयदृष्टि से ध्यानस्वरूप है।"

इसीलिए तत्त्वानुशासन मे ध्यान के दो रूप बताये गये हैं—एक निश्चय-दृष्टि से, दूसरा व्यवहारदृष्टि से। प्रथम मे स्वरूप का आलम्बन है, दूसरे मे परवस्तु का आलम्बन है।

चित्त की एकाग्रता भग होने से सुध्यान टिकता नही

ध्यान-साधक मे सर्वप्रथम चित्त की एकाग्रता अनिवार्य है। एकाग्रता होने मे तीन बडी-बडी बाधाएँ हैं—स्मृति, कल्पना और वर्तमान की घटना। अतीत की जो घटनाएँ घट चुकी हैं, वे निमित्त पाकर उभर उठती हैं। यथा—ग्रीष्म ऋतु आते ही पहले ग्रीष्म की घटना उभर आती है, यह कालिक स्मृति है, और किसी गाँव को

---

१ इष्टानिष्टार्थमूलमोहादिच्छेदाच्चेतः स्थिर ततः।
ध्यान रत्नत्रय तस्मान्मोक्षस्तत सुखम्॥

—अनगार धर्मामृत १/११४

२ यत्पुनर्ज्ञानमेकत्र नैरन्तर्येण कुत्रचित्।
अस्ति तद्ध्यानमत्रापि क्रमो नाप्यक्रमोऽर्थतः॥

—पचाध्यायी

देखते ही वहाँ की पुरानी स्मृतियाँ ताजी हो जाना दैशिक स्मृति है। इसी प्रकार बाह्यवृत्त और व्यक्ति के मिलते ही स्मृति आ जाती है, मन उसमे उलझ जाता है। स्मृति भूतकालीन चिन्ता है तो कल्पना भविष्यकालीन चिन्ता। क्या करना है? कहाँ जाना है? क्या लिखना है? आदि अनेक कल्पना मन सजोता रहता है। भविष्य की कल्पना मन को विचलित करती रहती है। इसी प्रकार वर्तमान घटना भी मन को आन्दोलित कर देती है। ध्यान मे बैठे हैं, अचानक सुगन्ध आई, कोई सगीत की स्वर-लहरी कान मे पडी, या अपशब्द सुनने को मिले, कोई सुन्दर या असुन्दर वस्तु देखी तो मन उसमे उलझ पडा। एकाग्रता खत्म हो गई। सुध्यान के लिए इन तीनो से विच्छिन्नता प्राप्त करना आवश्यक है।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि भगवान महावीर के ध्यान-साधक शिष्यो मे प्रसिद्ध थे, किन्तु उनका मन अतीत की घटना का स्मरण तथा वर्तमान का अपशब्द सुनकर विचलित एव व्यग्र हो गया था। कथा तो आपको मालूम ही है कि मगध सम्राट श्रेणिक भगवान महावीर के दर्शनार्थ जिस पथ से जा रहा था, उसी पथ के एक किनारे प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ध्यान मुद्रा मे खडे थे। राजा श्रेणिक के एक सचिव दुर्मुख ने उन्हे देखकर तीव्र कटाक्ष से व्यग्य कसा—"अजी! सम्पूर्ण राज्य-भार छोटे-से बच्चे पर डालकर यहाँ ध्यानी साधु का ढोग रचाये खडे हो! पता नही तुम्हे, शत्रुराजाओ ने तुम्हारे राज्य पर हमला कर दिया है, राजकुमार अभी नादान बच्चा है, वह राज्य की सुरक्षा कैसे करेगा? इसलिए इस साधु वेश का ढोग छोडकर एक बार जनता के हित के लिए राज्य सँभालो, बाद मे ढलती उम्र मे यह साधना कर लेना।"

बस, यह सुनते ही अतीत की स्मृति और वर्तमान की घटना से उनका चित्त डॉवाडोल हो उठा। वे धर्म-शुक्लध्यान छोडकर आर्त्त-रौद्रध्यान के प्रवाह मे बह गए। मन ही मन शत्रुराजाओ से प्रतिशोध लेने को उतारू हो गए, मन-कल्पित शस्त्रास्त्र भी हाथ मे ले लिये और मन से ही शत्रु सेना से जूझने लगे।

इसी दौरान श्रेणिक राजा ने जब प्रभु महावीर से उनकी गति के बारे मे प्रश्न किया और नरक बताने पर चौककर रहस्य पूछा—तो प्रभु ने सारा रहस्य खोला।

इधर कुछ ही समय बाद मुनि का चिन्तन-क्रम बदला और वे पश्चात्ताप करके अपने आत्मध्यान मे एकाग्र हो गये। शेष कहानी काफी विस्तृत है। यहाँ उससे कोई मतलब नही। यहाँ तो इतना ही बताना था कि अतीत की स्मृति और वर्तमान की घटना से प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का चित्त उचट गया और सुध्यान-भग हो गया, एकाग्रता नष्ट हो गई।

वास्तव मे देखा जाए तो मनुष्य का मन इतना चचल और व्यग्र है कि उसको एक-वस्तु मे या आत्मा मे भी लगाते हैं तो वह अधिक देर तक नही टिकता।

वह कुछ ही देर टिककर फिर स्मृति, कल्पना और वर्तमान घटना, इन तीनो मे से किसी एक का निमित्त मिलते ही भागने लगता है। निष्कर्ष यह है कि मन सुध्यान या दुर्ध्यान मे से किसी न किसी ध्यान मे लगा रहता है।

गौतम महर्षि यहाँ सुध्यान को चारित्र की शोभा इसलिए बता रहे है कि कि दुर्ध्यान की आंधी आते ही प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की तरह सारा चारित्र उड जाता है, वहाँ न तो चारित्र का पता रहता है, न सम्यग्ज्ञान का। दोनो ही पलायित हो जाते हैं।

सुध्यान और दुर्ध्यान क्या और कहाँ ?

इसी कारण ध्यान के मुख्यतया दो भेद—सुध्यान और दुर्ध्यान अथवा प्रशस्त और अप्रशस्त ध्यान बताये गये हैं। अप्रशस्त एव त्याज्य दुर्ध्यान के दो प्रकार हैं—आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान। इसी प्रकार प्रशस्त एव उपादेय सुध्यान के दो प्रकार ये है—धर्मध्यान और शुक्लध्यान।[1]

आज अधिकाश मानव दुर्ध्यानो के चक्कर मे घूम रहे हैं। बाहर मे तो स्थिति खुशहाल-सी दीखती है, लेकिन भीतर उनके अशान्ति, हाय-हाय, चिन्ता और बेचैनी तथा परेशानी है। आर्त्तध्यान का पेट केवल इतना ही बडा नही है, उसकी हजारो-लाखो लहरें हैं। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान ऐहिक फल चाहने वालो के होते हैं, उनके असख्य प्रकार हैं।

ये चार ध्यान बताये है, उनमे से दो को छोडना तप है, और दो का आराधन तप है। एक बहन या भाई किसी इष्ट वस्तु या व्यक्ति के वियोग से या किसी अनिष्ट वस्तु या व्यक्ति के सयोग से पीडित है, अर्थसकट से ग्रस्त है, हानि से चोट खाकर चिन्तित है, स्वय रुग्ण है या पारिवारिकजन रुग्ण हैं, उस समय वह ज्ञान बल से चित्त को एकाग्र करके धर्मध्यान मे लगाता है, और इस प्रकार के आर्त्तध्यान को छोडता है तो तप है। पीडा, वेदना या चिन्ता के समय रोना, चिन्ता करना, विलाप करना, छाती-माथा कूटना, किसी को कोसना, पीटना आदि सब आर्त्तध्यान है, यह पापकर्मबन्ध का जनक है। ऐसे समय मे मन को यो समझा ले कि कृत-कर्मों का फल तो भोगना ही पडेगा, चाहे रो-रोकर भोगो, चाहे प्रसन्नता से। प्रसन्नता और शान्ति से कर्मफल भोगना और चुप रहना निर्जरा (कर्मक्षय) का कारण है।

किसी के साथ अनबन, टक्कर, लडाई-झगडा, दगा-फिसाद हो गया, किसी ने किसी स्वार्थवश के कारण वैर, द्वेष बँध गया। उसे फँसाने, मारने, नीचा

---

१ हेयमाद्यं द्वयं विद्धि दुर्ध्यानं भववर्द्धनम्।
उत्तर द्वितयं ध्यानम्, उपादेय तु योगिनाम्॥

—महापुराण

दिखाने, जेल की हवा खिलाने, बदनामी करने आदि का विचार करना, तथा मारण, मोहन, उच्चाटन आदि का प्रयोग करना रौद्रध्यान है। यह चार प्रकार का होता है—हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेनानुबन्धी, सरक्षणानुबन्धी (परिग्रहानुबन्धी)। आज नगरजनो का आहार-विहार, सगति, सिनेमा आदि कुदृश्यो से लगाव, वातावरण सब गन्दा हो रहा है। वह भी आर्त्त-रौद्रध्यान को बढाता है। इहलौकिक एव पारलौकिक सुख-भोग एव फल चाहने वालो के ध्यान गलत हैं? सिनेमा आदि विषय कषायवर्द्धक हैं, उनसे चित्त कभी शान्त नही हो सकता। राग-द्वेष आदि बढने से चित्त मे कभी स्थिरता नही आ सकती।

इसलिए सुध्यान की साधना करने के लिए विषय-कषायो की तीव्रता एकदम कम करनी होगी, कुसगति से दूर रहना होगा, स्वाध्याय, सत्सग, एकान्त-शान्त स्थान मे निवास, तत्त्वचिन्तन, धैर्य, फलाकाक्षा-निवारण आदि साधन अपनाने आवश्यक हैं। तत्पश्चात् तत्त्वानुशासन के अनुसार आठ बातो का ध्यान-साधक को सर्वप्रथम विचार कर लेना चाहिए—

ध्याता, ध्यान-फल, ध्येयं, यस्य, यत्र, यदा, यथा।
इत्येतदत्र बोद्धव्य ध्यातुंकामेन योगिना॥

"ध्याता (इन्द्रिय और मन का निग्रहकर्ता), ध्यान (इष्ट विषय मे लीनता), फल (सवर-निर्जरा आदि के रूप मे), ध्येय (इष्ट—जिसका ध्यान करना हो, वह पिंड, पद, रूप आदि), यस्य (ध्यान का स्वामी), यत्र (ध्यान करने योग्य क्षेत्र—स्थान), यदा (ध्यान का समय) और यथा (ध्यान की योग्य विधि) ये आठ बातें ध्यान करने के इच्छुक योगी (ध्याता) को समझ लेनी चाहिए।"

उसके बाद धर्मध्यान के ४ भेद, आज्ञाविचय आदि चार आलम्बन तथा पिण्ड, पद या रूप मे से किसी का आलम्बन आदि का विचार करना चाहिए। फिर ध्यान का अभ्यास परिपक्व हो जाने पर शुक्लध्यान मे प्रवृत्त होना चाहिए। यह निरालम्ब एव रूपातीत ध्यान है। इसके चार प्रकार हैं—पृथक्त्ववितर्क-सविचारी, एकत्व-वितर्क-अविचारी, सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाती और समुच्छिन्नक्रिय अनिवृत्ति।

शुक्लध्यान के चार आलम्बन (क्षमा, निर्लोभता, मृदुता, और ऋजुता) तथा चार अनुप्रेक्षाएँ हैं।

सुध्यान का विषय काफी विस्तृत है। मैं आपको अभी इतनी गहराई मे नही ले जाना चाहता। अभी तो मैंने सुध्यान की झाँकी आपको दे दी है।

सुध्यान के साथ ज्ञान न हो तो

कोई कह सकता है कि चारित्र की शोभा के लिए जब सुध्यान से काम चल जाता है तो ज्ञान की क्या जरूरत है? ज्ञान का सब काम क्या सुध्यान नही कर सकता? इस सम्बन्ध मे गहराई से विचारने पर हमे लगता है कि अकेले सुध्यान से चारित्र की शोभा मे कमी रह जाती है। जैसे एक दीवार है, उसे पहले ईंट, चूने

आदि से जोडा नही गया, पलस्तर भी नही किया गया, पहले ही केवल मिट्टी का ढेर या ईंटें जमाकर उस पर रग-रोगन से पालिश कर दी जाय तो क्या वह दीवार शोभा देगी ? कभी नही। इसी प्रकार यहाँ चारित्ररूपी दीवार पर पहले सम्यक्-ज्ञान रूपी ईंट-चूने आदि से जोडने व पलस्तर करने का कार्य नही होगा, और सिर्फ सुध्यान रूपी पॉलिश किया जाएगा तो वह भी सुशोभित नही होगी। इसीलिए सम्यग्ज्ञान पहले ससार के समस्त वस्तु-तत्त्व का बोध करा देता है, फिर जिस तत्त्व को चारित्र के रूप मे उपादेय समझकर अपनाया है, उसी एकमात्र तत्त्व के विपय मे सुध्यान गहराई से चिन्तन करता है। तब जाकर चारित्र के रूप मे सम्यक् आचरण होता है। इसलिए जब तक विस्तृत वस्तुतत्त्व का ज्ञान न हो तो एक तत्त्व-विपयक चिन्तन कैसे होगा। कुएँ मे पानी होता है तो हौज मे आवश्यकताभर पानी निकाला जाता है और उससे कृपि-भूमि की सिंचाई की जाती है। इससे आप अन्दाजा लगा सकते हैं कि सम्यग्ज्ञान की कितनी महत्ता और उपयोगिता है।

मैं यहाँ ज्ञान के सम्बन्ध मे विस्तार मे न जाकर एक उदाहरण द्वारा इतना ही समझाऊँगा कि सम्यग्ज्ञान के अभाव मे किस प्रकार चारित्रवान पुरुप जीवन को निरर्थक कर देते हैं ?

पुष्यभूति आचार्य बहुश्रुत, ज्ञानी, ध्यानी एव महागुणी थे। वे एक बार विचरण करते हुए सिन्धुवर्धन नगर पधारे। वहाँ के राजा मुडविक को प्रतिबोध देकर श्रावकव्रती बनाया। आचार्य का एक बहुश्रुत शिष्य पुष्यमित्र था, पर उसके जीवन मे ज्ञान के साथ सुध्यान का अभ्यास न होने से चारित्र मे बहुत शिथिल था। वह सुखशील और आरामतलब हो गया था, इस कारण आचार्य से पृथक् विचरण करता था। आचार्य के पास और जितने भी शिष्य थे, वे सबके सब अबहुश्रुत एव ज्ञान और सुध्यान दोनो से रहित, केवल क्रियाकाण्डी थे।

एक दिन पुष्यभूति आचार्य ने विचार किया—मैंने धर्मध्यान की बहुत साधना कर ली, अब तो शुक्लध्यान के अन्तर्गत सूक्ष्मध्यान की साधना करनी है। वह एक प्रकार का निर्विचार ध्यान है, जिसमे चेतना है या नहीं, इसका कोई भान या अभ्यास नहीं रहता। आचार्यश्री को इस महाध्यान के लिए एकान्त, विक्षेपरहित, शान्त स्थान मे बैठना आवश्यक था।

इसलिए उन्होंने अपने बहुश्रुत शिष्य पुष्यमित्र को बुलाकर समझाया—'मुझे अब सूक्ष्मध्यान की साधना करनी है, इसलिए तुम मेरी सेवा मे रहो तो दर्शनार्थियो को तथा इन अगीतार्थ साधुओं को भी सँभाल सकोगे, मैं शान्ति से अपनी साधना कर लूँगा। बोलो, तुम्हारी क्या इच्छा है ?" उसने आचार्यश्री का कथन स्वीकार किया।

आचार्यश्री ने एक एकान्त, शान्त, विक्षेपरहित कमरे का प्रमार्जन-प्रतिलेखन करके अपना आसन जमाया और ध्यान मे लीन हो गये। अब जो भी दर्शनार्थी

आता, उसे उनका शिष्य पुष्यमित्र बाहर ही रोककर कहता—"आप लोग यहीं से आचार्यश्री की वन्दनादि कर लें। वे अभी महत्वपूर्ण कार्य मे व्यस्त हैं।" वे ऐसा ही करते।

काफी दिन हो जाने पर एक दिन साधु परस्पर कानाफूसी करने लगे—"इतने दिन हो गये! आचार्यश्री अन्दर क्या करते होंगे? चलकर देखना चाहिए।"

एक साधु ने चुपके से अन्दर जाकर देखा तो आचार्यश्री जरा भी हलन-चलन नही करते, न बोलते हैं। अतः उस सुध्यान से अनभिज्ञ साधु ने सारी घटना साधुओ से आकर कही।

उन सबने रूठकर पुष्यमित्र मुनि से कहा—"आचार्यश्री का तो देहान्त हो गया है, यह जानते हुए भी आपने हमे क्यो नही कहा?" उसने श्रुतज्ञान के आधार से कहा—"आचार्यश्री का देहान्त नही हुआ, वे निश्चल होकर सूक्ष्मध्यान-साधना कर रहे हैं। तुम सब जाकर उनके ध्यान मे विक्षेप न करो।" परन्तु वे ज्ञान-ध्यान-रहित साधु क्यो मानने लगे? वे पुष्पमित्र मुनि के साथ क्लेश करते हुए कहने लगे—"तुम धूर्त हो, हमे बनाते हो। हम तुम्हारी बातो मे नही आने वाले हैं, आचार्यश्री तो बहुत गुणवान थे, तुमने बहकाकर उन्हे वैताल साधना कराई है। उसमे उनकी यह दुर्दशा हुई है।" वे अज्ञानी साधु राजा को बुला लाए और कमरे मे ले जाकर दिखाया—"देखिये, राजन्! आचार्यश्री के शरीर मे अब चेतना नही है। हमे साधु-मर्यादानुसार इनके मृत शरीर का परिष्ठापन कर देना चाहिए, पर यह पुष्यमित्र ऐसा नही करने देता, आप हमे न्याय दीजिए।"

राजा ने भी अत्यन्त निकट जाकर बारीकी से आचार्य को देखा, और निश्चय किया कि आचार्यश्री दिवगत हो गये हैं। पुष्यमित्र मुनि की बात न मानकर राजा ने शिविका बनवाई। पुष्यमित्र ने बाजी बिगडती देख आचार्यश्री के पूर्व सकेतानुसार उनके अँगूठे का स्पर्श किया। सकेत का स्मरण आते ही आचार्यश्री सहसा जागृत होकर बोले—"मेरे सुध्यान मे तुमने विक्षेप क्यो किया?" इस पर पुष्यमित्र ने कहा—"गुरुदेव! मैने विक्षेप नही किया, आपके अनाडी शिष्यो ने किया है।" सारी घटना सुनी तो आचार्यश्री ने सबको बुलाकर उपालम्भ दिया कि मेरी सुसाधना मे विक्षेप डालकर तुम लोगो ने ठीक नही किया। अब मुझे पुनः नये सिरे से इसकी साधना करनी पडेगी।

आचार्यश्री को यह अनुभव हो गया कि जो साधक सम्यग्ज्ञानी नही होते वे सुध्यान की बात को नही समझते और सुध्यान की बात को न समझने के कारण अपने चारित्र को विशुद्ध रूप से पालन करने के लिए पुरुषार्थ नही करते। फलत उनका स्वय का चारित्र उज्ज्वल नही होता, और जो सम्यग्ज्ञान और सुध्यान को साथ लेकर चारित्र मे पुरुषार्थ करते हैं, उन्हे वे या तो करने ही नही देते या करते हैं तो विक्षेप डालते हैं।

वन्धुओ ! सुध्यान का महत्व तो सर्वविदित है ही, सम्यग्ज्ञान का योगदान भी चारित्र की शोभा मे कम नहीं है। सम्यग्ज्ञान एक शक्ति है, एक महागुण है, जिसके द्वारा ससार की समस्त वस्तुओ के यथावस्थित स्वरूप का वोध हो जाता है, जिसके होने पर साधक परम आनन्द का अनुभव करता है। सम्यग्ज्ञान के साथ सुध्यान होने पर तो वह वडी से वडी यातना, पीडा, परीपह, उपसर्ग या वेदना को समभाव से, शान्ति से, समझदारी से सहन करके कृतकर्मों का फल भोगकर उन्हे क्षय कर डालता है। इसीलिए, महर्षि गौतम ने इस जीवनसूत्र मे वताया है—

नाण सुझाण चरणस्स सोहा।

सम्यग्ज्ञान और सुध्यान ये दोनो मिलकर चारित्र की शोभा हैं।

आप भी इन दोनो को जीवन मे साथ लेकर अपने चारित्र को उज्ज्वल, सुशोभित और वृद्धिगत कीजिए।



५३

शिष्य की शोभा : विनय में प्रवृत्ति

प्रिय धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपके समक्ष शिष्य-जीवन की शोभा के सम्बन्ध मे चर्चा करना चाहता हूँ। शिष्य का जीवन कैसा होना चाहिए? कौन-सा शिष्य-जीवन अच्छा है, कौन-सा बुरा? किस प्रकार के शिष्य-जीवन से व्यक्ति अपना कल्याण एव विकास कर सकता है एव किस प्रकार के शिष्य-जीवन से नही? इन सव पहलुओ पर मैं विश्लेपण करने का प्रयत्न करूँगा।

गौतमकुलक का यह बयालीसवाँ जीवनसूत्र है। इस जीवनसूत्र मे महर्षि गौतम ने वताया है—

सीसस्स सोहा विणए पवित्ति।

'शिष्य की शोभा विनय-प्रवृत्ति मे है।'

शिष्य क्यों और किस उद्देश्य से ?

भारतीय सस्कृति मे एक बात पर बहुत जोर दिया गया है कि 'मनुष्य को अपने जीवन मे शिष्य अवश्य बनना चाहिए, उसे किसी न किसी को गुरु अवश्य बनाना चाहिए, 'नगुरा' रहना ठीक नही है।' किसी न किसी गुरु का शिष्यत्व स्वीकार करना भारतीय के लिए अनिवार्य था।

भारतवर्ष मे मुख्यतया तीन प्रकार के गुरु माने जाते थे—

(१) कुलगुरु,

(२) विद्यागुरु या कलाचार्य, और

(३) धर्मगुरु (धर्माचार्य अथवा सम्प्रदाय का आचार्य अथवा साधु)।

इन तीनो प्रकार के गुरुओ के शिष्य बनने के पीछे आशय यही था कि शिष्य बनने वाला व्यक्ति कुल, विद्या या धर्म की मर्यादाओ का पालन करे, अनुशासन मे रहे, उच्छृङ्खल न वने, मर्यादाओ या नीतियो का उल्लघन करके अनाचारी या दुराचारी न वन जाए, गुरु के नियन्त्रण मे रहे, गुरु के प्रति विनय, श्रद्धा, भक्ति आदि रखते हुए उनकी आज्ञाओ का नि सकोच पालन करे। व्यक्ति विनीत और श्रद्धालु होकर किसी गुरु का शिष्य इसलिए बनता था कि किसी भी समय मे कुल, विद्या या धर्म की मर्यादाओ या मौलिक नीति-नियमो का उल्लघन करने लगूँ तो

गुरु मुझे सावधान करके पथभ्रष्ट होने से बचाएँ, किसी विवादास्पद विषय मे कोई उलझन हो तो सुलझाएँ, किसी विषय मे मार्ग-दर्शन चाहूँ तो मार्गदर्शन, सुझाव, परामर्श या सलाह दें, कोई विवाद या कलह उपस्थित हो जाए तो न्यायोचित निर्णय दें। निष्पक्ष निर्णय (गुरुप्रदत्त) तुरन्त शिरोधार्य करना और गुरु की आज्ञा का श्रद्धा-भक्ति और विनय के साथ पालन करना शिष्य का प्रधान कर्तव्य था। गुरु शिष्य की उन्नति-अवनति, हिताहित, कर्तव्याकर्तव्य का पूरा ध्यान रखता था, ताकि कुल, वर्ण और धर्म की मर्यादाओ की सुरक्षा हो।

कही शिष्य द्वारा जरा सी भी मर्यादाओ का उल्लघन होता तो निष्पक्ष गुरु बिना किसी लिहाज या सकोच के फौरन उसे टोकते, सावधान करते और सुपथ पर लाने का प्रयास करते।

अगर कदाचित् कोई शिष्य गुरुओ के परोक्ष मे गुप्तरूप से अनाचार या पाप का सेवन कर लेता तो गुरु उसे नियमानुसार प्रायश्चित्त देकर या स्वय उसके द्वारा आलोचना द्वारा स्वीकार करवाकर तथा यथोचित प्रायश्चित्त स्वीकार करवाकर उसकी जीवन-शुद्धि या आत्मशुद्धि करवाते थे। इस प्रकार अपने जीवन का नैतिक-धार्मिक दृष्टि से सर्वांगपूर्ण निर्माण हो, इस विचार से किसी गुरु का शिष्यत्व स्वीकार करता था। गुरु पर यह जिम्मेवारी रहती थी कि वह शिष्य के जीवन मे निहित कुसस्कारो, कुविचारो, गलत प्रवृत्तियो, गलत आचरणो, खोटी आदतो एव गन्दी कुटेवो को निकालकर उसे कुल, वर्ण (जाति) और धर्म के अनुशासन मे रखकर सुसस्कारो, सुविचारो, सदाचार के नियमो, शिष्टाचार, अच्छी आदतो आदि से उसके जीवन को सुशोभित करे। इस प्रकार शिष्यत्व स्वीकार करने के पीछे बहुत ही उदात्त भावनाएँ, उच्च आशय एव जीवन-निर्माण की तमन्ना होती थी।

तुलसी की रामायण के अनुसार श्रीरामचन्द्रजी के कुलगुरु वशिष्ठ थे। महाराजा दशरथ अपने उत्तराधिकारी राजा बनाने की परम्परा मे थोडा-सा रद्दोबदल करना चाहते थे। कुल-परम्परा यह थी कि राजा के मरने के बाद उसके बडे पुत्र का राज्याभिषेक करके उसे राजा बनाया जाता था, किन्तु महाराजा दशरथ चाहते थे कि मैं अपने जीते जी ही अपने बडे पुत्र श्रीराम को राजगद्दी सौंप कर तप एव सयम-साधना करते हुए अपना पिछला जीवन बिताऊँ। उनकी भावना उदात्त एव पवित्र थी। मगर कुल-परम्परा मे परिवर्तन कुलगुरु की राय के बिना नही हो सकता था। अत कुलगुरु वशिष्ठ के समक्ष उन्होने अपनी समस्या रखी। जिसका निर्णय यथोचित विचार-विमर्श के बाद महर्षि वशिष्ठ ने इस प्रकार दिया—

जो पाचहि मत लागे नीका।
तो रघुवर सन कर देहु टीका॥

अगर पचो (चार वर्ण और पाचवें—ब्राह्मण=गुरु वर्ग) को यह बात अच्छी (ठीक) लगे तो श्रीराम को राजतिलक दे दिया जाये।

शिष्य बनने का मुख्य उद्देश्य जीवन-निर्माण

हाँ, तो मैं यह कह रहा था कि मनुष्य के शिष्य बनने का मुख्य उद्देश्य गुरु के निमित्त से अपना जीवन निर्माण करना है। गुजराती मे जिसे 'घडतर' कहते है, उसे ही हम हिन्दी मे 'निर्माण' कहते हैं। निर्माण के बिना मानव-जीवन का ही नही, किसी भी पदार्थ का वास्तविक उपयोग नही होता। निर्माण या नवरचना का महत्व मैं व्यावहारिक दृष्टान्त द्वारा समझाता हूँ—

आप सब जानते हैं, घडा मिट्टी से बनता है, परन्तु मिट्टी इधर-उधर बिखरी हुई पडी हो तो क्या उससे घडे का काम लिया जा सकता है? कदापि नही। कुम्भकार उस बिखरी हुई मिट्टी को अपनी आवश्यकतानुसार पहले इकट्ठी करता है, उसे पानी के साथ मिलाकर सान-गूँदकर एक पिंड बना लेता है, तत्पश्चात् उस मिट्टी के पिंड मे से थोडी-सी मिट्टी लेकर चाक पर चढाता है, चाक घुमाता है, घडे का आकार बनाता है। इस प्रकार कच्चा घडा तैयार हो जाने पर उसे आँवे मे पकाता है। मिट्टी के पिंड बनाने से लेकर आँवे मे पकने पर घडा बनने तक की सारी प्रक्रिया को निर्माण, घडतर या नवरचना कहते हैं। इसी प्रकार हीरा खान मे पडा हो तब तक वह अन-घड कहलाता है, वही हीरा जब शाण पर चढाया जाता है, और उसके अलग-अलग पहल बनाये जाते हैं, तब उस हीरे का मूल्य अनेकगुना बढ जाता है। क्योंकि उस हीरे का नवसर्जन या नव-निर्माण हुआ है।

सरकस मे आपने अनेक जानवरो के आश्चर्यजनक करतब देखे होंगे। अगर इन जानवरो को प्रशिक्षित न किया जाता, उन्हे ट्रेनिंग देकर अभ्यास न कराया जाता तो उनका घडतर या नवसर्जन नही हो सकता और वे इतने आश्चर्यजनक पराक्रम नही दिखा सकते।

इसी प्रकार शिष्य के रूप मे जो उनके सान्निध्य मे आता है, गुरु उसका नव-सर्जन या जीवन निर्माण करते हैं। अनघड, असस्कारी और प्राकृतिक पशुसम जीवन को वे घड-घडकर प्रशिक्षित, सुसस्कारी, सुगठित, गुणवान एव पराक्रमी बनाते हैं। इसे ही हम शिष्य के जीवन का नवनिर्माण कह सकते है, जो गुरु द्वारा किया जाता है। अनघड एव असंस्कारी मनुष्य का जीवन पशुसम या कभी-कभी पशु से भी गया-बीता होता है। वह उच्छृखल, उद्दण्ड, स्वच्छन्द, असयमी, अनुशासनहीन, अहकारी एव इन्द्रिय-विषयासक्त होता है, जबकि गुरु के सान्निध्य मे शिष्य बनकर आने के बाद वही मनुष्य अनुशासित, प्रशिक्षित, सयमी, विनीत, नम्र, धर्ममर्यादा एव धर्म के नियमो के नियन्त्रण मे चलने वाला तथा इन्द्रियो पर अंकुश रखने वाला बन जाता है।

वाल्मीकि ऋषि का नाम तो आप सबने सुना ही होगा। उनका पूर्वजीवन रत्नाकर लुटेरे के रूप मे अनघड, असंस्कारी, उद्दण्ड एव निरकुश था। लूट-मार करने वाले व्यक्ति का जीवन दूसरो के लिए पीडादायक होना ही है। उसके जीवन मे

हिंसावृत्ति, उद्दण्डता, उच्छृखलता एव स्वार्थवृत्ति होती ही है। परन्तु सौभाग्य से जगल मे पवित्रता की मूर्ति नारद मुनि से उसकी भेंट हुई। पहले तो उसने अपनी वृत्ति के अनुसार उद्धतता वताई। किन्तु नारद मुनि द्वारा दिये गये समयोचित युक्ति-सगत उपदेश से रत्नाकर के हृदय की आँखें खुल गई। उसका हृदय-परिवर्तन हो गया। वह नारद मुनि का शिष्य वन गया और नारद मुनि के सान्निध्य एव उपदेश के प्रभाव से धीरे-धीरे रत्नाकर का जीवन वाल्मीकि ऋषि के रूप मे परिवर्तित हो गया। यह मत्र प्रताप गुरुवर नारद के शिष्य वनने के वाद वाल्मीकि के जीवन-निर्माण का था।

गुरु शिष्य की काया को तो नहीं, उसके हृदय एव जीवन की कायापलट कर देता है। शिष्य की काया मे भी गुरु के अनुशासन मे रहने पर वहुत ही परिवर्तन हो जाता है। उसकी आदतो, रुचियो, वृत्तियो, स्वभाव एव क्षमता मे अद्भुत परिवर्तन हो जाता है।

उपकारी गुरु के प्रति शिष्य का धर्म : समर्पण

यही कारण है कि गुरु के—विशेषत धर्मगुरु के असख्य उपकारो से उपकृत होने वाला सुशिष्य उनको अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है, गुरु के प्रति श्रद्धा-भक्ति रखकर विनय और सेवा-सुश्रूषा करके वह उनका हृदय जीत लेता है। फिर तो गुरु अपने आप अपने सद्गुणो को शिष्य के जीवन मे उतारता है। जव तक शिष्य गुरु के प्रति श्रद्धाभक्ति एव विनय के साथ समर्पित नही हो जाता, तव तक गुरु के द्वारा वह असख्य उपकारो से उपकृत, सुसस्कृत एव प्रशिक्षित नही हो सकता। इसीलिए चन्दन दोहावली मे शिष्य पर गुरु के असख्य उपकारो का वर्णन किया गया है—

गुरुचरणो का जो वना, 'चन्दन' सच्चा दास।
तीन लोक की सम्पदा, वसी उसी के पास॥
गुरुचरणों पर जो हुआ, 'चन्दनमुनि' कुर्वान।
उस नर-सम कोई नहीं, पुण्यवान गुणवान॥
जो जाता हो डूवने, लेते उसे उवार।
'चन्दन' श्रीगुरुदेव का, वहुत वडा उपकार॥
जिसकी सेवा-भक्ति पर, सद्गुरु वनें दयाल।
खोटे पह वन जायेंगे, शुभतर 'चन्दनलाल'॥
'चन्दन' गुरु निजशिष्य को, रखते पुत्र समान।
उन्हें सिखाते खोलकर, अपना ज्ञाननिधान॥
गुरु होते हैं अनुभवी, देते अनुभव-ज्ञान।
'चन्दन' शर्मा न चूकते, अर्जुन वाले वान॥

भावार्थ स्पष्ट है। वास्तव मे गुरु के शिष्य पर इतने उपकार हैं कि उनसे उसका उऋण होना कठिनतर है। इसी बात को भगवान महावीर ने स्थानाग सूत्र मे बताया है—

"तिण्हं दुप्पडियार समणाउसो ! तं जहा—अम्मापिउणो, भट्टिस्स, धम्मायरियस्स।"

"भगवान ने कहा—आयुष्मान श्रमणो ! तीन पद दुष्प्रतिकार हैं—उनसे उऋण होना दु शक्य है—

(१) माता-पिता से,

(२) भर्ता (पालन-पोषणकर्ता) से और

(३) धर्माचार्य (धर्म गुरु) से।

शिष्य स्वतः स्फुरणा से गुरु के प्रति विनीत बने

आजकल के कई विवेकमूढ शिष्य गुरु के उपकारो को स्मरण नही करते, न वे श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से उन्हे देखते है। इसलिए आजकल बहुत-से गुरु चिन्तित हैं कि शिष्य हमारी बात नही सुनते, हमारे प्रति सम्मान व श्रद्धा-भक्ति उनमे नही रहा, आये दिन गुरु उन्हे विनय का पाठ जोर-शोर से पढाते हैं, रटाते हैं, विनय की गाथाएँ कण्ठस्थ करा देते हैं, फिर भी उनमे श्रद्धा, भक्ति या विनय की मात्रा नही बढती और वे गुरु के सामने तने के तने रहते हैं। स्कूलो और कालेजो मे विद्यागुरुओ की दशा तो और भी खराब है, वहाँ तो लगभग ७०-७५ प्रतिशत विद्यार्थी शिष्य ऐसे निकलेंगे, जो अपने विद्यागुरुओ का आदर नही करते, बल्कि उनकी अवज्ञा कर बैठते हैं, उनकी आज्ञाओ पर कोई ध्यान नही देते। इसलिए विद्यागुरुओ की भी बहुत बडी शिकायत है, छात्रो मे अनुशासनहीनता, अविनीतता एवं उद्दण्डता मे वृद्धि की।

मैं समझता हूँ इससे बडा दुर्भाग्य गुरुओ का क्या होगा ? गुरुओ के लिए रोने के दिन आ गये है, कि शिष्य उनकी कद्र नही करते। परन्तु इसमे मूल गलती गुरुओ की है, शिष्यो की नही। जैसे माता-पिता अतिशय लाड लडाकर अपनी सन्तान को बिगाड देते हैं, खर्चीला, असयमी और उद्धत बना देते हैं, वैसे ही अयोग्य गुरु शिष्यो पर अतिशय लाड-प्यार एव मोह के कारण उन्हे सच्चा ज्ञान नही देते। कई गुरु स्वय अयोग्य होते हैं, स्वय कई दोषो के शिकार होते हैं, जिन्हे शिष्य जान जाते हैं, फिर उन गुरुओ के प्रति उनकी श्रद्धा-भक्ति समाप्त सी हो जाना स्वाभाविक है। गुरु को स्वय सद्गुरु बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रारम्भ से ही शिष्य को इतना प्रशिक्षित, अनुशासित और सुसस्कृत करना चाहिए ताकि शिष्य को विनय, सेवा-शुश्रूषा और श्रद्धा-भक्ति के लिए बार-बार कहना, डाँटना-डपटना, झिडकना, उसे दूसरो के सामने टोकना, अपशब्द कहना आदि न पडे,

यह स्वत. ही अपनी स्फुरणा से गुरु के उपकार-भार से दबकर उनके प्रति विनय, श्रद्धा-भक्ति और सेवा-सुश्रूषा करने मे प्रवृत्त हो जाये। दशवैकालिक सूत्र मे विनीत शिष्य की अन्त प्रेरणा बताई गई है—

> जे मे गुरु सययमणुसासयति।
> तेहि गुरु सयय पूययामि॥

"गुरुदेव मुझे सतत अनुशासित करते हैं, हितशिक्षा देते हैं, (यह मेरे पर बहुत बड़ा उपकार है।) इसी कारण से गुरु की मुझे सतत पूजा-सेवा, सत्कार, भक्ति-शुश्रूषा करनी चाहिए।"

सच्चा गुरु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शिष्य के साथ ऐसा व्यवहार करेगा, या इस प्रकार से उसका जीवन-निर्माण करेगा कि स्वत उसके हृदय मे गुरु के प्रति श्रद्धा-भक्ति, विनय-बहुमान की भावना उमडे। गुरु के कहने की भी जरूरत न पडे, न समर्पण करने, प्रेरणा देने की आवश्यकता रहे। गुरु के प्रति जिस शिष्य का स्वत चुम्बकीय आकर्षण होगा, वह गुरु के चरणो मे स्वत सर्वस्व समर्पित कर देगा।

• एक गुरु और शिष्य भ्रमण करते हुए एक जगल मे पहुँच गये। शिष्य बहुत चलने से अत्यन्त थक गया था, यह देखकर गुरु उपयुक्त स्थान देखकर विश्राम करने के लिए रुके। शिष्य भी गुरु की प्रिय गोद मे मस्तक रखकर निद्राधीन हो गया। शिष्य जब गाढ निद्रा मे था, तब गुरु जाग रहे थे। इतने में एक काला सर्प सर-सराता हुआ शिष्य की ओर आने लगा तो गुरु ने धीरे-से एक ओर खिसककर उसे रास्ता देना चाहा। पर सर्प तो एकदम निकट आ गया।

गुरु उसे हाथ से रोकने लगे तो वह मनुष्यवाणी मे बोला—"महात्मन्! मुझे तुम्हारे इस शिष्य को काटना है, इसलिए रोकिए मत।"

गुरु ने सर्प से पूछा—"पर कुछ कारण तो होगा न, इसे काटने का ?"

सर्प बोला—"कारण यही है कि इसने मेरा रक्त पिया था, अब मुझे इसका रक्त पीना है। इसने मुझे बहुत सताया है, अत इससे वैर का बदला लिये बिना नही छोडूँगा। इसीलिए तो मैंने सर्प का रूप धारण किया है। आप कृपया मुझे रोके नही। रोकेंगे तो मैं और किसी समय आपकी अनुपस्थिति मे आकर इसे काटूँगा, छोडूँगा नही।"

क्रुद्ध सर्प का वचन सुनकर गुरु ने सर्प को समझाया—"भाई! अपना आत्मा ही अपना शत्रु है, दूसरा कोई नही। तू इसे काटेगा, तो तेरे प्रति इसके हृदय मे वैर जागेगा। यह इस शरीर को छोडकर नया धारण करेगा, फिर वैर का बदला लेगा, फिर तू भी वैरभाव को लिए हुए मरकर दूसरे जन्म मे वैर का बदला देगा, उसके बाद यह लेगा। यों वैर की परम्परा बढेगी, फायदा क्या होगा ?

सर्प—"महात्मन्! आपकी बात सच्ची है, पर मैं इतना ज्ञानी नही हूँ। आप समर्थ पुरुष हैं, मैं नही। माफ कीजिए, मैं वैर का बदला लिए बिना इसे नही छोडूँगा।"

गुरु—"तो भाई ! तू इसके बदले मुझे काट ले।"

सर्प—आप जैसे पवित्र पुरुष को काटकर मै घोर नरक मे जाऊँगा ? अपराध इसने किया है, आपने नही। अतः मैं इसे ही काटूँगा, इसी का खून पीऊँगा।"

अन्त मे, जब सर्प बहुत समझाने पर भी न समझा तो गुरुजी ने कहा—"अगर मैं तुम्हे इसी का रक्त निकालकर दे दूँ तो सन्तुष्ट हो जाओ न ?"

सर्प बोला—"भले ऐसा कीजिए, मुझे तो इसी के गले का खून पीना है।"

गुरु ने कहा—"अच्छा वैसा ही करूँगा। फिर तो तुम इसे कभी नही काटोगे न ?"

सर्प ने स्वीकार किया।

गुरुजी शिष्य की छाती पर चढे और पत्ते का दोना उसके गले के निकट रखकर एक चाकू से गले के पास चीरा लगाया फिर दोने मे खून सग्रह करके वे सर्प को पिलाने लगे। अब शिष्य कैसे सो सकता था। उसकी निद्रा उड गई। पर उसे जब ज्ञात हुआ कि गुरुजी छाती पर चढकर गले से खून निकालकर सर्प को पिला रहे हैं, तब वह तुरन्त आँखें मूंदकर चुपचाप लेटा रहा। रक्त की धारा निकली, पर शिष्य ने कुछ भी चूँ-चाँ न की। सर्प को जब तृप्ति हो गई तो वह वापिस चला गया। गुरु ने सर्जन डाक्टर की तरह उस घाव को बन्द करके उस पर वन्यौषधि लगा दी, और पट्टी बाँध दी। जब गुरुजी छाती पर से नीचे उतर गए, तब शिष्य उठ बैठा।

गुरु ने उपालम्भ की मुद्रा मे उससे कहा—"इतनी जबर्दस्त नींद है तेरी ! तुझे कुछ पता चला या नही, अब तक क्या हो रहा था ?"

शिष्य सविनय बोला—"जी हाँ, गुरुदेव ! मुझे सब पता है। आप मेरी छाती पर बैठे थे, हाथ मे चाकू था, गले के पास चीरा लगाकर रक्त निकाल रहे थे।"

गुरु—"वत्स ! तब तू बोला क्यो नही ?"

शिस्य ने विनय-भक्तिपूर्वक उत्तर दिया—"गुरुदेव ! मैंने सोचा, आप जो कुछ करते होंगे, मेरे हित के लिए कर रहे होगे। मुझे आपके प्रति पूरी श्रद्धा और प्रतीति थी। मै हृदय से आपके प्रति समर्पित था, इसलिए मुझे कुछ बोलने की गुंजाइश ही नही थी गुरुदेव !"

गुरु ने देखा कि शिष्य के हृदय मे मेरे प्रति स्वत स्फुरित विनय बहुमान, श्रद्धा भक्ति एव समर्पण भावना है। अत गुरु के अन्तर् से सहज आशीर्वाद फूट पड़ा—"धन्य हो वत्स ! तेरा कल्याण हो, तेरी आत्मा गुणो मे परिपूर्ण होकर विकास के शिखर पर पहुँचे।"

यह है, शिष्य द्वारा परम हितैषी परोपकारी गुरु के प्रति स्वत. समर्पण एव श्रद्धा-भक्ति की भावना !

जीवन-विद्या कैसे और किससे प्राप्त हो सकती है ?

प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू (Aristotle) गुरु के सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर विचार प्रस्तुत करता है—

Those who educate children well are more to be honoured than even their parents, for these only give them life, those the art of living well.

वे, जो कि बच्चों को सुशिक्षण देते हैं, उनका अपने माता पिताओं की अपेक्षा उन बच्चों द्वारा अधिक आदर किया जाना चाहिए, क्योंकि माता-पिता तो केवल जीवन देते हैं, जबकि गुरु सुन्दर ढंग से जीवन जीने की कला सिखाते हैं।

जीवन-विद्या स्कूली शिक्षा या पुस्तकीय ज्ञान नहीं है, वह है जीवन को सार्थक करने वाली, विचित्रताओं से भरे ऊबड़-खाबड़ जीवन-पथ पर आसानी से उत्साह-पूर्वक चलने में सहायक। जीवन-विद्या पारसमणि है, जिसका स्पर्श पाकर डिग्री-डिप्लोमारहित साधारण जीवन भी सार्थक हो जाता है। संसार के अधिकांश महा-पुरुषों का अक्षर-ज्ञान या स्कूली शिक्षण आज के अनेकों उच्च शिक्षा-सम्पन्न डिग्री-धारियों से कम ही था, लेकिन उन्होंने अपने गुरुओं से जो जीवन-विद्या अर्जित की, उसके कारण जीवन के कठोर धरातल पर अनुशासन का कठोर कदम उठाया, अपने को कसा, मांजा और कठोर परीक्षाओं में पास हुए। संसार को उन्होंने अभिनव प्रकाशित मार्ग प्रदान किया। कबीर, रैदास, नानक, तुलसी, सूरदास, मीरा, तुकाराम, सन्त ज्ञानेश्वर आदि ने उच्च डिग्री पाये बिना ही जीवन-विद्या अर्जित करके कई ग्रन्थों या वाणियों की रचना की थी। जीवन-विद्या पाकर मनुष्य अपनी क्षमता एवं स्थिति के अनुसार ही यथार्थता की धरती पर जीवन के भव्य भवन का निर्माण कर सकता है।

बाह्य शिक्षा के साथ आन्तरिक शिक्षण का समन्वय पैदा करने से जीवन-विद्या तैयार हो सकती है। इस जीवन-विद्या के अभाव में जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता सम्भव नहीं है। अतः लोकव्यवहार से लेकर सेवा, भक्ति, परमार्थ, व्यापार-व्यवसाय, उपदेश-प्रदान आदि सभी क्षेत्रों में जीवन-विद्या की आवश्यकता होती है। जीवन-विद्या के अभाव में परमार्थ की दुहाई देकर रात-दिन श्रम करने वाले स्वार्थी बन जाते हैं, निष्काम सेवा के पथिक नाम-संग्रह में—कामनाओं, वासनाओं की पूर्ति में लग जाते हैं, [illegible] आसक्त और नियमों और क्रियाओं का आचरण करने वाले पाखण्डी एवं दाम्भिक बन जाते हैं। जीवन-विद्या से युक्त व्यक्ति धीरे-धीरे शुभ के [illegible], परमार्थ की तरफ स्वार्थ की साधना से तथा दूसरों की सेवा करने के [illegible] बढ़ते चले जाते हैं। [illegible] समस्याएँ, दुःख, परेशानियाँ, कष्ट, [illegible], [illegible] आदि-व्याधि-उपाधियों का [illegible] कारण जीवन-विद्या का अभाव [illegible] शिक्षा से [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] हो

प्राप्त होती है, वह प्राप्त होती है या तो निसर्ग-प्रकृति की खुली पाठशाला से, या फिर सद्गुरुओ की कृपा से। यही बात तत्त्वार्थसूत्र मे कही है—

'तन्निसर्गादधिगमाद् वा।'

"वह सम्यग्दर्शन—सच्ची दृष्टि, आध्यात्मिक ज्ञान निसर्ग से या अधिगम—गुरु आदि के निमित्त से प्राप्त होता है।"

प्रकृति से जीवन-विद्या प्राप्त करने वाले बहुत विरले हैं। अधिकाश व्यक्तियो को गुरु द्वारा ही वह प्राप्त होती है। बादल, झरने, नदी, समुद्र, पर्वत, सूर्य, चन्द्र आदि विश्व के विद्यालय की पुस्तकें हैं। सारी सृष्टि जीवन-विद्यानिष्ठ के लिए खुली हुई पुस्तक है। परन्तु वह भी प्राय गुरु द्वारा दिव्य दृष्टि—ज्ञानचक्षु खोलने पर ही आती है।

गुरु शिष्य को ऐसी जीवन-विद्या उसके विनय, नम्रता, जिज्ञासा, श्रद्धाभक्ति, आदि से प्रेरित होकर दिल खोलकर देता है। गुरु के प्रति निष्कपट समर्पण का कई-गुना फल शिष्य को मिलता है।

गुरु का कठोर व्यवहार और विनीत शिष्य

कई बार ऐसा मालूम होता है कि गुरु शिष्य के प्रति अत्यन्त कठोर व्यवहार कर रहे हैं। गुरु के द्वारा किये जाते हुए कठोर व्यवहार को देखकर सुविनीत और समर्पित शिष्य उसे अपने लिए महान् हितकर समझता है, वह उन्हे अपना हितैषी और उपकारी समझता है, लेकिन जिसके हृदय मे गुरु के प्रति श्रद्धा नही है, विनय-भक्ति नही है, समर्पण भावना नही है, वह सोचता हे कि गुरु मेरे पर अत्याचार कर रहे है, वे प्यार करने के बदले मुझे डॉट-डपट करते है, मेरे किये हुए कार्यों की नुक्ताचीनी करते हैं, मेरे सामने मेरी कभी प्रशसा नही करते, उल्टे आलोचना ही करते हैं, इसलिए वे मेरे प्रति द्वेष और दुर्भाव रखते हैं, वे मेरे शत्रु हैं। इसी विचार को उत्तराध्ययन सूत्र मे मनोवैज्ञानिक ढग से प्रस्तुत किया गया है—

जं मे बुद्धाणुसासति सीएण फरुसेण वा।
मम लाभोत्ति पेहाए, पयओ त पडिसुणे ॥
अणुसासणमोवाय दुक्कडस्स य चोयणं।
हियं त मण्णइ पण्णो, वेस होइ असाहुणो ॥

प्रबुद्ध गुरुदेव मुझ पर ठण्डे अथवा मन्द या कठोर अनुशासन का प्रयोग करते है, उसमे मेरा ही लाभ है, यह मानकर बुद्धिमान एव विनीत शिष्य ध्यानपूर्वक उनकी बात सुने और उन्हे आश्वासन दे कि भविष्य मे ऐसा नही होगा या जैसा आप कहते हैं, वैसा ही होगा। गुरु द्वारा किये जाने वाले कठोर अनुशासन के प्रयोग और दुष्कृत (अकृत्य) के लिए की गई प्रेरणा (वाचिक भर्त्सना) को देखकर प्राज्ञ शिष्य गुरु को अपना हितैषी मानता है, जबकि असाधु (दुर्जन या मूढ) शिष्य उन्हे द्वेषी समझता है।

जिस शिष्य के हृदय मे गुरु के प्रति श्रद्धा-भक्ति या विनय-बहुमानता होती है, वह गुरु के द्वारा दिये जाने वाले कठोर दण्ड एव वचनो को अपने मे रहे हुए दोषो, बुराइयो और दुर्वृत्तियो को निकालने और स्वय को सुधारने का उपाय समझ कर उन्हे महान् उपकारी मानते हैं। वे समझते हैं कि जिस तरह कुंभार घडा बनाते समय जब तक वह कच्चा होता है, तब तक ऊपर से लकडी के डण्डे से थप-थप मारता है, लेकिन अन्दर वह हाथ भी रखता है, ताकि घडा फूट न जाए, उसी तरह गुरु अपने सुविनीत शिष्य को ऊपर से फटकारते हैं, दण्ड भी देते हैं, कठोर वचन भी कह देते है लेकिन उनके अन्तर् मे शिष्य के प्रति लबालब प्यार होता है।

यही बात सन्त कबीर कहते हैं—

> गुरु कुम्हार, शिष्य कुम्भ है, घड़-घड़ काढ़े खोट।
> अन्तर हाथ सहारा दे, बाहर वाहे चोट॥

वे यह देखते रहते हैं, कि इसका कोई अग-भग या अहित न हो जाए। शिष्य की कमियो और त्रुटियो को दूर करने हेतु ही गुरु ऊपर से वचनादि द्वारा प्रहार भी करते है तो अन्दर मे प्यार का हाथ भी होता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने गुरु के लिए ठीक ही कहा है—

> उपरि करवालधाराकाराः क्रूरा भुजगमपुगवात्।
> अन्तःसाक्षाद् द्राक्षादीक्षागुरवो जयन्ति केऽपि जनाः॥

'ऊपर से तलवार की धार के समान तीक्ष्ण आकृति वाले तथा महा-विषधर से भी बढ़कर क्रूर, किन्तु अन्दर से मानो मधुर द्राक्ष को भी प्रत्यक्ष माधुर्य-दीक्षा देने वाले कई गुरुजन ससार मे विजयी होते है।'

वास्तव मे सच्चा गुरु बाहर से चाहे जितना कठोर हो, उनके अन्तर् मे शिष्य के प्रति वात्सल्य की मधुर धारा बहती है।

ज्ञानपिपासु प० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ज्ञान प्राप्ति के लिए गुरु परिपूर्णानन्दजी से भारतीय विद्याओ का अध्ययन करने आये थे। उन दिनो की बात है—एक दिन वे जब अपने गुरु परिपूर्णानन्दजी के हाथो बुरी तरह पीट गये तो एक हितैषी ने उन्हे कहा—'क्या भैया! आपको आपके गुरुदेव इतना मारते और कडुआ बोलते है, फिर भी आप उनकी सेवा इतनी लगन और तत्परता से करते है, जैसे वह आपके बाप [illegible] हो। [illegible] श्रद्धा व्यक्त करते हो? [illegible] तो आप अपने घर चले गये होते और [illegible] नौकरी [illegible] जाती। कोई अच्छी नौकरी मिल जाती और [illegible] मे मौज करते।"

इस पर जिज्ञासु ने गुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा से पूर्ण उत्तर दिया—'हाँ, वे मुझे मारते है [illegible] उनका स्वभाव है कि वे [illegible] । आपकी सलाह और

सवेदना के लिए आभार, किन्तु भाईजी ! मुझे पद, प्रतिष्ठा और यश की कामना कम, मनुष्य-जीवन के सदुपयोग और सार्थक करने की चिन्ता अधिक है। मैं अपने जीवन को विलासिता मे डालकर बिगाडना नही चाहता, किन्तु गुरुसान्निध्य मे रह कर उसे सुधारना और सुसंस्कृत करना, उसका नवसर्जन करना चाहता हूँ।"

फलत पण्डित ब्रह्मदत्तजी ने वैदिक युग के गुरुकुलीय विद्यार्थी की तरह अपना जीवनक्रम प्रारम्भ किया और निष्ठापूर्वक विद्याध्ययन भी किया। यही कारण है कि पण्डितजी का जीवन बच्चो की तरह सरल, निश्छल और निरभिमान बना। उनमे पाडित्य का दर्प नही था, न अपनी पद-प्रतिष्ठा के लिए भारतीय सस्कृति से ओत-प्रोत सादी वेशभूषा छोडने का स्वार्थ था। वे इतने दृढव्रती थे कि १५ अगस्त १९६२ को जब उन्हे 'राष्ट्रीय सम्मानित पण्डित' की उपाधि मिली, तव राष्ट्रपति भवन से सम्मान करने की शासकीय सूचना आई कि अमुक तारीख को काला कोट और पायजामा पहन कर राष्ट्रपति भवन मे आना चाहिए।

इस पर उन्होने उत्तर दिया—"मै जिस वेशभूषा मे रहता हूँ, उसी मे आऊँगा। यदि इसमे कुछ आपत्ति हो तो मैं बेशक यह सम्मान छोडने के लिए तैयार हूँ।" उसके बाद वे राष्ट्रपति भवन तभी गए, जब उन्हे अपनी ही भारतीय वेशभूषा मे आने की स्वीकृति दे दी गई।

पण्डितजी के हृदय मे मानव-मानव मे कोई भेद-भाव नही था। घर मे आए हुए साधारण चपरासी की भी वे वैसी ही आवभगत करते थे, जैसी कि एक सभ्रान्त व्यक्ति की। जन्म से कोई भी अछूत हो जाता है, इस भूल भरी मान्यता से पण्डित जी कोसो दूर थे।

पण्डित ब्रह्मदत्तजी मे ये सद्गुण, ये सुसस्कार कहाँ से आए थे ? अपने गुरु के सान्निध्य से, सेवा-सुश्रूषा और श्रद्धाभक्ति से ही।

सच्चा गुरु शिष्य को पथभ्रष्ट होते रोकता है, कब और कैसे ?

सच्चा गुरु अपने सुविनीत और श्रद्धाभक्ति से ओतप्रोत शिष्य को जब सुख-सुविधा, स्वार्थ और वासना की झाडियो मे फँसते देखता है तो उसका हृदय उसे पथ-भ्रष्ट होने से रोकने के लिए छटपटाता है। वह शीघ्र ही किसी न किसी उपाय से शिष्य की आँखे (ज्ञाननेत्र) खोल देता है, ताकि वह स्वय उत्पथ और सुपथ का ज्ञान-विवेक कर सके और उत्पथ को छोडकर सुपथ को ग्रहण कर सके। परन्तु यह तभी हो सकता है, जब गुरु के प्रति शिष्य की श्रद्धाभक्ति, विनय-बहुमान और सेवा-शुश्रूषा की भावना हो। शिष्य मे आई हुई लोभवृत्ति को गुरु किस कौशल से दूर करते हैं, और उसे हेय उपादेय का ज्ञान प्रत्यक्षवत् करा देते है, इसके सम्बन्ध मे एक प्राचीन वैदिक युग का उदाहरण लीजिए—

महर्षि उद्दालक के आश्रम मे शिखिध्वज उच्च साधना करने आया था। उसकी कुछ योग्यताओ की जाँच करके गुरु उद्दालक ऋषि ने उसे मन्त्रदीक्षा देते हुए

कहा—'शिखिध्वज ! देखो, अपनी सेवा स्वयं करना, ब्रह्मचर्यव्रत पालन, भूमिशयन, वल्कलवसन तथा उपवास और उपासना से बचे हुए समय में धर्मग्रन्थों का स्वाध्याय, चिन्तन, मनन साधना की प्रारम्भिक आवश्यकताएँ हैं। आज तुम्हारी मन्त्रदीक्षा सम्पन्न हुई है। अब से तुम पूजन सामग्री, उपयुक्त पात्र तथा कुशासन अपने पास रखना, पंचोपचारसहित मन्त्र जप करना, और शुभ्रज्योतिस्वरूप निराकार भगवती गायत्री का ध्यान करना। जब तुम इस प्रारम्भिक साधना को सफलतापूर्वक पार कर लोगे, तो आगे उच्चस्तरीय साधना के लिए तुम्हें अग्निदीक्षा दी जाएगी।"

यह कहकर महर्षि उठ खड़े हुए। शिखिध्वज में गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा-भक्ति थी। इसीलिए उन्होंने उसे मन्त्रदीक्षा दी थी। श्रद्धा शिष्य की प्रारम्भिक परख है। आत्म-जिज्ञासा होना और बात है, श्रद्धा और जिज्ञासाएँ तो नास्तिकों में भी होती हैं, किन्तु दुर्बल मानवीय स्वभाव के विपरीत ऊर्ध्वगामी जीवन और कष्टपूर्ण साधनाओं में जिस धैर्य की आवश्यकता होती है, वह श्रद्धावान, सुविनीत व्यक्तियों में ही होती है। इसीलिए कहा है—

श्रद्धावाल्लभते ज्ञानम्, श्रद्धया सत्यमाप्यते।

अर्थात् श्रद्धावान ही ज्ञानार्जन करते हैं, श्रद्धा से ही सत्य की प्राप्ति होती है।

हाँ तो, श्रद्धा-भक्तिपूर्ण हृदय से शिखिध्वज ने गुरु-चरणों में प्रणिपात किया, महर्षि ने आशीर्वाद दिया और दोनों अपने अपने पर्णकुटीरों में चले गये।

एक वर्ष में शिखिध्वज ने भली-भाँति अनुभव कर लिया कि संसार जड़-चेतन दोनों प्रकार के परमाणुओं से बना है। जिस प्रकार जड़ परमाणु इधर-उधर घूमते हुए अपना दृश्य जगत बनाते रहते हैं, उसी प्रकार चेतना भी आनन्द प्राप्ति के लिए जहाँ-तहाँ विचरण करती रहती है। जब तक मन जड़ परमाणुओं से बने संसार में सुख खोजता है, तब तक वह भूले हुए पथिक की तरह वन और काँटों में विचरण करता कष्ट पाता है, जब वह यह जान लेता कि आत्मा की आनन्द-पिपासा विराट्-आत्मा बनने से बुझती है, तो फिर वह जन्म-मरण के चक्र में आत्म-चेतना को भटकाता नहीं, वरन् अपने भौतिक संस्कारों का प्रक्षालन करने और आत्मा को परमात्मा में अन्तर्लीन करके असीम आनन्द प्राप्ति की तैयारी में जुट जाता है।

साधना का यह द्वितीय (अग्नि-दीक्षा का) द्वार सिद्धान्ततः जितना सरल है, व्यवहार में उतना ही कठिन है। जन्म-जन्मान्तरों का अभ्यासी मन लौकिक एवं भौतिक सुखों का अकस्मात् त्याग करने के लिए तैयार नहीं होता। बड़ा भारी संग्राम करना पड़ता है, तब कहीं मन की मलिनताएँ, वासनाएँ दूर होती हैं। इस स्थिति तक पहुँचे हुए साधकों को भी उनकी थोड़ी-सी चूक पथभ्रष्ट कर सकती है, यहाँ जैसी उपलब्धियों से क्षणभर में नीचे गिरा सकती है। इसीलिए प्रायः गुरु या आचार्य शिष्य को अग्निदीक्षा तभी देते थे, जब वह इतनी साधना प्राप्त कर लेता था।

मन्त्रदीक्षा का अभ्यास पूरा हो चुका था। शिखिध्वज ने गुरुदेव के चरणों में विनीत भाव से कहा— गुरुदेव ! आपकी कृपा से प्रारम्भिक साधना का

अन्तिम चरण आज पूरा हो रहा है। मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि मैं अब उच्च-स्तरीय साधनाओ मे प्रवेश करके सिद्धियाँ प्राप्त करूँ, पचकोशो का अनावरण करके आनन्दमय भूमिका मे पहुँचूं।"

जीवन के पारखी महर्षि शिष्य की निष्ठा से प्रसन्न तो हुए, मगर भीतरी दृढता को टटोले बिना आगे की साधना की स्वीकृति नही दी। अभी उन्हे शिखिध्वज की अग्निदीक्षा के उपयुक्त पात्रता की परीक्षा करनी थी।

अतः महान तपस्वी, अनेक सिद्धियो के भण्डार महर्षि ने गायत्री-प्रदत्त पारस-मणि चुपचाप निकाली और एक अन्य विद्यार्थी को भेजकर थोडा-सा लोहा मंगाया। वह कई लौह-शलाकाएं लेकर उपस्थित हुआ। महर्षि ने उन लौहशलाकाओ से ज्यो ही पारसमणि का स्पर्श कराया, त्यो ही वे सब सोने की बन गयी। शिखिध्वज गुरु का चमत्कार देखकर आश्चर्यचकित हो गया। उसके मन मे जड द्रव्य के सम्पर्क से सुख-प्राप्ति का दुर्विचार उठा—'अहा! धन से ही तो धर्म होता है, धर्म से पुण्य और पुण्य मुक्ति! मुक्ति-मार्ग मिल गया मुझे। बस, यह पारसमणि मिलते ही मै मुक्तिपथ पा लूंगा।'

एक वर्ष की साधना के द्वारा निर्मल किया हुआ मन एक ही क्षण मे लोभ—पारसमणि के लोभ की कीचड मे डूब गया। चढने मे परिश्रम और समय दोनो लगाने पडते हैं, लेकिन फिसलने मे कितनी देर लगती है!

महर्षि शिखिध्वज की मनोवृत्ति को भांप गए, वे सोचने लगे—जो व्यक्ति इतनी कमजोर निष्ठा वाला है, वह अग्निदीक्षा का अधिकारी कैसे हो सकता है? यह तो धन की बात थी, अभी तो सौन्दर्य, यश, स्वर, भौतिक सुख-सुविधा आदि के कितने ही आकर्षण हैं। इस एक (धन) के आकर्षण से ही मुक्त न हो सका, वह ब्रह्म-दीक्षा तक पहुंचने की कठिनाई कैसे झेल सकेगा? सर्वशक्तिमान ब्रह्म और उसका अन्यतम ऐश्वर्य प्राप्त करने की कठिनाइयो और आग्नेय परीक्षाओ का अनुमान ही वह कैसे कर सकता है? आत्म-प्राप्ति का परम पुरुषार्थ तो बहुत चढाई का रास्ता है। उसमे समस्त इच्छाओ, अहकार आदि वासनाओ को नष्ट करना पडता है। किन्तु शिखिध्वज तो पहले ही चरण मे ढेर हो गया।

महर्षि उद्दालक कुछ कहे, उससे पहले ही उसने अपना मन्तव्य बतलाते हुए कहा—"गुरुदेव! आप सचमुच भगवान है, सर्वसमर्थ हैं। कितना अच्छा हो, आप यह पारसमणि मुझे दे दें। इससे प्राप्त स्वर्ण-राशि का उपयोग मैं समाजहित मे, यज्ञ-कार्यों मे करूँगा और इस तरह ससार से मुक्त हो जाऊंगा।"

गुरु अपने शिष्य शिखिध्वज के बचकानेपन पर मुस्कराये, कुछ गम्भीर होकर उन्होने कहा—"वत्स! पारसमणि को लेकर यदि तुम सासारिक आकर्षणो मे फँस कर अपना पतन कर लो, पापपक मे डूबकर धर्म-मर्यादाओ को कलकित कर डालो, तो क्या पता? इसलिए पहले तुम्हे इस सत्यता को सिद्ध करना होगा कि धर्म और

सांसारिकता में, आसक्ति और वैराग्य में कौन श्रेष्ठ है, कौन बड़ा है? चलो, आज हम यहाँ से दूर चलेंगे।"

शिखिध्वज महर्षि उद्दालक के साथ चल दिया। दोनों दिन भर चलकर रात्रि को वहाँ से ५ योजन दूर एक गाँव में पहुँचे। उस गाँव में ब्राह्मणों और क्षत्रियों का बाहुल्य था। एक कुलीन के गृहस्थ के यहाँ वे टिके।

सन्ध्या-उपासना करके उद्दालक ने गृहस्थ को बुलाकर कहा—"यदि आप अपनी युवा-पुत्री को रात भर के लिए हमारे पास रहने दें तो हम मन्त्र शक्ति से आपके घर में उपलब्ध सारे लोहे को स्वर्ण राशि में बदल सकते हैं।"

पहले तो गृहस्थ इस सन्यासी की धूर्तता पर झुंझलाया लेकिन स्वर्ण राशि के लोभ में शिखिध्वज की तरह वह भी फिसल गया। सोने के लोभ में पुत्री देना स्वीकार कर लिया। वैभव-विलास के रंगीन सपनों ने उसकी प्रतिरोध शक्ति नष्ट कर दी। महर्षि ने उस गृहस्थ के घर की लोह राशि स्वर्ण में बदल दी। गृहस्थ ने अपनी पुत्री महर्षि को समर्पित कर दी। महर्षि ने बालिका की पीठ पर स्नेह का हाथ फेरते हुए कहा—"पुत्री! तुम्हारी पितृभक्ति प्रशंसनीय है, पर धन के लोभी पिता की आज्ञा से धार्मिक मर्यादाएँ महान् होती हैं। तुम्हें पिता के अनुचित एवं अविवेकपूर्ण निर्णय को नहीं मानना चाहिए था, आवश्यकता पड़ने पर उनका प्रतिरोध करना चाहिए था।"

शिखिध्वज ने यह सब अपनी आँखों से देखा। इसके बाद महर्षि वहाँ रुके नहीं, रात को ही आगे चल दिए।

महर्षि को भेंट कर दिया। महर्षि ने उस बच्चे को तो उसकी माँ के पास पहुँचा दिया, परन्तु शिखिध्वज को इससे यह शिक्षा मिल गई कि लोभी मनुष्य समाज के लिए भी कितना घातक हो सकता है।

वहाँ से आगे बढकर अगले दिन दोनो एक विद्वान ब्राह्मण के यहाँ पहुँचे। महर्षि ने कहा—"यदि आप अपने सम्पूर्ण ग्रन्थ मुझे बेच दें, उनका स्वामी, रचयिता सब मुझे बना दें तो मैं आपके घर मे प्राप्त सभी लोहे को सोने मे बदल दूंगा।" विद्वान् ने भी सोने के लोभ मे स्वाभिमान को ताक मे रखकर यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार सासारिक सुख के लिए मनुष्य अपने आदर्श और सिद्धान्त ही नही, शान और स्वाभिमान तक बेच सकता है। यह अनुभवयुक्त प्रत्यक्ष ज्ञान शिष्य को दिलाकर महर्षि वहाँ से चल पडे और सन्ध्या होने से पूर्व अपने आश्रम मे लौट आये।

सारे आश्रमवासी शिक्षार्थी एक-एक करके महर्षि के चरणो मे शीश झुकाते चले जा रहे थे। शिखिध्वज ने देखा कि अनुशासन मे कितनी शान्ति, सन्तोष और आनन्द का भाव झलक रहा है। आज उसे अपनी हीनता पर पश्चात्ताप हो रहा था। वह देख चुका था कि तृष्णाएँ मनुष्य से छल, चोरी, हत्या, व्यभिचार और न जाने कितने कुत्सित कर्म करा सकती है। मनुष्य का जीवन मनुष्यता से गिरकर पाशविकता का आचरण करने के लिए नही, अपितु अपने ध्येय को समझकर उसे प्राप्त करने के लिए मिला है। इसलिए धर्म बडा है, सासारिकता नही, वैराग्य बडा है, आसक्ति नही।

इसलिए जब महर्षि ने बुलाकर कहा—"लो वत्स ! यह पारसमणि ! इसे ले जाओ और सासारिक सुखो का जी भर कर उपयोग करो।"

तब उसने पारसमणि लौटाते हुए कहा—"गुरुदेव ! मुझे यथार्थ पारस (अनुभवसिद्ध तत्त्वज्ञान) मिल चुका है, अब मुझे इसकी जरूरत नही। यही दुख रहा कि इस नकली पारस के लोभ मे मेरी एक वर्ष की साधना व्यर्थ गई। अब आशीर्वाद दें कि इसी साधना का पुन अभ्यास करूँ और अग्निदीक्षा की पात्रता प्राप्त करूँ।"

वास्तव मे गुरुदेव उद्दालक ऋषि ने अपने लोभाविष्ट शिष्य की आँखें प्रत्यक्ष ज्ञान कराकर खोल दी थी। इसीलिए 'गुरु' शब्द की व्युत्पत्ति व्याकरणशास्त्रियो ने की है—

> 'गु' शब्दस्त्वन्धकारस्य, 'रु' शब्दस्तन्निरोधकः।
> अन्धकारनिरोधत्वाद्, गुरुरित्यभिधीयते ॥

'गुरु शब्द मे दो अक्षर हैं—'गु' और 'रु'। 'गु' अक्षर अन्धकार का वाचक है और 'रु' अक्षर निरोध का। शिष्य के अज्ञान-अन्धकार का निरोध करने के कारण वह 'गुरु' कहलाता है।"

गुरु के ज्ञान का प्रकाश कौन और कैसे पा सकता है ?

परन्तु यह बात निश्चित है कि गुरु के ज्ञान का प्रकाश वही पा सकता है, जिस शिष्य मे गुरु के प्रति श्रद्धा, भक्ति, सेवा-शुश्रूषा, विनय और समर्पण भावना होगी शिष्य मे गुरु का ज्ञान ग्रहण करने हेतु कौन-कौन-से गुण होने आवश्यक हैं ? इसके लिए उत्तराध्ययन सूत्र (अ० १) की टीका मे बताया है—

> सुस्सूसा पडिपुच्छा सुणणं गहण च ईहणमवाओ ।
> धरण करण सम्मं, एआइं होंति सीसगुणा ॥

सुशिष्य के ये गुण होते हैं—

(१) शुश्रूषा (गुरु के वचन सुनने की तीव्र उत्कण्ठा),

(२) प्रतिपृच्छा (न समझ मे आए उसके सम्बन्ध मे विनयपूर्वक पूछना),

(३) श्रवण (रुचि एव श्रद्धापूर्वक सुनना),

(४) ग्रहण (सुनकर ठीक से ग्रहण करना),

(५) ईहन (अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये हुए अत्यन्त अस्पष्ट ग्रहण को स्पष्ट करने हेतु उपयोग विशेष),

(६) अपाय (हेय को छोडना, उपादेय को ग्रहण करना),

(७) धरण (सम्यक् धारणा—निश्चित अर्थ का ग्रहण करना, जिससे स्मृति बनी रहे),

(८) सम्यक्करण (इन्द्रियो और मन आदि करणो का सम्यक् उपयोग करना अथवा गुरु के वचनो को सम्यक् रूप मे क्रियान्वित करना)।

जिस शिष्य की गुरु के प्रति समर्पण वृत्ति होती है, उसे गुरु चाहे विधिपूर्वक शास्त्रीय वाचना दें या न दें, उसके मस्तिष्क मे गुरु के मन मे स्थित अर्थ किसी न किसी तरह उतर जाता है। जो शिष्य गुरु की सेवा-भक्ति श्रद्धापूर्वक करता है, अनपढ़ होने पर भी गुरुप्रदत्त स्पर्शदीक्षा से उसे सब शास्त्रो या धर्मग्रन्थो के अर्थ की स्फुरणा हो जाती है।

रामकृष्ण परमहंस के एक शिष्य थे, जो पढे-लिखे नही थे। परन्तु उनमें गुरु की सेवाभक्ति करने की अद्भुत लगन थी। गुरु की आज्ञा होते ही वे हर एक काम के लिए तैयार रहते थे। यहाँ तक कि गुरु-आज्ञा होने पर शीघ्र ही किसी प्रकार के तर्क वितर्क किये बिना उसे अमल मे लाते थे। उनके कहने से पहले ही वे उनकी आवश्यकतानुसार सब चीजें प्रस्तुत कर देते थे, काली-पूजा आदि का सब सामान समय पर उपस्थित कर देते थे। कहते हैं, उनके गुरु रामकृष्ण की उपस्थिति मे सीधे-सादे अविद्वान-से लगने वाले वह शिष्य गुरु के स्वर्गवास के बाद उपनिषदो और गीता आदि ग्रन्थो की सुन्दर व्याख्या भी करने लगे। उन पर सुन्दर व्याख्यान भी देने लगे। यह रामकृष्ण परमहंस की कृपा थी कि वे उन्हे स्पर्शदीक्षा दे गये।

निर्युक्तिकार भी एक गाथा के द्वारा गुरु के प्रति सुविनीत शिष्य को गुरु से अनायास ही ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, इस सम्बन्ध मे कहते हैं—

विणओणएहिं पंजलिउडेहिं छंदमणुयत्तमाणेहिं ।
आराहिओ गुरुजणो, सुयं बहुविहं लहुं देइ ॥

"वन्दना, बहुमान, श्रद्धाभक्ति आदि से जो नतमस्तक रहते है, किसी विषय मे प्रश्न पूछते समय भी करबद्ध रहते हैं, तथा गुरु के अभिप्राय को इगित, आकार आदि से जानकर उस पर श्रद्धा तथा उसका समर्थन करते है, और तदनुसार आचरण करते है, उन शिष्यो द्वारा आराधित गुरुजन अनेक प्रकार के शास्त्रो, सिद्धान्तो एव तत्वो का ज्ञान हृदय से शीघ्र प्रदान करते है।"

कई बार गुरुदेव शिष्य के इन विनयादि गुणो की कठोर परीक्षा करते हैं। उस कठोर परीक्षा मे जब वह उत्तीर्ण हो जाता है, तब गुरु के हृदय से शिष्य के प्रति आशीर्वाद उमड पडते हैं। उसे गुरु के द्वारा पढाये बिना ही स्वत आत्मज्ञान या तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाता है।

कुमारजीव प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान कुमारायण के पुत्र थे। कुमारजीव के जन्म के कुछ अर्से बाद ही उनके पिता का देहान्त हो गया था। पति का प्रचार कार्य पूर्ण करने हेतु उनकी माता 'देवी' बौद्ध भिक्षुणी बन गई। बौद्ध भिक्षुणी बनने के बाद भी कुमारजीव की बुद्धिमती माता यह न भूली कि उसके सम्मुख कुमारजीव है, जिसे हर प्रकार से योग्य बनाकर समाज व ससार की सेवा मे समर्पित करना है। फलत' कुमारजीव की शिक्षा-दीक्षा तथा जीवन-निर्माण के लिए वह उन्हे कश्मीर ले गई, जो उस समय विद्या का बहुत बडा केन्द्र माना जाता था।

वहाँ कुमारजीव की माता ने उन्हे प० बन्धुदत्त नामक एक महान् चरित्रवान विद्वान की सरक्षता मे छोड दिया। बन्धुदत्त जितने बडे विद्वान थे, उतने ही वे शिष्य बनाने मे कृपण थे। उन्होने अपने जीवन मे बहुत ही कम शिष्य बनाये किन्तु जो भी बनाये, उन्हे चोटी के विद्वान बना दिया। इसलिए वे शिष्य बनने के इच्छुक व्यक्ति की कडी परीक्षा लेकर पहले परख लिया करते थे कि इसमे बोए हुए विद्या के बीज अकुरित भी होंगे या नही ? निरर्थक, अविनीत एव उद्दण्ड शिष्यो के साथ सिर खपाने के लिए फिजूल समय उनके पास न था।

निदान, अपने नियमानुसार बालक कुमारजीव को भी उन्होने नही छोडा। उसके चरित्र, विनयादि गुण, स्वभाव, कर्म, संस्कार मे जमे बीजाकुरो को उन्होने कठोरता से जाँचा-परखा। जब बालक गुरु की कसौटी पर खरा उतरा तभी उसे अपना शिष्य बनाया। फिर उसकी शिक्षा-दीक्षा मे पूरी तत्परता दिखाने मे कोई कसर न छोडी।

कठोर गुरु जब शिष्य की सुयोग्यताओ से प्रसन्न होता है तब शिष्य को पढाना क्या, वास्तव मे ज्ञानालोक के रूप में स्वय उसकी आत्मा मे बैठ जाता है।

पितृहीन बालक कुमारजीव के भाग्य खुल गये। गुरु-कृपा उस पर उतरी। वे सस्कृत भाषा, बौद्ध दर्शन आदि के प्रकाण्ड पण्डित बनने के साथ-साथ चरित्रवान, विनीत एव अनुशासित तथा सयमी भी बन गये।

अविनीत को विपत्ति और विनीत को सम्पत्ति

वास्तव मे जिस शिष्य मे विनय का गुण प्रधान रूप से होता है, उसमे अन्य सब गुण—निरहकारता, नम्रता, मृदुता, ऋजुता, निश्छलता, सेवा-शुश्रूषा, सेवा-भक्ति, समर्पणवृत्ति आदि आ जाते हैं। इसके विपरीत जिस शिष्य मे विनय नही होता, चाहे वह अन्य सब धार्मिक क्रियाएँ करता हो, स्वय शास्त्र स्वाध्याय करता हो, ध्यानादि करता हो, वह अपने जीवन मे आध्यात्मिक उन्नति तथा ज्ञान—अध्यात्म-ज्ञान का विकास नही कर पाता। जब वह आचार्य या गुरु की आज्ञा मे नही चलता, अपनी मनमानी करता है, तब न तो वह यथार्थ रूप से अध्यात्मज्ञान कर पाता है, न उसके जीवन का गुणो एव सुसस्कारो की दृष्टि से निर्माण होता है। कई बार तो ऐसे अविनीत और अहकारी शिष्य को कोई भी अपने पास रखने को तैयार नही होता। तब वह निरकुश होकर स्वच्छन्द वृत्ति से इधर-उधर भटकता रहता है।

उज्जयिनीनिवासी श्रावक अम्बऋषि विप्र का इकलौता पुत्र निम्बक था। निम्बक की माता श्राविका मालुगा के देहान्त होते ही पिता पुत्र दोनो को ससार से विरक्त हो गयी। उन्होने एक जैनाचार्य से साधुदीक्षा ले ली। परन्तु शिष्य बनने से ही बेडा पार नही हो जाता। निम्बक का जैसा नाम था, वैसा ही नीम-सा कटु और और दुर्विनीत था। चाहे जिस साधु के साथ, यहाँ तक कि गुरु के साथ भी बात-बात मे झगडा कर बैठता, अटसंट बोलने लगता। उसकी दुर्विनीतता से तग आकर सभी साधुओ ने आचार्य से प्रार्थना की—"या तो आप इस निम्बक को रखिये, या हमे रखिये। इसकी उद्धतता से हम तग आ गये हैं, अगर आप इसे रखेंगे तो हम सब अन्यत्र चले जायेंगे।" गुरुदेव निम्बक की दुर्विनीतता से परिचित थे ही। अत उन्होने अपने सघ से निम्बक को बहिष्कृत कर दिया। निम्बक के मोहवश उसका पिता अम्बऋषि भी उसके साथ ही चला गया। दोनो किसी दूसरे आचार्य के पास जाकर रहे, किन्तु वहाँ भी सडी कुतिया की तरह उसके अपलक्षण जानकर उसे निकाल दिया गया। उज्जयिनी मे जितने भी सघाटक थे, उन सबके प्रमुख साधुओ के पास ये गये, लेकिन वहीं भी टिक न सके।

एक दिन पिता निम्बक के इस दुर्गुण के कारण बहुत ही दु खित होकर रुदन करने लगे। उन्हे दु खित देखकर निम्बक बोला—"आप क्यो रो रहे हैं ? क्या बात है ?" अम्बऋषि ने कहा—"मैं तेरे अपलक्षणो को देखकर रो रहा हूँ, भटकते-भटकते दु खित हो गया हूँ, तेरे अविनय के दुर्गुण के कारण हमे कही स्थान नहीं मिलता। सर्वत्र हमारा विश्वास उठ गया है।"

निम्बक बोला—'पिताजी ! आप एक बार यही ऐसा स्थान ढूढिए, जहाँ हम

शान्ति से रह सकें। मै आपको वचन देता हूँ कि अव मैं विनीत होकर रहूँगा, मै किसी को भी हैरान न करूँगा।"

यह सुनकर अम्वऋषि अपने पुत्र निम्वक को लेकर पुन अपने गुरु आचार्य के पास आये और उनसे करवद्ध होकर सविनय प्रार्थना की—"गुरुदेव ! हमे अपने श्रीचरणो मे स्थान दीजिए। अव मेरा पुत्र किसी प्रकार की दुर्विनीतता, कलह, या क्लेश नही करेगा। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ।"

किन्तु इतना कहने पर भी अन्य साधुओ को विश्वास नही हुआ। इस पर आचार्यश्री ने सवको समझाया—"आर्यो ! एक रास्ता मुझे सूझा है। ये दोनो अभी तो हमारे पास पाहुने के रूप में रहेंगे, कुछ दिन रहने के बाद अगर इनकी प्रकृति मे हमने योग्य परिवर्तन देखा तो हम इन्हे रखेंगे, अन्यथा विदा कर देंगे।"

सभी साधुओ को यह वात उचित लगी। दोनो पिता-पुत्र (साधु) रहने लगे। अव निम्वक साधु पहले जैसा कटुनिम्वक नही रहा, वह एकदम वदल गया। आचार्य की आज्ञानुसार साधु-जीवन की मौलिक क्रियाओ का पालन करने लगा। आचार्य एवं वडे साधुओ के प्रति सदा विनीत, सेवाभावी, नम्र, मृदु, मधुरभाषी एव सरल वन गया। सभी साधुओ ने, यहाँ तक कि उज्जयिनी के सभी सघाटको के साधुओ ने उसे अमृत के आम-सा मान लिया। वह सघ के लिए महान उपयोगी, सेवाभावी, महा-विनयी वन गया। उसने दशवैकालिक सूत्र की इस गाथा को जीवन मे चरितार्थ कर लिया—

जेण कित्ति सुय सिग्घ नीसेसं चाभिगच्छइ।

"शिष्य के जीवन मे विनय आ जाने पर वह कीर्ति, शास्त्रज्ञान और शीघ्र ही नि श्रेयस को प्राप्त कर लेता है।"

विनीत शिष्य क्या पाता है ?

इसीलिए महर्षि गौतम ने इस जीवनसूत्र मे वताया कि शिष्य की शोभा विनय की प्रवृत्ति से है। विनय शिष्य के जीवन-प्रासाद की नीव है। उसके जीवन प्रासाद का सारा निर्माण-कार्य विनयरूपी नीव पर स्थित है। अगर उसके जीवन मे विनय की नीव पक्की है तो उसमे, सेवा, दया, क्षमा, सहानुभूति, श्रद्धा, भक्ति, नम्रता सरलता आदि सद्गुण स्वत आ जायेंगे। जैसा कि प्रशमरति मे कहा है—'विनयायत्ताश्च गुणा. सर्वे' समस्त गुण विनय के अधीन हैं। विनय समस्त गुणो का शृंगार है। धर्मरत्नप्रकरण मे भी वताया है—

विणएण नरो····जणपियत्त लहइ भुवणे।

'विनय के कारण मनुष्य ससार मे लोकप्रिय वन जाता है।" नीतिकार भी कहते है—'विनयाद्याति पात्रताम्' विनय के कारण शिष्य मे पात्रता आती है। विनय का माहात्म्य वताते हुए दशवैकालिक सूत्र मे कहा है—

तहेव सुविणी अप्पा लोगसि नरनारीओ ।
दीसति सुहमेहंता इड्ढि पत्ता महायसा ।।

"लोक मे जो सुविनीत आत्मा नर-नारी हैं, वे सुख-सम्पन्न, समृद्ध और महायशस्वी दिखायी देते हैं ।"

गुरुजनो की विनय-भक्ति से उनका आशीर्वाद पाकर कौन शिष्य ऐसा है, जो गुणों से समृद्ध, महायशस्वी एव सुख-सम्पन्न न हो जाता हो । चाहिए गुरुजनो के प्रति परिपूर्ण श्रद्धाभक्ति, विनय, समर्पणता एव गुरु-आज्ञा का शीघ्र-पालन । ऐसा शिष्य किसी दु.साध्य रोग से पीडित हो, तो भी गुरु-कृपा से उसका वह रोग मिट जाता है ।

एक विनीत, आज्ञाकारी एव विवेकी तथा सेवाभावी शिष्य को भीषण रोग लग गया, उनसे शरीर मे कीडे पड गये । शिष्य के शरीर की क्षीणता देखकर गुरु चिन्तित थे । गहराई से सोचा—यदि कही साँप के विष का योग मिल जाए तो रोग समूल नष्ट हो सकता है । पर यह योग मिले कैसे ?

एक दिन उपाश्रय मे काला सर्प निकला । गुरु ने शिष्य से कहा—"जाओ, वत्स ! साँप को नाप आओ कि कितना लम्बा है ?"

शिष्य विना किसी प्रकार का तर्क किये साँप को नापने चला । फण और पूँछ का सिरा ध्यान मे लेकर साँप के निकल जाने पर पीछे वाली जमीन को नाप कर गुरु को वता दिया, पर सोचा हुआ काम नही वना ।

अत गुरु ने फिर आज्ञा दी—"आयुष्मन् ! साँप के दाँत गिनकर आओ ।"

शिष्य तत्काल किसी आनाकानी के वगैर साँप के निकट पहुँचा । एक पैर से साँप की पूँछ दवाई, एक हाथ से फन पकड़ा और दूसरे हाथ की उगली उसके मुँह मे डालकर साँप के दाँत गिनने की चेष्टा की । किन्तु क्रुद्ध साँप ने उसकी उगली पर डक मार दिया । गुरुदेव से कहते ही उन्होंने फौरन शिष्य को अपने पास बुला लिया । गुरु ने उसे सुला दिया, एक कम्वल उस पर डाल दी । ज्यो-ज्यो सर्पविष शरीर मे फैलने लगा, त्यो-त्यो उसकी गर्मी से भीतर पैदा हुए कीडे वाहर निकलते गये । सारी कम्वल पर कीडे ही कीडे रेंगने लगे । गुरु ने कम्वल को छाया मे एक ओर झड़कवा दी, और फिर ओढ़ा दी । इस तरह दो-तीन वार मे सारे कीडे शरीर से निकल गये । शिष्य का शरीर कचन सा हो गया । वह विल्कुल स्वस्थ हो गया ।

शिष्य के स्वस्थ होने के वाद गुरु ने उससे पूछा—वत्स ! मैंने साँप के दाँत गिनने की आज्ञा दी, तव तुम्हारे मन मे मेरे प्रति क्या भाव आए ?"

शिष्य हाथ जोडकर सविनय वोला—"गुरुदेव ! मैं तो तन-मन से आपके प्रति समर्पित हूँ । यह मानता हूँ कि गुरु-आज्ञा मेरे लिए कभी अहितकर हो नही सकती । '**आज्ञा गुरुणामविचरणीया**' मैं तो यही वात जानता हूँ ।"

गुरु ने अन्तर् से आशीर्वाद दिया—"धन्य हो वत्स ! तेरा शीघ्र कल्याण हो ।"

विनय : शिष्य के लिए वहुमूल्य आभूषण

वास्तव मे विनय एक ऐसा आभूषण है, जिससे शिष्य का जीवन, गुण, यश, ज्ञान आदि सब चमक उठते हैं, उसके कारण सभी गुण सुसज्जित और प्रदीप्त हो जाते है। विनय के विना सभी गुण फीके और सौन्दर्यहीन लगते हैं। इसलिए उत्तराध्ययन सूत्र मे वताया गया है—

"विणए ठवेज्ज अप्पाणमिच्छतो हियमप्पणो।"

"जो अपना आत्महित चाहता है, वह अपनी आत्मा को विनय मे स्थापित कर दे।"

गुरु के प्रति विनय : कैसे और किस रूप में ?

शिष्य गुरु के प्रति विनय कैसे और किस रूप मे करे ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। इसके लिए दशवैकालिक सूत्र का 'विनयसमाधि' नाम का सारा अध्ययन प्रस्तुत है। इस पूरे अध्ययन का निष्कर्ष यह है कि विनय धर्म का मूल है। अगर धर्म को जीवन मे रमाना चाहते हो और उसके विवेकपूर्वक आचरण से अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाकर पूर्णता के गुणस्थान शिखर पर पहुँचाना चाहते हो, शास्त्र की भाषा में कहूँ तो—मोक्ष पाना चाहते हो और मोक्ष के लिए अनिवार्य कर्मक्षय करना चाहते हो, तो देव-गुरु-धर्म के प्रति विनय-भक्ति की आराधना-साधना करो। जहाँ जीवन मे सच्चे माने मे विनय गुण रम जाता है वहाँ आत्मा मे शान्ति, समाधि और तृप्ति आ जाती है। सासारिक विषयो की आसक्ति एव कषायो के दलदल मे वह आत्मा नही फँसती।

परन्तु विनयसमाधि को प्राप्त करने के लिए चार प्रकार दशवैकालिक सूत्र (अ० ९,३-४) मे बताए गये हैं—

"चउव्विहा खलु विणयसमाही भवइ। त जहा—अणुसासिज्जतो सुस्सूसइ, सम्म सपडिवज्जइ, वेयमाराहइ, न य भवइ अत्तसपग्गहिए।"

विनयसमाधि चार प्रकार की होती है, जैसे कि—(१) शिष्य गुरु द्वारा अनुशासित होते समय भी उनकी बात ध्यानपूर्वक सुनता है, (२) सम्यग् प्रकार से स्वीकार करता है, गुरु के वचनानुसार आचरण करता है, (३) उनकी आराधना करता है, (४) अपनी बात को पकड़े हुए नहीं रखता—पूर्वाग्रही नही होता। गुरुवचनो को ही प्रमाण मानता है। इस प्रकार गुरुदेव के प्रति विनयाराधना करने से शिष्य के जीवन मे चार चाँद लगते हैं, उसका जीवन अन्य सभी आवश्यक गुणो से चन्द्रमा की तरह सोलह कलाओं से खिल उठता है।

इसी कारण महर्षि गौतम ने कहा—

'मोक्खस्स सोहा विणए पवित्ति'

आप भी अपने गुरु के प्रति सर्वतोभावेन विनय मे प्रवृत्त होकर अपने जीवन को चमकाइए। □□

५४

ब्रह्मचारी विभूषारहित सोहता

प्रिय धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं ब्रह्मचारी-जीवन के सम्बन्ध मे आपसे चर्चा करूँगा । भारतीय जन-जीवन मे गृहस्थाश्रम के अतिरिक्त तीनो आश्रमों मे ब्रह्मचर्य-पालन अनिवार्य था । मानव-जीवन की सुदृढ नीव ब्रह्मचर्याश्रम पर टिकाई जाती थी, जिससे शेष जीवन भी ब्रह्मचर्य के सस्कारो से ओतप्रोत रहे । गृहस्थाश्रम मे ब्रह्मचर्य की मर्यादा रहे । निष्कर्ष यह है कि भारतवासी के जीवन मे अधिक भाग ब्रह्मचारी जीवन का था, बहुत ही कम भाग था—अब्रह्मचर्ययुक्त जीवन का । इसलिए यह सोचना आवश्यक है कि ब्रह्मचारी जीवन की शोभा किसमे है ? ब्रह्मचारी किस से शोभता है, किससे नही ? इस प्रश्न का उत्तर महर्षि गौतम इस जीवनसूत्र द्वारा दे रहे हैं । गौतमकुलक का यह तेंतालीसवाँ जीवनसूत्र है, जो इस प्रकार है—

'अभूसणो सोहइ बमयारी ।'

"ब्रह्मचारी विभूषा से रहित ही सोहता है ।"

इस पर गम्भीरता से विचार करें ।

यह सौन्दर्य पूजा : कितनी कृत्रिम, कितनी मँहगी ?

मानव सौन्दर्य का पुजारी है । वह सहसा सुन्दरता की ओर आकृष्ट होता है । परन्तु जब तक उसे वास्तविक सौन्दर्य का ज्ञान न हो, तब तक कृत्रिम और नश्वर सौन्दर्य की ओर झुकना खतरे से खाली नहीं है । साँप सुन्दर और चमकीली चमडी से मढा हुआ जहर का पिण्ड है, अगर उसे सुन्दर समझकर पकडा जाएगा तो क्या नतीजा होगा ? मृत्यु ! इसी प्रकार किसी स्त्री के बाह्य रूप-रग या आकर्षक वेश-भूषा को देखकर सौन्दर्यलिप्सावश आकृष्ट हो जाना और कामान्ध होकर उसके साथ बलात्कार करना जीवन को स्वय आग मे झोकना है । अथवा स्वय मेक-अप बनाकर भडकीली वेश-भूषा अपनाकर कामिनियो को आकृष्ट करना स्वयं कामाग्नि मे कूदकर भस्म होना है ।

वास्तव मे स्वाभाविक सौन्दर्य और उसके मूल स्रोत को न पहचानने के कारण मनुष्य नकली सौन्दर्य की ओर आकृष्ट होता है या स्वय नकली सौन्दर्य अपनाता है । जब मनुष्य मे स्वाभाविक सौन्दर्य नही होता तो वह नकली सौन्दर्य

अपनाता है, जिसके पीछे अपने धन, धर्म, स्वास्थ्य, शक्ति और समय को बर्बाद कर देता है। जिसमे स्वाभाविक सौन्दर्य की परख नही है, केवल गोरी चमड़ी या अमुक फैशन या वेश-भूषा तथा साज-सज्जा को ही सौन्दर्य मानता है, वह नकली सौन्दर्य का पुजारी होता है।

नकली सौन्दर्य का पुजारी स्वाभाविक सौन्दर्य की उपेक्षा करके चेहरे पर झुर्रियाँ पडी होगी, गाल मे खड्डे पडे होगे, तथा शरीर भी दुबला पतला हड्डियो का ढाँचा-सा होगा, तो भी उसे सजाने-सवारने का प्रयत्न करेगा, चेहरे पर क्रीम, स्नो या पाउडर पोत लेगा, ओठ पर लिपिस्टिक लगा लेगा। अमुक तरह से बालो को बढाकर सवार लेगा। इन कृत्रिम सौन्दर्य प्रसाधनो से पुरुष अपना असौन्दर्य ढकने का प्रयास करेगा। वेश-भूषा भी उसकी तडक-भडक वाली होगी। पुराने जमाने मे लोग सीधी-सादी पोशाक पहनते थे। उन्हे ठीप-टाप, फैशन या आडम्बर पसन्द न था। ये सब कृत्रिमताएँ राजा-महाराजाओ या भोगी-विलासी लोगो मे ही पाई जाती थी, परन्तु आज तो प्राय. आम फैशन हो गया है, कृत्रिम ढग से सुन्दर दिखने के लिए सूती कपडो को छोडकर रेशम को भी मात करने वाले नायलोन, टेरिलिन या टेरीकोट आदि के वस्त्र पहनने का, जिनसे न तो वस्त्र पहनने का प्रयोजन ही सिद्ध होता है और न वे स्वास्थ्य के लिए लाभदायक है। उनमे छिद्र न होने से रोमकूपो को मुश्किल से हवा मिल पाती है।

टोपी या पगडी की जगह आज मैदान साफ मिलेगा। उस पर घास की तरह बाल सजाए-सवारे हुए होगे। धोती की जगह पैंट ने ले ली है। गहने तो इस महँगाई के जमाने मे मर्दों के शरीर पर बहुत ही कम मिलेगे, गहने के बदले कलाई पर घडी, जेब मे फाउण्टेन पेन, आँखो पर चश्मा, कपडो पर सेंट, कान मे इत्र का फोहा, आदि मिलेगे। परन्तु मर्दों की अपेक्षा स्त्रियाँ सौन्दर्य की पूजा मे बहुत आगे हैं। आज तो कुलीन घर की बहू-बेटियां भी वारागनाओ या सिनेमा की तारिकाओ से भी कृत्रिम सौन्दर्य-प्रसाधन मे बाजी मारने लगी है। क्रीम, स्नो, पाउडर, लिपिस्टिक, अमुक ढग से केश विन्यास, जूडा बांधना, आदि महिलाओ मे आम फैशन हो गया। कहीं देखा-देखी भी सौन्दर्य प्रदर्शन होता है। गहने और भडकीले कपडे, नाइलोन की साडियाँ आदि भी अपने आपको सुन्दर बनाने के लिए पहनी जाती हैं।

और देशो की बात जाने दीजिए, ऋषि-मुनियो के देश भारतवर्ष मे ही अगर आज हिसाब लगाकर देखा जाए तो इस कृत्रिम सौन्दर्य-प्रसाधन और कृत्रिम सौन्दर्य के प्रदर्शन के पीछे प्रतिमास करोडो रुपये खर्च होते हैं, साथ ही अपना कीमती समय जो आत्मसाधना, जनसेवा या आजीविकोपार्जन मे लगाया जा सकता था, उसे शरीर की साज-सज्जा, वेश-भूषा, शृगार प्रसाधन और शरीर को कृत्रिम ढंग से सजाने-संवारने मे खर्च किया जाता है। इतनी वैचारिक एव आचारिक शक्ति, यदि आत्म-चिन्तन, आत्मविकास मे लगाई जाती तो कुछ लाभ भी होता, पर वह शक्ति शरीर को सजाने-संवारने, सुन्दर दिखाने के चिन्तन मे और शरीर के कृत्रिम सौन्दर्य

प्रसाधन की चीजें लाने-मंगाने मे खर्च की जाती है। आज का मनुष्य शरीर की सफाई और साज-सज्जा पर जितना ध्यान देता है, सभव है, किसी युग मे इतना ध्यान इस देश मे नही दिया गया होगा।

मैं यह सोचकर हैरान हो जाता हूँ कि ऋषि-मुनियो के इस देश मे सुन्दरता के प्रदर्शन मे कितना समय, शक्ति और धन खर्च किया जाता है? फिर भी सौन्दर्य के दर्शन नही हो पा रहे हैं। आमदनी को देखते हुए जिस अनुपात मे भारत मे फैशन और प्रसाधन पर धन व्यय किया जाता है, उतना शायद ही किसी अन्य देश मे किया जाता हो। देश की तरुण पीढी का स्वास्थ्य देखें तो आप हैरान हो जाएँगे, अधिकाश पतली टाँगो और वैठी आँखो वाले युवको को देखकर! घर मे भले ही फाकाकशी की जाती हो, लेकिन वाहर तो अपटुडेट पोशाक पहनकर वन-ठनकर निकलना आवश्यक समझते हैं। ब्रह्मचर्य पालन की उम्र मे फैशन के दीवाने ऐसे युवक भी देखने को मिलते हैं, जो अपनी हवस पूरी करने के लिए वहुत-सा पैसा विचित्र पोशाक वनवाने मे लगा देते हैं, फिर उसका निर्वाह न कर सकने पर वही फटी पुरानी वुशशर्ट और पतलून वर्षों तक पहनते हुए अपनी मखौल कराया करते हैं। साधारण से कपडे उतने ही पैसे मे वनवाते तो वे वर्षों तक भलीभाँति उसे चला सकते थे।

इतनी सव साज-सज्जा करने पर भी कृत्रिम सौन्दर्य का पोषण होता है। किस देश मे कितना स्वाभाविक सौन्दर्य है, इसका अन्दाज इसी से लगाया जा सकता है कि उस देश मे कृत्रिम सौन्दर्य सामग्री की कितनी खपत है। जिस देश मे जितनी अधिक सौन्दर्य सामग्री विकती हो, समझ लेना चाहिए उस देश के लोग उसी अनुपात मे स्वाभाविक सुन्दरता से वचित हैं। इसके विपरीत जिस देश मे शृगार-सामग्री जितनी कम विकती हो, समझ लो, उस देश के लोग उतने ही स्वाभाविक रूप से सुन्दर है।

सौन्दर्य का आगमन अन्दर से होता है, आत्मा को ब्रह्मचर्य, सन्तोष, इन्द्रिय-सयम, शील आदि गुणरत्नो से सजाने से होता है, वाह्य टीप टाप, फैशनेवल कपडो, लिपिस्टिक, हेयर आइल, सेंट, पाउडर, क्रीम, स्नो आदि की लिपाई-पुताई, केश-विन्यास और शृगार प्रसाधनो द्वारा शरीर को सजाने-सँवारने से नही। कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र मे वताया है—

> चिरायुषः सुसंस्थाना दृढसहनना नराः।
> तेजस्विनो महावीर्या भवेयुर्ब्रह्मचर्यतः॥

"ब्रह्मचर्य से मनुष्य शरीर से चिरायु, सुन्दर, सुडौल मजबूत, सहनन (ढाँचे) वाले, तेजस्वी और महावलवान वनते हैं।"

अत. स्वाभाविक सौन्दर्य का मूल कारण ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-संयम, शील, सतोष आदि है, प्रसाधन नही। ब्रह्मचारी व्यक्ति स्वाभाविक रूप से सुन्दर, सुडौल और

स्वस्थ होता है, वह चाहे स्त्री हो अथवा पुरुष, कैसे भी फटे-पुराने ही कपडे क्यो न पहने हुए हो, परिश्रम और पसीने से लथपथ ही क्यो न हो, वह दीखने मे सुन्दर ही लगेगा। उसका स्वाभाविक सौन्दर्य छिपा नही रहता। उसका भरा हुआ चेहरा, पुष्ट शरीर, चौडा दृढ वक्षस्थल, विशाल तेजस्वी ललाट, सुडौल अवयव, कपोलो की लाली, माथे की चमक, और तेज-सम्पन्न आँखें, सादी वेश-भूषा पर चढकर भी चमकेंगी। इसलिए ब्रह्मचारी को इस कृत्रिम विभूषा की आवश्यकता ही नही है, रहे अब्रह्मचारी या असयमी व्यक्ति जो अस्वस्थ रहते हो, वे भले ही मखमल पहने हुए हो, क्रीम और पाउडर पोते हुए हो, उनके पिचके गाल, उभरी हड्डियाँ, भद्दा शरीर, धँसी आँखे इस बात की गवाही दे देगी कि यह व्यक्ति असुन्दर है। इतना ही नही, शरीर-विभूषा उलटे उसका उपहास ही उडाएगी।

ग्रीस का प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात चेहरे से कोई सुन्दर नही लगता था, परन्तु उसका शरीर स्वस्थ और सुडौल था, उसकी आत्मा मे सत्य, क्षमा, सयम आदि के गुण थे, उनके कारण उसका आन्तरिक सौन्दर्य बढा-चढा था। उसने एक वार परमात्मा से यही प्रार्थना की थी—

"I pray thee, O God, that I may be beautiful within."

"हे प्रभु! मैं आपसे यही प्रार्थना करता हूँ कि मै अन्तर से सुन्दर बनूं।"

यह आन्तरिक सौन्दर्य ही स्वाभाविक सौन्दर्य है। ब्रह्मचारी व्यक्ति चाहे साधु हो, वानप्रस्थ हो, कुमार हो या गृहस्थ, वह स्वाभाविक रूप से सुन्दर होगा। सुन्दरता के लिए उसे किसी कृत्रिम प्रसाधन की क्या आवश्यकता है? उसका ओज-तेज सुन्दरता बनकर उसके मुखमण्डल पर दमकता रहेगा। फूल-सा खिला हुआ उसका चेहरा स्वाभाविक रूप से दूसरो की दृष्टि आकर्षित कर लेगा। सुन्दरता चमड़ी के काले गोरे रग मे नहीं है, और न ही बाह्य वेश-भूषा या साज-सज्जा मे है। उसका सम्बन्ध अन्तर् मे है—आत्मा मे निहित ब्रह्मचर्य, सयम आदि गुणो से है। ब्रह्मचारी का सौन्दर्य उसकी आत्मा की स्वाभाविक देन है, वह सयम और प्रकृति की गोद मे रहता है, जहाँ स्वास्थ्य और सौन्दर्य का निवास है। ब्रह्मचारी को अकृत्रिम और प्राकृतिक जीवन व्यतीत करना आवश्यक है, ताकि वह स्वस्थ एव सुन्दर रहे। असयमी युवक के बजाय, प्राकृतिक जीवन बितानेवाला वृद्ध भी स्वाभाविक रूप से अधिक सुन्दर और आकर्षक लगता है। उस सयमी वृद्ध के चाँदी से चमकने वाले, भरे हुए अरुणाभ गाल और उभरा हुआ ललाट उन कृत्रिम सौन्दर्यजीवी युवको के लिए ईर्ष्या का विषय बन जाता है।

यही कारण है कि ब्रह्मचारी को कृत्रिम सौन्दर्य के प्रदर्शन की ओर उसके लिए [illegible] या साज-सज्जा की आवश्यकता नहीं रहती। यदि वह कृत्रिम [illegible] करता है तो उसका आकर्षण बढने के बजाय घट जाता है।

यह वाह्य-सौन्दर्य कितना क्षण-भंगुर है !

जिस वाह्य सौन्दर्य पर वर्तमान युग का युवक-युवतीवर्ग इतराता है, उस सौन्दर्य के मूल स्रोत—ब्रह्मचर्य, सयम आदि को न अपनाकर, स्वास्थ्य और प्राकृतिक जीवन से दूर रहकर वह कृत्रिम सौन्दर्य प्रसाधनो से सौन्दर्य-प्राप्ति की आशा करता है, वह कितना क्षणभगुर है। शरीर की अवस्था के ढलने के साथ ही वह ढलने लगता है, रोग के एक थपेडे से ही वह मुर्झा जाता है, मानसिक चिन्ता के कारण वह फीका पड जाता है और बुढापे के साथ ही अस्त होने लगता है, उस वाह्य एव नश्वर शरीर-सौन्दर्य से ब्रह्मचारी को लगाव क्यो होगा ? वह कृत्रिम, क्षणिक एव वाह्य शरीर सौन्दर्य उसके लिए उपादेय नही होगा। वह उस पर आसक्त होकर अपने वहुमूल्य जीवन का अमूल्य समय, धन, शक्ति तथा धर्म को वर्बाद क्यो करेगा, उस कृत्रिम सौन्दर्य प्रसाधन मे ? प्रसिद्ध पाश्चात्य साहित्यकार वेकन (Bacon) ने इस सम्बन्ध मे ठीक ही कहा है—

"Beauty is as summer fruits, which are easy to corrupt and cannot last and for the most part it makes a dissolute youth"

'सौन्दर्य (शारीरिक) ग्रीष्म ऋतु के फलो के समान है, जो आसानी से विगड जाते हैं और अधिक टिक नही सकते, और अधिकाशत यह जवानी को चरित्रभ्रष्ट कर देता है।'

वास्तव मे सौन्दर्य—शाश्वत सौन्दर्य—आत्मा मे है, आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि गुणो मे है, उसके लिए आत्मशक्ति को (ब्रह्मचर्य आदि से) वढाने की जरूरत है, न कि विनश्वर वाह्य सौन्दर्य के पीछे दीवाना होने की।

मथुरा की प्रसिद्ध नर्तकी वासवदत्ता, अपने वाह्य एव नश्वर सौन्दर्य पर इठलाती थी, उसे अजर-अमर माने वैठी थी। उसे अपने इस सौन्दर्य पर गर्व था कि वह वडे से वडे सत्ताधीश, धनाढ्य या राजकुमार आदि को अपने इशारे पर नचा सकती है। परन्तु एक दिन उसने एक तेजस्वी और ब्रह्मचर्य से देदीप्यमान युवक उपगुप्त भिक्षु को राजपथ से गुजरते हुए देखा। उसके चेहरे पर स्वाभाविक सौन्दर्य अठखेलियाँ कर रहा था। वह सादे काषाय वस्त्रो मे कृत्रिम सौन्दर्य प्रसाधनो के प्रयोग के विना ही अतीव सुन्दर लग रहा था। उसे देखते ही वासवदत्ता मोहित हो गई। भिक्षु को प्रणययाचना पूर्ण करने हेतु आमन्त्रित करने लगी। परन्तु निःस्पृह एव ब्रह्मचारी भिक्षु ने उसके आमन्त्रण को मानने से इन्कार कर दिया। उसने कहा—"बहन ! जब उपयुक्त समय आएगा, तब मैं अवश्य तुम्हारी सेवा मे आऊँगा।"

कुछ ही अर्से बाद वासवदत्ता को एक भयकर रोग ने आ घेरा, जिससे उसका सारा शरीर सड गया, उससे रक्त और मवाद चूने लगे। भयकर दुर्गन्ध उठने लगी। वासवदत्ता का सौन्दर्य-गर्व चूर-चूर हो गया। राजा के पास शिकायतें पहुँची कि वासवदत्ता को नगर के बाहर निकाल दिया जाए अन्यथा सारे नगर में यह भयकर रोग

फैल जाएगा, इसकी बदबू असह्य है। निदान, राजा ने सौन्दर्याभिमानिनी वासवदत्ता को नगर के बाहर एक घूरे पर डलवा दिया। वहाँ पडी-पडी वह रोग की असह्य पीडा से कराहती रही।

उपगुप्त भिक्षु को पता लगा। वह रुग्ण वासवदत्ता को सँभालने के लिए पहुँचा। उसे सान्त्वना देते हुए भिक्षु ने कहा—"बहन! घबराओ मत। मैं उपगुप्त भिक्षु अपने वादे के अनुसार आ पहुँचा हूँ तुम्हारी सेवा मे।" भिक्षु ने तिरस्कृत और उपेक्षित वासवदत्ता की इतने सुन्दर ढग से सेवा की कि वह स्वस्थ हो गई। अब उसे शाश्वत और नश्वर सौन्दर्य का अन्तर समझ मे आ गया। उपगुप्त भिक्षु ने उसे शाश्वत आत्मिक सौन्दर्य प्रगट करने की प्रेरणा दी। वासवदत्ता अब शाश्वत सौन्दर्य पाने की साधना बौद्ध भिक्षुणी बनकर करने लगी।

स्थायी आकर्षण विभूषा में नही, शाश्वत सौन्दर्य में

स्थायी एव शाश्वत सौन्दर्य का तत्त्व जिसे ज्ञात हो जाता है, उसके मन मे बाह्य सौन्दर्य के प्रति कोई आकर्षण नही रहता। वह शाश्वत सौन्दर्य की उपासना मे लीन रहता है, उसे बाहर की चमक-दमक, टीप-टाप या आडम्बर की लोकमूढता मे आस्था नही रहती। महात्मा गाधी ने देश सेवा के लिए आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत पालन करने की प्रतिज्ञा ली। उसी दौरान एक बार ब्रिटिश शासन के वायसराय के आमन्त्रण पर लन्दन मे होने वाली गोलमेज परिषद मे जाने को तैयार हुए। वेश-भूषा तो उनकी सादी ही थी, खादी की एक छोटी-सी पोतडी और सफेद चादर! जब वे वायसराय भवन मे इस वेशभूषा मे पहुँचे तो पहले वायसराय तथा उनके अन्य अधीनस्थ लोगो ने गाधीजी से मिलने मे आनाकानी की। परन्तु जब गाधीजी ने अपनी दृढता बताई कि "मैं गरीब भारत का प्रतिनिधि बनकर आया हूँ। मुझे भड़कीली या तथाकथित सभ्य माने जाने वाले समाज मे प्रचलित पोशाक पहनना शोभा नहीं देता, मैं तो इसी पोशाक मे आपसे मिल सकता हूँ। अन्यथा, आप न चाहे तो बिना मिले ही वापस लौट जाऊँगा।"

गाधीजी की सादी वेश-भूषा और उनके भव्य आत्मिक गुण युक्त सौन्दर्य को देखकर वायसराय बहुत प्रभावित हुआ।

शाश्वत सौन्दर्य के उपासक को कृत्रिम सौन्दर्य की जरूरत नहीं

ब्रह्मचारी का अर्थ है—ब्रह्म मे विचरण करने वाला, अपनी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, हृदय आदि सबको ब्रह्म (शुद्ध आत्मा) की सेवा मे लगाने वाला, प्रत्येक प्रवृत्ति या चर्या ब्रह्म (आत्म) हित की दृष्टि मे करने वाला। जब ब्रह्मचारी का जीवन ही आत्मा की परिचर्या-उपासना मे तल्लीन होगा, तब उसे आत्मिक सौन्दर्य के दर्शन होने स्वाभाविक है। जिसे आत्म-सौन्दर्य के दर्शन हो जाते हैं या आत्म-सौन्दर्य की जो झाँकी पा जाता है, उसके लिए बाह्य सौन्दर्य—शारीरिक या कृत्रिम सौन्दर्य

की ओर झांकना या उसके सम्बन्ध मे चिन्तन करना या सौन्दर्य प्रसाधन की सामग्री जुटाना कथमपि आवश्यक या हितावह नही है। इसीलिए ब्रह्मचर्यव्रती गृहस्थ, कुमार, वानप्रस्थी या साधु-सन्यासी, विधवा, साध्वी आदि के लिए शृगार या सौन्दर्य प्रसाधन की दृष्टि से विभूषा करने का निषेध किया है। उत्तराध्ययन सूत्र (अ० १६) की गाथा इस विषय की साक्षी है—

विभूसंपरिवज्जेज्जा सरीरपरिमंडणं।
बभचेररओ भिक्खू सिंगारत्थं न धारए॥

'ब्रह्मचर्यरत साधक तथा ब्रह्मचर्यव्रती भिक्षु को शृगार—कृत्रिम साज-सज्जा के लिए शरीर को सुशोभित करने तथा विभूषा (सजावट) का कोई भी काम नही करना चाहिए।'

जैन शास्त्र ही नही, वैदिक धर्मग्रन्थ भी इस विषय मे पूर्ण सहमत हैं कि ब्रह्मचारी को शृगार, शरीर-मण्डन, छैल-छबीली वेशभूषा से शरीर को सजाने-सॅवारने का काम नही करना चाहिए। विद्यासहिता शिवपुराण मे इस सम्बन्ध मे कहा गया है—

मलस्नान सुगन्धाद्यैः स्नानं दन्तविशोधनम्।
न कुर्याद् ब्रह्मचारी च तपस्वी विधवा तथा॥

'मल-मलकर वार-वार स्नान, सुगन्धित पदार्थ लगाकर स्नान, शृगार दृष्टि से दांतो की शुद्धि, ब्रह्मचारी, तपस्वी तथा विधवा स्त्री को नही करना चाहिए।'

महाभारत शान्तिपर्व मे भी बताया गया है—

सुखशय्या नवं वस्त्र, ताम्बूलं स्नानमण्डनम्।
दन्तकाष्ठ सुगन्धं च, ब्रह्मचर्यस्य दूषणम्॥

'कोमल गुदगुदी सुख-शय्या, नये चमकीले भडकीले वस्त्रों का परिधान, ताम्बूल चबाना, मल-मलकर स्नान करके शरीर को सजाना-सॅवारना, दतौन की लकडी से दन्त शुद्धि करना और सुगन्धित पदार्थों का सेवन, ये ब्रह्मचर्य को दूषित करने वाले हैं।'

हरिकेशबल मुनि जितने बाहर से काले, कुरूप, बेडौल और अनाकर्षक थे, उतने ही अन्तर् मे सुन्दर, सद्गुणो से मण्डित, आत्म-सौन्दर्य के उपासक तथा ब्रह्मचर्य एव तप के कारण तेजस्वी-ओजस्वी थे। उत्तराध्ययन सूत्र मे उनके बाह्य रूप का इस प्रकार चित्रण किया गया है—

कयरे आगच्छइ दित्तरूवे,
काले विकराले फोक्कनासे।
ओमचेलए पंसुपिसायभूए,
सकरदूस परिहरिय कठे॥

यज्ञ पुरोहित ने हरिकेशबल मुनि को यज्ञ मण्डप की ओर आते देखकर कहा—"अरे यहाँ कौन आ रहा है ? देखो तो सही, इसका रूप कितना भयकर, कालाकलूटा और विकराल है ? इसकी नाक चिपटी है, असभ्य के-से जरा-से कपडे लपेटे है, धूलधूसर है, पिशाच-सा है, गले मे शकर का-सा दूष्य (वस्त्र) पहने हुए किस आशा से यहाँ आ रहा है ?

जो लोग आत्म-सौन्दर्य से अनभिज्ञ थे, केवल लोकमूढतावश बाह्य वेशभूषा, टीप-टाप और सुन्दर कपडो से सुसज्जित शरीर को ही सौन्दर्य का मूल समझते थे, वे अज्ञानी, धर्मद्वेषी, जातिमद से ग्रस्त, हिंसामय यज्ञपरायण, अब्रह्मचारी, विप्र लोग उन्हे देखते ही उपहास करने लगे।

परन्तु हरिकेशबल मुनिवर तो तपस्वी थे, क्षमाधारी एव शान्तिपरायण थे। उन्होने उन लोगो द्वारा किये गये असभ्य व्यवहार पर जरा भी ध्यान नही दिया।

उनके तप-तेज एव शान्त-दान्त जीवन से प्रभावित होकर तिन्दुकवृक्षवासी यक्ष उनका भक्त बन गया था। मुनि की ओर से उस यक्ष ने उन विप्रो को सारी बातें समझायी कि ये मुनि क्यो इस प्रकार भिक्षा के लिए घूमते है ? इनको भिक्षा देने से क्या लाभ है ? ब्रह्मचारी एव तपस्वी होने से शरीर के प्रति इनकी कोई आसक्ति नही है, इसलिए ये शरीर को विभूषित करने और कृत्रिम सौन्दर्य लाने मे अपना समय, शक्ति और सयम-धन बर्बाद करना नही चाहते, भिक्षा से प्राप्त आहार, स्वपर-कल्याण के लिए विहार तथा शरीर निर्वाह के लिए निद्रा, नीहार आदि करते हैं, बाकी सारा समय स्वाध्याय, ध्यान, आत्मचिन्तन, आत्मनिरीक्षण आदि मे व्यतीत करते हैं।

इतने पर भी अभिमानी ब्राह्मण उनके आत्मिक सौन्दर्य की कठोर परीक्षा करते है। उन पर प्रहार करते है, मगर उनका भक्त यक्ष उन्हे चमत्कार बताता है, प्रहार करने वाले ब्राह्मण कुमारो को बेहोश कर देता है, उनके मुँह मे रक्तवमन हो रहा है। यह देखकर समस्त ब्राह्मण याज्ञिक उनसे क्षमायाचना करते हैं, उन्हे श्रद्धा-पूर्वक भिक्षा देते है। फिर उनसे वे अपनी शकाओ का समाधान करते हैं। अन्त मे मुनि के आत्मसौन्दर्य का साक्षात्कार करके वे कहते है—

> सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो,
> न दीसइ जाइविसेस कोऽवि।
> सोवागपुत्त हरिएससाहुं,
> जस्सेरिसा इड्ढि-महाणुभावा॥

अहो ! इनमें तो कहीं भी जातिविशेष दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है, [illegible] तपोविशेष ही दीख रहे हैं। वास्तव में इनकी आत्मा तप के [illegible] है, [illegible] जातिमद के कारण इनसे घृणा करते थे, इन्हें

चाण्डालपुत्र हरिकेशबल ही कहते थे लेकिन आज हमारी भ्रान्ति दूर हो गई। जिनकी इस प्रकार की आत्मिक ऋद्धि है, ऐसा महान् प्रभाव है, वे नीच नही हो सकते है, वे पूज्य हैं, वन्द्य हैं, महानुभाव हैं।

आत्मिक सौन्दर्य के धनी मुनि ने उन्हे वास्तविक सौन्दर्य का साक्षात्कार अपने व्यवहार से करा दिया।

तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचारी—फिर वह चाहे साधु हो, चाहे गृहस्थ, चाहे वह सती-साध्वी हो या विधवा हो, सब अपने आत्मिक सौन्दर्य की उपासना करते हैं उनका ध्यान शरीर-सौन्दर्य या कृत्रिम प्रसाधनो से शरीर को विभूषित करके सौन्दर्य-वृद्धि करने की ओर नही होता।

ब्रह्मचारी को प्रदर्शन की क्या आवश्यकता?

कोई कह सकता है कि ब्रह्मचारी मे बाह्य सौन्दर्य नही हो तो उसे थोडी-सी प्रसाधन सामग्री से शरीर को सुसज्जित करके स्थूलदृष्टि वाले साधारण लोगो को प्रभावित करने के लिए सौन्दर्य-प्रदर्शन करने मे क्या हर्ज है? परन्तु भारतीय संस्कृति का इस सम्बन्ध मे मतभेद है। वह यह तो नही कहती कि शरीर और वस्त्रादि स्वच्छ न रखो, वस्त्रो को ठीक ढंग से न पहनो, स्थान की सफाई न करो, परन्तु इन सबके पीछे उसका एक दृष्टिकोण स्पष्ट है कि यह सब शृगार की दृष्टि से, विभूषा की दृष्टि से मत करो। शरीर को स्वस्थ, धर्मपालन मे सशक्त और कार्य-सक्षम रखने की दृष्टि से न करो, संयम और यतना के साथ करो, जिससे तुम्हारी भी विकारी दृष्टि न बने। प्रदर्शन के कारण तुम्हारे मन मे अहकार और दर्प जागता है, दूसरो के मन मे भी कामविकार पैदा होता है। इसलिए शरीर की विभूषा द्वारा बाह्य सौन्दर्य के प्रदर्शन का ब्रह्मचारी के लिए सख्त निषेध है।

दूसरी बात यह है कि सौन्दर्य-प्रदर्शन की तो उसे आवश्यकता रहती है, जो आत्मिक सौन्दर्य से रिक्त हो। ब्रह्मचारी तो आत्मिक सौन्दर्य से पूर्ण रहता है, ब्रह्मचर्य के प्रभाव से वह अनेक लब्धियो, शक्तियो और सिद्धियो से समृद्ध रहता है, फिर उसे सौन्दर्य प्रदर्शन करने की आवश्यकता ही नही पडती।

आज तो फैशन, विभूषा और सौन्दर्य प्रदर्शन की महामारी इतनी अधिक बढ़ गई है कि भारतीय युवक चारित्र, संयम और स्वास्थ्य का दिवाला निकाले बैठे हैं। ब्रह्मचर्य और संयम की ओर से वह उदासीन है, इसके महत्त्व और लाभ से अनभिज्ञ है। इस कारण उनके चेहरे पर कोई नूर या सौन्दर्य नही होता इस अभाव की पूर्ति वे नाना [illegible] प्रसाधनो से करते है। इस कृत्रिम सौन्दर्य-प्रदर्शन के मोह मे वे ब्रह्मचर्य, [illegible] संयम यम नियम आदि का बन्धन और धर्म का नियंत्रण नकारते है। उन्हें यह [illegible] नही होती कि हम अपने शरीर को सुडौल, स्वस्थ कार्यक्षम और [illegible] करें, अंगो को पुष्ट, मुख को तेजस्वी और चारित्र को उन्नत बनायें। उनके [illegible] नही होता कि बिना किसी सौन्दर्य-प्रसाधन के सुन्दर

लगें। उन्हे केवल यही चाह होती है कि वे किस प्रकार की क्रीम, स्नो और पाउडर तेल-फुलेल आदि का प्रयोग करें, जो उनके शरीर को सुगन्धित बना दे। आधुनिक तरह के कितने और कितने प्रकार के कपड़े उनके पास हैं, उन पर कौन-से रग, किन डिजायनो की छाप होनी चाहिए और किस वेशभूषा मे, किस प्रकार के मेक अप में वे लोगो के लिए आकर्षण-पात्र हो सकते हैं। ब्रह्मचर्यनिष्ठ को भला ऐसी चाह और चिन्ता क्यो होगी ?

भारतीय सस्कृति मे बाह्य सौन्दर्य को इतना महत्त्व नही दिया है, जितना आन्तरिक और स्वाभाविक सौन्दर्य को। **सत्यं** और **शिवम्** के साथ जो **सुन्दरम्** उपलब्ध हो, वही भारतीय ऋषियो द्वारा निर्दिष्ट और अभीष्ट था। 'सादा जीवन और उच्च विचार' (Simple living and high thinking) ही उनका जीवनमन्त्र था। वे शरीर की चर्बी बढाकर उसे मोटा दिखाने तथा सौन्दर्य प्रसाधनो से कृत्रिम रूप से सजाकर सुन्दर बताने को हेय समझते थे। इसीलिए ब्रह्मचारी के लिए सौन्दर्य का प्रदर्शन करना वे अनुचित मानते थे। परन्तु आजकल बहुत-से नामधारी ब्रह्मचारियो को भी आधुनिक एव पाश्चात्य सभ्यता का चेप लगता जा रहा है, वे भी अपने मूलभूत आन्तरिक सौन्दर्य को भूलकर कृत्रिम सौन्दर्य के चक्कर मे पड़ गये हैं। उन्हे भी अपने प्रभाव, प्रदर्शन और प्रसिद्धि की बीमारी लग गई है।

वास्तविक व्यक्तित्व वेश-भूषा और साज-सज्जा से प्रगट नहीं होता

ब्रह्मचर्य साधक का जीवन प्रत्यक्ष बोलता हुआ जीवन होता है, उसका वास्तविक व्यक्तित्व उसके स्वास्थ्य, सयम, आत्मिक सौन्दर्य और चारित्र से प्रगट होता है, वही जन-मन पर स्थायी होता है। ब्रह्मचर्यनिष्ठ स्वामी विवेकानन्द का व्यक्तित्व उनके सयम, स्वास्थ्य, चारित्र और आत्मिक सौन्दर्य से चमक उठा था। विदेश मे, जहां उनका कोई अपना नही था, वहां के नर-नारी भी उनके अद्भुत व्यक्तित्व से प्रभावित हो गये थे। उनके शरीर पर साधारण वस्त्र थे, वेशभूषा भी भारतीय सन्यासी की-सी थी और चेहरे पर कोई भी सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री नहीं थी, फिर भी वे आकर्षक लगते थे। अमेरिका जैसे आधुनिक, धनकुबेर, फैशनपरस्त एवं भोगवादी देश के लोगो को भी उनकी भारतीय साधु की वेश-भूषा ने यह मानने को विवश कर दिया कि स्वाभाविक सौन्दर्य और आकर्षण वेश-भूषा और साज-सज्जा मे नहीं, अपितु सयम, स्वास्थ्य और सादगी मे है। अपनी साधारणतम वेश-भूषा पर हंसने वाले अमेरिकनो को जिन शब्दो मे स्वामी विवेकानन्द ने और निरुत्तर लज्जित कर दिया था, वे शब्द ही भारतीय जीवन के आदर्श रहे है, आज भी होने चाहिए।

हंसने वाले नवतन सौन्दर्यजीवी अमेरिकनो से उन्होने कहा था—

"Thy tailor makes you gentleman, but it is my country, where character makes a man gentle."

'आपका दर्जी आपको भद्रपुरुष बनाता है, जबकि हमारे देश मे चारित्र ही मनुष्य को भद्रपुरुष बनाता है।"

इन शब्दो का तात्पर्य यही है कि वास्तविक व्यक्तित्व कपडो, वेश भूषा या शरीर की सजावट से नही प्रगट होता, वह उसके उज्ज्वल चरित्र, ब्रह्मचर्य और सयम से प्रगट होता है। ये उद्गार जिस समय स्वामीजी ने प्रगट किये थे, उस समय भारतवर्ष मे सौन्दर्य प्रदर्शन और फैशन का महारोग नही लगा था, परन्तु आज इस महारोग ने घर-घर मे प्रवेश कर लिया है।

विभूषा से क्या लाभ, क्या हानि ?

स्थूल सौन्दर्यदृष्टि वाले लोग कहते हैं, जमाने के अनुसार मनुष्य को चलना पडता है, समाज और जाति के कई रीति-रिवाज ऐसे हैं कि हम अपनी जाति की प्रतिष्ठा के अनुसार वेश-भूषा से सुसज्ज न हो, सतानो को भी वैसे सुसज्ज न करें तो लोग हमे पागल, झक्की और सनकी कहेंगे, हम समाज और जाति से अलग पड जायेंगे, हमारे बालको के रिश्ते नाते नही होगे आदि। इसलिए कर्ज करके भी, इस पर समय और शक्ति खर्च करके भी हमे अमुक साज-सज्जा और वेशभूषा अपनानी पडती है। किन्तु इन युक्तियो मे तथ्य कम है, अधिकतर युक्तियाँ कायरता और दुर्बलता की द्योतक हैं। समाज या जाति किसी को सयम, ब्रह्मचर्य एव सादगी से रहने मे क्या मनाही करता है? क्या प्राचीन काल के लोग इतने धनाढ्य और सम्पन्न होते हुए भी सयम और सादगी से नही रहते थे। इसलिए विभूषा से लाभ का यह पलडा कोई वजनदार नही, बल्कि हानि का पलडा ही भारी है। विभूषा और टीप-टाप मे प्रतिदिन कई घण्टे लगाने पडते हैं, फिर उसके लिए काफी पैसा खर्च करना पडता है, और उसकी चिन्ता मे, पैसे जुटाने की चिन्ता मे मनुष्य अपनी अमूल्य शक्ति का अपव्यय करता है। यह कितनी बडी हानि है? और फिर ब्रह्मचारी को इतना समय कहाँ, उसके पास धन कहाँ? अकिंचन साधु के पास तो बिलकुल धन नही होता। वह अपनी शक्ति इसमे क्यो लगाएगा? वह अधिक से अधिक समय और शक्ति आत्म-चिन्तन, जनसेवा, आत्मभावना आदि मे ही लगाएगा। यह घाटे का सौदा वह क्यो करेगा?

बहुत से लोग अहता की पूर्ति या अमीरी के प्रदर्शन के लिए विभूषा को अपनाते हैं। परन्तु यह तो फिजूलखर्ची है। हजारो मनुष्यो से वाहवाही लूटने के लिए आकर्षक भडकीली वेश-भूषा अपनाना और साज-सज्जा करना पैसो की होली करना कौन-सी अच्छी बात है? इस प्रकार से दो दिनो के लिए अहतापूर्ति के बजाय सादगी और सयम से रहकर उन पैसो को अभाव और दरिद्रता से पीडित जनो की सेवा मे लगाते तो स्थायीरूप से अहतापूर्ति होती, प्रतिष्ठा भी मिलती।

दूसरो की अपेक्षा अपने को अधिक अमीर साबित करने के लिए भी जो लोग उद्भट वेश-भूषा या कामोत्तेजक साज-सज्जा अपनाते है, वे कई बार तो धनान्ध होकर इतना व्यय कर डालते है कि बाद मे उन्हे अपने आवश्यक कार्यो को ठीक तरह से चलाने मे भी कठिनाई महसूस होती है। किसी जमाने मे अमीरी बड़प्पन का चिह्न

रही होगी, पर आज इस प्रकार से अमीरी का दिखावा करने वालो को घृणा, ईर्ष्या, एव द्वेप की दृष्टि से देखा जाता है। अत अमीरी प्रदर्शन की चीज न बनाकर सेवा और परोपकार की बनाना कही अच्छा होता। विभूपा से अमीरो के तन-मन को, आत्मा को कोई लाभ नही होता, जबकि विभूषारहित सादे सयमी जीवन से सेवाकार्य करने से तन, मन एव आत्मा को लाभ होता, प्रतिष्ठा और प्रशसा भी मिलती। ब्रह्मचारी का तो आत्मवल, आत्मवैभव ही उसका धन है, वह प्रदर्शन की चीज नही है, उसके लिए आकर्पक वेश-भूपा और साज सज्जा की जरूरत नही है। नीतिकार भी कहते है—

'नोद्धत वेषधरः स्यात्'

"मनुष्य को उद्धत और छैल-छबीली वेशभूपा नही धारण करनी चाहिए।"

फिर दूसरे की आँखो मे चुभने वाली, सबसे अलग ढग की चमक-दमक वाली वेश-भूपा अपनाना उतना ही दुर्विनय और उद्दण्डता है, जितना दूसरे को विषबुझी बात कहकर जताना। वेश-भूपा मनुष्य के चरित्र का चित्रण कर देती है। गहरे रग के चटकीले, आकर्षक कपडे मनुष्य के उथलेपन को प्रगट करते है। इसलिए वेश-भूपा भडकीली होगी तो वह व्यक्ति के दुर्विनय का प्रतिनिधित्व करेगी। इसलिए मनुष्य की, खासकर ब्रह्मचर्यनिष्ठ मानव की शोभा सादगी मे है, भडकीली वेश-भूपा मे नही।

भडकीली वेश-भूपा और टीप-टाप अपनाने पर जीवन बनावटी होगा, आवश्यकताएं बढ जाएँगी। जितनी आवश्यकताएं बढेंगी, उतना ही उसे उनकी प्राप्ति के लिए किये जाने वाले प्रयत्न मे अपनी शक्तियो को लगाना होगा। ब्रह्मचारी अगर गृहस्थ हो, धन कमाना हो, तो उसे विभूपा के लिए सामग्री प्राप्त करने और उसकी पूर्ति करने की भाग-दौड मे लगा रहना होगा। साधु या वानप्रस्थी ब्रह्मचारी के लिए तो ऐसा करना दु शक्य है। यदि किसी भक्त द्वारा वह विभूपा सामग्री की पूर्ति कर भी ले, तो भी उसे सदैव उस भक्त की अनुचित, अनैतिक बातो का समर्थन करना होगा, उसकी आत्मा दबी हुई रहेगी। और यह निश्चित है कि विभूपा-सामग्री की पूर्ति मे लगा रहने वाला ब्रह्मचारी किसी भी वर्ग का हो, उसे रात-दिन उसी गोरखधन्धे मे लगे रहना होगा, फिर उसका ज्ञान, ध्यान, उत्कृष्ट आदर्श, उच्च दृष्टिकोण, महान् लक्ष्य सब छूट जाएगा। इन पर सोचने-विचारने का समय ही नही मिलेगा। विभूषा मे यह सबसे बड़ी हानि है। सादगी से जीवन यापन करना ही एकमात्र उपाय है, जो ब्रह्मचारी के लिए सरल है, स्वाभाविक है। इसीलिए दशवैकालिक सूत्र मे विभूषा से होने वाली महाहानि के विषय मे चेतावनी दी है—

विभूसावत्तिय भिक्खू कम्म बधइ चिक्कण ।
ससारसायरे घोरे जेण पडइ दुरुत्तरे ॥

'विभूषानिष्ठ भिक्षु विभूषानुवर्ती हो जाता है तो नाना प्रकार के चिकने कर्म बांध लेता है, जिसके कारण वह घोर दुस्तर ससार सागर मे गिर जाता है।'

जब शरीर का बनाव-शृगार करने मे ब्रह्मचारी लग जाता है, तब वह स्वय अपने हाथो से अपने वर्षो से सचित ब्रह्मचर्य को नष्ट कर देता है, क्योकि वह अपने आन्तरिक सौन्दर्य को भूलकर बाह्य सौन्दर्य के प्रदर्शन के लिए शरीर को सजाता-सँवारता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसके बाह्य रूप की आग मे कोई न कोई कामुक पतगा आकर भस्म हो जाता है। अथवा विभूषाजीवी व्यक्ति स्वय दूसरे की विभूषा या शृगार देखकर फिसल जाता है, ब्रह्मचर्य से उसका मन डिग जाता है। इसलिए शास्त्रकारो ने ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियो मे 'विभूषावर्जन' नामक एक गुप्ति भी बताई है।

महात्मा गाधी ब्रह्मचर्य-साधना के लिए विभूषावर्जन आवश्यक मानते थे। वे स्वय कहा करते थे—जिसे ब्रह्मचर्य पालन करना है, उसे इन नाज-नखरो और बनाव-शृगारो मे क्या मतलब है? इनमे अपना समय व्यर्थ नष्ट कर देगा तो वह साधना कब करेगा?

महात्मा गाधी के आश्रम मे एक जवान लडकी अपनी माता के साथ रहती थी। वह लडकी आश्रम के सुसस्कारो मे प्रशिक्षित होने आयी थी। उसके बडे-बडे सजाए-सवारे हुए बाल देखकर आश्रमवासी एक युवक उस लडकी की ओर आकर्षित होता था। गाधीजी को इस बात का पता लगा। उन्होने लडकी को बुलाकर स्नेहपूर्वक समझाया और उसी दिन उसके लम्बे और आकर्षक बाल कटवा दिये, उसको सादी मोटी खादी की पोशाक पहनने की हिदायत दे दी। परिणाम यह हुआ कि उस युवक का उस जवान लडकी के प्रति जो आकर्षण था, वह दूसरे ही दिन से समाप्त हो गया। युवक को भी गाधीजी ने समझाकर उस आश्रम-कन्या के प्रति भगिनी-भाव रखने की हिदायत दी।

इगलैण्ड के एक धनिक की मौज-शौक मे पली हुई पुत्री मेडलीन स्लैड ने रोम्या रोला से महात्मा गाधी की महिमा सुनी तो उसकी इच्छा आश्रमी जीवन मे अपने आपको ढालने की हुई। मिस स्लैड ने महात्मा गाधी को एक पत्र लिखा, साथ मे ऊन के कुछ नमूने और हीरे की अगूठी बेचने से प्राप्त हुई धनराशि भेट स्वरूप प्रेषित की। महात्मा गाधी ने उनका पत्र पढकर सक्षिप्त उत्तर दिया—"अगर दृढ हो तो भारत आ जाओ।" भारत की यात्रा करने से पूर्व परिवार के सदस्यो ने उसे बहुत कुछ समझाया, पर वह दृढ निश्चय कर चुकी थी।

भारत आकर स्लैड अहमदाबाद पहुँची। गाधीजी उन दिनो वही थे। सामने [illegible] घुटनो तक झुककर स्लैड ने प्रणाम किया। गाधीजी ने अपने हाथ से उठाते हुए कहा—"आज से तुम मेरी पुत्री हुई।" उन्होने अपनी इस पुत्री का नाम 'मीरा' रखा। गाधीजी ने मीरा को सर्वप्रथम आदेश आश्रम के शौचालय की सफाई का दिया। किन्तु वह इस आदेश से जरा भी विचलित न हुई। क्योकि 'Work is worship' 'कार्य ही पूजा है' यह इग्लैण्ड मे भी सीखा था।

मीरा बहन ने अपने बाल कटवा दिये और खादी की सादी साड़ी पहनने लगी। उसने आश्रम मे ही गाधीजी से आजन्म अविवाहित रहने का सकल्प ले लिया। गाधीजी की सहृदयता तथा आश्रमवासियो की सहयोगवृत्ति से मीरा बहन वहाँ के वातावरण मे घुल-मिल गई। महात्मा गाधी की विचारधारा के प्रति उसकी दृढ श्रद्धा थी, इस कारण उसके सम्मुख कोई भी भौतिक या वैषयिक आकर्षण न ठहर सका। मासाहार उसने भारत आने से एक वर्ष पूर्व ही छोड दिया था। श्रम के प्रति उसकी आस्था बढ़ने लगी। भूमि पर शयन करती थी। भारत की मातृभाषा हिन्दी सीखकर गीता और वेदो का अध्ययन भी उसने शुरू कर दिया। प्रार्थना मे वह किसी दिन अनुपस्थित नही रहती थी। सारी इच्छाओ का दमन कर मीरा बहन सेवा को ही अपना प्रमुख व्रत मानने लगी।

यह था विदेशी महिला का विभूषा, टीप-टाप और आडम्बर से युक्त जीवन को छोडकर सादगी, सयम और अनुशासनमय जीवन का स्वीकार!

विभूषा : न विकारदृष्टि से करें, न देखें

भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियो के अन्तर्गत विभूषावर्जन गुप्ति के विषय मे ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को लक्ष्य मे रखकर कहा है—

"नो निग्गथे विभूसाणुवाई हवई" विभूसावत्तिए विभूसिय सरीरे इत्थियजणस्स अभिलसणिज्जे हवइ। तओ णं तस्स इत्थियजणेण अभिलसिज्जमाणस्स बंभयारिस्स बमचेरे सका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुपज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्माय य पाउणिज्जा, दीहकालिय वा रोगायंक हवेज्जा, केवलि पन्नत्ताओ धम्माओ भसेज्जा।"

'निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी विभूषानुवादी न हो। विभूषा (शृगार-मडनादि) की दृष्टि से शरीर को सजाने-सँवारने वाला ब्रह्मचारी स्त्रीजनो के लिए प्रार्थनीय एव आकर्षणीय बन जाता है। स्त्रियो द्वारा, कामलिप्सा की पूर्ति के लिए प्रार्थनीय ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य मे शका, काक्षा, विचिकित्सा पैदा हो सकती है, ब्रह्मचर्य से अरुचि हो सकती है, अथवा उसे कामोन्माद भी हो सकता है, दीर्घकालिक रोगातक भी हो सकता है, और अन्त मे केवलिप्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट होना भी सभव है।'

ये सब खतरे कम भयकर नहीं हैं। और अक्सर ऐसा हो भी जाता है। इसीलिए ब्रह्मचारी साधकों के लिए भगवान महावीर की दोहरी चेतावनी है कि न तो शरीर को विभूषित करो और न किसी के विभूषायुक्त शरीर को देखो। क्योंकि शृगारित शरीर को तथा अगोपागों को देखने से कामविकार पैदा होगा, और कामोत्तेजना पैदा होने से ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट होने देर न लगेगी। जैसा कि शास्त्र में कहा है—

न रूवलावण्ण विलासहासं,

इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता,
दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥

'आत्मशोधनार्थ श्रम करने वाला तपस्वी श्रमण अपने चित्त मे स्त्रियो का ध्यान रखकर उनके रूप, लावण्य, विलास, हास, जल्पन, साकेतिक हाव-भाव, अग-चालन या कटाक्ष को देखने का कभी प्रयत्न न करे।'

महाभारत मे एक जगह वर्णन आता है कि अर्जुन ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ तपस्या कर रहा था। उसकी तपस्या से इन्द्र को भीति हुई कि कही यह मेरा राज्य और पद न छीन ले। अत उसने रम्भा नामक अप्सरा को बुलाकर कहा— "रम्भे ! जाओ किसी भी छल-बल से अर्जुन का ब्रह्मचर्य खण्डित करके उसे तपोभ्रष्ट कर डालो।"

रम्भा सुसज्जित होकर अर्जुन के पास पहुँची, हाव-भाव दिखाकर बोली— "प्राणनाथ ! मेरी ओर देखो ! जिसके लिए आप इतना कठोर तप कर रहे हो, वह मैं आपके समक्ष उपस्थित हूँ। मुझे स्वीकार करके इस जीवन को सफल बनाओ और छोडो इस कष्टकारक तप को। तप करके भी मुझसे श्रेष्ठ और कौन-सी चीज आप को मिलेगी ?"

अर्जुन अपने तप मे मग्न था। उसने सुसज्जित रम्भा की ओर नही देखा, न मन मे कामोत्तेजना हुई। वह रम्भा को माता के रूप मे देख रहा था।

रम्भा ने अपना सारा कौशल आजमा लिया, लेकिन अर्जुन उसके हाव-भाव देखकर तपस्या से नही डिगा। वह तो सोच रहा था कि माँ, मुझ बालक को मनाने की कोशिश कर रही है।

रम्भा सब तरह के उपाय आजमाकर हार गई। वह अर्जुन को ब्रह्मचर्य से स्खलित न कर सकी। तब अन्त मे, इन्द्र की सिखलाई हुई एव विषय-वासना की गुलाम रम्भा अर्जुन के सामने नग्न होकर नृत्य करने लगी। रम्भा अप्सरा का अद्भुत और आकर्षक रूप-सौन्दर्य था सामने, अर्जुन ने न तो स्वय शरीर-विभूषा की ओर न विभूषा से सुसज्जित रम्भा के रूप-सौन्दर्य को देखा। तपोभ्रष्ट और ब्रह्मचर्यभ्रष्ट करने के रम्भा के सभी अस्त्र व्यर्थ हो गए। अर्जुन को वह तिलभर भी डिगा न सकी। अर्जुन ने रम्भा से मुस्करा कर कहा—"माता ! अगर आपने इस सुन्दर शरीर से मुझे जन्म दिया होता तो मुझ मे और अधिक तेज होता।" रम्भा अर्जुन से परास्त और लज्जित होकर चली गई। अर्जुन अपनी ब्रह्मचर्यनिष्ठा पर अचल रहा।

बन्धुओ ! अर्जुन ने ब्रह्मचर्य रक्षा के दोहरे सिद्धान्त का पालन किया था। उन्होंने न तो स्वय शरीर-विभूषा की ओर न ही विभूषित शरीर को कामाभिलाष की दृष्टि से देखा। इसीलिए वह ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट न हुआ।

वेश-भूषा का भी मन पर प्रभाव

वेश-भूषा का भी मन पर प्रभाव पड़ता है। जो व्यक्ति सतोगुणी विचारों का होगा, उसकी वेश-भूषा सादी और पवित्र होती है। उसकी वेश-भूषा में मन-वचन-कर्म से शुचिता के दर्शन होते हैं। ब्रह्मचर्यसाधक सात्त्विक वेशभूषा से ही मन-वचन-काय से पवित्र रह सकता है।

भारत में जितने ऋषि, मुनि, सन्त, सन्यासी, तीर्थंकर, अवतार, भक्त या ब्रह्मचारी हुए हैं, सबने सादगी अपनाकर ही अपना जीवन उन्नत किया है। परमात्म-भक्ति या मोक्षसाधना में लगाया है।

परमभक्ता मीराबाई को कौन नहीं जानता ? वह विवाह करके भोग-विलास में नहीं फँसी, राजघराने की कुलवधू होते हुए भी भोग-विलास और वैषयिक सुख-भोग के सभी साधन होते हुए भी वह इन सबको ठुकराकर सीधे-सादे वेष में रही। रहन-सहन और खान-पान में भी उसने सादगी अपनाई। उसके ब्रह्मचर्य का तेज उसकी सीधी-सादी वेशभूषा में झलकता था। कोई उसके सामने कामविकार की दृष्टि से आँख उठाकर भी नहीं देख सकता था, इतना अद्‌भुत तेज था, उस ब्रह्मचारिणी भक्ता के चेहरे पर! उसने अपने आपको शरीर-पूजा में नहीं लगाया, किन्तु आत्मपूजा और भगवत्पूजा में लगा दिया। अपना तन, मन, इन्द्रियाँ आदि सर्वस्व मीरा ने प्रभुभक्ति में लगा दिया। तभी तो उसका जीवन उच्च भूमिका पर पहुँच सका।

शील ही परम आभूषण है

वास्तव में देखा जाये तो ब्रह्मचारी को और किसी भी आभूषण की जरूरत नहीं है, जिस आभूषण की जरूरत है, आत्मा को शृंगारित-सुसज्जित करने के लिए जिसे पहनने की जरूरत है, वह उसके पास है। क्या आप बता सकते हैं, वह आभूषण कौन सा है?

एक शिष्य के मन में भी ऐसा प्रश्न उद्‌भूत हुआ था—गुरुदेव! बताइए, कि [illegible]?' लोग शरीर को सुन्दर बनाने के लिए आभूषण पहनते हैं, मुझे [illegible] की शोभा बढ़ाने हेतु [illegible] आभूषण पहनना है। मुझे ऐसा श्रेष्ठ आभूषण बताइए, [illegible] सुशोभित हो उठूँ। मुझे ऐसा श्रेष्ठ आभूषण बताइए, जिसे [illegible], [illegible] न कर सकें।

[illegible] कि शिष्य की आवश्यकता बड़ी कठोर है। परन्तु उसमें ऐसे [illegible] यही उत्तम है।

[illegible] शिष्य से कहा—'वत्स! [illegible] आभूषण है, जिसे भरत चक्रवर्ती ने [illegible], [illegible] ने पहना था, [illegible] ने भी पहना था।"

ऐमा आभूपण, जो कि शिष्य की वताई हुई कठोर शर्त पर टिक सके, न तो अंगूठी है, न वाजूवन्द है, न नवलखा हार है। ऐमी योग्यता इन आभूपणो मे नही है। वह आभूपण है—शील। गुरु ने कहा—'शील पर भूषणम्' शील ही परम आभूपण है। जिसके पास शीलरूपी आभूषण है, उसे दूसरे आभूपणो से शरीर को विभूपित करने की जरूरत नही है। इसीलिए महर्पि गौतम ने कहा—

अभूसणो सोहइ वंभयारी'

ब्रह्मचारी विभूपारहित सोहता है, उसे वाह्य विभूषा की जरूरत नही है।

आप भी शीलरूपी आभूपण को अपनाइए, आपका आत्मसौन्दर्य चमक उठेगा।



५५
दीक्षाधारी अकिंचन सोहता

प्रिय धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज आपके समक्ष एक महत्त्वपूर्ण विषय पर चर्चा करनी है, वह है दीक्षाधारी—साधु-जीवन ।

गणना के अनुसार साधु वेषधारक भारतवर्ष मे आज लगभग ७० लाख हैं। परन्तु इनमे सच्चे साधु या मुनि-दीक्षाधारी कितने हैं? यह गम्भीर प्रश्न है। अगर सच्चे दीक्षाधारी साधु अल्पसख्या मे भी होते तो वे अपने और समाज के जीवन का कायाकल्प, सुधार या उद्धार कर पाते। परन्तु आज जहाँ देखें, वहाँ तथाकथित साधुओ मे सम्पत्ति और जमीन जायदाद के लिए झगडा हो रहा है, आये दिन अदालतो मे मुकदमेबाजी होती है, कही जातीय कलह है तो कही गाँव का, तो कही स्थान का है, उनके पीछे तथाकथित साधुओ का हाथ है। ये सब झझट अपना घर-बार और जमीन-जायदाद छोडकर साधुदीक्षा लेने वाले के पीछे क्यो होते हैं? इन सबका एकमात्र हल क्या है? इस महत्वपूर्ण प्रश्न को हल करने के लिए महर्षि गौतम ने स्पष्ट शब्दो मे कहा—

अकिंचणो सोहइ दिक्खधारी

'दीक्षाधारी साधु तो अकिंचन ही सोहता है।'

साधु की शोभा निस्पृहता है

गौतमकुलक का यह चवालीसवाँ सूत्र है। अब हम इस पर गहराई से विचार करें कि दीक्षाधारी साधु सच्चे माने मे कौन है? वह किस उद्देश्य से दीक्षित होता है? उसका अकिंचन रहना क्यो आवश्यक है? साधुदीक्षा लेने के बाद अकिंचन साधु किस तरह परिग्रह या संग्रह की मोहमाया मे फँस जाता है? अकिंचन बने रहने के उपाय क्या हैं? तथा अकिंचनता के लिए आवश्यक गुण कौन-कौन से हैं?

दीक्षाधारी : यथार्थ रूप में कौन है, कौन नहीं ?

सच्चा दीक्षाधारी साधु-जीवन स्वीकार करते समय अपने घर-बार, जमीन-जायदाद, कुटुम्ब, परिवार एव सोना-चाँदी आदि सभी प्रकार के परिग्रह को हृदय से [illegible] इन सबसे [illegible] है कि इन सबसे सम्बन्धित ममत्व-बन्धन

आसक्ति और मोह न हो तथा इन दोषो के उत्पन्न होने के साथ ही लडाई-झगडे, कलह, क्लेश, अशान्ति, बेचैनी, चिन्ता आदि पैदा न हो। यह निश्चित है कि जब दीक्षाधारी साधु परिग्रह के प्रपचो मे पड जाता है, तब उसकी मानसिक शान्ति, निश्चिन्तता, सन्तोषवृत्ति एव निर्ममत्वभावना समाप्त हो जाती है, और वह स्व-परकल्याण साधना नही कर सकता। भले ही उसका वेश साधु का होगा, परन्तु उसकी वृत्ति मे साधुता, निर्लोभता, निर्ममत्व, शान्ति और निश्चिन्तता पलायित हो जाएँगे।

साधु जीवन अगीकार करने का जो उद्देश्य था—ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की साधना द्वारा कार्यक्षय करके मोक्ष प्राप्त करने का, वह इस प्रकार की परिग्रहवृत्ति—ममत्वग्रन्थि आ जाने पर लुप्त हो जाता है। अत. अगर सक्षेप मे सच्चा दीक्षाधारी कौन है ? यह बताना हो तो हम कह सकते हैं—जो निर्ग्रन्थ है, अपरिग्रही है, वही वास्तव मे सच्चा दीक्षाधारी साधु है, और उसकी शोभा अकिंचन बने रहने मे है। जिसके जीवन मे बाह्य और आभ्यन्तर किसी प्रकार के परिग्रह की ग्रन्थि न हो, वही सच्चा गुरु है, सच्चा दीक्षित मुनि या श्रमण है।

केवल घर-बार छोडने या धन-सम्पत्ति का त्याग कर देने मात्र से कोई सच्चा साधु नही माना जा सकता, जब तक कि उसके अन्तर् से त्यागवृत्ति न हो, उन वस्तुओ—सचित्त या अचित्त पदार्थों के प्रति उसकी मानवता, आसक्ति, मोह या लालसा न छूटे, उसके मन से इच्छाओ, कामनाओ का त्याग न हो। यहाँ तक कि अपने धर्मस्थान, शरीर, शिष्य तथा विचरण-क्षेत्र, शास्त्र, पुस्तक आदि पर भी उसके मन मे ममत्व, स्वामित्वभाव या लगाव न हो। दशवैकालिक सूत्र मे स्पष्ट कहा है—

> लोहस्सेस अणुप्फासो, मन्ने अन्नयरामवि।
> जे सिया सन्निहिकामे, गिही पव्वइए न से ॥

'निर्ग्रन्थ-मर्यादा का भग करके जिस किसी वस्तु का सग्रह करने की वृत्ति को मैं आन्तरिक लोभ की झलक मानता हूँ। अत जो सग्रह करने की वृत्ति रखते हैं, वे प्रव्रजित-दीक्षित नही, अपितु सासारिक प्रवृत्तियो मे रचे-पचे गृहस्थ हैं।'

दीक्षा ग्रहण करने से पहले साधु ने जिन मनोज्ञ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयभोगो को, मनोहर, प्रिय वस्त्र, अलकार, स्त्रीजन, शय्या आदि को स्वेच्छा से छोडा है, उन्ही मनोज्ञ, प्रिय एव कमनीय भोग्य वस्तुओ की मन मे लालसा रखना, उनकी प्राप्ति हो सकती हो या न हो सकती हो, फिर भी उनके लिए मन मे कामनाएँ सजोना, त्यागी का लक्षण नही है, वह अत्यागी है।[1]

---

१ वत्थगंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति न से चाइत्ति वुच्चइ ॥

—दशवै० अ० २

दीक्षित साधु के समक्ष धन का ढेर लगा होगा, सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ पडी होगी, अच्छे अच्छे खाद्य पदार्थ सामने धरे होगे, तो भी वह उनको लेने के लिए मन मे भी विचार नही करेगा। जैसे कमल कीचड मे पैदा होते हुए भी उससे अलिप्त रहता है वैसे ही सच्चा दीक्षाधारी साधु पक-सम ससार और समाज मे रहते हुए भी उनकी प्रवृत्तियो से अलिप्त रहेगा। वह अपने मन मे ससार नही बसाएगा। ससार का मतलब है—

'कामाना हृदये वासः ससारः परिकीर्तितः।'

'विविध कामनाओ का हृदय मे निवास करना ही ससार है।'

निष्कर्ष यह है कि दीक्षाधारी साधु अपरिग्रही, निर्ममत्व, अनासक्त, निर्लेप, निर्ग्रन्थ एव अकिंचन होना चाहिए। सासारिक बातो का किसी प्रकार रग या लेप उस पर नही होना चाहिए। त्यागी बनकर जो उस त्याग की मन-वचन-काया से अप्रमत्त एव जागरूक होकर साधना करता है, वही सच्चा दीक्षाधारी है, वही स्व-पर-कल्याणसाधक सच्चा साधु है। जो स्वय ससार की मोहमाया मे पड जाता है, वह साधु-जीवन के उद्देश्य के अनुसार कर्मबन्धन से मुक्त नही हो सकता और न ही ससार की मोहमाया मे पडे हुए तथा कर्मबन्धनो मे लिपटे हुए लोगो को सच्चा मार्ग-दर्शन दे सकता है। साधुदीक्षा ग्रहण करके पुन सासारिक प्रवृत्तियो मे पडने वाला व्यक्ति '**इतोभ्रष्टस्ततो भ्रष्टः**' हो जाता है।

दीक्षा लेने के बाद त्यागी साधु पुनः परिग्रह के मोह मे क्यों ?

कुछ लोग यह प्रश्न उठाते है कि दीक्षा लेने के बाद त्यागी बना हुआ साधु पुन नये-नये परिग्रह, सग्रह या वस्तु के मोह मे क्यो पड जाता है। क्या कारण है कि अकिंचन और अपरिग्रही साधु अपनी प्रतिज्ञा से हट जाता है? यो तो दीक्षा लेते समय साधु समस्त प्रकार के परिग्रह का मन-वचन-काया से त्याग करता है, भले ही परिग्रहीत वस्तु अल्प हो या अधिक, सूक्ष्म हो या स्थूल, सजीव हो या निर्जीव, किन्तु उस त्याग का स्थायी सस्कार तब तक जीवन मे नही आ पाता, जब तक कि उस त्याग का अप्रमत्ततापूर्वक गहरा एव दीर्घकालिक अभ्यास न हो। कई बार परिग्रह की परिभाषा के भ्रम मे दीक्षित साधु वस्तुओ का सग्रह करता जाता है। मान [illegible] साधु है, उसे दशवैकालिक सूत्र के इस पाठ का पता है—

ज पि वत्थ व पाय वा कबल पायपुछण।
त पि सजमलज्जट्ठा धारेंति परिहरति य॥
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इइ वुत्त महेसिणा॥

[illegible] ज्ञातपुत्र [illegible], कि परिग्रहत्यागी साधु जो वस्त्र, [illegible] [illegible] अपरिग्रही साधु [illegible]

साधना के लिए जो भी ये उपकरण (साधन) रखना है, उसे जगत्त्राता ज्ञातपुत्र महावीर ने परिग्रहरूप नहीं कहा है। लेकिन इन समस्त उपकरणों में ममता-मूर्च्छा या आसक्ति रखना ही परिग्रह है, ऐसा उन महर्षि ने बताया है।'

इस सूत्र में बताए हुए ऊपर के अंश को ही पकड़कर जब साधु प्रवृत्ति करने लगता है और आवश्यकता एवं संयमरक्षा का हेतु न होने पर भी साधन-सामग्री के संग्रह को परिग्रह न समझकर संग्रह करता जाता है, सूक्ष्मरूप से उसकी ममता बढ़ती जाती है, उसकी मूर्च्छा दिनोदिन प्रबल होती जाती है, फिर वह 'मूर्च्छा परिग्रह है' इस सूत्र को भूल जाता है। वस्तुओं पर ममता-मूर्च्छा होते हुए भी तथा अन्तर्मन में इसे समझते हुए भी अपनी पकड़ी हुई मिथ्या बात को सिद्ध करने के लिए वह यही कहता रहता है—'इन वस्तुओं पर मेरी ममता-मूर्च्छा नहीं है, मेरा कोई स्वामित्व उन पर नहीं है, ये वस्तुएँ मेरी नहीं हैं, मैं तो केवल इनका संरक्षक हूँ।' इस प्रकार मिथ्या-आग्रहवश एक दिन जो अपरिग्रही, निर्ममत्व, निःस्पृह, अकिंचन भिक्षाजीवी साधु था, वह धीरे-धीरे परिग्रह और ममत्व के दलदल में फँस जाता है। जबकि दशवैकालिक सूत्र में परिग्रह त्यागी साधकों को बराबर इस बात की चेतावनी दी गई है—

सव्वत्थुवहिणा बुद्धा संरक्खण-परिग्गहे।
अवि अप्पणो वि देहम्मि, नाऽयरंति ममाइयं॥

तत्त्वज्ञ साधु उपाधि (वस्त्र, पात्र, आदि धर्मोपकरणों) के स्वीकार में अथवा उनके संरक्षण—सार-सँभाल में सर्वत्र किसी प्रकार की ममता या आसक्ति नहीं रखते। जो देह तक में ममत्व नहीं रखते, क्या वे तुच्छ साधन-सामग्री में कभी ममत्व रख सकते हैं? इसी चेतावनी के बावजूद भी अपरिग्रही साधक साधन-सामग्री के मोह-ममत्व में फँस जाता है और ऐसा फँसता है कि फिर उससे निकलना ही दुष्कर हो जाता है।

अनुयायी भी बन गये। जब पहले-पहल वह इस गाँव मे आया था, तब उसके पा
कुछ ग्रन्थ, मिट्टी के पात्र और काषायवस्त्र इतने ही उपकरण थे, लेकिन धीरे-धी
ग्रामीणजनो का परिचय बढ़ता गया, उनको भी इस भिक्षु के प्रति ममत्व हो गया
इसलिए जहाँ उसे एक वस्त्र की जरूरत होती, वहाँ वह ८-१० वस्त्र, अनेक कम्बल
पात्र, तथा अन्य नये नये साधन सग्रह करने लगा। वस्त्र भी एक से एक बढ़क
बहुमूल्य और सुन्दर, तथा अन्य सामग्री भी बढिया इकट्ठी की जाने लगी। पहं
वह घरो से स्वय भिक्षा माँगकर आहारादि लाता था, पर बाद मे भिक्षा लाना ब
कर दिया। उसके स्थान पर ही भक्त लोग उसके लिए सुबह दूध, नाश्ता, दोपह
को स्वादिष्ट भोजन लाने लगे। दो-तीन भक्त तो हर समय भिक्षु की सेवा
उपस्थित रहते थे। सुख-सुविधाएँ तो साधक के लिए फिसलन है। अप्रमादी औ
अविवेकी साधक का फिसलन वाली भूमि पर चलने से पतन होना अवश्यम्भावी है
भिक्षु भी धीरे-धीरे सुकुमार और सुखशील बनता गया, अपने गाँव मे एक ही स्था
पर ही मजे से आराम करने लगा। भ्रमण बन्द कर दिया।

इन बारह वर्षों मे उसने सुन्दर-सुन्दर वस्त्र आभूषण, पात्र, सुखशय्या, अने
ग्रन्थ वगैरह एकत्रित कर लिये। आरामतलबी मे कोई कसर न रखी। धीरे-धीरे व
भोगी और विलासी बनता गया। उसे यह स्मरण भी न रहा कि मेरे बड़े गुरुभा
कहाँ हैं?

बारह वर्ष बाद एक दिन उसे सहसा याद आया कि मेरे एक बडे गुरुभाई थे
न मालूम वे आजकल कहाँ हैं? उनकी तलाश करनी चाहिए। गाँव के भक्तो
विचारविमर्श करके वह भिक्षु गुरुभाई की तलाश मे वहाँ से निकला। घूमते
घूमते एक गाँव के बाहर एक पेड के नीचे उन्हे आसन पर बैठे देखे। भिक्षु उनक
निकट आया और देखा तो आश्चर्य मे डूब गया कि इसके पास न तो कोई मठ है, न
सुन्दर पलग और न ही बढिया वस्त्र। यह तो अभी तक वैसा का वैसा ही रहा।

यह देखकर मन ही मन अपने ठाठ-बाट का विचार करता हुआ भिक्षु
मुस्कराया। फिर बड़े गुरुभ्राता से पूछा—"भते! आप मठ या विहार मे क्यो नहीं
रहते? और आपके पास तो कपड़े तथा अन्य साधन भी पूरे नही दीखते।"

बड़े भिक्षु ने कहा—"भाई! एक ही स्थान मे पड़े रहने से सुखशीलता,
प्रमाद, सुविधावाद एव विलासिता आ जाती है।"

छोटा भिक्षु कहने लगा—"आप चाहे जो कहे, विहार विहार ही है, उसमे
रहने से समय पर लोगो को नियमित रूप से उपदेश भी दिया जा सकता है। मैं तो
नित्य ही रहता हूँ। एक विहार मे रहता हूँ। वहीं लोगो को उपदेश देकर उनका
मनोरंजन करता हूँ। मुझे भिक्षा के लिए घर-घर घूमने की जरूरत नहीं पड़ती।
विहार मे ही भक्त लोग दूध, नाश्ता, आहार आदि दे जाते हैं।"

बड़ा भिक्षु — यह तो भिक्षुधर्म के विरुद्ध है। भिक्षु का अर्थ ही है भिक्षा
लेकर जीना और उपदेश देकर जनता की आत्मा का कल्याण करना।"

छोटा भिक्षु सोचने लगा कि अभी तक बड़े गुरुभाई पुराने जमाने के विचारों के हैं, इन्हें झटपट अपनी बात समझाई नहीं जा सकती। छोटे भिक्षु को भूख लगी, अतः बड़े भिक्षु ने कहा—"कुछ देर प्रतीक्षा करो। मैं अभी भिक्षा लेकर आता हूँ।"

छोटा भिक्षु—"आप भिक्षा लेने जायेंगे? मुझे तो लोग चार-चार वक्त भोजन लाकर स्थान पर दे जाते हैं।"

बड़ा भिक्षु भिक्षापात्र लेकर गांव में गया और थोड़ी ही देर में रोटी और साग लेकर आया। अब बड़े भिक्षु ने छोटे से कहा—"लो, भिक्षा आ गई है। आहार करो।"

छोटे भिक्षु से अब रहा नहीं गया। वह बोल उठा—"मुझे तो आश्चर्य होता है कि आप ऐसे रद्दी स्थान में और ऐसे रूक्ष मनुष्यों के बीच में कैसे रहते हैं? मुझ से तो यहां थोड़ी देर भी रहा नहीं जाता और यह रूखी रोटी तो कदापि मेरे गले उतर न सकेगी।"

बड़े भिक्षु को लगा कि इस (छोटे भिक्षु) ने बारह वर्ष में सारे ही संयमी भिक्षु-जीवन पर पानी फेर दिया है।

छोटा भिक्षु कहने लगा—"मालूम होता है, आप अपनी विद्या का प्रभाव इन लोगों पर डाल नहीं सके हैं। मेरे आपके बीच में कितना अन्तर है? यह तो इसी पर से सिद्ध होता है।"

बड़ा भिक्षु बोला—"भिक्षो! तुम अपने जीवन पर एक बार गहराई से विचार करो कि तुमने घर बार, जमीन-जायदाद तथा धन एवं सुख-साधन किस लिए छोड़े थे? क्या घर में खाने की कमी थी? क्या वहां मकान नहीं थे, पलंग आदि न थे या मिठाइयां नहीं थीं? फिर भी उन सबका त्याग क्यों किया था? क्या इसलिए किया था कि तुम पुनः उन त्यक्त वस्तुओं का उपभोग करने के लिए तत्पर बनो। तुम अपने आपको बौद्ध भिक्षु कहते हो। तथागत बुद्ध का कथन है कि भिक्षुओं को पक्षियों की तरह विचरण और भिक्षाचर्या करनी चाहिए। जैसे पक्षीगण किसी वस्तु का संग्रह नहीं करते, वैसे भिक्षु को भी संग्रह नहीं करना चाहिए। मेरा तो इतना अभ्यास है कि [illegible] तो इसी समय यहां से प्रस्थान कर सकता हूँ, पर तुम से यदि [illegible] हो जाये, तुम्हें तो गाड़ी या विहार वगैरह याद आएगा, सुन्दर स्वादिष्ट [illegible] का स्मरण आयेगा। तुम संसार का त्याग करके पुनः इतने लिप्त हो गए हो [illegible] कर सकोगे? अपना आत्म निरीक्षण [illegible] कैसे बनोगे?"

यह है—दीक्षाधारी परिग्रह त्यागी साधु का पुन. परिग्रह मे लिपट जाने का ज्वलन्त उदाहरण।

अकिंचन बनकर भी पुनः परिग्रह के कीचड़ मे

आज दीक्षाधारी साधु घर-बार, धन सम्पत्ति आदि सब कुछ छोडकर अकिंचन बन जाता है, लेकिन इन सब परिग्रहो के बदले दूसरे परिग्रह उसके मन मे जड जमा लेते है। दीक्षाधारी अपना एक घर छोडता है, यहाँ जगह-जगह घर मिलते है, जहाँ उसका ममत्व चिपका कि अनेक घरो का परिग्रह हो जाता है। वह छोडता है—एक परिवार को, यहाँ भक्त-भक्ताओ एव शिष्य-शिष्याओ के परिवार के साथ अगर वह ममत्व बाँध लेता है तो यह सम्प्रदाय नामक नया परिवार उसके लिए परिग्रह बन जाता है। उधर एक गाँव छोडता है, लेकिन यहाँ विचरण के क्षेत्रो पर तेरे-मेरे की छाप लग जाती है, विचरणक्षेत्रो के बारे मे होने वाले झगडे तथा तीर्थक्षेत्रो मे अलग-अलग मन्दिरो के झगडे क्षेत्रासक्ति ही सूचित करते हैं।

इसी प्रकार मन्दिर, मस्जिद, धर्मस्थानक, चर्च, उपाश्रय, गुरुद्वारा, मठ, विहार, रामद्वार, आदि पर भी जब मेरापन चिपक जाता है, तब साधु अकिंचन, निर्ग्रन्थ या अपरिग्रही नही रह जाता। होता यह है कि मन्दिर आदि के पीछे 'मेरा' चिपक जाने पर झझट पैदा हो जाती है। मुसलमान को हिन्दू का मन्दिर गिर जाय तो प्रसन्नता होती है, और हिन्दू को मुसलमान की मस्जिद गिर जाने पर। परमात्मा से किसी को कुछ लेना-देना नही है।

परमात्मा भी सबके अपने-अपने हैं। अगर हिन्दू के भगवान् का मन्दिर गिर रहा हो तो मुसलमान बनाने नही आयेगा, यही बात मुस्लिम के मस्जिद की है। और तो और, एक ही भगवान मे बँटवारा हो जाता है, साधुओ की इस प्रकार की आसक्ति के कारण। यह तो अमुक का भगवान् है, मेरा नही। इस प्रकार के जाति, धर्म-सम्प्रदाय, मन्दिर, धर्मस्थान, उपाश्रय आदि पर अपनी-अपनी ममता चिपकाकर जो साधु बैठ जाते हैं, वे फिर किसी दूसरी जाति, धर्म-सम्प्रदाय, आदि के व्यक्ति को कतई नही घुसने देते। यह आसक्ति बहुत गहरी होती है, साधु के जीवन मे। अगर आप जगलो, गुफाओ और तीर्थो मे जाकर देखेंगे तो वहाँ आपको पता चलेगा कि जो ससार छोडकर बैठे है, उनकी अलग-अलग गुफाएँ, अलग-अलग स्थान, पृथक्-पृथक् तीर्थ है, अगर वहाँ कोई और साधु आ जाए तो झगडा मच जायगा, क्योकि गुफा पर या अमुक स्थान पर अमुक स्वामी का ही कब्जा है, अमुक बाबा ही इसका मालिक है, अमुक आचार्य का ही यह उपाश्रय, या खानगाना, धर्मस्थानक, या भवन है। इसमे दूसरे आचार्य के शिष्य प्रवेश नही कर सकेंगे, अन्यथा झगडा हो जायगा, अपने भक्तो द्वारा निकलवा दिया जायगा। जगल, सडक है, किसी एक की नही है, पेड है, किसी एक का नही है, सार्वजनिक है, यदि वहाँ कोई बाबा आकर जम गया है तो वहाँ स्थान उसका हो गया, फिर वहाँ से उसे हटाकर अन्य बाबा का बैठना असम्भव सा है।

इस प्रकार अकिंचन साधुओं की ममत्व की करुण कहानी है। यह ममता-मूर्च्छा यहाँ तक ही सीमित नहीं रहती, सुरसा की तरह आगे से आगे बढ़ती जाती है, कभी बहुत ही सूक्ष्म हो जाती है, उसका रहस्य भ्रमवश बड़े-बड़े साधुओं को भी मालूम नहीं होता। पद का ममत्व, पदवी के लिए लड़ाई, एक दूसरे के साथ राजनीतिज्ञों की भी प्रतिस्पर्धा और टक्कर ! प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि की आसक्ति तो इतनी जबर्दस्त है कि वह जीवनपर्यन्त तथाकथित अकिंचनों के दिल-दिमाग से नहीं निकलती। यहाँ तक कि अगर दूसरे सम्प्रदाय के किसी साधु को अधिक प्रतिष्ठा मिल जाती है, या उनकी अधिक प्रसिद्धि होती है, तो उससे ईर्ष्या करके उसकी प्रतिष्ठा को गिराने और प्रसिद्धि को चौपट करने की कोशिश की जाती है, तथाकथित अकिंचनों के द्वारा। कहा भी है—

कंचन तजबो सहज है, सहज त्रिया को नेह।
मान, बड़ाई, ईर्ष्या, दुर्लभ तजिबो एह॥

निष्कर्ष यह है कि अकिंचन कहलाने वाला साधुवर्ग प्राय सर्वत्र अहंकार की पताका लिए खड़ा रहता है। जो व्यक्ति आत्मार्थी है, आत्मतृप्त है, आत्मा की पूजा करना चाहता है, वह प्रतिष्ठा को लात मारकर भगा देता है। वह तो साफ कहता है—

"प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा।"

'प्रतिष्ठा सूअर की विष्ठा के समान त्याज्य है।'

स्वामी रामकृष्ण परमहंस को यह पसन्द न था कि लोगों में उनकी प्रसिद्धि हो। वे प्रत्येक व्यक्ति के सामने अपनी चमत्कारिक अनुभूति की बात नहीं कहते थे। बाबू केशवचन्द्र सेन स्वामीजी के सम्पर्क में आने के बाद उनके सद्गुणों पर बहुत मुग्ध हो गए थे। एक बार उन्होंने सद्भावनावश सामाजिक पत्रों में स्वामीजी की प्रशंसा में एक लेख प्रकाशित करा दिया। जब स्वामीजी ने यह समाचार सुने तो वे उन पर बहुत नाराज हुए। उन्होंने केशवचन्द्र बाबू को कितने ही अर्से तक अपने पास आने के लिए मना कर दिया। एक दिन आधी रात के समय स्वामीजी उठे और थू थू करते हुए कहने लगे—'लोग मुझे सम्मान देते हैं, माँ ! थू-थू माँ !" मानो वे प्रतिष्ठा पर लात मारते थे। सम्मान, यश एवं प्रसिद्धि से आप विरक्त थे।

निष्कर्ष यह है कि दीक्षाधारी साधु को इन सब बाह्य और आभ्यन्तर परि-

(११) स्त्रीवेद, (१२) पुरुषवेद, (१३) नपुसकवेद, और (१४) मिथ्यात्व। इन्ही को आभ्यन्तरग्रन्थ कहते है, तथा बाह्य परिग्रह को बाह्यग्रन्थ। जो मूर्च्छा—इच्छा से रहित है, उनके लिए सारा जगत अपरिग्रह है।[1] अत बाह्य एव आभ्यन्तर किसी प्रकार का परिग्रह अकिंचनता मे बाधक है।

किसी भी चीज से, यहाँ तक कि शरीर एव शरीर से सम्बन्धित किसी भी जड-चेतन पदार्थ से आत्मा का तादात्म्य बना लेना, ममत्व या 'मेरे' को जोड लेना अज्ञान है, परिग्रह है, जो अकिंचनता मे मुख्यरूप से बाधक है।

आत्मा के साथ वस्तु का मेरापन जोड़ने से दुःख

आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानने और उसमे रमण करने वाला कौन ऐसा व्यक्ति होगा, जो परभाव को यह कहेगा कि 'यह मेरा है ?' इसलिए मेरा सम्प्रदाय, मेरा मन्दिर, मेरा उपाश्रय, मेरा वस्त्र, पात्र या कम्बल, मेरा गुरु, मेरा शिष्य आदि कहना या ऐसा 'मेरे' का दावा करना अथवा मन मे मेरेपन का भाव रखना आकिंचन्य नही है। सिवाय आत्मा के (तुम्हारे), कुछ भी तुम्हारा नही है, उसी को लेकर तुम आए, उसी को लेकर परलोक जाओगे। बाकी सब खेल है। भाई-बन्धु, गुरु-शिष्य, शत्रु-मित्र आदि कोई भी तुम्हारा नही है। यह लोक भी, या घर मकान आदि भी पराया है। ज्ञानी पुरुष कहते हैं—जिसने मेरापन व्यवहार से, और मन से छोड दिया, उसके लिए अकिंचनता सहज हो जाती है।

जब साधक अपनी आत्मा को किसी चीज से जोड़ते है, तभी मेरापन पैदा होता है। जब साधु सन्यासी कहते है—यह मेरा स्थान है तब कौन-सी घटना घटित होती है ? वे चले जायेंगे लेकिन उनके लिए स्थान रोयेगा नही। स्थान गिर जायगा टूट-फूट जायगा तो वे (ममता के कारण) रोयेंगे। स्थान तो वैसा का वैसा बना रहेगा, लेकिन जिसके दिल मे स्थान के लिए मेरापन है, वही दुःखी होगा। भगवान् महावीर कहते है—

> चित्तमतमचित्त वा परिगिज्झ किसामवि।
> अन्न वाऽणुजाणाइ, एव दुक्खा ण मुच्चइ ॥[2]

'जो मनुष्य सजीव (मनुष्य, पशु-पक्षी आदि) एव निर्जीव (धन-धान्य, सोना-चादी आदि) किसी भी वस्तु का जरा-सा भी स्वय परिग्रह (ममता युक्त) रखता है, या दूसरों को रखने की सलाह देता है, वह कभी दुःख से छूट नहीं सकता। जहाँ-जहाँ ममत्व आत्मा के साथ में जुड़ा हुआ है, वहाँ दुःख के सिवाय और कोई लाभ नहीं।

अकिंचन साधु स्थान को सराय समझता है

[illegible] कि एक मुक्त फकीर कुछ विद्यार्थियों को लेकर कहीं जा [illegible] लिया, [illegible]

---

१ [illegible] —आनगार

२ (सूत्रकृताग १, अ० १, उ० १, गा० २)

रहा था। उसने विद्यार्थियों से उस आदमी को घेर लेने को कहा। गायवाला आदमी यह सुनकर जरा चौंका, लेकिन यह जानने को अवाक् खड़ा रह गया कि क्या मामला है? सूफी फकीर ने शिष्यों से पूछा—"बताओ, इन दोनों (गाय और आदमी) में कौन किसका गुलाम है? यह आदमी गाय का गुलाम है या गाय इस आदमी की?" पूर्व सम्प्रत्ययवश स्वभावतः शिष्यों ने कहा—"गाय इस आदमी की गुलाम है, क्योंकि गाय की रस्सी इसने हाथ में थाम रखी है। यह उसे चाहे जहाँ ले जा सकता है।" सूफी फकीर ने कहा—"तुमने केवल ऊपर ऊपर से देखा है। ऐसा मत समझो कि रस्सी बीच में से काट दें तो गाय इस आदमी के पीछे चली जाएगी या आदमी इस गाय के पीछे भागेगा? गाय हर्गिज पीछे आने वाली नहीं, यह तो रस्सी पकड़े हुए इस आदमी के साथ भी मुश्किल से जाएगी। यह आदमी ही गाय के पीछे भागता फिरेगा। गाय को इस आदमी से कोई लेना-देना नहीं। इस गाय ने कोई तादात्म्य इस आदमी के साथ नहीं बाँधा है, तादात्म्य तो स्वयं इस आदमी ने ही गाय के साथ बाँधा है। अतः गुलाम यह आदमी है, गाय नहीं।"

इस प्रकार जिस-जिस वस्तु के साथ आत्मा का तादात्म्य जोड़कर आदमी उसे मेरी कहता है, वहीं वह उसका गुलाम हो गया। वह वस्तु उस तादात्म्य सम्बन्ध जोड़ने वाले व्यक्ति को 'मेरा मालिक' नहीं कहती। वस्तु के प्रति ममत्व रखकर अपनी आत्मा से उसका तादात्म्य जोड़ने वाला ही कहता है—"यह वस्तु मेरी है, मैं इसका मालिक हूँ।" और इस प्रकार उस वस्तु को पाने, टूट-फूट जाने, खो जाने या नष्ट हो जाने पर व्यक्ति उसके लिए रोता है, आर्त्तध्यान करता है।

बल्ख के सम्राट इब्राहीम के महल के द्वार पर एक फकीर आया और पहरेदार से कहने लगा—"मुझे इस सराय में ठहरना है।"

चौकीदार ने कहा—"यह सराय नहीं है, सम्राट का महल है।" पर वह बड़े जोर-जोर से बोलकर चौकीदार से लड़ रहा था। पहरेदार ने कहा—"हजार दफे कह दिया कि यह सराय नहीं है। सराय गाँव में है। यह राजा का महल है, यहाँ राजा खुद रहता है। तुम किस होश में बात कर रहे हो? यह कोई ठहरने की जगह नहीं।"

राजा—"वह मेरे पिताजी थे, जो स्वर्गवासी हो गये।"

"मैं इससे भी पहले आया, तब एक तीसरा ही आदमी बैठा था, वह अपने को राजा कहता था, वह भी चला गया, उस समय का पहरेदार भी चला गया। आदमी बदल जाते है, पर यह मकान वही है और हर बार जब मैं आता हूँ, तब वही झंझट शुरू होती है।" फकीर ने कहा।

राजा—"वे हमारे पिता के पिताजी थे, जो स्वर्गवासी हो गए।"

इस पर इब्राहीम से उसने कहा—"जब मैं चौथी बार आऊँगा, तब इस सिंहासन पर तुम मुझे मिलोगे या और कोई? जब इतने लोग एक के बाद एक आये, रहे और चले गये, तब तुम्ही बताओ यह सराय है या महल? तुम भी कुछ समय तक इसमें टिकोगे फिर चल दोगे। फिर मेरे इसमे टिक जाने मे इसका क्या बिगड जाएगा?" यह सुनकर इब्राहीम को बोध हुआ। वह तुरन्त सिंहासन से नीचे उतरा और धन्यवाद देते हुए कहा—"आपने मुझे जगा दिया। अब इसमे तुम रुको, मैं चलता हूँ।" यो कहकर इब्राहीम ने राजमहल छोड दिया। इब्राहीम सूफियो का एक बड़ा फकीर हो गया।

वास्तव मे, इस फकीर की तरह जिसके मन मे किसी भी वस्तु के प्रति मेरापन (ममत्व) नही है जो सब क्षेत्रो एव स्थानो को सराय समझता है, आत्मा के सिवाय ससार की समस्त वस्तुओ को नाशवान, अस्थायी एव पराई समझता है, वह सिर्फ उन वस्तुओं का ज्ञाता, द्रष्टा तथा निर्लेपभाव से भोक्ता होता है। परन्तु जो ससार को सराय न मानकर तथा ससार की आत्मातिरिक्त सभी वस्तुओ को अपनी मानता है, आत्मा का तादात्म्य उसके साथ जोडता है, फिर उसके वियोग मे हाय-हाय करता है। वस्तु मे ममत्व करके कोई भी सुख नही पाता। तब अकिंचन साधु को उसके प्रति ममत्व और लगाव से सुख कैसे मिल सकेगा?

अकिंचन की तत्त्वदृष्टि

जिस साधक मे आकिंचन्यदृष्टि विकसित हो जाएगी, उसे यह चिन्ता नही होगी कि मेरे पास कुछ नही है तो कल कैसे काम चलेगा। वह कभी भविष्य की चिन्ता से दुःखी नही होगा। जो भी सहजभाव से शरीर को मिल गया, उतने मे ही वह सन्तोष कर लेगा। वह वस्तुओ पर ममत्व करके उनका गुलाम नही बनेगा। गुलाम बनने से मनुष्य की आत्मा दब जाती है। वह अपने आप मे मस्त एव स्वतन्त्र रहेगा। आत्मा से जो स्वय गुलाम बनना नही चाहता, उसे जबरन कोई भी गुलाम

लोगों ने कहा—"हम गुलामों को पकड़कर बाजार में बेचते हैं।"

डायोजिनिस बोला—"तो लो, हम चलते हैं।"

लोग यह देखकर चकित थे, यह स्वयं चल रहा है। कोई भी गुलाम पकड़ो तो भागता था, मगर यह व्यक्ति तो भागता नहीं। फिर डायोजिनिस ने कहा—"मेरे हाथ-पाँव छोड़ दो। जो तुम्हारे साथ जाना न चाहे उसे तुम जंजीरों से बाँधकर नहीं ले जा सकते। जंजीरें खोल लो, मैं स्वयं चलता हूँ।" वे उसे खुले बदन ले गए। डायोजिनिस बहुत लम्बा, तगड़ा, स्वस्थ सन्त था। वह नंगा रहकर भी सुन्दर प्रतीत होता था। उसे एक चौपटे पर खड़ा कर दिया, जहाँ गुलामों की खरीद-बिक्री होती थी। बेचने वाले ने जब आवाज लगाई कि कौन इस गुलाम को खरीदता है? मगर डायोजिनिस ने कहा—"यह मत कहो। आवाज मैं ही लगाऊँगा।"

फिर डायोजिनिस ने चौपट पर खड़े होकर कहा—"किसी को मालिक खरीदना हो तो खरीदो।"

लोग सुनकर बहुत हैरान हो गये। भीड़ लग गयी।

लोग बोले—"क्या मजाक की बात है?"

डायोजिनिस ने धृष्टता से उत्तर दिया—"मैं हर हालत में मालिक ही बना रहूँगा। ये लोग जो मुझे पकड़कर लाये हैं। मैं स्वयं इन्हें डाँटता-फटकारता ला रहा हूँ। मैंने इन्हें कितना सुधारा है, ठीक किया है? पूछो इनसे।"

डायोजिनिस को जो लोग पकड़ कर लाये थे, वे भी इससे भयभीत थे।

वह कहने लगा—"कोई मुझे गुलाम समझकर न खरीदना। जो गुलाम होना चाहता है, वही गुलाम हो सकता है। हम तो मालिक हैं, किसी को मालिक खरीदना हो तो खरीद लो।"

कहते हैं, एक राजा ने गुस्से में आकर उसे खरीद लिया। घर ले जाकर उसने अपने नौकरों से कहा—"इसकी टाँग तोड़ दो।"

आत्मा के सिवाय सासारिक नाशवान पदार्थों को अपने मानता है, वह दु खी होता है, चिन्तित रहता है, उनके मोह मे ।

जो व्यक्ति आत्मा से भिन्न समस्त पदार्थों को अपने नही मानता, वह उनके टूटने-फूटने, वियोग होने या अनिष्ट के सयोग होने पर दु खित नही होता, वह अपनी शान्ति भग नही करता, वह मस्ती मे रहता है ।

परमयोगी शुकदेव को आश्चर्य हुआ, कि वैभवपूर्ण जीवन विताने वाले राजा जनक को लोग विदेह और परमज्ञानी क्यो कहते है ? शुकदेव राजा जनक के अतिथि बने । उन्होने जनक को रत्नजटित पात्रो मे स्वादिष्ट भोजन करते तथा बढिया कीमती वस्त्र पहनते देखा था । शुकदेव को जनक विदेह का जीवनक्रम इन्द्रिय-लोलुप-सा प्रतीत हुआ । अपार वैभव विलास के बीच रहकर भी कोई योगी रह सकता है, अकिंचन और निर्ममत्व रह सकता है, इसकी कल्पना तक भी उनके गले नही उतरती थी ।

प्रातःकाल होते ही महाराज जनक ने सरयू स्नान का प्रस्ताव रखा । दोनो ही स्नान करने चले गये । जनक ने बहुमूल्य वस्त्र उतार कर नदी के तट पर रख दिये और स्नान करने के लिए जल मे उतरे । शुकदेव ने भी वल्कल वस्त्र उतार दिये । स्नान के बाद दोनो ही सन्ध्यावन्दन मे मग्न हो गये । अभी सन्ध्या प्रारम्भ किये कुछ ही समय हुआ था, पास खड़े लोग चिल्लाने लगे—"आग, आग !" सच-मुच समीपवर्ती भवन पूरी तरह आग की लपेट मे आ गये थे । घाट पर भी आग फैल जाने की आशका थी ।

शुकदेव का ध्यान भग हुआ । उन्होने देखा कि किनारे का भवन भी धू-धू करके जल रहा है । वह अपने वल्कल वस्त्र लेने तट की ओर दौड़े । पर जनक को कोई चिन्ता न थी, वे ध्यान मे मग्न थे । वे सन्ध्या करके उठे तो शुकदेव ने अग्निकाण्ड की सारी घटना कह सुनाई । इस पर जनक विदेह ने मुस्कराते हुए कहा—"भवन ही क्या, सारी मिथिला ही जल जाती तो भी उसमे मेरा क्या जलता ? क्योकि मिथिला, राज्य या शरीर तक को मै अपने नही मानता ।" शुकदेव का पूरा मन समाधान इस घटना मे हो चुका था कि जो ससार के समस्त पदार्थों को अपने नही मानता, वह पदार्थों के बीच मे रहता हुआ भी उनमे लिप्त नही होता, उसकी शान्ति भग नही होती ।

परन्तु अकिंचन साधु यदि सहजभाव से ऐसे वैभवपूर्ण पदार्थों के बीच में पहुँच जाए तो वहाँ सहजभाव से ही अपने आत्मभावों में लीन रहे, पदार्थों के विषय में रागभाव या द्वेषभाव से जरा भी चिन्तन न करे, मनोज्ञ पदार्थों को अपनाने, प्राप्त करने, अथवा कब्जे में करने की जरा भी इच्छा न करे तो वह निर्ममत्व, निर्लिप्त और अकिंचन रह सकता है।

एक उपाश्रय है, वह ७-८ लाख रुपयों का है। अकिंचन साधु को उस उपाश्रय में ठहराया जाता है। उपाश्रय में वह सहजभाव से रहता है, न तो उस उपाश्रय के प्रति उसका राग-मोह है, और न ही उसे अपना मानने की स्वामित्व या ममत्व बुद्धि है। वह कुछ दिन ठहरता है और चला जाता है, उपाश्रय को छोड़कर। उसने अपने मन में उपाश्रय को नहीं बसाया, न ही उसकी या उससे मिलने वाली सुख सुविधाओं की याद में वह तड़पता है, तो समझ लीजिए वह वैभवयुक्त उपाश्रय में रहते हुए भी निर्लिप्त रहा है।

एक जौहरी ने अपनी दुकान के एक कक्ष में किसी साधु को एक रात्रि के लिए निवास करने की विनती की। सहजभाव से साधु उस कक्ष में ठहर गया। ज्वेलरी हाउस में शो केस में बहुत कीमती हीरे, मोती, पन्ने, नीलम आदि के हार आदि रखे हैं। उसका मालिक तिजोरी खोलकर नोटों की गिनती करता है। क्या जौहरी की दुकान पर ठहरने वाला साधु उन कीमती वस्तुओं या धन को अपने मान कर उन पर कब्जा करने या अपना स्वामित्व स्थापित करने या उन्हें लेने या पहनने की इच्छा करेगा? कदापि नहीं। यही साधु की अकिंचनता है, जो वैभव के बीच में रहते हुए भी राग-मोह ममत्व से दूर रहता है, अपनी मस्ती में रहता है।

कभी एक छोटी-सी टूटी-फूटी झोंपड़ी में रहते हुए भी वह मस्ती में रहता है, उसे विशाल जैन भवन में रहने की याद नहीं सताती। न वह मन में दुःख या खेद करता है कि यहाँ कहाँ आ गया, इस झोंपड़ी में, यहाँ किसी प्रकार की सुविधा नहीं।

उसे न मोहजन्य दुःख होता है, और न उसे उन पदार्थों को अपना बनाने की इच्छा होती है। दूसरी ओर किसी निर्धन के मकान मे उसके भावभक्तिभरे आग्रह से भिक्षा के लिए जाने पर उसके यहाँ रूखी-सूखी रोटी मिलने पर, अथवा उसके यहाँ छोटा सा मकान उसकी गृहिणी के बहुत ही खुरदरे मोटे कपडो को देखकर, या घर के पास बहती हुई गन्दी नाली की बदबू आती है, उसे नाक मे पड़ती हुई जानकर या उस घर के पडौस मे लडाई-झगडे की कर्णकटु कर्कश आवाज को सुनकर उसके मन मे उद्वेग, अरुचि या घृणा नही पैदा होती। मतलब यह है कि अकिंचन हर हाल मे मस्त रहता है। न तो इष्ट पदार्थों के इन्द्रियगोचर होने मे उसे सुख का आभास होता है और न ही अनिष्ट पदार्थों का सम्पर्क होने पर दुःख का।

अकिंचन की सबसे महान तत्त्वदृष्टि यह होती है कि वह अपने को कुछ भी हूँ, ऐसा नही मानता। यह 'कुछ न होने' का भाव (Nobodiness) ही अकिंचनता है। 'मै कुछ भी नही हूँ' यह भाव भी सहज रूप मे होना चाहिए, अन्यथा वह कही विधायक रूप ले लेगा तो अहकार हो जाएगा, फिर वह अपने आपको 'अहमिन्द्र' मानने लगेगा, किसी के सामने नम्र न रह सकेगा, न विनयपूर्वक गुरु की आज्ञा मानेगा, न ही कोई कार्य करेगा। अकिंचनता ऐसी हो कि जिसमे व्यक्ति के अन्दर यह भाव ही न रह जाए कि 'मैं क्या हूँ।'

वह बाहर से चाहे कपडे पहने हो, परन्तु उसके हृदय मे नग्न-भाव हो। वह सदा यही समझ ले, यही बात हृदय मे जमा ले कि मैं नगा आया हूँ, नगा ही जाऊँगा, यहाँ तक कि शरीर और चमडी का आवरण भी मेरे साथ नही जाएगा।

कहते है—सिकन्दर जब मृत्यु शय्या पर पडा था, तब उसके हृदय मे सासारिक पदार्थों से विरक्ति-सी हो गई थी। उसने अपने लडको से कहा था कि मेरे शव पर सवा लाख रुपयो की चादर ओढाना, परन्तु पुत्रो ने जब स्वार्थवश सवासौ रुपयो की चादर ओढाई तो सिकन्दर का शव सहसा बैठा हो गया और उसने यह ढिंढोरा पिटवा दिया—

वर्षों हुई घडियाल मे, हुआ पराया माल।
नगा आना, नगा जाना, रखो इतना ख्याल॥

लिए रहती है। ये तत्त्व उसकी दृष्टि से कभी ओझल नहीं होते। यों तो सन्तोष की चाह सबको होती है, परन्तु साधारण बुद्धि के लोग आवश्यकताओं, इच्छाओं या महत्त्वाकांक्षाओं की तात्कालिक पूर्ति को ही सन्तोष मान लेते हैं। परन्तु क्षणिक तृप्ति में सन्तोष की अभिव्यक्ति नहीं होती। सन्तोष आकिंचन्य की एक विशाल भावना है, जो कुछ न होने पर भी अनन्त भण्डार के स्वामित्व का आनन्द अनुभव कराती है। सन्तोष अकिंचन भिक्षु के लिए ऐसा प्रकाश है, जो उसे आत्मा के अनन्त खजाने को जानने और अभिव्यक्त करने के लिए प्रेरित करता है, आत्मा की विशाल व्यापक सत्ता और अनन्त शक्ति की महत्ता के द्वार खोल देता है। फिर उस मानव को सांसारिक और तात्कालिक सुख-भोग व प्रेय के साधन नहीं भाते, फिर तो वह अपने अन्दर ही असीम सुख और तृप्ति के आनन्द की अनुभूति करता है। अतः सन्तोष अकिंचनता के लिए प्रथम आवश्यक गुण है।

धूलशाह नामक एक फकीर था, वह आत्मसन्तुष्ट था, अपने आप में तृप्त और मस्त था। वह धूल पर मृगचर्म बिछाकर मस्ती से बैठा रहता था। एक दिन बादशाह की सवारी आ रही थी। चोबदारों ने उनसे कहा—"साईं बाबा! बादशाह की सवारी आ रही है, आप उठ जाइए।"

फकीर बोला—"बादशाह है, तो मुझे उससे क्या लेना है। फकीर स्वयं शाह होता है। बादशाह इस रास्ते से खुशी से जाएँ, हम इन्कार नहीं करते।"

सिपाहियों ने कहा—"मनुष्य तो इस सकड़े रास्ते से एक बाजू होकर जा सकता है लेकिन हाथी, घोड़े आदि जानवर हैं, ये कहीं भड़क गए तो आपको नुकसान पहुँचा सकते हैं। इसलिए आप कुछ दूर खिसक जाइए।"

धूलशाह ने निस्पृहभाव से उत्तर दिया—"हम अभी यहाँ से उठ नहीं सकते, क्योंकि हमारे सिलसिले अभी जारी हैं। अगर तुम्हारे बादशाह को उतावल हो तो शहर के पास बहुत राहें पड़ी हैं उनसे या दूसरे रास्ते से चले जाएँ।"

जब यह बात बादशाह के कानों में पहुँची तो बोला—साईं निःस्पृह मस्त फकीर है, उसे उठाना ठीक नहीं। बादशाह स्वयं फकीर के पास आया और अदब से नमस्कार करके बैठा। बात करते-करते बादशाह ने पूछा—"साईं बाबा! [illegible] शाह कहते हैं लेकिन आपके पास न तो फौज दिखाई देती है, [illegible] न हाथी घोड़े हैं। आपके पास [illegible] नहीं है?"

[illegible]

भिखारी के भीख मांगने और संयमी साधु के द्वारा भिक्षाचारी करने मे जो अन्तर है, वही याचकवृत्ति और भिक्षावृत्ति मे है।

अकिंचन भिक्षुक भावनाशील गृहस्थ के अन्तर मे श्रद्धा पैदा करके उसके हृदय मे समर्पणवृत्ति जाग्रत करके लेता है, वह गृहस्थ के घर मे माँगता नही कि मुझे यह दो, वह दो, ऐसा भोजन चाहिए, वैसा भोजन नही, गृहस्थ अपनी श्रद्धा से जो भी आहार उसके भिक्षा पात्र मे डालेगा, वह समभाव से उसे ग्रहण करेगा। हाँ, उसे उस चीज की या उतनी मात्रा मे आवश्यकता नही होगी तो वह इन्कार कर देगा, अथवा उसके कल्प, नियम एव मर्यादा के अनुकूल निर्दोष सात्त्विक भिक्षा न होगी तो वह बिना लिये ही प्रसन्नता से लौट जायगा। मनोऽनुकूल भिक्षा न मिलने पर वह किसी पर शाप या आशीर्वाद नही बरसाएगा। एक ऐतिहासिक उदाहरण लीजिए—

एक बार एक सुलतान जगल मे पहुँच गया। वहाँ उसे एक फकीर मिला, जो शान्त और नि स्पृह था। फकीर से बातचीत करके सुलतान बहुत प्रसन्न हुआ। जाते समय फकीर को अपनी भेंट स्वीकार करने के लिए बहुत आग्रह किया। तब फकीर ने कहा—"मुझे किसी भेंट की आवश्यकता नही है। ये वृक्ष मुझे खाने के लिए फल देते है, ये झरने मीठा पानी पीने के लिए देते है, यह गुफा मुझे रहने के लिए जगह देती है, फिर मुझे आपकी भेंट लेने की क्या आवश्यकता है?"

फकीर की नि स्पृहता से सुलतान अत्यन्त प्रभावित होकर बोला—"आप मेरे राज्य मे पधारिए और मुझे पवित्र कीजिए।"

सुलतान के आग्रह से फकीर उसके नगर मे पहुँचा। जहाँ वैभव की सामग्री थी, वहाँ फकीर को बिठाकर कहा—"आप जरा बैठिए। मैं खुदा की बन्दगी कर लूं।"

सुलतान पास के ही कमरे मे बन्दगी करते हुए याचना करने लगा—"हे खुदा! तू मुझे इससे भी ज्यादा सामग्री दे, अधिकाधिक पुत्र दे, मेरा और शाही परिवार का शरीर नीरोग रख।" इस तुच्छ याचना को सुनकर फकीर वहाँ से उठकर चल पड़ा। बादशाह ने जाते देखा तो उसके पीछे पीछे दौड़ा और कहा—"साईं बाबा! खड़े रहिए, भोजन किये बिना न जाइए।"

फकीर ने जवाब दिया—"मुझे बिना याचना किये ही ईश्वर से आवश्यक सामग्री प्राप्त हो जाती है, और तू खुद याचक है, फिर तुझसे क्या याचना करूँ।"

फकीर की अकिंचनता एव नि स्पृहता देख बादशाह चकित हो गया।

अकिंचन मे चौथा गुण होना चाहिए—'नि.स्पृहता'। नि स्पृहता का वास्तविक अर्थ है किसी पर कोई भी उपकार करके बदले मे या साधुवेश या साम्प्रदायिक क्रियाकाण्ड आदि करने के बदले मे कुछ पाने की आशा न रखना। स्पृहा या आशा रखने से साधक की आत्मा कमजोर होती है, उसका मनोबल गिर जाता है और

किसी को जो आशा, अपेक्षा या स्पृहा रखी थी, वह पूर्ण न होने पर निराशाजन्य दुःख होता है, उस व्यक्ति के प्रति द्वेष, रोष या दुर्भाव पैदा होता है। आत्मा कर्मबन्ध से मलिन होती है।

स्वामी लाभानन्दजी बहुत बड़े योगी थे, अकिंचन एवं निःस्पृह सन्त थे। वे सदा आत्मध्यान में मग्न रहते थे। एक बार वे मारवाड़ के ऐतिहासिक नगर मेड़ता में विराजमान थे। उनकी वचन सिद्धि और चमत्कार की दूर-दूर तक धूम मची हुई थी। परन्तु अपने विषय में प्रसिद्धि से उन्हें कोई वास्ता न था। वे स्वयं चमत्कार को आत्मविकास में बाधक मानते थे।

मेड़तानरेश के दो रानियाँ थीं। राजा स्वाभाविक रूप से छोटी रानी को अधिक चाहता था। उसने बड़ी रानी के पास आना-जाना बन्द कर दिया। बड़ी रानी श्रद्धालु थी। पति की उपेक्षा उसे खटकने लगी। राजा को आकर्षित करने के लिए उसने कई प्रयत्न किये, किन्तु सफलता न मिली। अन्त में, रानी का ध्यान स्वामी लाभानन्दजी की ओर गया। अपनी करुण-कथा का वर्णन करते हुए स्वामीजी को एक पत्र लिखा। और उनसे प्रार्थना की—'कोई ऐसा मन्त्र देने की कृपा कीजिए जिससे राजाजी मुझ पर प्रसन्न हो जाएँ।'

दासियाँ रानी का पत्र लेकर स्वामीजी के पास पहुँची। उन्होंने रानी की ओर से मौखिक निवेदन भी किया और मन्त्र देने के लिए आग्रह भी। स्वामीजी उस समय आध्यात्मिक भजन लिख रहे थे। वे दासियों की प्रार्थना पर स्तब्ध रह गये। उन्होंने समझाया—"मैं ऐसा मन्त्र नहीं जानता।"

किन्तु दासियाँ न मानी, वे यही समझती रहीं कि स्वामीजी टाल रहे हैं। अन्त में, जब वे बिलकुल न मानी तो स्वामीजी ने उन्हें टालने के लिए एक कागज लेकर उस पर कुछ घसीट दिया। दासियाँ उसे ही मन्त्र समझकर खुश होती हुई चली गयीं। रानीजी ने मन्त्र को पढ़ना अनुचित समझकर उसे तावीज में मढ़वा लिया और अपनी बाँह पर बाँध लिया। उसी दिन अचानक राजाजी बड़ी रानी के महल में चले आए और स्नेहपूर्वक बातें करने लगे। रानी ने यह सब मन्त्र का प्रभाव समझा। बातचीत के सिलसिले में उसने कहा—"यह मन्त्र का ही प्रभाव है कि अब दासी पर इतनी कृपा हो रही है, नहीं तो, हजूर कब पसीजने वाले थे।"

राजा के पूछने पर रानी ने सारा हाल सुना दिया। राजा को आश्चर्य हुआ कि लाभानन्द जैसे आत्मनिष्ठ योगी औरतों को वशीकरण मन्त्र भी देते हैं। राजा पहुँचे लाभानन्दजी के पास। पूछा तो स्वामीजी ने साफ इन्कार कर दिया कि मैंने तो कोई मन्त्र नहीं दिया है।

आखिर रानी के तावीज खोलकर देखा गया तो उस कागज पर लिखा हुआ था—"राजा रूठी रानी पर खुश रहे तो लाभानन्द को क्या और नाराज रहे तो लाभानन्द को क्या ?"

राजा यह निःस्पृहता और अकिंचनता देखकर बहुत प्रभावित हुआ। उसने स्वामीजी को बहुत कुछ भेंट देना चाहा, पर निःस्पृह अकिंचन सन्त उसे कब स्वीकार करने वाले थे ?

अकिंचन जीवन का पाँचवाँ आवश्यक गुण है—**अपरिग्रहवृत्ति**। कोई व्यक्ति किसी अपरिग्रहवृत्ति के धनी के गुणों से प्रभावित होकर उन्हें कुछ भेंट देना चाहे या उनकी सुख-सुविधा के लिए कुछ करना चाहे, उस समय भी वह अकिंचन साधु उसका बिलकुल स्वीकार नहीं करता ? वह किसी के लिहाज में नहीं आता। अपनी अपरिग्रहवृत्ति पर दृढ़ रहता है।

अपरिग्रहवृत्ति के चार मुख्य रूप हैं—

(१) मोहबुद्धि से किसी वस्तु को ग्रहण न करना,

(२) आवश्यक एवं उपयोगी उपकरण या साधन पर भी ममता-मूर्च्छा न रखना, उससे अनासक्त एवं असंग रहना।

(३) किसी मनोज्ञ सजीव या निर्जीव पदार्थ को ग्रहण करने की इच्छा, तृष्णा लालसा या वासना न जागना, और

(४) ममत्वबुद्धि से अनावश्यक और अकल्पनीय वस्तुओं का संग्रह न करना।

अकिंचन दीक्षाधारी के जीवन में अपरिग्रहवृत्ति के ये चारों रूप होते हैं। वह किसी भी वस्तु को सहजभाव से उपलब्ध होने पर उस पर ममत्वबुद्धि या ममत्व-स्वामित्व स्थापित किये बिना परभाव समझकर ग्रहण करता है।

सन्त तुकाराम एक बार लोहगांव में थे। छत्रपति शिवाजी ने उनके पवित्र सद्गुणों से आकृष्ट होकर अपने खास आदमियों के साथ बहुत-सी मशालें, छत्र, घोड़े तथा बहुमूल्य जवाहरात भेजे और उनसे पूना पधारने के लिए प्रार्थना की। निःस्पृह एवं विरक्तहृदय सन्त ने उनकी भेजी हुई चीजों को छुआ तक नहीं। उन्होंने सब चीजें वापस लौटा दीं और ९ अभंगों में एक पत्र लिखा, जिसका आशय यह था—'मशाल, छत्र, घोड़े एवं जवाहरात आदि को लेकर मैं क्या करूँ ? ये सब मेरे लिए शुभ नहीं है। हे पंढरीनाथ ! अब मुझे इस प्रपंच में क्यों डालते हो ? मान और दम्भ का कोई भी काम मेरे लिए शूकरी विष्ठा है। मेरा चित्त जिसे नहीं चाहता, वही तुम मुझे दिया करते हो, प्रभो ! मुझे इतना तंग क्यों करते हो ? मैं संसार में अलिप्त रहना चाहता हूँ, विषय का संग चाहता ही नहीं हूँ। मैं चाहता हूँ—एकान्त में रहूँ और किसी से कुछ भी न बोलूँ। मन चाहता है, सब विषयों को वमन के समान त्याग दूँ। मैं क्या चाहता हूँ, यह आप जानते हैं, फिर भी आप मेरे सामने ऐसी-ऐसी चीजें लाकर रख देते हैं, जिससे मोह में फँसकर मैं आपको भूल जाऊँ। परन्तु नाथ ! आपके चरणों का तुका ने अपनी ओर से [illegible] लिया है कि आप उन्हें छुआ नहीं करते।"

फिर वे छत्रपति शिवाजी से कहते हैं—"मेरे लिए चींटी और सम्राट दोनों एक-से हैं। सोना और मिट्टी दोनों बराबर हैं। मोह और आशा तो कलिकाल की फाँसियाँ हैं। मैं इनसे छूट-सा गया हूँ। सारा वैकुण्ठ मानो मेरे यहाँ घर बैठे ही आ गया है। मुझे किस बात की कमी है? मैं तो त्रिलोकी के सारे वैभव का धनी बन गया हूँ। सबके स्वामी भगवान मुझे माता-पिता के रूप में मिल गये हैं। अब मुझे और क्या चाहिए? त्रिभुवन का सारा बल, सारी सत्ता भगवान की ओर से विरासत में मुझे मिल गई है। आप मुझे दे ही क्या सकते हैं? मैं तो विट्ठल (प्रभु) को चाहता हूँ। आप मुझे धन क्या देते हैं, धन तो तुकाराम के लिए गोमांस के समान है। यदि कुछ देना चाहें तो इन बातों की आपसे तुका की आशा है—

(१) मुख से विट्ठल-विट्ठल कहिये,
(२) गले में तुलसी की कंठी पहनिए,
(३) एकादशी का व्रत कीजिए,
(४) हरि (प्रभु) के दास कहलाइए।

बड़े-बड़े पर्वत सोने के बनाये जा सकते हैं। वन के तमाम पेड़ों को कल्पतरु बनाया जा सकता है, नदियों और समुद्रों को अमृत से भरा जा सकता है, सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। यह सब हो सकता है, लेकिन प्रभु के चरणों का प्रेम प्राप्त करना परम दुर्लभ है। इन सब सिद्धियों से भगवच्चरणों का लाभ नहीं होता। विट्ठल के परम दुर्लभ, परम पावन, परमानन्दप्रद श्रीचरण मुझे मिल गये हैं, इनके समक्ष अब मैं मशालों, छत्रों, घोड़ों आदि को कहाँ जगह दूँ?"

कहते हैं—एक बार शिवाजी ने सवा लाख ब्राह्मणों एवं सन्तों को भोजन दिया। उनमें सन्त तुकाराम भी थे। तुकारामजी को उन्होंने दक्षिणा में चार गाँव देने चाहे, परन्तु उन्होंने निःस्पृहतापूर्वक ठुकराते हुए कहा—"जिसके सामने तीन लोक की सम्पदा भी तुच्छ है, उसके लिए चार गाँव की क्या बिसात है?"

यह है—अपरिग्रहवृत्तिमूलक अकिंचनता का ज्वलन्त उदाहरण। ऐसी अकिंचनता जिसमें होती है, वह जाति, धर्म, सम्प्रदाय, ग्राम, नगर, प्रान्त, आवश्यक विचार आदि पर ममत्वयुक्त परिग्रहवृत्ति से दूर रहता है।

ऐसे अपरिग्रहवृत्ति अकिंचन साधक का अपना 'स्व' (आत्मा) अपने अधिकार में [illegible] है, [illegible] वह देह, गेह, स्थान, शिष्य या अन्य साधना के अधीन नहीं [illegible] है। वह इन सबसे निर्लेप और [illegible] रहता है।

विशुद्ध अकिंचनता

[illegible] दीक्षाधारी साधु की अकिंचनता से [illegible] है, वह किसी भी पदार्थ ([illegible]), [illegible] और [illegible] में [illegible], [illegible] नहीं रखता। [illegible]

[illegible]

है। जैन इतिहास मे चार प्रत्येकबुद्ध साधको की जीवनगाथाएँ मिलती है। वे इतिहास-प्रसिद्ध चार प्रत्येकबुद्ध हैं—

(१) कलिंगराज करकण्डु,
(२) पाचालपति द्विमुख,
(३) विदेहराज नमि,
(४) गान्धारनरेश नग्गति।

इनके विस्तृत जीवन-चरित्र का वर्णन मुझे यहाँ नही करना है, मुझे तो यहाँ यह बताना है कि उनके अपरिग्रही अकिंचन जीवन मे जरा-से तुच्छ पदार्थ का मोह कैसे आ गया और उन्हे खटक जाने से अविलम्ब ही उन्होने कैसे उस भूल का परिमार्जन करके अपनी अकिंचनता को विशुद्ध बनाया।

सम्बोधिप्राप्त चारो प्रत्येकबुद्ध भूमण्डल पर विचरण करते हुए एक बार क्षितिप्रतिष्ठ नामक नगर मे पधारे। वहाँ एक चतुर्मुख यक्ष का चार द्वारो वाला चैत्य था। करकण्डु प्रत्येकबुद्ध उसमे पूर्व द्वार से आये। तत्पश्चात् दक्षिण द्वार से द्विमुख प्रत्येकबुद्ध प्रविष्ट हुए। कुछ ही देर बाद नमि प्रत्येकबुद्ध ने पश्चिम द्वार से और नग्गति प्रत्येकबुद्ध ने उत्तर द्वार से उस चैत्य मे प्रवेश किया। यो अकस्मात् ही चारो प्रत्येकबुद्धो का वहाँ मंगल-मिलन हो गया।

करकण्डु को बचपन से ही शरीर मे खुजली की शिकायत थी। इसलिए वे अब भी शरीर को खुजलाने के लिए बाँस की एक छोटी-सी सलाई अपने पास रखते थे। यहाँ आने के बाद ज्यो ही खुजली हुई, करकण्डु ने उस सलाई से शरीर खुजलाया, फिर उसे अपने रजोहरण मे छिपाकर रख लिया। यह देख द्विमुख प्रत्येकबुद्ध मुस्कराकर बोले—"मुने! आपने विशाल राज्य का त्याग कर दिया, समस्त वैभव और कचन-कामिनी का त्याग करके विरक्त होकर अकिंचन अनगार बन गये। फिर आपने यह बाँस की सलाई क्यो छिपा रखी है? यह भी तो परिग्रह ही है।"

करकण्डु के उत्तर देने से पहले ही नमि प्रत्येकबुद्ध द्विमुख की ओर देखकर बोले—"मुनिवर! आप भी राज्य, वैभव, सुख-साधन और दास आदि बाह्य और हास्यादि ९ नोकषायो, ४ कषायो, मिथ्यात्व, इन आभ्यन्तर ग्रन्थियो (परिग्रह) का परित्याग करके निर्ग्रन्थ बने है, फिर अब आप किसी के दोष क्यो देखते हैं? दूसरो के दोष देखना भी तो एक प्रकार से आभ्यन्तर ग्रन्थिरूप परिग्रह है, दोषो को रखना है।"

नमि के उत्तर पर द्विमुख मौन रहे, अन्तर्निरीक्षण करने लगे। तभी नग्गति द्विमुख की ओर दृष्टि घुमाकर बोले—"जब हमने सब कुछ परित्याग कर दिया है तो, हमें [illegible] मे रत्नत्रय की आराधना मे पुरुषार्थ करके अन्तिम लक्ष्य—मोक्ष [illegible] दूसरो की निन्दा और आलोचना मे नही [illegible] [illegible]।

तीनों के प्रत्युत्तर पर करकण्डु ने समाधान करते हुए कहा—"मुनिवरो ! इसमें आलोचना किस बात की ? यदि कोई मुमुक्षु साधक शुद्ध सरल निश्छल हृदय से किसी की गलती या दुःस्वभावजनित दोष के निवारण के लिए कुछ कहता है तो हितकर वचन है, निन्दा नहीं। निन्दा तो क्रोध, द्वेष या ईर्ष्यावश की जाती है, जो मोक्षपथ के साधक के लिए त्याज्य है।"

करकण्डु की इस बात पर तीनों प्रत्येकबुद्ध प्रसन्न हुए और उन्होंने धन्यवाद दिया। अन्यदा चारों ही प्रत्येकबुद्ध वहाँ से विहार करके अन्यत्र विचरण करने लगे। कालान्तर में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में पहुँचे।

सारांश यह है कि अकिंचनता की साधना में सूक्ष्म दोष भी आ जाए तो शीघ्र ही उसकी शुद्धि करनी चाहिए। इसीलिए महर्षि गौतम ने कहा है—

अकिंचणो सोहइ दिक्खधारी।



५६

राजमन्त्री बुद्धिमान सोहता

प्रिय धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज आपके समक्ष मन्त्री-जीवन के विषय मे चर्चा करना चाहता हूँ। धर्म-शासन की तरह राज्य-शासन भी सुस्थिर, व्यवस्थित, न्यायनिष्ठ, धर्मप्रधान एव सस्कृति प्रेमी हो, यह अत्यन्त आवश्यक है। राज्य-शासन इस प्रकार का तभी हो सकता है या रह सकता है, जब शासक भी वैसा हो, इन्ही सद्‌गुणो से ओतप्रोत हो, और शासक को समय-समय पर अच्छी सूझ-बूझ से, कुशलता से, परिस्थिति की जानकारी, शासन की उन्नति के उपाय, प्रजा की न्याय और सुरक्षा की व्यवस्था बताने वाला कुशल राजनीतिज्ञ, धर्मप्रिय, शासन के प्रति वफादार एव कार्यसक्षम मन्त्री हो, तभी शासक उन सद्‌गुणो से हरा-भरा रह सकता है। शासक को अच्छा या बुरा, क्रूर या दयालु, न्याय नीतिपरायण या अन्याय-अनीतिपरायण, धर्मप्रिय या अधर्मप्रिय बनाने मे मन्त्री का बहुत बडा हाथ रहता है।

इसीलिए महर्षि गौतम इस जीवनसूत्र मे मन्त्री के जीवन के सम्बन्ध मे कहते है—

'बुद्धिजुओ सोहइ रायमती।'

"राजा का मन्त्री बुद्धियुक्त हो, सूझ बूझ का धनी हो, तभी शोभा देता है।"

गौतमकुलक का यह पैतालीसवाँ जीवनसूत्र है। मन्त्री जीवन के विविध पहलुओ को आज हम क्रमश छुएँगे।

राजा और मन्त्री का अटूट सम्बन्ध

शासन को सुव्यवस्थित, समृद्ध, सुस्थिर एव जनकल्याणकारी बनाने के लिए एक शासक—राजा बनाया जाता है, किन्तु राजा के साथ मन्त्री चतुर, बुद्धिमान, व्यवहार-कुशल, राज्यभक्त एव प्रजाहितैषी न हो तो, अकेले राजा से राज्य सुस्थिर नहीं रह सकता। जिस समय शासन पर चारो ओर शत्रुओ का सकट छाया हुआ हो, अथवा [illegible] अन्याय-अत्याचार के कारण प्रजा का उत्पीड़न हो रहा हो, प्रजा विद्रोह करने [illegible] शासन को [illegible] के लिए [illegible] उतारू हो रही हो, तब [illegible] से इस समस्या का [illegible] नहीं हो सकता, उस [illegible] और बुद्धिमान मन्त्री के सहयोग और [illegible] की नितान्त आवश्यकता

होती है। इसीलिए राजा और मन्त्री का अटूट सम्बन्ध है। राजा का मन्त्री के साथ यह अटूट सम्बन्ध तभी रह सकता है, जब मन्त्री राजभक्त, बुद्धिमान और कार्य-कुशल हो।

मन्त्रीरूप स्तम्भ राज्य मन्दिर को सुदृढ़ रखने के लिए आवश्यक

आत्मा भी एक शासक—राजा है, उसका मन्त्री मन है। आत्मारूपी शासक के लिए मनरूपी मन्त्री का कुशल, बुद्धिमान और आत्मभक्त होना आवश्यक है। अन्यथा मन इन्द्रियों को विपरीत पथ पर ले जाकर आत्मा को भटका सकता है, आत्मा का विकास रोक सकता है, उसको सिद्धान्त से स्खलित करा सकता है। इसी प्रकार मन्त्री भी राज्यकर्ता के लिए कुशल, राजभक्त और बुद्धिमान होना आवश्यक है।

इसीलिए नीतिकार कहते हैं—

> अन्तःसारैरकुटिलैरच्छिद्रैः सुपरीक्षितैः।
> मन्त्रिभिर्धार्यते राज्यं सुस्तम्भैरिव मन्दिरम्॥

जैसे किसी मन्दिर या भवन को ऐसे सुदृढ़ सुस्तम्भ ही टिकाए रख सकते हैं, जो अन्दर से पोले न हों, टेढ़े मेढ़े न हों, उनमें छेद या दरार न हो, अच्छी तरह से वे देख-परखकर लगाए गए हों, वैसे ही उन्हीं मन्त्रियों द्वारा राज्य चिरकाल तक सुस्थिर, मजबूत और सुदृढ़ रह सकता है जो मनोबली हों, जिनका अन्तरंग सुदृढ़ हो, जो कुटिल न हों—सरल हों, छिद्रान्वेषी न हों, और भलीभांति देखे-परखे हों।

एक पाश्चात्य विचारक जॉन हॉल (John Hall) ने शासन के लिए मन्त्री कैसा होना चाहिए? इस सम्बन्ध में सुन्दर विचार दिये हैं—

'The minister is to be a real man a love man, a true man, a simple man, great in his love, in his life, in his work, in his simplicity, in his gentleness.

लग रहे थे, मानो आपस मे बाते कर रहे हो। बादशाह की दृष्टि सहसा उस कबूतर की जोडी पर पडी। बादशाह ने मन्त्री से पूछा—"वजीरेआजम ! हम लोगो की तरह आखिर ये दोनो कबूतर किस विषय पर बात कर रहे हैं ?"

मन्त्री ने गम्भीर होकर कहा—"हाँ, जहाँपनाह ! कुछ ऐसी ही बात जान पडती है। मै भी कबूतरो की भाषा जानता हूँ।"

बादशाह बोला—"तो फिर इस बात का पता लगाओ कि ये क्या बात कर रहे हैं ?"

मन्त्री ने कहा—"हजूर ! इसके लिए मुझे उनके पास तक जाना होगा।"

मन्त्री को अच्छा अवसर हाथ लग गया, बादशाह को समझाने का। वह पेड के नीचे गया, कुछ देर वहाँ खड़ा रहा, मानो गम्भीर होकर उनकी बात सुन रहा हो। फिर लौटकर महमूद गजनवी के पास आ गया। आते ही उसने पूछा—"वजीरे-आजम ! शीघ्र ही बताओ कि आखिर कबूतर की जोडी आपस मे क्या बातें कर रही है ?"

मन्त्री जरा चिन्तामग्न हो उठा, उसके सामने मृत्यु नाचने लगी। किन्तु बादशाह ने कहा—"घबराएँ नही, साफ-साफ बताइए।"

वजीर ने कहा—"जहापनाह ! इन दोनो मे एक लडकी वाला है और दूसरा है—लडके वाला। विवाह की बातें तय की जा रही हैं। लडके वाले ने दहेज के रूप मे ५०० उजाड गाँवो की माँग की।"

इस पर लडकी वाले ने कहा—"कुछ दिन और ठहर जाएँ, यहाँ बादशाह के अत्याचार के कारण प्रजा देश छोडकर भाग रही है। शीघ्र ही गांव के गांव खाली हो जाएँगे, फिर तुम्हारी मांगें पूरी कर दी जाएँगी।"

बादशाह वजीर की बात सुनकर दग रह गया।

कहते हैं, इतनी बात सुनते ही महमूद गजनवी की बुद्धि बदल गई। तब से उसने प्रजा पर अन्याय-अत्याचार करना छोड दिया। वह प्रजा को हृदय से प्यार करने लगा।

अगर मन्त्रीरूपी स्तम्भ ठीक न होता तो गजनी के राज्य का तख्ता उलट गया होता। यह मन्त्री ही था जिसने बादशाह को युक्ति से, सूझ-बूझ से समझाकर उसकी प्रकृति बदल दी।

फलभागी राजा, कार्यभागी मन्त्री

राजा प्रायः राज्य के अच्छे-बुरे होने पर फल-अफल का भोक्ता होता है। राज्य के सुव्यवस्थित, सुदृढ और [illegible] होने पर राजा को भी उसका सुफल मिलता है, उसे भी प्रतिष्ठा, सम्मान एवं कर आदि मिलता है, परन्तु राज्य अन्याय-[illegible] प्रधान हो जाए, प्रजा को त्रास पहुँचाए तो राजा को भी बदनामी, [illegible],

प्रजा को अनावृष्टि आदि के रूप में उसका कुफल भोगना पड़ता है। परन्तु राज्य को अच्छे-बुरे बनाने की मुख्य चाबी मन्त्री के हाथ में होती है, वही राज्य कार्य का मुख्य तौर से संचालक होता है।

नीतिकार भी इस विषय में स्पष्ट कहते हैं—

भोगस्य भाजनं राजा, न राजा कार्यभाजनम्।
राजकार्यपरिध्वंसी मन्त्री दोषेण लिप्यते॥

राजा कार्य के फलाफल के भोग का भागी होता है, वह कार्य का भागी नहीं होता, क्योंकि राज्यकार्य का संचालन मन्त्री करता है। राज्यकार्य को नष्ट-भ्रष्ट करने वाला मन्त्री दोष से लिप्त होता है। वास्तव में, राजा को राज्यकार्य का सुफल तभी मिल सकता है, जब मन्त्री उसका संचालन ठीक ढंग से वफादारीपूर्वक करे। जब मन्त्री ही राज्यकार्य को बिगाड़ने पर उतारू हो जाता है, तब उसका दुष्परिणाम राजा को भोगना पड़ता है।

एक ऐतिहासिक उदाहरण लीजिए—

ईरान के शाह अपनी प्रजा के सुख-दुःख का पता लगाने के लिए गुप्तवेश में शाम को नगरचर्या करने निकले। रास्ते में उन्हें एक किसान मिल गया। ईरान के शाह उस समय विदेशी पथिक के वेश में थे। उन्होंने किसान से देश की आबहवा तथा जमीन के उपजाऊपन के बारे में तथा खेत में फसल कितनी होती है, ऐसी औपचारिक बातें कीं। किसान अपने धन्धे के विषय में इस विदेशी राहगीर के मुख से चर्चा सुनकर हार्दिक सम्मानपूर्वक आकर्षित हुआ। ईरान के शाह ने किसान की सही स्थिति जानने के लिहाज से पूछा—"मैंने सुना है, इस देश की खेती समृद्ध करने के लिए तुम्हारे शाह ने नहर से सारे देश की धरती को सींचने की योजना बनाई है। सतत मिलते हुए नहर के पानी से तुम्हारे खेत तो हरे-भरे सुन्दर लगते होंगे।"

किसान बोला—"दूसरे किसानों की जमीन हरी भरी बनी होगी, दूसरों के खेत में प्रचुर फसल लहलहाती होगी, परन्तु मैं तो बिलकुल वंचित हूँ इससे। मुझे [illegible] ऐसा षड्यंत्र किया है कि नहर का पानी मेरे खेत तक पहुँचने ही नहीं देता। मैंने उसे बहुत समझाया, मगर वह मेरी एक भी बात सुनने को तैयार न था।"

तो लिखने की मेहनत और पोस्टेज ही पल्ले पडी। मेरा पडोसी इतना तिकडमबाज है कि उसके खिलाफ कोई एक अक्षर भी सुनने को तैयार नही होता।"

शाह ने बातो मे ही उस किसान का नाम तथा उसके खेत का नम्बर भी जान लिया। उस समय तो शाह उसे मौखिक आश्वासन देकर विदा हुए। परन्तु उन्हे रात को शय्या पर लेटने पर भी नीद न आई। दूसरे दिन शाह ने लैंड रेकार्ड आफिस मे इस विषय मे जांच-पडताल कराई तो उस किसान के पडोसी के रूप मे जिस व्यक्ति का नाम निकला, वह शाह का खुद का पर्सनल सेक्रेटरी ही निकला।

शाह के क्रोध का पार न रहा। उन्होने उसी समय सेक्रेटरी को बुलाकर फटकारा—तुम प्रजा के रक्षक हो या भक्षक? तुम्ही जब प्रजा पर अन्याय करोगे तो प्रजा न्याय के लिए कहाँ जाएगी? मुझे हरित क्रान्ति द्वारा ईरान को समृद्ध देश बनाना है जबकि तुम जैसे स्वार्थी पदाधिकारी उसमे अवरोधक बन रहे हैं। तुम्हे यह गर्व है कि मैं शाह का पर्सनल सेक्रेटरी हूँ, मुझे कौन कहने-सुनने वाला है। मेरे दिल मे तुम्हारे प्रति सख्त घृणा पैदा हो गई है। तुम्हारे खिलाफ उस किसान द्वारा दी गई सभी अर्जियाँ जिन राज्य-कर्मचारियो ने दबा दी है उनके प्रति भी सख्त नफरत हो गई है मुझे। इस अपराध से सलग्न सभी लोगो को मैं सजा दूंगा।

नीतिज्ञो ने कहा है—

> विषदिग्धस्य भक्तस्य दन्तस्य चलितस्य च ।
> अमात्यस्य च दुष्टस्य मूलादुद्धरण सुखम् ॥

"विषाक्त भोजन, अत्यन्त हिलता हुआ दांत, और दुष्ट मन्त्री इन तीनो का जडमूल मे उखाडना ही सुखावह होता है।"

तुम ही इस दोष के मूल हो, इसलिए मूल को ही मैं उखाड देता हूँ। आज से तुम्हे पर्सनल सेक्रेटरी के पद से हटाया जाता है। तुम्हे अच्छी तरह से शिक्षा मिले, इसके लिए तुम्हारी सारी जमीन जब्त की जाती है। तुम्हे दिये गये कठोर दण्ड से दूसरे राज्य-कर्मचारियो की अक्ल भी ठिकाने आ जाएगी। प्रजा के रक्षक के भक्षक बन जाने पर नतीजा कितना कटु आता है, इसकी प्रतीति इस तमीहत [illegible] मिल जाएगी।

ईरान की प्रजा ने जब यह सुना तो सुख की सांस ली और शाह के प्रति उसकी श्रद्धा बढी, पर्सनल सेक्रेटरी को सबने धिक्कारा, क्योंकि शाह उस पर [illegible] राज्यकार्य का संचालन करता रहा था।

[illegible] मन्त्री पर बहुत बडी जिम्मेवारी है, वफादारीपूर्वक [illegible] और [illegible]। [illegible] राज्य की नीति-रीति वही निर्धारित करता है।

मन्त्री : राजा और प्रजा दोनों का हितसाधक

[illegible] मन्त्री [illegible] मुख्तार है। [illegible] अगर मन्त्री

जरा-सा भी चूक जाता है, अपने कर्तव्य और दायित्व से तो राज्य का बहुत बड़ा अहित हो जाता है। राजा और प्रजा के सम्बन्ध बिगड़ जाने पर उन्हें सुधारना बड़ा कठिन कार्य होता है।

नीतिकार कहते हैं—

नरपतिहितकर्ता द्वेष्यता याति लोके,
जनपदहितकर्ता त्यज्यते पार्थिवेन।
इति महति विरोधे विद्यमाने समाने,
नृपति-जनपदाना दुर्लभः कार्यकर्ता॥

"अगर मन्त्री या प्रधान शासक का हित करता है, प्रजा के हित की उपेक्षा कर देता है तो जनता की नाराजी का कारण बनता है और यदि वह राजा का हित न करके जनपद (जनता) का ही हित करता है, तो राजा उसे छोड़ देता है। इस प्रकार राजा और प्रजा के बीच हितों में महान विरोध होने पर मन्त्रीरूपी कार्यकर्ता का निर्वाह करना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है।"

अकबर और बीरबल की—बादशाह और मन्त्री की युगल जोड़ी प्रसिद्ध है। बादशाह और मन्त्री दोनों एक दूसरे के सुहृद थे, हितैषी थे। परन्तु बीरबल मन्त्री होने के नाते इस बात का पूरा ध्यान रखता था कि कहीं किसी प्रजाजन का मेरे से या बादशाह से अहित न हो जाय। कई बार बादशाह को युक्ति और सूझबूझ के आधार पर समझाता था। इस तरह राजा और प्रजा के हितों में परस्पर विरोध होता तो उसे शान्त कर देता था।

एक रोचक उदाहरण लीजिए—

वीरवल दूसरे दिन दरवार मे न जाकर घर पर ही रहा। उसने एक लम्बा-सा बांस गाडकर उस पर हाडी लटका दी। उसके नीचे आग जला दी। उधर वीरवल जव दरवार मे नही पहुँचा तो वादशाह ने उसे बुलाने सेवको को भेजा। उसने सेवको के साथ अर्ज करवाई कि रात को दस्त लग जाने से कुछ कमजोरी आ गई है, अतः आज यह खिचडी पका रहा हूँ, पक जाने पर मैं खाकर आता हूँ।"

सेवकों ने वादशाह से सारी वात कही और यह भी कहा कि एक लम्बे-से बाँस पर खिचडी पक रही है।

अस्वस्थता और विचित्र खिचडी की वात सुनकर उसे देखने वादशाह स्वय चलकर आया। बांस पर टगी खिचडी की हँडिया को देखकर वादशाह ने सविस्मय कहा—"वीरवल ! यह खिचडी कव तक पकेगी ? क्या तुम्हे विश्वास है कि इतनी दूर रही अग्नि का ताप वहाँ तक पहुँच जाएगा ?"

वीरवल ने हँसते हुए कहा—"हाँ, क्यो नही जहाँपनाह ! जव एक ब्राह्मण आपके महल मे जलते हुए दीपक की गर्मी से जल मे वैठकर गर्मी महसूस कर सकता है, तव यह खिचडी की हँडिया कौन दूर है ?"

वीरवल की वात वादशाह को एकदम लग गई। उन्हे अपनी भूल समझते देर न लगी। वादशाह ने उसी समय ब्राह्मण को बुलाकर ससम्मान समुचित पुरस्कार दे दिया।

वास्तव मे, अगर वीरवल उस ब्राह्मण के प्रति हुए अन्याय के विषय मे वादशाह को युक्ति से न समझाता तो वह ब्राह्मण कभी न कभी राजविद्रोही वन सकता था, उसके मन मे वादशाह के प्रति अश्रद्धा तो पैदा हो ही गई थी, प्रतिक्रिया भी शायद हुई हो।

सत्ता-मदान्ध राजा के स्खलन के समय मन्त्री ही आलम्बन

कई वार सत्ता के मद मे अन्धा वना हुआ शासक अपने कर्तव्य और धर्म से च्युत होने लगता है, उस समय मन्त्री ही उसके लिए आलम्बन होता है। अगर मन्त्री उस समय अपनी सूझबूझ से उसे सहारा न दे तो राजा को गिरते देर नही लगती। कहा भी है—

महीभृतो मदान्धस्य संकीर्णस्येव दन्तिनः।
स्खलतो हि करालम्ब: सुहृत्सचिवचेष्टितम् ॥

"जैसे संकीर्ण (सांकल चुने हुए) हाथी के मदान्ध होने से गिरने पर उसकी सूंड का सहारा ही अच्छा उपाय होता है, वैसे ही मदान्ध और अविवेकी राजा के स्खलित होने पर हितैषी मन्त्री का करालम्बन ठीक उपाय होता है।"

इसी का यह अर्थ है कि जिस समय शासक पर या शासन पर चारों ओर संकट के [illegible] हुए हों, सारा [illegible] में कुछ लोगों ने या कुछ [illegible] अव्यवस्था [illegible], उस समय शासन या शासक को [illegible]

समय बुद्धिमान राजभक्त विश्वस्त एवं वफादार मन्त्री ही बचाने में समर्थ होता है। मन्त्री उस समय अपने प्राणों की बाजी लगा देता है। अपना सर्वस्व होम देता है या न्योछावर कर देता है। महाराणा प्रताप को मेवाड़ पर आए हुए संकट से तथा मेवाड़ की स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए दानवीर मन्त्री भामाशाह ने अपनी सर्वस्व पूंजी अर्पण कर दी थी।

जैन इतिहास की एक चमकती हुई कहानी इस सम्बन्ध में प्रस्तुत कर रहा हूँ—

पाटलिपुत्र का धर्मप्राण राजा उदायी उपाश्रय में जब पौषधव्रत में था, तब उसके गले पर छुरी चलाकर कपटी साधुवेषी विनयरत्न भाग गया था। आचार्य ने राजा उदायी का प्राणान्त हुआ देख शासन की हीलना होने से बचाने के लिए स्वयं ने भी समाधिमरण स्वीकार किया।

प्रातःकाल आचार्यश्री और उदायी राजा दोनों को मरण-शरण जानकर जनता ने दोनों का अन्तिम संस्कार किया।

राजा उदायी अपुत्र थे, अतः प्रमुख नागरिकों ने राजा के योग्य पुरुष का पता लगाने के लिए एक घोड़े को शृंगारित करके नगर के अन्दर और बाहर सर्वत्र घुमाया। अन्त में घोड़ा एक नापित के पास आया और हिनहिनाने लगा। प्रमुखजनों ने नापित को राजा के योग्य समझकर राजगद्दी पर बिठा दिया। परन्तु राजदरबारी एवं राज-कर्मचारी उसे नाई समझकर ईर्ष्या से उसका आदर नहीं करते थे। अपना अनादर होते देख नापित नन्द राजा ने सुभटों से कहा—सुभटो! इन लोगों को पकड़ो। परन्तु सुभट भी एक दूसरे के सामने देखकर हँसने लगे।

तब नन्द नापित राजा ने दीवार पर चित्रित दो पुरुषों की ओर देखा कि तत्काल वे दोनों पुरुष हाथ में तलवार लेकर अट्टहास करने के बाद लोगों के सम्मुख हुए। उन्हें देखकर कई भाग गये, कई पिट गये। यह चमत्कार देखकर सभी प्रजाजन एवं राजदरबारी राजा से क्षमा मांगकर विनय सत्कार करने लगे।

परन्तु निस्पृह कल्पक ने इन्कार करते हुए कहा—"राजन् ! मुझे मन्त्री पद स्वीकार नहीं, क्योंकि मन्त्री को लोभवश होकर अनेक पाप करने पड़ते हैं, फिर मैं भोजन और वस्त्र के सिवाय अन्य वस्तुओ का परिग्रह नही रखता।"

परन्तु नन्द राजा ने किसी युक्ति से उसे मन्त्री पद लेने के लिए मना लिया। कल्पक को मन्त्रीपद देकर नन्द राजा निश्चिन्त और कृतार्थ हो गया। अब वह बुद्धिमान कल्पक मन्त्री को साथ मे रखता और उससे अनेक शकाओ का समाधान करता।

एक बार कुछ धोबी एकत्रित होकर राजदरबार मे कुछ उत्पात खड़ा करने आए, किन्तु कल्पक मन्त्री को राजा के पास बैठा देख सब के सब नौ दो ग्यारह हो गये।

कल्पक मन्त्री की योग्यता, क्षमता, कार्यकुशलता एव बुद्धिमत्ता मे बढा-चढा देखकर नन्दराजा ने उसे पहले के सब मन्त्रियो का शिरोमणि महामन्त्री बना दिया। कल्पक ने भी अपनी क्षमता से, सूझ-बूझ से राज्य को धन-धान्यादि से समृद्ध बना दिया, राजा को यशस्वी बना दिया। परन्तु कल्पक महामन्त्री पर राजा की कृपा एव उसकी उन्नति देखकर अन्य मन्त्री मन ही मन जलने लगे।

एक बार कल्पक महामन्त्री के पुत्र का विवाह समारोह था। कल्पक राजा को पुत्र-विवाह की खुशी मे छत्र, मुकुट, चामर आदि देना चाहता था तथा राजा का अन्तःपुर सहित अपने घर आमन्त्रित करना चाहता था। अत छत्र, मुकुट, चामर आदि बनवाने लगा। छिद्रान्वेषी ईर्ष्यालु मन्त्रियो को पता लगा तो उन्होंने राजा के कान भरे, उसे भड़का दिया कि कल्पक तो आपका राज्य छीनकर स्वय राजा बनने के लिए छत्र, मुकुट, चामर आदि बनवा रहा है, हम झूठ कहते हों तो आप गुप्तचर भेजकर पता लगा लें। गुप्तचरो ने कल्पक के यहाँ छत्र, मुकुट आदि बनते देख राजा से सारी हकीकत कह दी।

इसी दौरान सामन्त राजाओं को ज्ञात हुआ कि कल्पक महामन्त्री को नन्द राजा ने कुएँ में डाल दिया है, तो अवश्य ही वह वहीं खतम हो गया होगा। इसलिए बहुत सुन्दर मौका है, नन्द राजा को उखाड़कर पाटलिपुत्र का राज्य अपने कब्जे में करने का। फलतः समस्त सामन्त राजाओं ने मिलकर पाटलिपुत्र को घेर लिया। नन्द राजा ने नगर के द्वार बन्द करा दिये। जनता अत्यन्त भयभीत हो गई। शत्रुओं के साथ युद्ध करने में असमर्थ नन्द राजा बेचैन हो गया। दाहज्वर पीड़ित की तरह उसे कहीं चैन नहीं पड़ता था। सोचने लगा—जहाँ तक कल्पक महामन्त्री था, वहाँ तक किसी की हिम्मत नहीं होती थी, सिंह गुफा के समान पाटलिपुत्र की ओर आँखें उठाकर देखने की। हाय! कल्पक के बिना नगर की ऐसी दुरवस्था हुई। जैसे रक्षक के बिना पथिक उपवन को नष्ट कर देते हैं, वैसे ही कल्पक के बिना पाटलिपुत्र का नाश हो रहा है। रक्षक होता तो सबको भगा देता है। दूसरे जो मन्त्री थे, वे तो मूकदर्शकों की तरह यह तमाशा देख रहे थे, किसी को कुछ भी नहीं सूझ रहा था।

नन्द राजा ने तुरन्त कारागार के अधिकारी को बुलाकर कल्पक का हाल पूछा तो उसने कहा—"स्वामिन्! अभी तक प्रतिदिन एक सेर कोद्रव तो कोई न कोई लेता है। शायद कल्पक जीवित हो।"

राजा के आदेशानुसार तुरन्त कुएँ में एक खटिया उतारी और उस पर कल्पक को बिठाकर निधान की तरह बड़ी सावधानी से उसे बाहर निकाला। नन्द राजा ने पश्चात्ताप करते हुए कल्पक को सारा वृत्तान्त कह सुनाया। अन्त में कहा—"डूबते हुए राज्य का अवलम्बन अब तुम ही हो।"

कल्पक ने कहा—"इस कोट के किनारे-किनारे चारों दिशाओं में फिराकर मुझे सारा नगर तो दिखाओ।"

सन्धि वाला हो, दूसरा कपट-सन्धि वाला, तो दोनो मे कैसे मेल हो सकता है। अतः सत्य-सन्धि वाले हमारे राजा नन्द के साथ माया-सन्धि वाले तुम लोगो की सन्धि नही हो सकती।

वही एक अहीरन के सिर पर दही की हडिया देख कल्पक ने हाथ के इशारे से बताया कि इस डण्डे से यह हडिया फोडी जा सकती है। कल्पक का आशय था कि तुम्हारी सेना इस हडिया के समान है, उसे मैं बुद्धिरूपी डण्डे से फोडकर छिन्न-भिन्न कर सकता हूँ, पर इस आशय को भी वे न समझ सके।

फिर अपनी नौका को शत्रुओ के बीच मे डालकर तीन प्रदक्षिणा दी। उसका आशय था कि मेरी नौका जैसे तुम्हारी नौका पर हावी हो गई। वैसे ही मेरा तेज तुम पर हावी हो जायेगा। परन्तु वे सन्धि-विग्रहकर्ता इन तीनो इशारो के आशय को न समझ सके। फलत. अपना सा मुंह लेकर अपनी सेना की छावनी मे पहुँच गये। कल्पक भी अपने स्थान पर लौट आया।

इधर सन्धि-विग्रहकर्ताओ से उनके सामन्त राजाओ ने पूछा कि क्या हुआ? तो उन्होने कहा—"कल्पक तो असम्बद्ध बकवास करता है।"

"सन्धि की आखिर कोई बात हुई या नही?" यो जोर देकर पूछने पर उन्होने लज्जित होकर कहा—"सन्धि के विषय मे हम कल्पक का आशय नही समझ सके।"

यह सुनकर शत्रुराजाओ ने सोचा—कल्पक ने इन सबको धन का लोभ देकर फोड लिया दिखता है, अन्यथा ये सच्ची बात क्यो न कहते। कही अन्दर का भेद बताकर हमे मरवा न डालें। अत हमे अब यहाँ रहना उचित नहीं है। यो परस्पर परामर्श करके सभी सामन्त अपनी-अपनी सेना सहित वहाँ से भागने लगे।

कल्पक ने नन्द राजा से कहा—"यह अच्छा मौका है अभी इन पर चढाई करके इनसे मूल्यवान पदार्थ ले लो।"

नन्द राजा ने चढाई करके उन सब राजाओ के हाथी, घोडे, रथ एवं रत्न आदि ले लिये। नन्द राजा का राज्य अब कल्पक महामन्त्री के अवलम्बन के कारण सुस्थिर, समृद्ध, समस्त एवं सुदृढ हो गया।

निष्कर्ष यह है कि सत्तासम्पन्न नन्द राजा को अगर कल्पक महामन्त्री का अवलम्बन न होता तो उसका राज्य कभी का शत्रुराजाओ के हाथ मे चला जाता, तथा शासन भी सुस्थिर, समृद्ध और सुदृढ न होता। अत मन्त्री ही राजा या राज्य [illegible] आलम्बन रूप होता है।

मन्त्री कैसा हो, कैसा नहीं?

[illegible] बुद्धिमत्ता मे है, परन्तु कोरे बुद्धिमान ही, और [illegible] धर्मनिष्ठा आदि अन्य गुण न हों तो वह मन्त्री राजा के

[illegible] शासन की सुस्थिरता के लिए योग्य नहीं माना जाता। आखिर मन्त्री पर ही तो शासन का सारा दारोमदार है। वह बुद्धिमान तो हो लेकिन उसकी बुद्धि अपने स्वार्थ को सिद्ध करने में रत हो, अपनी पद-प्रतिष्ठा या अपनी कुर्सी मजबूत करने में ही लगी रहती हो, जनता का कोई भला न सोचती हो, शासन को न्यायनिष्ठ, कल्याणकारक एवं प्रजावत्सल न बना सकती हो तो किस काम की ?

इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मन्त्री की शोभा स्थिर एवं सात्त्विक बुद्धि से सम्पन्न होने में है। स्थिरप्रज्ञा के साथ-साथ अन्य गुणों का समावेश तो अपने आप हो ही जाएगा। क्योंकि स्थिरप्रज्ञ मन्त्री परमात्मा पर अटल श्रद्धालु, धर्मनिष्ठ, न्याय-नीतिपरायण, सर्वहितचिन्तक, इन्द्रिय-संयमी, निर्व्यसनी, क्षुद्रस्वार्थ से रहित, परमार्थी, समदर्शी, शासनहितैषी आदि गुणों से सम्पन्न होगा ही। ये गुण हुए बिना उसकी बुद्धि सुस्थिर और सात्त्विक रह ही नहीं सकती।

प्राचीन नीतिशास्त्र में स्थिर बुद्धि मन्त्री के ये सद्गुण आवश्यक बताये हैं—

> मन्त्रतन्त्रार्पित - प्रीतिर्देशकालोचितस्थितिः ।
> यश्च राज्ञि भवेद् भक्तः, सोऽमात्यः पृथिवीपतेः ॥

'राजा का सच्चा मन्त्री वह है, जो मन्त्र और तन्त्र में अपनी शक्ति और प्रीति लगाये हुए हो, देश और काल को देखकर यथोचित कदम उठाता हो, और राजा के प्रति भक्त हो।"

> शास्त्रज्ञः कपटानुसारकुशलो वाग्मी न तु कोपन-
> स्तुल्यो मित्र-पर-स्वकेषु चरिते दृष्ट्वैव दत्तोत्तरः ।
> शिष्टान् पालयिता, शठान् व्यथयिता, धर्मोऽतिलोभान्वितो,
> कार्यार्थी परतत्त्वबद्धहृदयो, राज्ञश्च कोपापहः ॥

हो, व्यवहारिक बातो का जिसका पूरा अध्ययन हो, बात की जड तक पहुँच जाता हो, प्रसिद्ध हो, विद्वान् हो, साथ ही शासन को अर्थ से समृद्ध करने वाला हो।"

अब हम मन्त्री के विशिष्ट गुणो पर विचार कर लें—

मन्त्र-तन्त्र कुशल

मन्त्री मन्त्र के द्वारा शासन की समस्याओ पर हर पहलू से विचार करता है और तन्त्र के द्वारा तदनुसार उसकी योजना और व्यवस्था करता है। मन्त्री मे शासन के हित के लिए मन्त्र भी होना चाहिए और तन्त्र भी। क्योकि कोरे मन्त्र से काम नही चलता, मन्त्र के साथ तदनुसार अनुष्ठान (तन्त्र) भी होना आवश्यक है।

एक नीतिज्ञ कहता है—

> **किं मन्त्रेणाऽननुष्ठानात् शास्त्रवित्पृथिवीपतेः।**
> **नह्यौषधिपरिज्ञानात् व्याधेः शान्तिः क्वचिद्भवेत् ॥**

"शास्त्रज्ञ राजन् ! केवल मन्त्र से क्या होगा, जबकि तदनुसार अनुष्ठान नही किया जाये ? केवल औषधि के परिज्ञान से कही व्याधि शान्त होती है ?"

मन्त्री के लिए परम मन्त्र (मन्त्रणा) का उद्देश्य बताते हुए नीतिकार कहते हैं—

> **अतीतलाभस्य सुरक्षणार्थं,**
> **भविष्यलाभस्य च सगमार्थम्।**
> **आपत्प्रपन्नस्य च मोक्षणार्थम्,**
> **यन्मन्त्र्यतेऽसौ परमो हि मन्त्रः ॥**

"भूतकाल मे हुए लाभ की सुरक्षा और भविष्य के लाभ को प्राप्त करने के लिए तथा विपत्ति मे पडे हुए शासन, शासक या जनता को उबारने के लिए जो मन्त्रणा (मन्त्र) की जाती है, वही (मन्त्री के लिए) परम मन्त्र है।"

विचक्षण मन्त्री शासक के इगित और अभिप्राय को तुरन्त पहिचान लेता है, और राजा के कहने से पहले ही, उसके कहे बिना ही अपने मन मे मन्त्रणा करके तदनुसार योजना बनाकर कार्य व्यवस्था कर देता है।

वसन्त ऋतु का सुहावना मौसम था। सूर्य अपनी रेशमी किरणें बिखेरकर मानो इस सुहावनेपन को अपने में समेट लेना चाहता था। ऐसे सुहावने समय में प्रकृति की शोभा निहारता हुआ एक राजा अपने मन्त्री के साथ सैर करने के लिए [illegible] से घोड़े पर जा रहा था। एक जगह उसके घोड़े ने मूत्र त्याग किया, [illegible] उस जमीन में गड्ढा हो गया था, और उसमें मूत्र भर गया था। राजा आगे बढ़ [illegible] में वह प्राकृतिक छटा देखने में मग्न हो गया। [illegible] उसी रास्ते से अपने स्थान को लौट रहा था।

[illegible] उसी गड्ढे पर पड़ी, जहाँ घोड़े ने मूत्र त्याग किया [illegible] अभी तक भरा है, [illegible]

नहीं है। राजा के मन में एक विचार स्फुरित हुआ कि यहाँ तालाब खुदवा दिया जाए तो सम्भव है उसका पानी कभी नहीं सूखेगा, अटूट रहेगा।

विचक्षण मन्त्री ने राजा के मनोगत भावों को जान लिया। उसने राजधानी में आकर राजा के कहे बिना ही उस स्थान पर सरोवर खुदवाने का कार्य प्रारम्भ करा दिया। कुछ ही दिनों में कार्य पूर्ण हो गया। वहाँ सरोवर पानी से लहराने लगा।

कुछ दिनों बाद राजा पुनः उसी रास्ते से गुजरा। उसने देखा कि वहाँ एक सुन्दर सरोवर लहरा रहा है। राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और मन्त्री से पूछा—"यह सुन्दर तालाब और किसने बनवाया है?"

मन्त्री ने कहा—"राजन्! यह आपके मूक-आदेश का पालन हुआ है।"

मन्त्री का यह कथन सुनकर राजा ने उसकी योग्यता और विनम्रता पर अतीव प्रसन्न होकर उसे बहुत सा पुरस्कार दिया।

आशय यह है कि राजा द्वारा मन में सोची हुई बात को जानकर जो मन्त्री बिना कहे कार्यान्वित कर देता है, वही प्रशंसनीय मन्त्री होता है।

देशकाल देखकर कदम उठाने वाला—बुद्धिमान मन्त्री का यह विशिष्ट गुण होता है कि वह देख लेता है, यह कौन सा देश है या स्थान है, कैसा समय है? दोनों की अनुकूल स्थिति का अनुमान करके जो मन्त्री कदम उठाता है, उसे कभी असफलता का मुँह नहीं देखना पड़ता। जब भी कोई समस्या या स्थिति आकर पड़ती है तो मन्त्री [illegible] के लिए बार बार देशकाल की स्थिति का विचार करता रहता है और समय पर उचित कदम उठाता है।

ने विलम्ब के लिए क्षमा माँगते हुए उनसे आने का प्रयोजन पूछा। उनके साधु चरित्र को देखकर कारथेज वालो के होश गुम हो गये और उन्हे उपहार भेंट करने तथा प्रस्ताव रखने की हिम्मत न हुई। बार-बार पूछे जाने पर उन्होने अपने आने का प्रयोजन बताया। प्रधानमन्त्री ने उनकी बात बडे गौर से सुनी और उनसे प्रभावित होकर आश्वासन दिया कि वह उनकी सहायता करने की भरपूर चेष्टा करेंगे। राजसभा के समक्ष प्रधानमन्त्री ने कारथेज वालो की बाते रखी और निर्णय कराया कि भविष्य मे रोम कारथेज पर हमला नही करेगा।

सचमुच रोम का प्रधानमन्त्री देशकाल की परिस्थिति से पूर्णत. परिचित हो गया और उसने सोच लिया—कारथेज जैसे छोटे-से निर्धन टापू पर हमला करने से रोम को कोई भी लाभ न होगा, सिवाय शत्रुता बढाने के। इसके विपरीत अगर उसके साथ सन्धि कर ली गई तो भविष्य मे उसके समृद्ध होने से रोम को उससे आर्थिक लाभ और जन सहयोग भी मिलेगा। यही मन्त्री की देशकालोचित कदम उठाने की विशेषता है।

राजभक्त—शासक या शासन के प्रति जिसकी पूर्ण भक्ति एव वफादारी हो, वही मन्त्री उत्तम माना जाता है। जो मन्त्री शासक या शासन के प्रति खिचा-खिचा रहता हो, हित-चिन्ता न करता हो, दूसरे राजा या राज्य से लगाव हो, रिश्वत या अन्य प्रलोभन के वश होकर जो राजा या राज्य से विमुख रहता हो, वह मन्त्री किसी काम का नही है, वह राज्य का शत्रु है, द्रोही है। वह विश्वसनीय नही होता। विश्वस्त और राजभक्त मन्त्री वह होता है, जो राजा की नाराजी की परवाह न करके भी उसके व शासन के हित के लिए समय पर राजा को सावधान कर सकता हो, उत्पथ पर जाने से रोक सकता हो।

एक राजा विषय-भोग मे इतना फँस गया कि रात-दिन अन्तःपुर मे पड़ा रहता था, उसे राज-काज का बिलकुल भान नहीं रहा। राजभक्त प्रधान अन्तःपुर के दरवाजे पर जाकर कहलाता पर विषयान्ध राजा कुछ भी न सुनता। एक दिन प्रधान ने इस आशय का एक पत्र लिखकर अन्तःपुर के द्वारपाल के साथ भेजा कि राज्य मे अन्धेरगर्दी चल रही है। इसलिए अब अन्तःपुर मे रहने का समय नहीं। अन्यथा, बाद मे पछताना पड़ेगा।

राजा ने इस पत्र का कोई उत्तर न दिया, किन्तु रानियों ने प्रधान को धक्का देकर निकलवा दिया, और यह भी हिदायत दी कि अगर फिर कभी अन्तःपुर के द्वार पर आ जाए तो पीट डालना। जाते-जाते प्रधान को विचार आया कि राजा ने [illegible] बात न सुनी, उल्टे मेरा अपमान कराया। [illegible] प्रीति मुझे राजा से [illegible] जाना है और [illegible] अवश्य ही [illegible]। [illegible] प्रधान [illegible] राजा [illegible] प्रधान [illegible]

को प्रधान की बहुत तलाश करवाई। आखिर अन्य मन्त्रियों को लेकर वह जंगल में प्रधान के पास पहुँचा। राजा ने प्रधान से कहा—"यह क्या स्वांग रचा रखा है? यहाँ क्या करने लगे?"

प्रधान बोला—"आपके द्वार पर तो पक्का थाना था, आपने तो मिलना भी दूभर हो गया था, अब जब मैं यहाँ ईश्वर से मिलने आया हूँ, तभी आप मेरे द्वार पर चलकर आये हैं। यहाँ मुझे शान्ति व आनन्द है।"

प्रधान की बात सुनकर राजा की आँखें खुलीं। उसने प्रधान से क्षमा माँगी और बहुत आग्रह करके उसे अपने राज्य में ससम्मान ले गया।

वास्तव में जो राजभक्त मन्त्री होता है, वह विरक्त होने पर भी राजा व राज्य का बुरा नहीं चाहता।

शास्त्रज्ञ—जैसा राजनशास्त्र, नीतिशास्त्र एवं धर्मशास्त्र आदि का जानकार होना चाहिए, तभी वह धर्माधर्म, नीति-अनीति तथा वस्तुस्थिति का यथार्थ निर्णय कर सकता है।

अभयकुमार राजा श्रेणिक का पुत्र और मगध जनपद का मन्त्री था। वह चार बुद्धियों, शास्त्रज्ञ और धर्मात्मा था। साथ ही वह स्वयं व्रतधारी श्रावक था।

[illegible] शास्त्रज्ञ, आचार विचारनिपुण राजा, युवराज [illegible] साधुओं के पास आकर सविनय प्रश्न पूछने का [illegible]

[illegible]

मे सिर्फ दो व्यक्ति थे। शाम को राजा और मन्त्री दोनो आए। सफेद तम्बू का द्वार खोला गया। सर्वप्रथम एक व्यापारी निकला, राजा श्रेणिक ने उससे पूछा—"दिन भर तो तुम दूकान पर बैठकर ग्राहको को ठगते हो, फिर सफेद तम्बू मे कैसे आये?"

व्यापारी बोला—"हम सामायिक करते है, मन्दिर मे जाकर अर्चा-पूजा करते है, कबूतरो को अनाज डालते है, गरीबो को भी कुछ दान करते है, इसलिए धर्मी हैं। महाराज! ग्राहक को तो चीज देकर पैसा लेते हैं, इसमे ठगाई कैसी?"

फिर राजा ने अधिकारियो व न्यायाधीश आदि से पूछा—"तुम तो प्रजा पर अत्याचार करते हो, निर्दोष को फँसा देते हो, फिर धर्मी कैसे?" उन्होने कहा—"हम तो राजा के पक्के वफादार है, हम ही राज्य टिकाये हुए है, उनकी भलाई करते है। इसलिए धर्मी है।"

राजा ने फिर वेश्या, भगेडी, चोर, जुआरी, मजदूर, कसाई, व्यभिचारी आदि सबसे पूछा। सबने अपनी-अपनी सफाई पेश की। अन्त मे राजा ने काले तम्बू का द्वार खुलवाया तो उसमे सिर्फ दो सगे भाई थे। जो सारे शहर मे सदाचारी, धर्मात्मा और पुण्यशाली के रूप मे प्रसिद्ध थे। राजा ने उनसे पूछा तो उन्होने कहा—"हम वास्तव मे अधर्मी हैं, क्योकि हमने शराब न पीने की प्रतिज्ञा ली थी, लेकिन हमारी बीमारी मे हमारे अनजाने मे वैद्य ने दवा के साथ शराब दे दी, बाद मे हमे मालूम पड़ा। इस कारण प्रतिज्ञा-भग का पाप हमारे सिर पर है।"

अभयकुमार ने कहा—"देख लीजिए महाराज! दिखने वाले धर्मी अधिक है या अधर्मी? मेरी दृष्टि से वास्तविक धर्मी वह है जो निष्ठापूर्वक सर्वत्र शुद्ध धर्म का आचरण करता है, जिसके हृदय मे पाप की घृणा हो, उसे करते हुए दिल काँपता हो।"

धर्म-अधर्म के विषय मे ऐसा निर्णय वही मन्त्री दे सकता है जो शास्त्रज्ञ और [illegible] हो।

मे सिर्फ दो व्यक्ति थे। शाम को राजा और मन्त्री दोनो आए। सफेद तम्बू का द्वार खोला गया। सर्वप्रथम एक व्यापारी निकला, राजा श्रेणिक ने उससे पूछा—"दिन भर तो तुम दुकान पर बैठकर ग्राहको को ठगते हो, फिर सफेद तम्बू मे कैसे आये ?"

व्यापारी बोला—"हम सामायिक करते है, मन्दिर मे जाकर अर्चा-पूजा करते हैं, कबूतरो को अनाज डालते है, गरीबो को भी कुछ दान करते है, इसलिए धर्मी हैं। महाराज ! ग्राहक को तो चीज देकर पैसा लेते हैं, इसमे ठगाई कैसी ?"

फिर राजा ने अधिकारियो व न्यायाधीश आदि से पूछा—"तुम तो प्रजा पर अत्याचार करते हो, निर्दोष को फँसा देते हो, फिर धर्मी कैसे ?" उन्होने कहा—"हम तो राजा के पक्के वफादार है, हम ही राज्य टिकाये हुए है, उनकी भलाई करते हैं। इसलिए धर्मी है।"

राजा ने फिर वेश्या, भगेडी, चोर, जुआरी, मजदूर, कसाई, व्यभिचारी आदि सबसे पूछा। सबने अपनी-अपनी सफाई पेश की। अन्त मे राजा ने काले तम्बू का द्वार खुलवाया तो उसमे सिर्फ दो सगे भाई थे। जो सारे शहर मे सदाचारी, धर्मात्मा और पुण्यशाली के रूप मे प्रसिद्ध थे। राजा ने उनसे पूछा तो उन्होने कहा—"हम वास्तव मे अधर्मी हैं, क्योकि हमने शराब न पीने की प्रतिज्ञा ली थी, लेकिन हमारी बीमारी मे हमारे अनजाने मे वैद्य ने दवा के साथ शराब दे दी, बाद मे हमे मालूम पड़ा। इस कारण प्रतिज्ञा-भग का पाप हमारे सिर पर है।"

अभयकुमार ने कहा—"देख लीजिए महाराज ! दिखने वाले धर्मी अधिक हैं या अधर्मी ? मेरी दृष्टि मे वास्तविक धर्मी वह है जो निष्ठापूर्वक सर्वज्ञ शुद्ध धर्म का आचरण करता है, जिसके हृदय मे पाप की घृणा हो, उसे करते हुए दिल [illegible] हो।"

[illegible] धर्म के विषय मे ऐसा निर्णय वही मन्त्री दे सकता है जो शास्त्रज्ञ और [illegible] हो।

नही है, वहाँ पर चिपके रहना बेकार है। फिर प्रश्न उठता है कि वह सम्मान किसका है ? मेरा है या पद का ? यदि पद का है तो उसमे मुझे क्या लेना-देना है ? यदि मेरा है तो चाहे पद रहे या जाए इसमे क्या फर्क पडेगा ?"

राजा समझ गया कि जो मन्त्री प्रसन्नता और अप्रसन्नता के प्रसगो पर सम रहता है, वही नि स्पृह, निर्लोभी और राज्य का सच्चा हितैषी हो सकता है।

मित्र एवं स्व-पर पर सम—जो सच्चा मन्त्री होता है, वह न्यायनिष्ठ होता है। वह न्याय के मामले मे अपने-पराये का कोई लिहाज नही रखता। चाहे उसके पास कोई गरीब फरियाद लेकर आए या धनवान, वह सबकी फरियाद गौर से सुनता है और उस पर गहराई से विचार करता है।

व्यवहार देखकर उत्तर देने वाला—मन्त्री व्यवहार विचक्षण होता है। वह जीवन के काफी उतार-चढाव देखा हुआ अनुभवी होता है। उसकी बुद्धि अनुभव की आँच मे तपी हुई होती है। जिस बात का हल न्यायाधीश, पण्डित, विद्वान या व्यापारी नही कर सकते, उसका हल व्यवहार-विचक्षण मन्त्री शीघ्र ही कर सकता है। भारतीय राजनीति के इतिहास मे ऐसे सैकडो व्यवहार-विचक्षण मन्त्रियो के उदाहरण हैं। जहाँ एक पुत्र के लिए दो माताएँ दावा करती हो, दो व्यक्तियो मे से बिना साक्षी और प्रमाण के वास्तविक अपराधी-निरपराधी का पता लगाना हो, जहाँ राजा की बुद्धि भी किसी समस्या को हल करने मे हार खा जाती हो, वहाँ मन्त्री की विचक्षण प्रतिभा-सम्पन्न व्यवहार बुद्धि काम आती है।

शिष्ट-पालक : दुष्टनिग्राहक—मन्त्री मे दोनो प्रकार की शक्ति होनी चाहिए—रक्षण की और दमन की। जो सज्जन, सभ्य, सुविनीत और शिष्ट हैं, उन पर अन्याय अत्याचार होता हो तो उनकी सुरक्षा करना मन्त्री का कर्तव्य है, साथ ही दुष्टो और दुर्जनो, ठगो और शठो का दमन करने की शक्ति भी उसमे होनी चाहिए, ताकि ऐसे लोग जनता पर हावी न हो जाएँ। आज भारत मे सरकारी कर्मचारियो और अधिकारियो मे इतना भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, लालफीताशाही या गैर-जिम्मेवारी है कि वे छोटे-से काम को झटपट करके नही देते, गरीब आदमी बार-बार उसके महकमे मे चक्कर काटता है, मगर उसके कान पर जूं तक नही रेंगती, रिश्वत देने पर भी वह धीरे-से सरकता है। मगर मन्त्री को पता लगने पर ये बातें उसके लिए असह्य होनी चाहिए। भ्रष्टाचार, अनीति, अन्याय, उद्दण्डता, चोरी आदि चाहे सरकार मे हो या जनता मे, मन्त्री के लिए वह सह्य न होनी चाहिए।

मन्त्री धर्मिष्ठ तो होना ही चाहिए। अधार्मिक या पापात्मा मन्त्री तो शासन, शासक और जनता सबका उत्पीडन, शोषण और विनाश कर बैठता है।

कार्यार्थी मन्त्री ही शासन की उन्नति कर सकता है। जो केवल बातूनी है, लम्बे-चौडे भाषण देना ही जानता है, बडे-बडे वादे ही जनता के सामने करता है, वह मन्त्री केवल वाणी शूर होता है। मन्त्री मे कम बोलने और अधिक करने का गुण होना चाहिए।

दक्षिण भारत की एक रियासत की घटना है। वहाँ के दीवान सुजानसिंह जी वृद्ध हो गये थे, वे अपने स्थान पर किसी योग्य उत्तराधिकारी को नियुक्त करना चाहते थे, ताकि उनका बोझ हलका हो सके। उनके कोई पुत्र न था। उन्होंने प्रजाजनों में से ही दीवान का चुनाव करने का निश्चय किया। नगर में घोषणा करवा दी कि अमुक दिन दीवान का चुनाव किया जाएगा। शर्त यह रखी कि जो टी. बी आदि का बीमार न हो, शिक्षित चाहे कम हो, पर योग्य, कार्यकुशल और सेवाभावी हो। निश्चित दिन को मनोरंजन के लिए हाकी का खेल रखा गया। सन्ध्या समय दीवान पद के उम्मीदवार हाँकी खेल कर आ रहे थे। मार्ग में एक नाला पड़ता था। दीवान सुजानसिंह ने किसान का वेष बनाकर बैलगाड़ी उस नाले में फँसा दी। बैलों द्वारा जोर लगाने पर भी गाड़ी आगे नहीं चल रही थी। कृषक वेशधारी दीवान गाड़ी को धक्का लगा रहा था, लेकिन वह टस से मस नहीं होती थी। बहुत-से आदमी उधर से गुजरे मगर किसी ने उनकी तरफ ध्यान न दिया।

अन्त में, एक व्यक्ति आया जिसके दिल में सहानुभूति की भावना थी, उसने देखा कि किसान घबरा रहा है, रात पड़ने वाली है, गाड़ी आगे नहीं चल रही है। तब उसने किसान वेशधारी से कहा—"तुम गाड़ी को आगे से खींचो, मैं पीछे से धक्का लगाता हूँ।" उसने ऐसा ही किया। गाड़ी झट ऊपर आ गई। अब वह ठीक राह पर थी। कृषक वेशधारी ने आशीर्वाद देते हुए कहा—"भगवान् करे आप ही इस रियासत के दीवान बनें। कृषक वेशधारी ने उसका नाम-पता पूछ लिया। दूसरे ही दिन प्रातः राजसभा में सब लोगों की उपस्थिति में दीवान सुजानसिंह जी ने घोषित किया—पं० जानकीवल्लभजी इस रियासत के नये दीवान बनेंगे। सब लोगों ने सुना तो हर्ष से पं० जानकीवल्लभजी के कार्यक्षमता, सेवा आदि गुणों की प्रशंसा सुनकर धन्यवाद दिया।

वास्तव में, जो सच्चा कार्यार्थी हो, वही कार्यकुशल और कर्तव्य-क्षमता वाला होता है।

यह सुनकर राजा अत्यन्त कुपित हो गया। उसने मन्त्री को २४ घन्टे मे राज्य छोडकर चले जाने का आदेश दिया। मन्त्री ने कहा—"बहुत सुन्दर! अच्छा हुआ! कोई न कोई शुभ सकेत है, इसके पीछे भी।" और वह राज्य छोडकर चला गया।

कुछ दिनो पश्चात अगूठा ठीक होने पर फिर एक दिन राजा सैर करने को दूर-सुदूर निकल गया। वहाँ शक्तिपूजक मिले। वे राजा को बत्तीसलक्षणा पुरुष जानकर देवी के आगे वलि चढाने के लिए पकड ले गये। राजा वहुत घबरा गया, पर उसका कोई जोर न चल सकता था।

राजा की गर्दन पर तलवार पडने ही वाली थी, कि एक आदमी चिल्लाया—"ठहरो-ठहरो! यह आदमी वलि के योग्य नही है, इसके हाथ का एक अगूठा नही है। अगहीन की वलि नही दी जा सकती। अतः इसे छोड दो।"

राजा से शक्तिपूजको ने कहा—"ले, तेरा घोडा, भाग जा यहाँ से!"

राजा को छुटकारा मिला, तो सुख की साँस आई। अब उसे मन्त्री का वचन याद आया कि "यह अच्छा ही हुआ।" अगर आज अगूठा कटा न होता तो मेरी हत्या अवश्य कर दी जाती। राजा ने अपने तत्त्वज्ञ मन्त्री की तलाश मे आदमी भेजे, उसे ससम्मान लेकर वे आये। राजा ने कुशलमगल प्रश्न के पश्चात पूछा—"मन्त्रीवर! मैंने तुम्हे देशनिकाला दिया, वह अतिसुन्दर कैसे?"

मन्त्री ने कहा—महाराज! अगर मैं आपके साथ होता तो आपके वदले मुझे वलि दे दिया जाता, इस कारण मेरा अतिसुन्दर कहना ठीक ही था।"

राजा उसके परमतत्त्वज्ञान से वहुत ही प्रभावित हुआ और हर एक कार्य उसकी राय लेकर करने लगा।

वास्तव मे परमतत्त्व जिसका हृदयगम हो जाता है, वह वडी से वडी आपत्ति के अघड आने पर भी विचलित नही होता।

इसके अतिरिक्त मन्त्री के गुणो मे विशेष गुण ये हैं—राजा के कोप को शान्त करने वाला, शुद्धहृदय, निर्व्यसनी, सदाचारी, विद्वान, अर्थ के मामले मे पवित्र आदि। ये सव आप जानते ही हैं।

मन्त्री के दूषण

सभी मन्त्री योग्य और वफादार ही होते हैं, ऐसी वात नही है। वर्तमान युग मे तो ईमानदार, देशभक्त, वफादार एव जनहितैषी मन्त्रियो का दुष्काल-सा हो गया है। मन्त्री की परख सकट के समय, या जनता और राष्ट्र के सम्वन्धो मे विगाड आने पर या राजकर्मचारियो तथा अधिकारियो मे अनुशासन, वफादारी आदि की कमी एव फूट को मिटाने और सम्वन्धो को सुधारने मे होती है। जो मन्त्री इस परीक्षा मे फेल हो जाता है, वह अयोग्य एव असफल मन्त्री है। नीतिकार कहते हैं—

> मन्त्रिणा भिन्नसन्धाने, भिषजां सान्निपातिके।
> कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा, सुस्थे को वा न पण्डितः ॥

"मन्त्रियों की प्रज्ञा टूटे हुए सम्बन्धों को सुधारने या परस्पर मेल कराने के कार्य में, और वैद्यों की प्रज्ञा रोगी को सन्निपात (त्रिदोष) हो जाए तब अभिव्यक्त होती है, वैसे तो बैठा-ठाला कौन अपने को पण्डित नहीं मानता ?"

अगर मन्त्री केवल ठकुरसुहाती कहता हो, मुंह पर ही मीठा हो, राजा एवं राज्य का हित नहीं सोचता हो, सच्ची वस्तुस्थिति शासक के सामने प्रस्तुत नहीं करता हो, वह मन्त्री भी शासन-हितैषी नहीं है। नीतिकार कहते हैं—

पृष्टो ब्रूते न सत्यं यः परिणामे सुखावहम्।
मंत्री चेत् प्रियवक्ता स्यात् केवलं स रिपुः स्मृतः॥

"जो मन्त्री शासक के पूछने पर सत्य-सत्य नहीं कहता, जो कि परिणाम में सुखावह हो, किन्तु केवल प्रिय और मधुर बोलता है, ठकुरसुहाती बातें करता हो, वह मन्त्री शासन और शासक का शत्रु कहा गया है। केवल मीठा बोलने वाला राज्य और राजा का बहुत बड़ा अहित कर देता है।"

गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं—

मन्त्री गुरु अरु वैद्य जो प्रिय बोलहिं भय आस।
राज, धर्म, तन, तीन कर होइ बेगहीं नास॥

मन्त्री, धर्मगुरु और वैद्य इन तीनों पर बहुत बड़ी जिम्मेवारी है। ये अगर अपनी जिम्मेवारी छोड़कर केवल मीठी और ठकुरसुहाती बातें कहें तो तीनों क्रमशः तीन चीजों का शीघ्र नाश कर बैठते हैं। मन्त्री अगर राजा के साथ सिर्फ प्रिय बोले तो राज्य का, गुरु अपने भक्तों को ठकुरसुहाती कहे तो धर्म का तथा वैद्य अपने रोगी को [illegible] के अनुकूल ही बात कहे तो शरीर का नाश कर देगा।

इसी प्रकार जो मन्त्री राजा के प्रति अनुकूल न हो, ऊपर-ऊपर से चापलूसी करता हो, अन्दर से राजा के प्रति उसके मन में द्वेष या घृणा हो तो वह भी अयोग्य मन्त्री है। मन्त्री के कुछ दोष नीतिकारों ने इस प्रकार बताए हैं—

[illegible] अप्यपरिचितोऽनुरोधनम्,
उपेक्षा बुद्धिहीनत्वं [illegible]म्।
[illegible],
[illegible] निरोधयेत्॥

वर्तमान युग के मन्त्री

वर्तमान लोकतन्त्री शासन प्रणाली मे मन्त्री का चुनाव जनता करती है, परन्तु जनता अगर ऐसे दोषयुक्त मन्त्री का निर्वाचन करती है तो उसका दुष्परिणाम उसे ही भोगना पडता है। प्राय वर्तमानयुगीन मन्त्री राष्ट्र, शासन और जनता-जनार्दन के प्रति वफादार नही रहते, वे अपनी कुर्सी मजबूत करने मे और तिकडमबाजी करने लगे रहते हैं। ऐसे निर्वाचित मन्त्रियो पर जब तक जनता और जन-सेवको के नैतिक सगठनो का अकुश नही होगा, तब तक इनका सही राह पर चलना कठिन है।

मन्त्री की शोभा : स्थिर बुद्धिमत्ता

महर्षि गौतम को इसीलिए इस जीवन सूत्र के द्वारा कहना पडा कि मन्त्री सुस्थिर बुद्धि से युक्त, योग्य और राष्ट्र एव शासक के प्रति वफादार होगा, तभी धर्मशासन तेजस्वी बन सकेगा। नीति और धर्म की दृष्टि से मन्त्री का सुस्थिर बुद्धि से युक्त होना आवश्यक है, इसी मे उसके जीवन की शोभा है।



५७

पतिव्रता लज्जायुक्त सोहती

धर्मप्रेमी बन्धुओ,

आज मैं आपके समक्ष महिलाओं से सम्बन्धित जीवन पर चर्चा करूँगा। भारतीय संस्कृति में विवाहित महिला को अपना जीवन पवित्र और आदर्श रखने के सम्बन्ध में बहुत जोर दिया गया है। उसका कारण यह है कि महिला के जीवन पर उसकी सन्तान का जीवन निर्भर है। अगर महिला (माता) का जीवन पवित्र, सुसंस्कारी, धर्मिष्ठ न रहा तो उसकी सन्तान का जीवन भी पवित्र, सुसंस्कारी और धर्मिष्ठ नहीं रह सकेगा, क्योंकि माता के अच्छे-बुरे संस्कारों का प्रभाव उसकी सन्तान पर पड़ता है। इसलिए राष्ट्र को अगर पवित्र, धर्मात्मा, सुसंस्कारी, सच्चरित्र मानव चाहिए तो उनकी माताओं को पवित्र, धर्मात्मा, सुसंस्कारी, सच्चरित्र एवं पतिव्रता रहना परम आवश्यक है।

इसी दृष्टिकोण से महर्षि गौतम ने यहाँ एकपतिनिष्ठ पतिव्रता महिला के जीवन की शोभा के सम्बन्ध में बताया है। गौतमकुलक का यह छियालीसवाँ जीवनसूत्र है, वह इस प्रकार है—

"लज्जाजुओ सोहइ एगपत्ती।"

"एकपतिनिष्ठा—पतिव्रता लज्जायुक्त ही शोभती है।"

अब इसके विविध पहलुओं पर गहराई से विचार करें।

पतिव्रता और पतिव्रत-धर्म की महिमा

भारतीय धर्मग्रन्थों में पतिव्रत-धर्म की महिमा का मुक्तकण्ठ से वर्णन किया गया है। भारतीय इतिहास की नारियों ने पतिव्रत धर्म और उसके आदर्शपालन [illegible] ऐसी कथाएँ हैं, जिनका सारांश यह रहा है [illegible] ऋषि-मुनियों, [illegible] वैदिक धर्मग्रन्थों [illegible] [illegible] [illegible]—

[illegible]

[illegible]

"जो नित्य पवित्र है, गुणो की सौरभ से सुगन्धित है, नित्य प्रियभाषिणी है, अल्पाहार करती है, बहुत ही नपा-तुला बोलती है, वह नारी मानुषी नही, देवी है।"

पश्चिम के महान् विचारक जेरेमी टेलर (Jeremy Taylor) भी श्रेष्ठ पत्नी के सम्बन्ध मे यही बात कहते हैं—

"A good wife is heaven's last best gift to man—his gem of many virtues, his casket of jewels, her voice is sweet music, her smiles his brightest day, her kiss the guardian of his innocence, her arms the pale of his safety, her industry his surest wealth, her economy his safest steward, her lips his faithful counsellors, her bosom the softest pillow of his cares"

"एक अच्छी धर्मपत्नी पुरुष के लिए स्वर्ग की अन्तिम श्रेष्ठ भेंट है, वह अनेक गुणो की मणि (रत्न) है, वह उसके गुणरत्नो की पिटारी है, उसकी वाणी मधुर सगीत है, उसका हास्य पुरुष का सबसे शानदार दिन है, उसका चुम्बन उसके निर्दोष बच्चो का सरक्षक है, उसकी भुजाएँ उसकी सुरक्षा की सीमा है, उसकी मेहनत पुरुष की निश्चित सम्पत्ति है, उसकी आर्थिक बचत सबसे सुरक्षित सेवा है, उसके ओठ पुरुष के प्रति वफादारीपूर्वक परामर्शदाता हैं, उसका हृदय पुरुष की देखभाल करने वाला सबसे मुलायम सिरहाना है।"

कितनी तथ्यपूर्ण बात कह दी है, पाश्चात्य विचारक ने। वास्तव मे पतिव्रता नारी का जीवन पति के प्रति समर्पित जीवन होता है। वह पति की आन, बान और शान मे रत्तीभर भी आँच नही आने देती। पातिव्रत्य के आदर्श को जीवित रखने के लिए भारतीय महिलाओ ने हँसते-हँसते धधकती आग मे अपने शरीर को झोक दिया है। मर्मान्तक कष्ट सहकर भी उन देवियो ने पतिव्रत धर्म की भावनाओ को सुरक्षित रखा है। पतिव्रताधर्म की रक्षा के लिए चित्तौड की पद्मिनी आदि रानियो ने जौहर करके जो अपूर्व बलिदान का परिचय दिया है, उसकी महिमा किन शब्दो मे कही जाये? अभी भी स्थान-स्थान पर यत्र-तत्र सतियो के स्मारक और मन्दिर देखने को मिलते हैं। इससे प्रतीत होता है कि भारतीय नारी ने प्राचीन काल मे पतिव्रतधर्म के अपने आदर्श की रक्षा कितना अधिक मूल्य चुकाकर की है?

इससे भी प्राचीनकाल मे महारानी तारामती ने सत्य-हरिश्चन्द्र के साथ, दमयन्ती ने नल राजा के साथ, महासती सीता ने श्रीराम के साथ सकट के समय मे समभाव से कष्ट सहकर अपने अद्भुत त्याग और प्रेम का—वस्तुत पतिव्रतधर्म का परिचय दिया है।

वैदिक पुराणो मे प्राचीन पतिव्रता सतियो के अनेक आख्यान मिलते हैं। मन्त्र-द्रष्टा अपाला ने अपनी शक्ति से मरुत्गणो का आह्वान कर सोमरस का पान किया, सती अनुसूया के आँगन मे ब्रह्मा, विष्णु, महेश बालक बनकर खेले, सावित्री ने यम को अपनी शीलशक्ति से सत्यवान की आयुष्यवृद्धि के लिए बाध्य कर दिया, शाण्डिली

ने सूर्यदेव का रथ रोक लिया, सुकन्या की पतिनिष्ठा से तुष्ट होकर अश्विनीकुमारों को पृथ्वी पर आकर च्यवनऋषि की वृद्धावस्था को यौवन में बदलना पड़ा।

गान्धारी ने धृतराष्ट्र की पत्नी होने के बाद अनुभव किया कि पतिदेव अन्धे हैं, वे आँखों का सुख नहीं पा सकते। अतः अन्धे पति से अपनी स्थिति अच्छी रहने की अनिच्छुक गान्धारी ने आँखों में आजीवन पट्टी बाँधे रहने का व्रत लिया और उसे आजीवन निभाया भी। यह था भारतीय पतिव्रता नारियों का आदर्श चरित्र! यहाँ की मातृशक्ति के सामने पुरुषवर्ग को अनेक बार नतमस्तक होना पड़ा।

जैन इतिहास में प्रसिद्ध सोलह सतियों का नाम कौन नहीं जानता? इनमें से कुछ बाल-ब्रह्मचारिणी थीं, बाकी अधिकांश विवाहिता, पतिपरायणा सती थीं।

भारतीय नारी के हृदय में यही भाव रहा है, रहता है कि मैं अपने आपको पूर्णरूप से पति में मिला दूं। वह सोचती है कि जिस सुख को पति नहीं भोग सकते, उसे मैं क्यों भोगूं? यही भारतीय नारी का पातिव्रत्य है, यही उसकी कठोरतम साधना है।

राम की आज्ञा से लक्ष्मण जब सीता को वन में छोड़कर लौटने लगे तो दुःख से रोती सीता ने कहा—'लक्ष्मण! अपने राजा से कह देना कि क्या मुझ निरपराधिनी को इस प्रकार त्याग देना ही तुम्हें शोभा देता है? क्या तुम्हारे वंश की यही रीति है? अग्नि-परीक्षा द्वारा शुद्ध प्रमाणित स्त्री को वन में छोड़ देना, किस शास्त्र में लिखा है?' उस अवस्था में भी राम के प्रति सीता के मन में कोई दुर्भाव पैदा नहीं हुआ। कल्याणी सीता ने अपना दृढ़ संकल्प सुनाया, जो भारतीय नारी के अटल पतिप्रेम और निष्ठा का सर्वोत्तम प्रमाण है—

> साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
> भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः॥[1]

सतीत्वेन महत्त्वेन वृत्तेन विनयेन च।
विवेकेन स्त्रियः काश्चिद् भूषयन्ति धरातलम् ॥

"ऐसी पतिनिष्ठा नारियाँ इनी-गिनी हैं, जो अपने सतीत्व से, महानता से, चरित्र से, विनय और विवेक से इस धरातल को विभूषित करती हैं।"

पतिव्रता नारी के प्रत्येक कार्य मे आत्म-विसर्जन की भावना रहती है। वह केवल अपने सुख का ध्यान रखने वाली स्वार्थिनी नही, अपि स्वय दु ख सहकर भी दूसरो के सुख का ध्यान रखती है। घर मे वह रमणी बनकर नही, कुलवधू बनकर, सारे कुल के पालन-पोषण का व्रत लेकर आती है, स्वय कष्ट उठाकर भी घर के सभी प्राणियो के सुख-दु ख का ध्यान रखती है।

राजा मान्धाता की ५० कन्याएँ सौभरी ऋषि को व्याही थी। एक बार राजा अपनी कन्याओ का हालचाल जानने के लिए सौभरी के निवासस्थान पर पहुँचे। उन्होने एक-एक कन्या से अलग-अलग मिलकर पूछा—"बेटी! तुम्हे यहाँ कोई कष्ट तो नही है? पितृगृह की याद आती है या नही?"

प्रत्येक लडकी ने प्राय. यही उत्तर दिया—"पिताजी! आपके आशीर्वाद से मैं सकुशल हूँ। फिर भी अपनी जन्मभूमि की याद किसे नही आती? हाँ, मुझे एक ही दु ख है कि पतिदेव अधिक समय मेरे पास ही बिताते हैं, जिससे मेरी अन्य बहनो को कष्ट होता है। यही मेरे दु ख का कारण है।"

भारतीय नारी के आत्म-त्याग का यह एक सुन्दर उदाहरण है। आप कहेगे, ये तो अतीत की बातें हैं, आज कहाँ ऐसे उदाहरण मिलते हैं? दीपक की ज्योति भले ही मन्द हो गई हो, किन्तु उसका प्रकाश आज भी घर-घर मे मौजूद है। आज भारत मे पश्चिम के अन्धानुकरण के कारण भले ही भारतीय नारियो की उज्ज्वल तस्वीर धुंधली हो चली हो, लेकिन आज भी पूर्वज सती-साध्वियो के प्रताप से वह मशाल बुझी नही है, जो सहस्रो ही नही, कुछ ही दशको पूर्व उन सन्नारियो ने त्याग-बलिदान की आहुति देकर प्रज्वलित की थी, जिनके इतिहास से भारतीय संस्कृति का इतिहास विश्व के उज्ज्वल नक्षत्र की भाँति चमक रहा है।

भारतीय नारियाँ सच्चरित्र और पतिपरायणा हो, इस बात की आवश्यकता पहले भी थी, आज भी है। समाज को अगर शिष्य के रूप मे माना जाये तो पतिव्रता एव सच्चरित्रा नारी को उसके गुरु के रूप मे मानना चाहिए। पतिव्रता सती-साध्वी सुशीलवती नारी पुरुष को संस्कृति के अनुरूप शिक्षा, दीक्षा और संस्कार देने मे सक्षम है। वह प्राण, संकल्प, मनोबल और उन्नत श्रेयस्कर विचार देने मे समर्थ है। वह जिस साँचे मे ढालना चाहे, पुरुष को ढाल सकती है। इस दृष्टि से समाज की वह निर्मात्री है। परन्तु इस समाज-निर्माण कार्य मे प्रमुख वस्तु उसकी समर्पण वृत्ति, सेवा-भावना, वत्सलता और सच्चरित्रता है। ये ही प्रमुख सद्गुण पतिव्रता नारी को पूजनीय उच्च और गुरु के स्थान पर पहुँचाते हैं।

पतिव्रत धर्म : एक समर्पण योग साधना

जैसे भगवान की भक्ति करने वाला भक्त उनके प्रति अपना समर्पण कर देता है, तो वह अपने 'अहं' को समाप्त कर देता है, परमात्मा का स्नेह, साहचर्य एवं सान्निध्य प्राप्त करने के लिए। अपनी सारी कामनाओं, वासनाओं, मन-वचन काया की सावद्य वृत्ति-प्रवृत्तियों को 'अप्पाणं वोसिरामि' कहकर आत्म-व्युत्सर्ग कर देता है, अपना सर्वस्व प्रभु के चरणों में सौंपकर वह केवल कर्तव्य और दायित्व के पालन में सुखानुभव करता है।

वैष्णव भक्ति की भाषा में कहूँ तो, भक्त अपनी स्वतन्त्र इच्छाओं का परित्याग करके भगवान की इच्छा को ही अपनी इच्छा बना लेता है। इस प्रकार द्वैत को मिटाने और अद्वैत की स्थिति प्राप्त करने का साधन बन जाता है। तृष्णा, अहंता, कामना, स्वार्थ, लोभ, मोह, मान और कपट की परिसमाप्ति आत्म-समर्पण या जैन परिभाषा में आत्मव्युत्सर्जन के साथ ही हो जाती है और भक्त को वह उच्च मनोभूमिका सहज ही प्राप्त हो जाती है। भगवद्गीता में आत्मसमर्पण योग को साधना-पथ का मुकुटमणि कहा है। योगी अरविंद तथा अन्य अनेक तत्त्वज्ञानियों ने इसी माध्यम से आत्मा का उच्च विकास सम्पादन किया है।

महाव्रतों, अणुव्रतों की या योग की साधना के प्रथम चरण में, जबकि देवाधिदेव वीतराग प्रभु प्रत्यक्ष विद्यमान नहीं होते तो साधक गुरु पर अपनी भावनाएँ आरोपित करके उन्हें भगवान् (देव) के रूप में मानता-पूजता एवं उपासना करता है,

निष्कर्ष यह है कि जैसे योगसाधना के प्राथमिक चरण मे गुरु को आत्म-समर्पण करके शिष्य भगवत्परायणता का अभ्यास करता है, जब उसमे निष्ठा सुदृढ हो जाती है, तब उसी के विकसित रूप—परमात्मा मे आत्मा का लय कर देने—**'अप्पाणं वोसिरामि'** कर देने का निमित्त वन जाता है, वैसे ही पतिव्रत धर्मसाधना मे पति को देव का रूप मानकर उसके माध्यम से आत्मसमर्पण-आत्मलय-आत्म-व्युत्सर्जन का अभ्यास करके आगे वढा जा सकता है। इसलिए इसे गृहस्थ-जीवन मे योगसाधना का एक पूर्व रूप कहे तो कोई अत्युक्ति नही। राजस्थान की महान भक्ता सन्नारी मीरा ने तो श्रीकृष्ण को ही अपना आध्यात्मिक स्वामी मानकर अपना सपूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया था।

पतिव्रता का आदर्श : पति के दोष न देखना, न सुनना

इसी विचार से भारतीय नारियाँ पतिव्रतधर्म को कल्याण की, पुण्य की भावना मानकर उसे अपनाती रही हैं। पति की दुर्वलताओ और त्रुटियो की ओर उसने उपेक्षा ही की है। अच्छी भावनाओ की उत्कृष्टता तभी वनी रह सकती है, जव साधक साधिका अपने इष्ट के दोष, दुर्गुण एव दुर्वलताओ की उपेक्षा करता हुआ अपने कर्तव्य एव सद्भाव मे जरा भी कमी न आने दे। पतिव्रता इसी भव्य मार्ग का अनुसरण करती है। इसीलिए समर्पण योगयुक्ता पतिव्रता का आदर्श इन शब्दो मे वताया गया है—

पतिप्रिया, पतिप्राणा, पतिप्रियहितेरता।
यस्य स्यादीदृशी भार्या, धन्यः स पुरुषो भुवि॥

"पति ही जिसे प्रिय है, पति के लिए जो प्राणार्पण करती है, पति के प्रिय हित मे जो रत रहती है, जिसके घर मे ऐसी पत्नी हो, वह पुरुष ससार मे धन्य है।"

एक नववधू का पति परदेश गया हुआ था। घर आई हुई ननद अपने भाई के कुछ दोष अपनी भाभी के सामने निकालने लगी। नववधू सवके साथ हिल-मिलकर रहती और प्रेम से वात करती थी, परन्तु अपने पति के दोष प्रगट करती हुई ननद से वोली—"आप अपने भाई की निन्दा मेरे सामने न किया करें, मैं उनके दोष विलकुल नही सुनना चाहती, क्योंकि कैसे भी हो, मेरे लिए तो वे पूज्य हैं।"

इससे ननद को बुरा लगा। वह वोली—"मैं भाई के दुर्गुण कहूँ, इसमे तुम्हे क्या? हम भाई-वहन वर्षों तक साथ-साथ रहे हैं, वडे हुए हैं, एक माता-पिता के वालक हैं, इसलिए हम एक दूसरे के विषय मे कुछ भी कहे तुम प्रतिवन्ध लगाने वाली कौन? तुम तो कल-परसो घर मे आई और हुक्म चलाने वाली मालकिन भी वन गयी।"

इस पर वहू ने नम्रतापूर्वक कहा—"वहन! इसमे आपके नाराज होने की कोई वात नही। आपको तो यहाँ अपने भाई के पास थोडे ही दिन रहना है, मगर मुझे तो यही रहकर आपके भाई के साथ सारी जिन्दगी वितानी है। इसलिए उनके

दोषों को भी मेरे सामने न करे। मैं सदा अपने पति के गुणों को ही देखना-सुनना चाहती हूँ।"

यह सुनकर ननद चुप हो गई।

पतिव्रता का पति के साथ सम्बन्ध आत्मा का है

भारतीय धर्मग्रन्थों के अनुसार इस देश में पति-पत्नी का सम्बन्ध आत्मा से आत्मा का सम्बन्ध माना गया है। दोनों का केवल शारीरिक सम्बन्ध ही माना जाए तो उसमें काम, कामना, स्वार्थ, मोह, राग-द्वेष आदि विकार ही अधिक प्रादुर्भूत होंगे। पतिव्रता पति को अपना सर्वस्व समर्पण करती है, उसके पीछे यही भावना रही हुई है कि पति की आत्मा के साथ अपनी आत्मा का सम्बन्ध बँध गया है। यदि मात्र शारीरिक सम्बन्ध ही होता तो पति के मरने के बाद शरीर के खत्म होते ही उस सम्बन्ध को खत्म कर देती, पति की आत्मा की शान्ति के लिए वह (पत्नी) कुछ भी न करती, अथवा पति के ब्रह्मचर्यव्रत या साधु दीक्षा ले लेने पर शरीर सम्बन्ध खत्म कर देती, परन्तु भारतीय नारी तो ऐसा कदापि नहीं सोच सकती।

यही कारण है कि महासती राजीमती ने तीर्थंकर अरिष्टनेमि द्वारा मुनि-दीक्षा का पथ अंगीकार कर लेने के बाद उनके साथ विवाह न होने की स्थिति में उन्हीं द्वारा अंगीकृत आध्यात्मिक पथ को ही अंगीकार कर लिया था। जैन इतिहास में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं कि पति के जीते-जी या पति की मृत्यु के बाद अथवा पति द्वारा मुनि-दीक्षा अंगीकार करने की स्थिति में पत्नी ने भी दीक्षा अंगीकार कर अपना आत्मिक सम्बन्ध निभाया है।

पतिव्रता स्त्री का पति के साथ केवल शारीरिक सम्बन्ध ही होता तो वह अपाहिज, रोगी, दुर्व्यसनी, कोढ़ी या आपद्ग्रस्त पति को कभी की तलाक दे देती, वह उसकी सेवा भी करती तो वेगार समझकर विना मन से, लोकलज्जा से करती, परन्तु प्राय कुलीन और पतिव्रता भारतीय महिला ऐसा नही करती। वह अपने पति की अगविकलता, व्याधि, कुष्टरोग या सकटग्रस्तता आदि या अन्य दोषो की ओर नही देखती, वह तो पति की विशुद्ध आत्मा को देखती है, पति की सेवा वह विशुद्ध आत्मा समझकर करती है।

सौराष्ट्र मे वालम्भा की एक पतिव्रता नारी की घटना हमारी आँखें खोल देनी है। उसका पति शादी होने के कुछ अर्से वाद ही लकवे से पीडित हो गया। अव वह न तो स्वय उठ-वैठ सकता था, न ही खुद शौच निवारण कर सकता था, आजीविका के लिए पुरुषार्थ करना तो दूर रहा, वैठे-वैठे भी कोई काम कर न सकता था। उसकी धमपत्नी ने अपने पर धर्मसकट देखकर जरा भी मुख म्लान न किया। उसने साहस के साथ इस सकट का सामना करने का विचार किया। वह प्रात काल ब्राह्ममुहूर्त मे उठकर स्वय आटा पीस लेती, तत्पश्चात् भैंस दुहकर उसका दूध वेच देती। पति को स्वय उठाती-वैठाती, स्वय शौच करवाती, स्वय उसका शरीर साफ करती, तत्पश्चात् भोजन वनाकर स्वयं उसके मुंह मे कौर देती।

इस प्रकार एक-दो महीने नही, एक-दो वर्ष नही, सोलह-सोलह साल तक उसने नाक भौं सिकोडे विना, प्रसन्नचित्त से, प्रसन्नमुख से, अम्लान भाव से अपने वीमार एव असहाय (पराश्रित वने हुए) पति की सेवा-सुश्रूषा की। यद्यपि यह वहन पढी-लिखी नही थी, किन्तु भारतीय पतिव्रताओ के गाढ सस्कार उसकी रग-रग मे रमे हुए थे। कभी उसने अपने पति के विपय मे शिकायत नही की, न स्वय कहकर किसी से सहायता माँगी।

इस प्रकार कई भारतीय नारियो के त्याग और सेवा के उदाहरण मिलते हैं।

पति के साथ अभिन्नता के कारण सघर्ष नहीं

पतिव्रता नारी जव पति को अपना सर्वस्व मानकर उसकी इच्छानुगामी वन जाती है, आत्म-समर्पण के कारण पति के साथ अपनी अभिन्नता स्थापित कर लेती है तो फिर उसके लिए सघर्ष की गुजाइश नही रहती।

प्राय पति-पत्नी मे परस्पर रुचिभेद, विचारभेद, सम्प्रदायभेद, सस्कारभेद, एव आचारभेद आदि को लेकर संघर्ष हुआ करता है। सक्षेप मे कहूँ तो जव भिन्नता होती है, तव सघर्ष होता है, खासकर मन मे भिन्नता होती है तव। एक की राह पूर्व की ओर दूसरे की पश्चिम की होती है, तभी मनमुटाव का अवसर आता है। परन्तु पतिव्रता तो इस भिन्नता की रस्सी को पहले से ही काट देती है। पति की रुचि ही उसकी रुचि, पति का व्रत, अणुव्रत या अहिंसादि धर्म ही उसका व्रत, अणुव्रत

या अहिंसादि धर्म है, पति की सुराह ही उसकी सुराह है। किसी तरह पतिव्रता की ओर से पति के अहंकार को चोट पहुँचाई जाए, तभी संघर्ष होता है, परन्तु पतिव्रता पहले से ही नम्र, निरभिमानिनी, दासीवत् बनकर अपने आपको पति में विलीन कर देती है, अपना अहं पहले से ही काट कर फेंक दिया, तब अहंकार करने की गुंजाइश ही कहाँ रही?

पतिव्रता जब पति की इच्छानुगामिनी बनकर जब अपने पति को आत्मिक विकास का, आत्मिक प्रगति का तथा आत्म-समर्पण-साधना का माध्यम समझती हुई एक भावुक और निरहंकारी नम्र भक्ता की भूमिका में उतरती है, तब वह अनायास ही आत्मकल्याण का लक्ष्य हस्तगत कर लेती है। इसलिए पतिव्रतधर्म के पालन में आत्मिक प्रगति के साथ-साथ लौकिक प्रगति की असंख्य सम्भावनाएं रही हुई हैं।

पति-पत्नी दोनों में संघर्ष न होने से, या अभिन्नता होने से घर में कभी अशान्ति नहीं होती, लौकिक और आध्यात्मिक श्री की वृद्धि होती है, दोनों का शरीर स्वस्थ एवं सुपुष्ट रहता है, दोनों का स्वभाव नम्र, मृदु और एक-दूसरे के लिए सहयोग एवं सेवा का आदान-प्रदान का रहता है। अनेक धर्मकार्य, परोपकार और दान-पुण्य के कार्य उनके द्वारा होते रहते हैं। शरीर को केवल विषय-भोग का साधन न समझकर, इसे ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा आदि धर्म का पालन करने में दोनों लगाते हैं, या देशसेवा, समाजसेवा आदि सत्कार्यों में लगाते हैं। परन्तु इन सब में प्राथमिकता पतिव्रताधर्म का पालन करने की तीव्र उत्कण्ठा वाली सन्नारी में होती है। वह धर्म का मर्म समझती है, वही इन सत्कार्यों की पहल करती है, और पति को भी सत्कार्यों के लिए प्रेरित करती है। पतिव्रता स्त्री का यह दायित्व और कर्तव्य भी होता है कि वह भोग की दृष्टि से [illegible] पति को विषय-भोग की ओर न खींचे, बल्कि स्वयं त्याग, वैराग्य [illegible] धर्म का मार्ग अपनाकर [illegible] पति का [illegible] उसे भी विषयभोगों [illegible]।

एक ही धर्म एक व्रत-नेमा । काय-वचन मन पतिपद-प्रेमा ॥
जगपति व्रताचार विधि अहहीं । वेद पुराण सन्त सब कहहीं ॥

भावार्थ स्पष्ट है ।

परन्तु पतिमता का धर्म होता है—पति का माना हुआ, मनमाना जो काम है, वह चाहे बुरा ही हो, उसे ही मानने वाली । किन्तु भारतीय नारी पतिव्रता है, पतिमता नही, इसीलिए उसे धर्मपत्नी तथा धर्म-सहायिका पद दिया गया है । मैं एक पौराणिक उदाहरण द्वारा पतिव्रता का अर्थ आपको समझाता हूँ—

महर्षि अगस्त्य बहुत ही सादगी से जीवन बिताने का त्यागी-सा जीवन-व्रत लिये हुए थे । उनकी पत्नी लोपामुद्रा के शरीर पर गहना एक भी नही था । लोपामुद्रा को दूसरी स्त्रियो को हाथ, पैर, नाक, कान आदि मे गहने पहने देख मन मे आ जाती, कभी कुछ स्त्रियाँ ही उसे उकसा देती—"तुम नारी हो, फिर भी आभूषण नही ।" अत बहुत मन मसोसकर सकुचाती हुई लोपामुद्रा ने एक दिन ऋषि अगस्त्य ने कहा—"पतिदेव ! मेरी एक इच्छा है । मेरी अशिष्टता के लिए क्षमा करें तो कुछ कहूँ ।"

ऋषि के अनुमति देने पर उसने कहा—"मेरी विचित्र इच्छा है । एक ऋषि की धर्मपत्नी के लिए शायद सोचना भी अप्रिय लगे । बात यह है कि मैं हमउम्र नारियो को देखती हूँ और उनके द्वारा कसे हुए ताने सुनती हूँ, तो मेरी भी इच्छा हो उठती कि मैं भी आभूषण पहनती । अत कुछ आभूषण होते तो अच्छा रहता ।"

गहनो की इस माँग पर ऋषि असमजस मे पड गये । सोचने लगे—"मैं एक ऋषि, त्यागी और अपरिग्रहवृत्ति वाला हूँ । एक भी सिक्का मेरे पास नही, सासारिकता से दूर रहता हूँ, फिर आभूषण खरीदने या बनवाने की बात तो विडम्बना है । पर नारी को तो सासारिक प्रलोभन झकझोरेंगे ही ।"

पति को चिन्तातुर देख लोपामुद्रा बोली—"मैंने आपको व्यर्थ ही चिन्ता मे डाल दिया, पर क्या करूँ, जो स्त्रियाँ मिलती हैं, वे मुझे आभूषणहीन देखकर व्यंग्यबाण मारती है, इससे तग आकर आपको कह डाला । ऋषि-पत्नी होते हुए भी सुहागिन की प्रथम आवश्यकता-आभूषण के लिए मैंने आपको कहकर सकट मे डाल दिया, क्षमा करें ।"

ऋषि को आभूषण बनवाने की चिन्ता सवार हुई । मन ही मन धन याचना करने की योजना बनायी । इतना अधिक धन प्राप्त करने के लिए ऋषि अपने शिष्यो को लेकर राजा श्रुतर्वा के पास पहुँचे । जीवन मे पहली बार धन की याचना करने निकले थे । उनका हृदय पवित्र था, सद्भावपूर्वक एक सकल्प किया—"पाप से उपार्जित धन कदापि स्वीकार न करूँगा, सात्त्विक और पवित्र कमाई का धन ही स्वीकार करूँगा ।"

राजा श्रुतर्वा ने महर्षि को देखा तो हर्ष का पार न रहा। स्वागत किया, पूछा—"बताइए, गुरुदेव! क्या सेवा है, आज्ञा दीजिए यह राजकोष, राज्य एवं हम सब आपके हैं।"

ऋषि—"मुझे पत्नी के आभूषण बनवाने के लिए धन चाहिए। पर शर्त यह है कि जो धन धर्मपूर्वक उपार्जित हो और उचित कामों में खर्च करने से बचा हो, उसी को मैं ले सकता हूँ।"

राजा बोला—"यह तो बड़ी कठिन शर्त है, गुरुदेव! फिर भी आप लीजिए जांच कर हाथ ही।" ऋषि ने जांच-पड़ताल की तो उचित कार्यों में खर्च करने को धन इतना ही था, जिसमें से बचत की गुंजाइश ही नहीं थी। अतः उन्होंने राजकोष में से धन लेने से इन्कार कर दिया।

वहाँ से चलकर ऋषि राजा धनस्व के यहाँ पहुँचे। वहाँ भी यही स्थिति थी। इस प्रकार ऋषि कई धनाढ्य शिष्यों के यहाँ गए, लेकिन उनकी शर्त के अनुसार धन कहीं भी न मिला। वे निराश होकर वापिस लौट रहे थे, बिना धन लिए ही। सोच रहे थे कि लोपामुद्रा से क्षमा माँग लूँगा।

संयोगवश रास्ते में इल्वण नामक दैत्य मिला। उसने भी महर्षि को प्रणाम करके सेवा का अवसर देने की प्रार्थना की। इल्वण ने महर्षि की धन लेने की शर्त सुनी तो बोला—'यह स्वर्णमुद्राओं से भरा सन्दूक है, इसे आप ग्रहण कीजिए। इसके धन में [illegible] नैतिकता की कमी न आएगी।" ऋषि का चेहरा प्रसन्न हो उठा, मन [illegible]। किन्तु [illegible] की बात पर इल्वण ने कहा—'जांच की क्या आवश्यकता है? [illegible] में यह धन महर्षि भेंट कर रहा हूँ।" इल्वण की आज्ञा से कुछ नौकर [illegible] के आश्रम में यह सन्दूक पहुँचा आए।

यह तो हुई सदाचारी और धर्मिष्ठ पति की इच्छानुगामिनी होकर रहने की बात, परन्तु पति कुमार्गगामी हो, वह अपनी इच्छानुसार पत्नी को भी चलाना चाहता हो, उस समय पतिव्रता स्त्री का धर्म क्या है? यह सोचना है। पतिव्रता स्त्रियो के लिए यह समस्या भी कोई बहुत पेचीदा नही है। पतिव्रता मे अद्भुत बल और शील का अद्भुत तेज होता है। उसके पास प्रेम और त्याग के बहुत बडे शस्त्र हैं, त्याग और प्रेम के शक्तिशाली शस्त्रो को अपनाकर कोई भी भावनाशील पतिव्रता नारी अपने कुमार्गगामी पति को भी सन्मार्ग पर ला सकती है। प्रेम और त्याग के आत्मीयता भरे सत्याग्रह से कुमार्गगामी पति को सत्य पथ पर लाना कोई कठिन ही है। सुधार के लिए कटु संघर्ष अनिवार्य नही है।

सिंहल (लंका) द्वीपवर्ती अनुराधपुरवासी एक सेठ की पुत्री 'सिरिमा' के वयस्क होते ही माता-पिता ने उसका विवाह सुमंगल नामक एक व्यापारी के साथ कर दिया। विवाह के बाद सुमंगल व्यापार के हेतु जलयानो मे माल भरकर विदेश गया। एक ही वर्ष मे उसने प्रचुर धन कमाया। सुमंगल ने अपना व्यापार समेटकर घर लौटने की सूचना दी। सिरिमा को जब पति के आगमन के समाचार मिले तो वह अत्यन्त हर्षित हुई। उसने सारा घर सजाया। पति ने जब घर मे प्रवेश किया तो सिरिमा ने उसकी आरती उतारी, प्रसन्नमन से स्वागत किया। किन्तु पति के मुख पर चिन्ता और उदासी देखकर सिरिमा ने उसका कारण पूछा तो सुमंगल ने कहा—"समुद्रतट पर मन्दारमाला नामक एक गणिका से मेरा प्रेम हो गया है।" तभी गणिका की दासी सुमंगल को बुलाने आयी। पतिव्रता सिरिमा ने सारी परिस्थिति समझकर अपने कर्तव्य का निर्णय कर लिया। उसने पति से कहा—"अगर आपका गणिका से प्रेम हो गया है तो मैं आपके मार्ग मे बाधक नही बनूंगी। खुशी से वहाँ पधारें।" साथ ही गणिका की दासी से कहा—'तुम्हारी स्वामिनी से कहना कि यदि मेरा पति तुम्हे पसद हो तो अपना व्यवसाय छोडकर मेरे (पति के) घर मे आ जाए उसके लिए मैं भरसक त्याग करने को तैयार हूँ।" ऐसा ही हुआ। सुमंगल ने गणिका से शादी कर ली।

एक दिन एक साधु को खून से लथपथ देखकर सिरिमा ने कारण पूछा तो बताया गया कि यह साधु भिक्षा हेतु गया था तो वहाँ मन्दारमाला ने उसके सिर पर चाँदी का बर्तन दे मारा। सिरिमा ने घर जाकर मन्दारमाला से साधु के सिर पर बर्तन मारने का कारण पूछा तो उसने कहा—"मेरा पति (सुमंगल) कल किसी नयी स्त्री से विवाह करने जा रहा है, इस कारण मैं अपने आपे मे न थी।" सिरिमा ने सुना तो उसे बहुत पश्चात्ताप हुआ। उसने पतिव्रतधर्म के नाते मन्दिर मे जाकर भगवान से प्रार्थना की कि 'मेरे पति का हृदय बदलें।' शुभ अध्यवसायो के कारण उसके पति ने नये विवाह का विचार त्याग दिया। सिरिमा के पवित्र वचनों ने उसका हृदय परिवर्तन कर दिया। उसने स्वयं संसार से विरक्त होकर बौद्धभिक्षु

का जीवन स्वीकार कर लिया, मिरिमा ने भी बौद्धभिक्षुणी बनकर पति का अनुसरण किया।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि पति-पत्नी दोनों एक दूसरे के इच्छानुवर्ती, सहगामी बन जाएँ, तो संघर्ष का कोई कारण नहीं रहता। किन्तु दोनों में से पति अगर विरुद्ध हो, उसके साथ मतभेद हो तो संघर्ष किए बिना ही अपनी सद्भावना शक्ति से भी बहुत कुछ समस्या हल हो सकती है।

पति सुधरा हुआ हो, तब तो कहना ही क्या, परन्तु यदि उसका स्तर घटिया हो, विचार, आचार एवं व्यवहार की दृष्टि से वह सामान्य पति की स्थिति में भी नीचा हो, बात-बात में कलह और मार-पीट पर उतारू हो जाता हो, शराबी, जुआरी, वेश्यागामी या परस्त्रीगामी हो, अनैतिक आचरण करता हो, तो उस स्थिति में भी यदि सन्तोषी स्वभाव की, कष्टसहिष्णु, परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालने वाली, कर्तव्यपरायण, प्रसन्नमुखी एवं मितव्ययी स्वभाव की पत्नी हो तो वह पारिवारिक कलह एवं अशान्ति को शान्त कर सकती है। परिवार में शान्ति और अमन-चैन बनाये रख सकती है। धन, समृद्धि और अन्य सुख-सुविधाएँ घर में चाहे कितनी ही हों, पति के विपरीत स्वभाव को अपनी सद्भावना से बदलने वाली एवं गृह-शान्ति सुरक्षित रख सकने वाली, पतिव्रता गृहिणी न हो तो सब कुछ बेकार है। पतिव्रता स्त्री धन, समृद्धि और सुख-साधन न हों, तो भी सन्तोष से शान्तिपूर्वक जीवनयापन कर सकती है।

की ओर देखकर न्यायाधीश मुस्कराए। परन्तु पत्नी का चेहरा उदास देखकर वे बोले —"आज सुबह सुबह इतनी अच्छी कमाई हुई है, फिर भी तुम अप्रसन्न क्यो हो, क्या बात है ?"

न्यायाधीश की पत्नी बोली—"यह व्यक्ति इतने रुपये और यह चीजे किसलिए दे गया है ?"

न्यायाधीश ने कहा—"यह तो मेरी मेहनत से प्रसन्न होकर मुझे दे गया है ?"

पत्नी—"आपने क्या मेहनत की है, जिससे इतने रुपये आपको दे गया ?"

न्यायाधीश—"मैंने उसके दूर के रिश्तेदार को निकट का रिश्तेदार सिद्ध करके मरने के बाद उसकी सारी सम्पत्ति उसे दिलाई है। उसकी खुशी मे यह मुझे भेंट दे गया है।"

पत्नी—"अगर इसके असली वारिस को आप जिताते और उससे आपको अपने पारिश्रमिक के ५० रुपये भी मिलते तो वे हक के होते। यह रकम तो अनीति से उपार्जित है, हराम की कमाई है। इससे मुझे कोई प्रसन्नता नही। आप यह रकम वापस लौटा दीजिए।"

न्यायाधीश—"अगर तुम्हारी तरह सभी इस तरह आई हुई लक्ष्मी को ठुकराने लगें तो काम कैसे चलेगा ? हमे अभी बच्चो को पढाना-लिखाना है, उनकी शादी करनी है। फकीर नही बन गए है हम।"

पत्नी—"मैं नही जानती थी कि न्याय के आसन पर बैठकर आप अन्याय करते हैं ? अनीति की कमाई का हमे एक पैसा भी नही चाहिए। यह हम सब की बुद्धि बिगाडेगा। बच्चो के सस्कार खराब करेगा। पढाई-लिखाई या शादी आदि गरीबो के बच्चो के होते हैं, वैसे ही हमारे बच्चो के हो जाएँगे।"

न्यायाधीश—"अपनी पोजीशन के अनुसार मुझे और तुम्हे भी अच्छे कपडे, गहने और बढ़िया खान-पान चाहिए।"

पत्नी—"हमारे पास जितना पैसा होगा, उसी के अनुसार हम चला लेंगे, लेकिन हराम का एक पैसा भी मुझे नही चाहिए। मैं कूट-पीसकर, मेहनत-मजदूरी करके अपने घर का खर्च चला लूंगी, मोटे कपडे और मोटा अनाज खाकर निर्वाह कर लूंगी, परन्तु इस प्रकार का अनीति का द्रव्य मुझे नहीं चाहिए।"

न्यायाधीश—"मेरी ओर से रहने दो। तुम इसका उपयोग न करना। फिर तुम्हे इस धन को रखने मे क्या हर्ज है ?"

पत्नी—"मेरा भी तो इसमे हिस्सा है। मैं परलोक मे भगवान के सामने क्या जवाब दूंगी। मेरे बच्चो के पेट मे इस पैसे का अन्न पडकर बुरे सस्कार पैदा करेगा। इसलिए इसे आज ही वापस लौटा आइए, अन्यथा, मैं तब तक कुछ भी खाऊँगी पीऊँगी नही।"

पत्नी का ऐसा सत्याग्रह देखकर न्यायाधीश के मन में द्वन्द्व मच गया। एक ओर लोभ था, दूसरी ओर पत्नी के जीवन मरण का प्रश्न था। आखिरकार उन्हें लोभ को दबा देना पड़ा। वे चुपचाप नकद रुपये तथा अन्य सब भेंट की सामग्री वापस लौटा आए। अब न्यायाधीश के मन को शान्ति थी। पत्नी के चेहरे पर भी न्याय-नीति की विजय का सन्तोष था।

यह एक ज्वलन्त उदाहरण है, धर्मपत्नी द्वारा कुमार्ग पर जाते हुए पति को सुमार्ग—धर्ममार्ग पर लाने का। इसीलिए उपासकदशांग आदि सूत्रों में पत्नी के लिए सुन्दर विशेषणों का प्रयोग किया गया है—

"भारिया, धम्मसहाइया, धम्मविइज्जिया, धम्माणुरागरत्ता, समसुहदुक्खसहाइया।"

"धर्मपत्नी (भार्या) धर्म में सहायता करने वाली, धर्मवित्, धर्मानुराग से रक्त, तथा सुख दुःख में समान रूप से सहायिका होती है।"

आदर्श पतिव्रता स्वयं कष्ट सह लेती है, लेकिन पति को कष्ट नहीं होने देती। वह अपने पति को तुच्छ स्वार्थ से ऊपर उठाकर परमार्थ के पथ पर चलने को प्रेरित करती है। एक छोटे से स्वार्थ को तिलांजलि देकर बड़े स्वार्थ के लिए वह पति को प्रेरणा देती है।

कितनी तप-त्याग की भावना थी, इस उत्तर मे ! जवाहर आये स्वदेश को गुलामी से मुक्त करने, उधर जीवनसगिनी कमला इस दुनिया से सदा के लिए चल बसी।)

पतिव्रता : सर्वांगीण स्वरूप और उद्देश्य

पतिव्रता का अर्थ यौन सदाचार तक ही सीमित नही है। वह तो उसका एक अत्यावश्यक अग है। पतिव्रता स्वप्न मे भी पर-पुरुष का चिन्तन नहीं करती, पर-पुरुष के प्रति कुदृष्टि नही करती और न ही पर-पुरुष को काम-कुचेष्टाओ से आकर्षित करके उसके साथ कुकर्म करती है। पतिव्रता की पहिचान का यह छोटा-सा अगमात्र है। वास्तव मे आत्मसमर्पण ही पतिव्रता का मुख्य धर्म है। इस आध्यात्मिक माध्यम को अपनाने वाली नारी अहताजन्य एव स्वच्छन्देच्छाजन्य अगणित पाप-दोषो से मुक्त होकर द्वैत की मजिल पार करती हुई अद्वैत की जीवन स्थिति प्राप्त कर लेती है।

पतिव्रता स्त्री का अर्थ केवल पर-पुरुष से परहेज रखना मात्र ही हो तो पति के साथ कलह, विवाद, झगडा, मारपीट करने वाली, पति के आर्थिक पहलू पर जरा भी विचार न करने वाली, पति के घर मे से अमुक चीजें चुराकर या चुपके से उठा कर अपने पीहर भेज देने वाली बेवफा पत्नी भी पतिव्रता कहलायेगी।

इसलिए पतिव्रता का लक्षण पद्म पुराण मे इस प्रकार दिया है—

> **कार्ये दासी रतौ रम्भा, भोजने जननीसमा।**
> **विपत्तौ मन्त्रिणी भर्तुः, सा च भार्या पतिव्रता॥**

"जो कार्य के समय दासी, रति के समय रम्भा है, भोजन के समय माता है, और विपत्ति के समय पति को सद्‌बुद्धि एव परामर्श देने वाली मन्त्रिणी है, वही स्त्री पतिव्रता है।"

व्यावहारिक रूप से पतिव्रता का अर्थ जीवन की सम्पूर्ण प्रवृत्तियो और समस्याओ पर पति की सहधर्मिणी, सहचारिणी और सहयोगिनी बनकर रहना है। जिस रूप मे धर्मपत्नी को लगा दिया जाय, जैसी पति की स्थिति हो, तदनुरूप अपने आपको ढाल देना और उसी मे सुखानुभव करना ही पतिव्रता जीवन का उद्देश्य है। वस्तुत यह साधना पतिव्रत-धर्म का मुख्य अग है। इसी से चरित्रनिष्ठा और जीवन की सर्वांगीण समस्याओ मे दृढता बढती है। केवल यौन-सदाचार को स्थिर रखने से इस मर्यादा की पूर्णता नहीं हो जाती। अपितु सामूहिक विकास के आधार रूप मे वह जीवन भर चलती है।

इसी कारण एक आचार्य ने पतिव्रता के सर्वांगीण जीवन का चित्रण इस प्रकार किया है—

> **या सद्धर्मरता विवेककलिता शान्ता सती सार्जवा,**
> **सोत्साहा प्रियभाषिणी सुनिपुणा सल्लक्षणा सद्गुणा।**

सद्युक्ता गृहनीति-सस्मितमुखी दानोन्मुखी सन्मतिः,
सन्तुष्टा विनयान्विताऽतिसुभगा श्रीरेव सा स्त्री ननु ॥

'जो नारी सद्धर्म में रत रहती है, विवेक से युक्त है, शान्त है, सती (पतिव्रता) है, प्रसन्नहृदया है, प्रत्येक सत्कार्य में उत्साही है, प्रियभाषिणी है, प्रत्येक काम में निपुण है, शुभ चिह्नों से युक्त है, सद्गुणों से पूर्ण है, सच्चरित्र है, गृहनीति में कुशल है, सदा प्रसन्नमुखी रहती है, दान में तत्पर रहती है, सद्बुद्धियुक्त है, यथालाभ सन्तुष्ट रहती है, विनय गुण से युक्त है, सौभाग्यशालिनी है, वह स्त्री वास्तव में श्री—लक्ष्मी है।'

[illegible] में पतिव्रता का भारतीय संस्कृति में इसीलिए पूज्यस्थान है कि वह अपने और पति के सम्पूर्ण जीवन विकास के लिए प्रयत्नशील रहती है। वह लौकिक [illegible] और आत्म विकास दोनों में समान रूप से सहायक होती है। इस दिशा में जब तक पतिव्रता नारियों का सहयोग नहीं मिलता, तब तक लोक-परलोक कुछ भी नहीं [illegible]। पतिव्रताधर्म का पालन सुसंतति को जन्म देने की दृष्टि से भी परम आवश्यक है। [illegible] ही किसी परिवार का भविष्य उज्ज्वल बनता है। अपने वंश [illegible] और परिवार का गौरव बढ़ाने वाले बालक वहीं जन्म लेंगे, जहाँ माता ने पतिव्रत [illegible] महत्त्व दिया होगा। यह तत्त्व जहाँ जितना कम होगा, [illegible] में [illegible] शरीर और मन में अनेक विकृतियाँ भरी रहेंगी। इसलिए [illegible] —'शुद्धाचारी पतिव्रता' [illegible] कहा गया है।

के शस्त्रों से तीक्ष्ण होता जाता है। इस स्थिति से असन्तुष्ट होकर आज वे भी भारतीय दाम्पत्य जीवन को आदर्श मानने लगे हैं।

सर्वांशतः पति मे अनुरक्ता नारी : पतिव्रता

पतिव्रता की एक पति के प्रति अनन्य निष्ठा, अनन्य श्रद्धा और भक्ति होती है। वह दूसरे पुरुष के सम्बन्ध मे सोच ही नही सकती। गोस्वामी तुलसीदासजी ने चार कोटि की पतिव्रता का उल्लेख किया है—

उत्तम के अस बस मन माही। सपनेहु आनपुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखहिं कैसे। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥
धर्म विचारि समुझि कुल रहई। सो निकृष्ट त्रिय श्रुति अस कहई॥
बिन अवसर भयतें रह जोई। जानहु अधम नारि जग सोई॥

शीलवती पतिव्रता नारी के जीवन मे अद्भुत मनोबल होता है, उसे दूसरे की मनोभावनाओ का पता चल जाता है।

राजा भोज प्रजा का अनन्य सेवक था। वह वेश बदलकर रात को गश्त लगाया करता था। उसे यही चिन्ता रहती थी कि मेरे राज्य मे कोई भी व्यक्ति दु:खी न रहे। वह जनता के सुख-दु:ख को अपना सुख-दु:ख समझता था। वह अपनी नीद और आराम की परवाह न करके रात के अधेरे मे चुपचाप गश्त लगा रहा था कि एक मकान मे से एक आवाज सुनाई दी। राजा छिपकर खडा हो गया और किवाडो के छेद से भीतर का दृश्य देखने लगा। उसने देखा कि एक षोडशी युवती अपने पति को भोजन कराने के लिए थाल परोसकर लाई है और आम का रस निकालने को तत्पर है। राजा उसके सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो गया और विकार-वासना की दृष्टि से उसे देखने लगा। उधर वह युवती उस आम मे से रस निकालने का भरपूर प्रयास कर रही थी, मगर रस नही निकल रहा था। राजा उस समय साधुवेश मे था। उसने कहा—"मुझे भिक्षा दो।"

युवती ने कहा—"आम का रस निकालकर पति को भोजन कराकर अभी भिक्षा देती हूँ।"

राजा विकारपूर्ण दृष्टि से युवती को निहार रहा था, उधर आम मे से एक बूंद भी रस न निकला, तब युवती ने सम्बोधित करके कहा—"रे आम्रफल! इतना कठोर क्यो हो गया कि एक बूंद भी रस नही छोड रहा है। मालूम होता है कि राजा भोज की दृष्टि मे विकार आ गया है, जिससे तू रस नहीं छोड़ रहा है।"

उसके पति ने प्रतिवाद किया—"तू बावली तो नहीं हो गयी, राजा भोज जैसे पवित्रात्मा के सम्बन्ध मे ऐसा विचार कर रही है?"

पत्नी बोली—"नहीं, मैं सोच-समझकर कह रही हूँ, या तो मेरे पतिव्रतधर्म मे खराबी आ गयी है, या फिर राजा के मन मे खराबी होनी चाहिए। मैं अपने आपको जानती हूँ। जब से मैंने होश सँभाला है, पर-पुरुष को पिता और भाई के

समान माना है, फिर भी आम में से रस नहीं निकल रहा है, हो न हो, राजा की दृष्टि में विकार आया होगा।"

राजा भोज ने यह सुना तो पैरों तले की जमीन खिसकती मालूम होने लगी, पसीने से शरीर तर हो गया। वह फूट-फूट कर रोने लगा। फिर उसने अपने को धिक्कारते हुए—रे निर्लज्ज, पापी, तुझ-सा अधम इस संसार में और कौन होगा? रक्षक होकर भक्षक बन गया, एक पुत्री को विकार दृष्टि से देखा! अब किस मुंह से कहूँ कि देवि! मैं ही हूँ वह नीच, कामी पुरुष, जिसके कारण आम में से रस नहीं निकल रहा है। इस पतिव्रता के आगे पाप का प्रायश्चित्त किये बिना पाप धुलेगा कैसे?"

इस प्रकार राजा ने अपना मन मोड़ लिया, वह निर्विकार हो गया। राजा के मन में पाप विकार दूर होते ही आम को निचोड़ा तो उसमें से इतना रस निकला कि गृहिणी के आश्चर्य का पार न रहा। उसने पति से कहा—"मालूम होता है, राजा भोज हमारे घर पधार गये हैं।"

यह सुनकर पति ने कहा—"आज तू कैसी बातें कर रही है?"

राजा से अब रहा न गया। वह साधु वेश में भिक्षा लेना तो भूल गया, उस पतिव्रता देवी के चरणों में गिर पड़ा। बोला—"क्षमा करो, देवि! मुझे इस बात का गर्व है कि मेरे राज्य में तुम जैसी सुशील देवियाँ मौजूद हैं। तूने मुझ जैसे पापी को डूबने से बचा लिया।" राजा होकर भी भोज ने नम्रतापूर्वक क्षमायाचना की।

इस देवी ने कहा—"आप मेरे पिता हैं, मैं आपकी पुत्री हूँ।"

वास्तव मे लज्जा ही वह महागुण है, जिसके कारण नारी का शील, सतीत्व, चरित्र, धर्म और नीति-न्याय सुरक्षित रहता है, जो उसे अधर्म और पाप से बचाता है।

सिकन्दर बादशाह के गुरु अरिस्टोटल की कन्या पीथिया बडी चतुर और विदुषी थी। किसी ने उससे पूछा—"गाल पर लगाने के लिए सबसे श्रेष्ठ रग कौन-सा है ?"

पीथिया ने उत्तर दिया—"लज्जा !"

यही सर्वश्रेष्ठ रग है, स्त्रियो को पतिव्रतधर्म मे रगने के लिए। पतिव्रता के अन्य सभी गुण एक मात्र लज्जा मे आ जाते हैं। लज्जा का गुण होगा तो उसकी बुद्धि भी सात्त्विक होगी, उसका मन भी अपने धर्म और कर्तव्य मे सलग्न रहेगा, उसका शरीर भी सत्यकर्मों मे जुटा रहेगा और कुकर्मों या अहितकर कार्यों से बचा रहेगा। जैसा कि, एक विचारक ने कहा है—

'अनन्यचित्ता सुमुखी, सा नारी धर्मचारिणी।'

"जो अन्य पुरुषो के साथ कभी भी मन नही लगाती, वह स्त्री वास्तव मे धर्मात्मा है।"

यही कारण है कि लज्जा नारी का ऐसा अवगुठन है, जिससे वह अपना जीवन पवित्र रख सकती है। लज्जा को लुटाने की अपेक्षा वीरागना नारी अपने प्राणो को न्योछावर करना अधिक लाभप्रद समझती है। चाहे उसके सामने ऐश्वर्य मे पूर्ण कुबेर हो, या रूप मे पूर्ण कामदेव ही क्यो न हो, वह अपनी लज्जा पराये पुरुष के सामने लुटा नही सकती।

बौद्धभिक्षु उपगुप्त से एक बार नगर की सर्वश्रेष्ठ सुप्रसिद्ध नर्तकी ने पूछा—"देव ! नारी का सर्वश्रेष्ठ आभूषण क्या है ?"

उत्तर मिला—"जो उसके सौन्दर्य मे स्वाभाविक रूप से वृद्धि कर सके।···अधिक स्पष्ट उत्तर चाहती हो तो अपने समस्त आभूषण उतार डालो।" नर्तकी ने आदेश का पालन किया।

'देवि ! वस्त्र भी उतार दो।" पहले तो नर्तकी हिचकिचाई, परन्तु सौन्दर्य के सर्वश्रेष्ठ उपादान पाने की महत्त्वाकाक्षा ने इस आदेश का भी पालन करवा ही लिया।

"अब मेरी ओर देखो, देवि !" किन्तु आरक्त मुख, नतनयन, हृदय मे अगाध विश्वास भरकर भी वह इस आदेश का पालन न कर सकी। उपगुप्त भिक्षु उसकी ओर देखे बिना यह कहते हुए उठ खड़ा हुआ—'देवि ! नारी के सौन्दर्य का सर्वश्रेष्ठ आभूषण उसकी यह लज्जा ही है।"

इसी कारण पतिव्रता नारी की वास्तविक शोभा महर्षि गौतम ने 'लज्जा' ही बताई है। श्रमणसंस्कृति के एक महान विचारक ने कहा है—

लज्जापज्जत्त पसाहणाइं, परभित्तिणिप्पिवासाइं ।
अविणअ-दुम्मेधाई, धण्णाण घरे कलत्ताइ ।।

"लज्जा ही जिनकी पर्याप्त प्रसाधन सामग्री है, दूसरे से भरण-पोषण की आशा नही रखती, और अविनय-बुद्धि जिनके पास आनी दुष्कर है, ऐसी नारियाँ भाग्यशाली पुरुषो के घर मे ही होती हैं।

लज्जा को पवित्रता का मुख्य अग बताते हुए कहा है—

तावत्कुलस्त्रीमर्यादा, यावलज्जावगुंठनम् ।
हृते तस्मिन् कुलस्त्रीभ्यो वर वेश्यांगनाजनः ।।

"जब तक लज्जा का अवगुठन है, तब तक कुलागना की मर्यादा सुरक्षित है। लज्जा के नष्ट होने पर तो कुलस्त्रियो से वारागना ही अच्छी हैं।"

लज्जागुण के आश्रित अन्य मुख्य गुण

पतिव्रता स्त्री मे लज्जा का गुण शिरोमणि है, उसके आश्रित मुख्य गुणो का वर्णन मैं कर चुका हूँ। लज्जा गुण न हो तो ये सारे गुण औपचारिक रह जाते हैं। एक आचार्य ने पतिव्रता के सम्बन्ध मे ६ गुण बताए है—

कार्येषु मंत्री, करणेषु दासी, भोज्येषु माता, शयनेषु रम्भा ।
धर्मानुकूला क्षमया धरित्री, भार्या च षाड्गुण्यवतीह दुर्लभा ।।

षट्गुणो वाली पतिव्रता स्त्री इस ससार मे दुर्लभ है—

(१) कार्यों मे परामर्शदात्री मंत्री ।
(२) कार्यों को सम्पन्न करने मे दासी ।
(३) भोजन के समय माता ।
(४) शयन के समय रम्भा ।
(५) धर्म का आचरण कराने मे गुरु के समान ।
(६) क्षमा मे पृथ्वी के समान ।

इसके अतिरिक्त पतिव्रता मे आत्मसमर्पण, अनन्यभक्ति, सकट आने पर प्राणार्पण की तैयारी, धर्मपरायणता, पति को धर्ममार्ग मे प्रेरित करने का पुरुषार्थ, पति के कार्यों मे पूर्ण सक्रिय सहयोग, परस्पर विश्वास, पतीच्छानुगामिता आदि गुण मुख्य रूप से होने चाहिए। पतिव्रता नारी समय आने पर अपनी प्रतिष्ठा, प्राण और परिवार [illegible] होमने के लिए कैसे उद्यत हो जाती है, इसके लिए एक प्राचीन उदाहरण लीजिए—

[illegible] नगर के राजमान्य वसुदत्त सेठ का इकलौता पुत्र था। सरल-हृदय कुमार [illegible] का एक मित्र था—सागर, जो अत्यन्त कपटी था। एक बार [illegible] एक रूपलावण्यवती कन्या को देखकर अरहदत्त मुग्ध हो गया। [illegible] ने इसके बारे मे पता लगाया कि वह [illegible] सेठ की जिनमती नाम की

पुत्री है । वरदत्त ने यह जानकर उसकी ओर देखा, दोनों की चार आँखें हुईं । वरदत्त के मन में जिनमती को पाने की लालसा प्रबल हो उठी । खाना, पीना, सोना सब कुछ छोड़कर वह जिनमती की स्मृति में तड़फने लगा । उसके पिता ने सागर से सब बात जान बन्धुदत्त सेठ से अपने पुत्र के लिए उसकी पुत्री जिनमती की याचना की । बन्धुदत्त ने कहा—"आपकी बात युक्तियुक्त है, लेकिन मेरा एक नियम है कि मैं श्रावकव्रती के सिवाय अन्य किसी को अपनी पुत्री नहीं दे सकता ।" वरदत्त ने जब यह शर्त सुनी तो जिनमती के साथ विवाह करने की गर्ज से जैनमुनि के पास जाकर भावपूर्वक श्रावकव्रत अंगीकार कर लिये । बन्धुदत्त को जब यह ज्ञात हुआ तो उसने सहर्ष अपनी पुत्री का विवाह वरदत्त के साथ कर दिया । पति-पत्नी दोनों में परस्पर गाढ प्रीति हुई ।

एक दिन वरदत्त कहीं बाहर गया हुआ था । इसलिए जिनमती को एकाकी जानकर सागर उसके पास आया और कहने लगा—"रुद्रदत्त सेठ की पत्नी के साथ तुम्हारा पति एकान्त में कुछ बात कर रहा था, तुम्हें इसका पता है या नहीं ?

सरल स्वभावी जिनमती ने कहा—"यह तो वे जानें या तुम उनके मित्र हो, तुम जानो ।"

सागर बोला—"मैं जानता हूँ, पर तुमसे पूछे बिना कैसे कहूँ ।"

जिनमती ने कहा—"बोलो क्या काम है तुम्हारा उनसे ?"

इस पर सागर बोला—"मुझे जो काम तुम्हारे साथ है वही काम तुम्हारे पति का रुद्रदत्त की पत्नी के साथ है ।"

"मेरे साथ तुम्हारा क्या काम है ?"

यह जब जिनमती ने पूछा तो निर्लज्ज सागर ने कहा—"तुम्हारा पति मूर्ख है, जो तुम जैसी सुन्दरी को छोड़कर दूसरी स्त्री के पास जाता है । मगर विषय-रस के स्वाद का जो जानकार हो, उसे तुम्हारी अपेक्षा क्यों न हो ?"

इस प्रकार की अटसट अनर्गल कर्णकटु बात सुनते ही जिनमती को उस पर बहुत गुस्सा आया । वह बोली—"अरे निर्लज्ज, अनार्य ! मेरे प्रति तू ऐसी पापी दृष्टि और विचारणा रखता है । धिक्कार है तुझे ! तू मेरे पति को झूठमूठ कलंकित करना चाहता है । चला जा यहाँ से दुष्ट ! तेरा मुँह देखना भी पाप है ।"

यह सुनकर सागर चुपचाप अपना-सा मुँह लेकर वहाँ से चल पड़ा । रास्ते में सामने से आते हुए वरदत्त ने उसे उदास देखकर पूछा—"कहो मित्र ! उद्विग्न क्यों हो ?"

सागर मानो सकुचाता हुआ बोला—"मित्र ! कहने जैसी बात नहीं है, पर तुमसे छिपाकर भी नहीं रह सकता । आज की ही बात है, जब मैं तुमसे मिलने, तुम्हारे घर गया तो तुम्हारी स्त्री जिनमती निर्लज्ज होकर मेरे सामने काम-कुचेष्टा करने लगी ।

वैसे तो वह कई दिनो से मुझे अपने काम-जाल मे फँसाने का प्रयत्न कर रही थी, पर मैं टालता रहा। आज उसने मुँह से साफ कह ही दिया कि तुम्हे मेरी इच्छापूर्ण करनी ही होगी। मैं किसी बहाने से उसके चगुल से छूट कर आया हूँ। तुम मिल गए, इसलिए मैंने तुमसे यह बात कही है, ताकि जिनमती मेरे विषय मे कुछ और बात कहे और तुम उसे सच मान बैठो। स्त्रीस्वभाव ही कपटभरा होता है।"

अपने कपटी पापिष्ठ मित्र के वचन सुनकर वरदत्त क्रुद्ध होकर घर आया। जिनमती प्रसन्न होकर उसके पैर धोने लगी, तब सहसा वरदत्त ने छुरी से उसकी नाक काट ली। चारो ओर हाहाकार मच उठा। सभी कुटुम्बीजन एकत्र हुए, वरदत्त को उपालम्भ देने लगे—'अरे पापी, निष्करुण, कुलकलक! यह अकार्य तूने क्यो किया? जिनमती सरीखी गुणवती, शीलवती, उत्तमकुल जाति की, पवित्र, लज्जावती महिला पर यह अत्याचार! धिक्कार है तुझे! यह कोलाहल सुनकर राजपुरुष आए और वरदत्त को गिरफ्तार करके ले गए। राजा ने उससे पूछा—"तुम्हारी पत्नी ने क्या अपराध किया था, जिससे तुमने राजदरबार मे फरियाद किये बिना अपने हाथ से ही निग्रह किया?"

वरदत्त ने कहा—"मेरा मित्र सागर, उसके सभी अपराध जानता है।"

राजा ने अनुचरो द्वारा सागर को ढूंढकर पकड लाने का आदेश दिया। सागर को बाँधकर राजा के सामने लाया गया।

राजा ने पूछा—"अरे पापी, दुराचारी! उस महासती ने क्या अपराध किया था, सच-सच बोल!" सागर थरथर कांपने लगा, बोला नही। चाबुक उसकी पीठ पर पडे, तब उसने सारा वृतान्त सच-सच बता दिया। राजा ने दोनो को अपराधी जानकर कैदखाने मे डलवा दिया।

इधर जिनमती को अपने पर मिथ्या दोषारोपण की तथा नासाछेदन की पीडा थी, तो भी उसने न तो अपने पति के प्रति अशुभ चिन्तन किया, न दुष्ट सागर के प्रति। उसने स्वस्थ होकर चिन्तन किया—'मैंने किसी जन्म मे दुष्कर्म किये होगे उन्ही कार्यों के फल उदय मे आये हैं। दूसरे तो निमित्त मात्र हैं। मेरा ही पूर्वकृत कर्म-दोष है। मुझे इतना ही दुःख है कि इन्होने मेरे कुल एव पवित्र धर्म की लघुता दिखायी।' वह जिनवर प्रभु के ध्यान मे एकाग्र हो गई। कायोत्सर्गस्थ जिनमती का अखण्ड शील देखकर शासन देवता प्रसन्न हुए। उन्होंने उसकी नाक सुन्दर सलोनी बना दी। आकाश ने पुष्पवृष्टि की, देवदुन्दुभि बजाई। उद्घोष किया—"जैनशासन विजयी है, जिसमें जिनमती सरीखी सतियाँ हैं।"

सती जिनमती का निनाद सुनकर राजा स्वयं आया, धन्य-धन्य कहकर हाथ जोड़कर उसका गुणगान करने लगा।

जिनमती ने हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक राजा से कहा—"मेरे पतिदेव तथा उनके मित्र सागर को छोड़ दीजिए।" राजा ने वैसा ही किया। जिनमती ने संसार

विरक्त होकर भागवती दीक्षा ग्रहण की। तीव्रतप तथा रत्नत्रय की, अराधना करके द्गति मे पहुँची। वरदत्त और सागर दोनो को अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ।

बन्धुओ! पतिव्रता स्त्री का मुख्य गुण लज्जा है, यह जिनमती के उदाहरण से आप समझ गये होगे। अगर जिनमती मे लज्जा का गुण न होता तो वह स्वय उद्दण्ड होकर अपने पति और उसके मित्र को आडे हाथो लेती, उनकी फजीहत करवाती। इसीलिए महर्षि गौतम ने कहा है—

'लज्जाजुआ सोहइ एगपत्ती'

पतिव्रता स्त्री लज्जायुक्त होने पर ही शोभा पाती है।



५८

अनवस्थित आत्मा : अपना ही शत्रु

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज से कुछ दिनो तक आध्यात्मिक जीवन के सम्बन्ध मे विश्लेषण चलेगा, ऐसी आशा है।

आध्यात्मिक जीवन का केन्द्रबिन्दु आत्मा है। आत्मा अपने आप मे वैसे तो निश्चय दृष्टि से शुद्ध है, किन्तु जब वह शरीर के साथ जुडती है, और उसके निमित्त से राग, द्वेष, मोह आदि विकार आते हैं और उस पर कर्मबन्धो का आवरण पड जाता है, तब आत्मा शुद्ध नही रहती, निर्लेप और निरामय नही रहती। इसलिए राग-द्वेषादि या कषायादि विकारो से लिप्त आत्मा अपने मूल स्वभाव मे स्थित नही रहती। ऐसी स्थिति मे, जो आत्मा अपने लिए हितकर, सुखकर, श्रेयष्कर और अभ्युदय-कर बन सकती थी, वही आत्मा विषय-कषायो एव रागद्वेषादि विकारो से लिप्त एव अनवस्थित होकर अपने लिए शत्रु बन जाती है। इसी बात को महर्षि गौतम इस जीवनसूत्र से कहना चाहते हैं—

'अप्पा अरी हो अणवट्ठियस्स'

"अनवस्थित व्यक्ति की आत्मा ही उसके लिए शत्रु हो जाती है।"

गौतमकुलक का यह सैंतालीसवां जीवनसूत्र है। आइए, अब हम इस जीवनसूत्र के विभिन्न पहलुओ को जानें-समझें।

आत्मा ही आत्मा का शत्रु : कैसे और क्यों ?

कई लोग कहते हैं कि हमारी आत्मा तो परमात्मा के हाथो मे है, उसे सुधारना या बिगाडना, अच्छा बनाना या बुरा बनाना उसी के अधीन है, हम तो उसके हाथो की कठपुतली हैं। वह हमे जैसे चाहे नचा सकता है। ऐसे लोग जब कोई अच्छा काम करते हैं या जब किसी पर उपकार करते हैं, किसी को पढा-लिखाकर होशियार बनाते हैं, लडके-लडकियो की अच्छे ठिकाने शादी कर देते हैं, खूब धन कमा लेते हैं तब तो वे उन सब कामो का श्रेय स्वय लूटते हैं, स्वय अपने मुंह से डींग हाँकने लगते हैं कि मैंने यह किया, वह किया, मैं ऐसा न करता तो, ऐसा हो जाता, मैंने ही सब कुछ किया। किन्तु जब कोई कार्य बुरा हो जाता है, व्यापार में घाटा लग जाता है, लडका बिगड जाता है, [illegible] देता है, या किसी का [illegible] है, किसी आसामी पर रकम डूब जाता है, तब उसका दोष वह भग-

पर नहीं लेता। वह सीधा भगवान पर डाल देता है कि भगवान् ने बहुत बुरा किया। भगवान् ने हम पर बहुत अत्याचार कर दिया। तात्पर्य यह है कि नादान लोग बुराई-बुराई सब भगवान् के सिर पर डाल देते हैं और अच्छाई-अच्छाई सब अपने हिस्से मे ले लेते हैं। ऐसे ही भ्रान्त लोगो के विषय मे एक कवि कहता है—

> अच्छा हो तो मैंने किया है, कहता है इन्सान।
> बुरा सब करते हैं, भगवान बुरा सब ।
> धन मे फूला, मोह मे झूला, बकता है अज्ञान ॥ बुरा सब ॥ ध्रुव ॥
> मैंने लाख-करोड़ कमाया, मैंने ऊँचा भवन बनाया।
> मैंने कारोबार बढ़ाया, मेरी है यह सारी माया ॥
> अपनी सफलताओं पर करता, रहता है अभिमान ॥बुरा "॥१॥
> जब व्यापार मे हो घोटाला, कहता है तब बन मतवाला।
> हाय राम ! यह क्या कर डाला ? पूर्वजन्म का वैर निकाला ॥
> सुख मे डूबा हुआ करे नहीं, कभी प्रभु का ध्यान ॥बुरा ॥२॥
> लड़के लड़की खूब पढ़ाए, बी ए, बी टी, एम ए. बनाए।
> शादी की बहू घर मे लाए, तब तो मैं-मैं सदा सुनाए ॥
> मर जाए तो ईश्वर के सिर, दोष धरें नादान ॥बुरा " ॥३॥

भवार्थ बिलकुल स्पष्ट है। सभी प्राणी अपने अच्छे बुरे कर्मों के लिए स्वयं ही जिम्मेदार हैं। कोई भी व्यक्ति यह कहकर बच नहीं सकता कि यह बुरा कर्म मैंने नहीं किया, यह तो उसने किया था या उसके कहने से मैंने किया था, इसलिए इसके बुरे फल को मैं क्यो भोगूं ? इस प्रकार के भ्रान्त ईश्वरवादी अपने बुरे कर्मों के लिए ईश्वर को जिम्मेदार ठहराते हैं।

'मेरे कृत्यो का जवाबदार मैं नहीं हूं', इस बात को मानने का अर्थ यह हुआ कि मेरा अधःपतन दूसरा करता है। और जब उसका अधःपतन दूसरा करता है तो उसका ऊर्ध्वगमन भी दूसरा कर सकता है। इसी भ्रान्ति मे पला हुआ मानव दूसरे की ओर विवशता से देखता रहता है कि "कोई महात्मा मुझे ऐसा आशीर्वाद दे दे कि—'बेटा तेरा भला हो जाएगा।' बस, मैं सीधे स्वर्ग मे पहुंच जाऊं।" ऐसा सस्ता सौदा मिल जाए तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की साधना करने की क्या जरूरत है ?

अमेरिका मे आजकल एक नवीन तत्त्वज्ञान उभर आया है कि अपराधी को अपराधी न समझकर मानसिक रोगी समझो। वहाँ का अपराध विज्ञान बदल गया है। उनका तत्त्वज्ञान कहता है कि स्कूल के लड़कों को अनुचित या उलटे कार्य के लिए दण्ड नहीं देना चाहिए, क्योंकि उनके अपराध कार्य के पीछे कोई न कोई कारण होगा, उन्हें माँ-बाप का प्यार नहीं मिला होगा, या उनमें किसी प्रकार की ग्रन्थि बनी होगी। श्रीमती एलेक्सीस ने इस सन्दर्भ में अपनी 'Man, the Unknown' (मैन, द अननोन) नामक पुस्तक में अनेक उदाहरण देकर अमेरिका में पनपती इस विचारधारा के प्रति अपनी व्यथा प्रगट की है।

'जेम्स' यदि शरारत, उच्छृंखलता या उद्दण्डता करता है तो भी उसको कुछ न कहो, नही तो उसके मन मे ग्रन्थि निर्माण हो जाएगी। मोहन ने माँ की जेब से पैसे निकाल लिये। माँ ने पूछा—"मेरी जेब से तूने पैसे क्यो चुराये ?"

मोहन ने उत्तर दिया—"यह चोरी का प्रश्न नही है। मैं तो चोरी करने की कला सीखता था।" माँ ने मनोविज्ञानवेत्ता से परामर्श किया तो उसने भी यही कहा—"लड़के को कुछ मत कहो।" 'मानव अपने कृत्य के लिए उत्तरदायी नही है,' इस विचारधारा से अमेरिकन महिलाएँ उलझन मे पड गई हैं। वह अनुचित आचरण या व्यवहार के लिए किसी को कुछ भी नही कह सकती। अपने पति और पुत्र को भी उलाहना नही दे सकती। यह है—प्रगतिशील राष्ट्र की सामाजिक मनोदशा। वास्तव मे 'परिस्थितिवाद' की यह विचारधारा बिलकुल ही निराधार है। अपनी भूल, गलती या अपराधो का टोकरा दूसरे के सिर पर डाल देना, अपने अपराध के लिए स्वय जिम्मेदार न बनना, कितनी खतरनाक और अराजकता फैलाने वाली विचारधारा है।

भारतीय धर्मशास्त्रो ने भ्रान्त ईश्वरवाद या इस अमेरिकन परिस्थितिवाद का डटकर विरोध किया है। यहाँ तो यह साफ-साफ बता दिया है कि मनुष्य अपने कर्मों को स्वय ही करता है और उसका भोक्ता भी वह स्वयं ही है। देखिये उत्तराध्ययन सूत्र मे स्पष्ट कहा है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पामित्त ममित्तं च दुप्पट्ठिओ, सुपट्ठिओ ॥

'आत्मा ही सुखो और दुःखो का कर्त्ता है, हर्त्ता भी आत्मा ही है। सन्मार्ग मे प्रतिष्ठित आत्मा ही मित्र है और कुमार्ग मे प्रतिष्ठित आत्मा शत्रु है।'

वैदिक धर्म के मूर्धन्य ग्रन्थ गीता मे भी इसी मत का प्रतिपादन किया है—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानमात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

'मनुष्य अपनी आत्मा का उद्धार भी अपनी आत्मा से ही करता है और अपनी आत्मा का पतन भी अपनी आत्मा से ही करता है। इस दृष्टि से आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है।'

भ्रान्त ईश्वरवाद और परिस्थितिवाद का इस सिद्धान्त द्वारा खण्डन हो जाता है। चरकसंहिता मे भी इन दोनो वादो का खण्डन मिलता है—

आत्मानमेव मन्येत कर्तारं सुखदुःखयोः ।

'सुख और दुःख का कर्त्ता आत्मा को ही समझो।'

अगर ईश्वर अच्छे-बुरे कार्य के लिए जिम्मेदार है, तो उसका शुभाशुभ फल भी ईश्वर को ही भोगना चाहिए, उस कार्य के करने वाले को नहीं। परन्तु अनुभव इससे उल्टा नजर आता है। मिर्ची एक व्यक्ति खाता है, और मुंह ईश्वर का जलेगा,

या मिश्री एक व्यक्ति खाता है और मुँह ईश्वर का मीठा होगा, ऐसा कदापि होता नहीं। अगर परिस्थितिवाद या भ्रान्त ईश्वरवाद को लेकर चलें तो कोई भी अपराधी दण्डित नहीं किया जा सकता। फिर तो 'पोपाबाई के राज्य' वाली कहावत चरितार्थ हो जाएगी—

अन्धेर नगरी, चौपट राजा।
टके सेर भाजी, टके सेर खाजा॥

पोपाबाई के पास न्याय के लिए एक मुकदमा आया। एक व्यक्ति यह फरियाद लेकर पहुँचा कि मैं जा रहा था कि अचानक मेरे पर अमुक मकान की दीवार गिर पड़ी, मुझे चोट लगी। इसका न्याय कीजिए। पोपाबाई ने जिसके मकान की दीवार थी, उसे बुलवाया और सजा देने को कहा।

उस मकान के मालिक ने कहा—"मैं क्या करूँ, मिस्त्री (राज) ने दीवार कच्ची बना दी।"

पोपाबाई ने मिस्त्री को बुलाकर कहा—"इसे सजा दो कि इसने दीवार कच्ची क्यों बनायी?"

मिस्त्री ने कहा—"रानीजी ! मैं जब यह दीवार बना रहा था, तब एक युवती गहने पहने हुए छम-छम करती आ रही थी। मेरा ध्यान उस तरफ बरबस खिंच गया, इसलिए दीवार कच्ची रह गयी।"

तुरन्त पोपाबाई ने उस युवती को बुलाया और कहा—"तुम गहने पहनकर छम-छम करती क्यों आ रही थी, जिससे राज मिस्त्री का ध्यान उचट गया और उसने दीवार कच्ची बना दी।"

उसने कहा—"रानी साहब ! मैं क्या करूँ, सुनार ने गहने इसी प्रकार के घड़ दिये।" बुलाया सुनार को और उससे जवाब तलब किया।

सुनार ने कहा—"मैं क्या करता, मुझे ऐसा ही उपदेश एक गुरुजी ने दिया था कि कार्य ऐसा करो जो स्वयं बोले।" उक्त गुरुजी को बुलाया गया। वह बड़ा ही लम्बा चौड़ा मुस्टंड था। उसके गुरु द्वारा इस नगरी में रहने का निषेध करने पर भी सस्ती रबड़ी मिलती देख जमा हुआ था। आज जब पकड़ा गया तो उसके होश गुम हो गए। घिघियाता हुआ वह गुरु से फाँसी की सजा से छुटकारा पाने का उपाय पूछने लगा। उन्होंने उसे युक्ति समझा दी और जिस समय पर पोपाबाई द्वारा फाँसी की सजा दी जाने वाली थी, उस समय गुरु चेला दोनों वाद-विवाद करने लगे।

चेला कहता—मैं फाँसी पर चढ़ूँगा, गुरु कहते, मैं। पोपाबाई ने जब इसका रहस्य पूछा तो गुरु ने कहा—"इस मुहूर्त में जो फाँसी पर चढ़ेगा, वह सीधा स्वर्ग में जाएगा।"

झट से पोपाबाई ने कहा—"तब तो फाँसी मेरी और मेरे राज की है, तुम सब हटो, मैं ही इस फाँसी पर चढ़ूँगी।" निदान, पोपाबाई फाँसी पर स्वयं चढ़ी और उसके देहान्त के साथ ही इस अराजकताचार का अन्त हो गया।

हाँ तो मैं कह रहा था कि इस प्रकार निमित्तो पर दोषारोपण करके मनुष्य अपने द्वारा किये हुए अपराध से वरी हो जाएगा, तो पोपावाई के राज्य की-सी अव्यवस्था हो जाएगी। कोई भी अपने कर्म के लिए जिम्मेवार न होगा। सभी दूसरे-तीसरे निमित्त के गले दोष मढ देंगे।

इसीलिए भारतीय धर्म इसी बात पर जोर देते हैं कि प्रत्येक आत्मा अपने द्वारा किये गये अच्छे-बुरे कर्मों के लिए जिम्मेवार है। वह उसके फल भोगे विना छूट नही सकता।

और इसी सिद्धान्त मे से यह बात प्रतिफलित होती है कि आत्मा जब अपने कर्मों के लिए स्वय उत्तरदायी है, तव वह अज्ञान या मोहवश जब बुरे कर्म करता है, तब उन कर्मों का बुरा फल किसको भोगना पडेगा ? आत्मा को ही न ? इसीलिए आत्मा को आत्मा का शत्रु बताया है।

गौतम महर्षि ने आत्मा को आत्मा का अहित करने वाला शत्रु बताया है। अग्नि की चिनगारी और शत्रु को मामूली और छोटा नही समझना चाहिए। जिस शत्रु को महापुरुष पराजित कर देते है, वह सर्प से भी अधिक भयंकर होता है। अपने जिन दोषो के कारण वह पराजित होता है, हारने के बाद उसके छल, कपट, विश्वासघात, द्रोह, धोखा, ठगी आदि दोष कई गुना बढ जाते हैं। साथ ही उसकी विकरालता भी बढ़ जाती है। इसलिए शत्रु से तो हर समय सावधान एवं सतर्क रहना चाहिए। वह कब कैसे हमला कर बैठेगा, यह कुछ कहा नही जा सकता। जो साधक तृण के समान शत्रु को पर्वत के समान विशाल समझकर अपने सुरक्षा साधनो को बढाते रहते है, वे शत्रु से कभी पराजित नही हो सकते। उत्तराध्ययन सूत्र मे इस सम्बन्ध मे साधक को सुन्दर मार्गदर्शन दिया है—

न त अरी कठछेत्ता करेइ,
ज से करे अप्पणिमा दुरप्पा।
से नाहिइ मच्चुमुहे तु पत्ते,
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो॥

'सिर काटने वाला शत्रु भी उतना अहित नहीं करता, जितना दुराचरण मे लगी अपनी आत्मा करती है। दयाशून्य दुराचारिणी को अपने दुराचरण का पहले ज्ञान नही आता, परन्तु जब वह मृत्यु के मुख मे पहुंचता है, तो अपने सब दुराचरणो का स्मरण करते हुए पछताता है।'[1]

प्रश्न होता है कि सिर काटने वाला शत्रु तो प्रत्यक्ष ही शरीर का नाश कर देता है, किन्तु आत्मा ऐसा कुछ नहीं करता, तब फिर आत्मा को गला काटने वाले शत्रु से भी बढ़कर क्यो बताया गया ?

भारतीय दर्शन आत्मा को नित्य और शरीर को अनित्य एवं नाशवान मानते है। इस दृष्टि से नास्तिक दर्शन कहते हैं कि शरीर के नष्ट हो जाने के साथ, आत्मा

नष्ट नहीं होता, वह जन्म-जन्मान्तर में मिलने वाले शरीर के साथ रहता है। वह बदलता नहीं, शरीर बदलता है। अत गला काटने वाला शत्रु तो अनित्य शरीर का ही नाश करता है, नित्य आत्मा का नहीं। अगर गला काटने वाले शत्रु के प्रति द्वेष और रोष न किया जाय तो वह आत्मा को कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकता, सिवाय गला काटकर शरीर को नष्ट करने के, बल्कि सोमल ब्राह्मण, नमुचि पुरोहित, या अर्जुनमाली पर प्रहार करने वाले राजगृहवासियों की तरह क्रमशः गजसुकुमार, स्कन्दकाचार्य के ५०० शिष्यों एवं अर्जुनमुनि की आत्मा की मुक्ति में सहायक बन जाते हैं।

इसलिए यदि हम तात्त्विक दृष्टि से (निश्चय नय से) विचार करें तो वस्तुस्थिति यह है कि हमारी आत्मा के सिवाय अन्य कोई भी हमारा गला काटने वाला (नुकसान करने वाला) नहीं, हमारा गला हमारी आत्मा ही काटती और कटवाती है। हमने बुरे कर्म किये होंगे, इसी कारण उनके फलस्वरूप कोई (निमित्त) हमारा गला काट पाता है। बुरे कर्म हमारी आत्मा ने न किये हों तो लाख प्रयत्न करने पर भी कोई हमारा बाल भी बाका नहीं कर सकता है। इस दृष्टि से सोचें तो हमारा गला काटने वाला शत्रु बाह्य निमित्त नहीं, हमारा दुष्कर्मकारी आत्मा ही है, बाह्य निमित्त के प्रति हम द्वेष-रोष न करें, समभाव से उस वेदना को सह लें तो वही हमारी मुक्ति में सहायक बन सकता है। इसीलिए कहा गया कि आत्मा ही आत्मा का शत्रु है, वैसे आत्मा ही आत्मा का मित्र है।

एक दूसरे पहलू से इस पर विचार करें। ज्ञानस्वरूप आत्मा सिंह के समान पूर्ण अधिकारी है और ज्ञानविकल आत्मा कुत्ते के समान है। कुत्ते की यह खासियत है कि जब कोई उस पर ईंट या पत्थर मारता है तो वह मारने वाले पर नहीं झपटता, किन्तु ईंट-पत्थर आदि निमित्त साधनों पर झपटता है। वह समझता है कि मुझे मारने वाला ईंट या पत्थर ही है। किन्तु सिंह की प्रकृति ऐसी नहीं होती, जब कोई उस पर गोली मारता या तीर चलाता है तो वह गोली या तीर पर नहीं झपटता, किन्तु गोली या तीर चलाने वाले पर ही झपटता है। वह समझता है कि गोली या तीर का कोई दोष नहीं, ये तो निमित्त-साधन हैं, दोष तो इन्हें चलाने वाले का है।

वही बात यहाँ आत्मा के सम्बन्ध में समझिए। जैसे सिंह समझता है कि मुझे मारने वाला तीर या गोली नहीं है, किन्तु उसका प्रयोग करने वाला है, वैसे ही जिसने आत्मस्वरूप को जाना है, वह समझता है कि मेरा गला यह व्यक्ति नहीं काट रहा है, यह तो सिर्फ निमित्त कारण है, वास्तव में मेरी आत्मा ही मेरा गला काट रही है। सिंह को मारने के लिए जैसे तीर या गोली हथियार निमित्त बन गया था, वैसे ही मेरी आत्मा के लिए कर्मों का हथियार निमित्त बन गया है। मारने वाला शत्रु मेरे भीतर ही बैठा है जो बाहर का निमित्त पाता है, उसका दोष नहीं है, दोष तो भीतर बैठे हुए आत्मा का है।

इसीलिए यहाँ कहा गया है कि आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। मारने मे बाह्य निमित्त बनने वाला शत्रु तो सिर्फ एक जन्म का है, एक ही शरीर का नाश करता है, लेकिन आत्मा—दुष्कर्मकारी आत्मा जब शत्रु बन जाता है तो वह अनेक जन्मो तक दु.ख देता है, अनेक जन्मो मे प्राप्त होने वाले शरीर को नष्ट कर देता है, वह अनेक जन्मो तक पिण्ड नही छोडता।

आत्मा ही आत्मा का शत्रु स्वय बनता है, दूसरा कोई उसे बनाने नही आता। अपनी ही गलती से, अपने ही विपरीत विचारो से, अपने ही भयकर दुष्कर्मों से वह अपना दुश्मन बन जाता है। जैसे कोई व्यक्ति यह जानता है कि अधिक ठूँसकर खाने से अजीर्ण और पेट का रोग हो जाता है, फिर भी स्वादिष्ट वस्तु देखते ही वह उन पर टूट पडता है और इतना अधिक खा जाता है कि अजीर्ण और उदर रोग उसे घेरे बिना नही रहते। अब बताइए, अजीर्ण या उदर रोग के लिए वह भोजन जिम्मेवार है या भोजन बनाने वाली उसकी पत्नी या उस भोजन की वस्तुओं का उत्पादक अथवा भगवान् जिम्मेवार है, अथवा वह खुद ही जिम्मेवार है ? वास्तव मे अजीर्ण या उदर रोग के लिए वह स्वय ही जिम्मेवार है, दूसरा नही। अधिक भोजन करने वाला ही अपने पेट का शत्रु है, दूसरा नही, उसी प्रकार दुष्कर्म करने वाला आत्मा ही अपना शत्रु है, दूसरा नही।

एक गाडीवान बैलगाडी चला रहा है, बैल उसके इशारे पर चल रहे है। गाडीवान देख रहा है कि आगे एक गहरा खड्डा है, परन्तु इस भ्रम मे रह गया कि खड्डा अभी काफी दूर है, तब तक बैलो को सीधा चलने दूँ, खड्डा आएगा तो बैल अपने आप मुड जाएँगे। गाडीवान गाफिल होकर बैलो को दौडाता रहा। गाडी सहसा खड्डे मे गिर गई। अब बताइए, गाडी के खड्डे मे गिरने का दोष किसका है ? गाडी का, बैलो का या गाडीवान का ? इसमे दोष गाडी का नही, क्योकि गाडी को कोई ज्ञान नही होता, वह जड है, वह स्वत चालित नही होती। बैलो का कोई दोष नही है, क्योकि वे तो गाडीवान के इशारे पर चलते थे। उन बेचारो का क्या कसूर, जिधर गाडीवान ने नकेल घुमाई, उधर ही वे चल पडे। उनके नथुनो मे 'नाथ' पडी थी, जिधर का सकेत मिला, उधर ही वे चल पडे थे। अत. वास्तव मे दोष गाडीवान का ही माना जायगा, क्योकि गाडी चलाने की सम्पूर्ण जिम्मेवारी उसी की थी। गाडीवान ही अपनी गाडी का शत्रु बन गया था।

इसी प्रकार आत्मा गाडीवान है। शरीर गाडी है। मन के सहारे से आत्मा के इशारे से शरीररूपी गाडी चलती है। इन्द्रियाँ उस गाडी को चलने मे गाडी के बैलो की तरह सहायक होती है। शरीररूपी गाडी नष्ट हो जाती है या उससे कोई क्षति होती है या प्रमाद या अज्ञानवश कोई दुष्कर्म करती है तो उसका जिम्मेवार आत्मारूपी गाडीवान है। इन्द्रियाँ या मन तो यह कहकर छूट जाएँगे कि हम क्या करें, हमे तो आत्मा ने जिधर मोडना चाहा, उधर हम मुड गये, हम तो [illegible] हाथ मे [illegible] है, आत्मा ने [illegible] कि खड्डे मे गिरने को हमे मजबूर कर

दिया, उधर की नकेल घुमा दी तो हम क्या करें ? वास्तव में आत्मारूपी गाड़ीवान का ही अपराध है कि उसने अपनी असावधानी से गाड़ी को पतन के खड्डे में गिरा दिया। इसलिए आत्मा ही अपनी गाड़ी का शत्रु बना, क्योंकि वही जिम्मेवार है उसके लिए।

प्रत्येक आत्मा में यह शक्ति विद्यमान है कि वह श्रेष्ठ से श्रेष्ठ वस्तु को निकृष्ट से निकृष्ट बना सकती है और निकृष्ट से निकृष्ट वस्तु को श्रेष्ठ से श्रेष्ठ। आत्मा जब दुष्कर्म में प्रवृत्त होती है तो श्रेष्ठ शुद्ध आत्मा को द्वेष, रोष, अभिमान, काम, मत्सर, ईर्ष्या, छल आदि विकारों से विकृत करके निकृष्ट बना देती है। वही आत्मा जब क्षमा, दया, शील, सन्तोष आदि धर्मों का आचरण करती है, तपस्या से कर्मों की निर्जरा करती है, तब अपने आपको उत्कृष्ट बना लेती है और अपनी ही मित्र बन जाती है।

आत्मा अपना शत्रु : कब और कैसे ?

अब एक दूसरा प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि कौन ऐसी आत्मा होगी, जो स्वयं चाहती हो कि मैं पाप या पतन के खड्डे में गिर जाऊँ, या पापाचरण करूँ ?

जैसा कि मैंने पहले कहा था भ्रान्त ईश्वरवादी या पाश्चात्य परिस्थितिवादी तो ईश्वर या परिस्थिति के सिर पर दोष को डाल देते हैं, स्वयं साफ बच जाते हैं। लेकिन उन दोनों का निराकरण करके हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि किसी भी अच्छे या बुरे कर्म का जिम्मेवार आत्मा स्वयं ही है, और कोई व्यक्ति या तथाकथित परिस्थिति नहीं। विभिन्न दर्शनशास्त्रियों ने इस प्रश्न का समाधान विभिन्न रूपों में किया है। सांख्यदर्शन प्रकृति को अच्छे बुरे कर्मों की जिम्मेदार ठहराता है, वेदान्त दर्शन माया को, बौद्धदर्शन क्षणिकवाद को, परन्तु ये सब निमित्त भले ही हो सकते हैं, मूल कर्त्ता या उपादान कारण नहीं।

ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है, आत्मा ही जब आत्मा का शत्रु है, तब वह शत्रु कब और कैसे हो जाता है ?

गीता में भी अर्जुन द्वारा श्रीकृष्ण के समक्ष यह प्रश्न निम्न शब्दों में उठाया गया है—

> अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
> अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय ! बलादिव नियोजितः ?

'हे वृष्णिकुलभूषण ! यह आत्मा न चाहते हुए भी मानो जबरन ही प्रेरित किया जाता हो, इस प्रकार पाप में किसके द्वारा प्रेरित होता है ? किससे प्रेरित होकर यह पापाचरण करता है ?'

इसके उत्तर में श्रीकृष्ण ने इस प्रकार कहा है—

> काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
> महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥